

वितरण
भारती-बुकशॉप
लीडर प्रेस,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
स० २०११ वि०
मूल्य ७)

मुख्य—
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस इलाहाबाद

विषय-सूची

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन

विषय-प्रवेश—अनुभूति और पाण्डित्य—ऐतिहासिक अध्ययन का मार्ग—
'बौद्ध ब्रह्मन्त'—बौद्ध और ब्रह्मन्त प्रतिलोम मार्ग से समान निष्कर्षों पर।

अ—बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान

वैदिक ज्ञान का उदय और उसकी महत्ता—वेद-ग्रन्थों पर विभिन्न भारतीय दार्शनिक नय—वैदिक दर्शन के तीन स्तर—ऋग्वेद—साङ्ख्य दर्शन—उपनिषद्-दर्शन—वैदिक दर्शन की विकास-परम्परा का संक्षिप्त निरर्घन—ऋग्वेदीय युग और समाज का साङ्ख्यकासीन यज्ञ-यापारि की परम्परा में से गुजर कर स्वाभाविक रूप से उपनिषदों की प्रवृत्तियों पर आना—बुद्ध के द्वारा प्रकारान्तर से उन्हीं का प्रवर्तन करना और उन्हें भाव बढ़ाना—ऋग्वेदीय धर्म और वेदता-तत्त्व तथा मृत्यु, पुनर्जन्म और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों का एतद्विषयक बुद्ध के विचारों से सम्बन्ध—ऋग्वेदीय वेदता बौद्ध दृष्टि में—ऋग्वेद के विकास की तीन अवस्थाओं में वेदबहुत्व एकेवचरूप और एकात्मत्व का बुद्ध के विचार के साथ सम्बन्ध—संहिता और मन्त्रों के विषय में बुद्ध के कुछ उद्गार और उनके अर्थ—यज्ञों की ओर बुद्ध की दृष्टि—साङ्ख्ययुगीन यज्ञ-यापारिमय धर्म के प्रति सन्धुद्ध की प्रतिक्रिया—इस विषय में उपनिषद मनीषियों से उनकी तुलना—वैदिक कर्मकाण्ड से वातना का निरोध नहीं होगा—बहु विमुक्ति का मार्ग नहीं है—बुद्ध वैदिक ज्ञान के संस्कारकर्ता—अपरोक्ष अनुभूति को वेद के ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं—उपनिषद और बुद्ध-धर्म—कर्मकाण्ड के प्रति बुद्ध और उपनिषदों की दृष्टि की तुलना—यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या—उपनिषदों के ब्रह्मसंस्कृतज्ञान और तत्वागत-अवहित अनात्मवाद के स्वरूप और नय में वारस्परिक समता और विचलता—उपनिषदों का एकात्मवाद—

अनात्मवाद जो विमुक्ति के लिये है—नानात्व-सत्ता का प्रहाय बौद्ध साधना में सम्मिलित—औपनिषद मनोविज्ञान—मानसिक व्यापारों का आत्मा में व्य-
 त्वावेद्यमित्तिरोध और औपनिषद समाधि—औपनिषद मोक्ष साधन-यथ
 कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की एतद्विषयक बुद्ध के विचारों से तुलना—
 सम्यक् सम्बुद्ध औपनिषद विचार-परम्परा से विरहित नहीं हुए, बल्कि यही
 उनका समग्र आचारतत्त्व और तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और उसके बिना उसका
 समग्र ज्ञान ही अशुद्ध है इस मत का उपपादन—बुद्ध-वर्म बहुजन-बोधान्त
 है—बहुजन-बोधान्त के रूप में बुद्ध-आत्म को देखना ही वास्तव में औपनिषद
 मन्तव्य के साथ मूल बुद्ध-वर्णन के सम्बन्ध का ठीक अनुमापन करना है ।

आ—बौद्ध दर्शन और गीता

गीता-दर्शन का समग्र और अविरोधी स्वरूप—गीता ज्ञान-मार्ग का ध्य
 है—गीता में ज्ञान और कर्म का समन्वय—साध्यतः मार्ग गीता में प्रशंसित—
 गीता का अन्तिम-योग और बौद्ध साधना—गीता और महायान में आशान-ग्रहण
 —बौद्ध प्रज्ञान की ओर दोनों की प्रवृत्तियों की तुलना—बुद्ध और कृष्ण—
 तथागत और कृष्ण दोनों ही उत्प-व्य विज्ञाने एवे—कर्म पुनर्जन्म मोक्ष
 और आचारतत्त्व सम्बन्धी दोनों के विचारों का सम्बन्ध—कर्म पर तुलनात्मक
 विचार—कर्म-स्वातंत्र्य और सक्तिवाद—बहुनिर्वाण और निर्वाण—गीता
 और बुद्ध-दर्शन का आध्यात्मिक भूतार्थक—मनुष्यता के विचार से बुद्ध-बाणी
 अधिक प्रभावशाली किन्तु तात्त्विक दृष्टि से गीता सम्भवतः अधिक परिपूर्ण
 दर्शन—परम सत्य की अविरोधनीयता और बुद्ध-नीति—यथा बौद्ध दर्शन 'पञ्चेश
 का अधिष्ठित दंत' है । बौद्ध दर्शन का प्रभाव गीता-दर्शन की अपेक्षा अधिक ध्यात्मिक
 और विश्ववर्णीय है ।

इ—बौद्ध दर्शन और आध्यात्मिक-मत

सुत-निरुद्ध में महावास्तविक के रूप में आध्यात्मिक मत के सर्वसिद्धान्त का
 वर्णन और बुद्ध की उसके प्रति प्रतिक्रिया—आध्यात्मिक-सम्मत ऋद्धिवाद का संक्षिप्त
 विवेचन और बुद्ध-मन्तव्य की उसके साथ किसी भी प्रकार समता विज्ञाने की
 अनुपयुक्तता—बुद्ध-मत और आध्यात्मिक-मत आपसी विपरीत सिद्धान्त हैं ।

इ—बौद्ध और जन दर्शन

जन धर्म समग्र-परम्परा का अन्तर्गत है—जन धर्म की विज्ञातता—

बौद्ध और जैन दोनों धर्म हैं—नियन्त्र नाट्युत्त—जैन और बौद्ध दर्शन
आचार-तत्त्व के क्षेत्र में—तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में—उत्तरकाशीन बौद्ध और
जैन न्याय-परम्पराएँ—अनेकान्तवाद सन्तुल्यवाद नहीं—क्या जैन धर्म बीच
रास्ते का पड़ाव है ? अनात्मवाद और भव विज्ञान की साधनात्मक एकता ।

उ-बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक

उपोद्घात—न्याय-वैशेषिक दर्शन (जबका दर्शनों) पर संक्षिप्त विचार
और दोनों का बौद्ध दर्शन से ऐतिहासिक और तार्किक सम्बन्ध—प्रमाण
मीमांसा—सामान्य और विशेष—इन्द्रियार्थसंनिर्णय की समस्या—अनुमान
प्रमाण के सम्बन्ध में—बौद्ध और न्याय दर्शनों के इतिहास की कुछ समस्याएँ
—माध्यमिकों पर पक्षत सिद्धान्तों का आरोप—ईश्वर कर्तृत्वाद् कारणवाद
अधिकवाद, आत्मवाद और नैरात्म्यवाद पर बौद्ध और नैयायिक दृष्टि से
विचार—ईश्वर की सिद्धि और अस्तिद्धि—बौद्ध विज्ञानवाद और वैशेषिक
परमाणुवाद—उपसंहार ।

ऊ-बौद्ध दर्शन और सांख्ययोग

उपोद्घात—सांख्य-योग दर्शन पर तार्किक दृष्टि से संक्षिप्त विचार—
सांख्य और बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक और तार्किक सम्बन्ध की समस्या—बुद्ध
के पूर्व पृष्ठ अराध सांख्यार्थ थे—बुद्ध-निरोध दोनों दर्शनों का सम्मत उद्देश्य—
सांख्य प्रमाणवाद—‘प्रतिबिम्बमाध्यवसाय’—सांख्य तत्त्व—बौद्ध ‘अविद्या’
सांख्य की मूल प्रवृत्ति नहीं—सांख्य मनोविज्ञान—‘इत्येव प्रवृत्तिरुक्त’ बुद्ध-मत
को माग्य नहीं—ईश्वरवाद की समस्या—अध्यान और मोक्ष—‘नास्मि न मे
नाहम्’ और बौद्ध अनात्मवाद—सांख्य साधना-मार्ग—बौद्ध दर्शन और योग
सूत्र—बौद्ध और योग दोनों ‘चतुष्पृह’ शास्त्र हैं—योग का साधना-मार्ग—
अभिनिवेश और ‘आत्मानिनिवेश’—योग बौद्ध और पातञ्जल—दोनों
की दार्शनिक परिस्थिति—योगसूत्र में विज्ञानवाद का उच्छेद—उपसंहार ।

ए-बौद्ध दर्शन और पू्वमीमांसा

उपोद्घात—पू्वमीमांसा में दर्शनत्व और बौद्ध विचार के साथ उत्तका
सम्बन्ध—मीमांसा की ब्रह्मज्ञान का स्वतन्त्र महत्त्व स्वीकार नहीं—प्रामाण्यवाद
ईश्वरवाद और आचार-तत्त्व की लेकर बौद्ध और पू्वमीमांसा दर्शनों का तुलना
त्मक अध्ययन—‘सामान्य’ और ‘विशेष’ पर बौद्ध और मीमांसा-मन—इहाँ

का स्वतः प्रामाण्य भीमांसा को माय्य है—कुमारिक द्वारा बीड़ों की निम्ना—
विज्ञानवाद का खण्डन—‘सिद्धर भीमांसा’—भीमांसा का ‘स्वयं’ उच्च
उद्देश्य नहीं—उपसंहार ।

ऐ-बीड़ वशन और बेबात

उपोद्घात—बेबात-वर्शन के पंचमुष्ठी विकास पर एक विहुंमम वृष्टि—
बहुतून—वर्ग और बीड़ वर्शन से उसकी तुलना—बीड़ वर्म को अनेक-मिछा
बेबात से अधिक व्यापक—बीड़ वर्ग और योगवासिष्ठ—योगवासिष्ठ
का रचना-काल—‘वैराग्य-प्रकरण’ का सम्बन्ध—राम का विरामी कब कहीं
से आया ?—अविचारी वृष्टि—भूम्य बह्य और विज्ञान भावना—अस्तु मनी-
मय है—परमार्थ तत्त्व को अनिर्वचनीयता—बीड़ वर्शन और आचार्य बीड़वाद—
आगम प्रकरण—वैतथ्य-प्रकरण—हीत मिथ्यात्व है—मूर्ख-प्रकरण—अद्वय
परमार्थ है—‘अज्ञात-प्रति प्रकरण’—‘अज्ञातिवाद’—‘अद्वय’ तत्त्व बुद्धों का
विषय रहा है—गोडपाद ‘मनानात्व’ पर के पुकारी—‘अल्पार्थ मोक्ष’ क्या है ?
नैतत् बुद्धों भाषितम्—गोडपाद ने बुद्ध-मीन की व्याख्या की है—बेबात
निश्चय ही बुद्ध-मन्तव्य है यद्यपि बुद्ध ने इसे नहीं कहा—गोडपादाचार्य पर
बीड़ प्रभाव—गोडपाद की भाषा पर बीड़ वर्मों की छाप—कुछ कारिकाओं
की बीड़ अवतरणों से तुलना—गोडपाद के कार्य का महत्त्वार्थ—बीड़ वर्शन
और शांकर वर्शन—भगवान् शंकर और उनके पूर्ववर्ती बीड़ आचार्य—शंकर का
वर्शन साधन-बहुव्यय की आचार-भूमि पर प्रतिष्ठित है—अनुमति और तर्क—
भगवान् शंकर के द्वारा बहुतून-आध्य में बीड़ वर्शन का प्रत्याख्यान—सर्वा-
स्तिवारी वर्शन का खण्डन—प्रतीत्य समुत्पाद की अनुरंधता—प्रतीत्य समुत्पाद
से ‘संपाद’ की सिद्धि नहीं होती—सैषक के द्वारा कुछ प्रतयांतर—स्थिर
तत्ता मात्र बिना बुद्ध-मन्तव्य नहीं समझ का सकता—सर्विकवाद का
खण्डन—सर्वास्तिवादियों के अन्य सिद्धांतों का खण्डन—सर्वास्तिवादियों पर
‘विहुंमुक्त विनाश’ का आरोप अनुचित—बीड़ों के आकाश’ सम्मन्धी विचार
का प्रत्याख्यान—आकाश बहुतून है—‘अनन्तमोक्ष’—सर्वास्तिवाद-वर्शन
का डीक मात्र शंकर को नहीं था—अस्तु से तान् की उत्पत्ति ?—बीड़ विज्ञान
वाद का खण्डन—भूम्यवाद का खण्डन—शंकर का अनीकिय—क्या शंकर
प्रमाण बह्य है ?—क्या उनका निर्गुण निर्विशेष बह्य ‘तान्’ का ही
बुलारा मान है ? अथवा क्या तान् शंकर बह्यत्त बीड़विचार अज्ञानवाद का

आवरण ओढ़े हुए विद्युत् विमानवाह का ही नव सस्करण है ?—मायावाद—
 क्या मायावाद महात्मान से लिया हुआ है ?—अगमिध्मात्र का स्वरूप—
 अध्यास—अवधार और परमार्थ अथवा संवृति और परमार्थ सत्य—असत्य के
 माध्यम से सत्य की प्राप्ति—कार्य-कारण-भाव का व्यवसाय—प्रभाव-विचार
 —सूक्ष्म निर्गुण और अनिर्बचनीय पर उपसंहार रूप से कुछ कथन—सूक्ष्म
 और ब्रह्म एक हैं—बौद्ध और बौद्ध दर्शनों के निष्कर्ष समान हैं—एक बौद्ध
 'आत्मकथार'—उपसंहार—'बौद्ध-बौद्ध' एक दर्शन ।

ओ-बौद्ध दर्शन और मध्ययुगीन भक्ति-साधना

उपोद्घात—मध्ययुगीन भक्तिचारा की पूर्व भूमि—बौद्ध धर्म की भूमि
 पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ—महायान से भक्ति की
 निम्नलिखित—मध्ययुग में बौद्ध धर्म का एशिया में सम्मुख-काय—कबीर और
 बौद्ध धर्म—धर्म-साधना पर बौद्ध प्रभाव—प्रतिपक्ष और प्रपत्ति—बुद्ध
 'प्रतिपक्ष' (मार्ग) पर और बैठे हैं जब कि भक्ति 'प्रपत्ति' (धारणागति) से
 अधिक आत्मागत ग्रहण करती है—सरणामति का बौद्ध रूप—महायान दर्शन
 और भक्ति-सत्य—संप्राप्त कृष्टि से बौद्ध दर्शन और भक्ति-दर्शन का पारस्परिक
 सम्बन्ध—सूक्ष्म-साधना—भक्ति आध्यात्मिकता सामान्य-युक्ति है ।

ओ-बौद्ध दर्शन और तन्त्र सिद्धान्त

तन्त्र-दर्शन के स्वरूप और सिद्धान्तों पर एक विह्वल कृष्टि—बुद्ध-महायान
 सत्य और केवल मध्ययुग प्रतिपक्ष पर प्रतिष्ठित—उत्तरकालीन बौद्ध धर्म में
 तान्त्रिकता का समावेश—इसी कारण बौद्ध धर्म और दर्शन के भी परिष्कार
 की आवश्यकता और आर्य समाज धर्म की महासमुद्र में नाम और रूप
 छोड़कर उसका समावेश और लोप ।

अं-बौद्ध दर्शन और आधुनिक भारतीय विचार

उपोद्घात—एक लम्बी मूर्च्छा के बाद भारतीय विचार की अनी स्फूर्ति-
 भय आवृत्ति और आत्मस्वरूपानुस्मृति—आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अनूत
 पूर्व परीक्षण-युग—स्वभावतः बौद्ध विचार के प्रति एक नई दिलचस्पी और
 शास्त्रमुनि का आकर्षण—बुद्ध और पापी—बुद्धवाद के निहित बुद्धपरिचर्यों
 से दिव्यतः धार्मिक विचारात असी किसी बौद्ध के सत्य अथवा धर्म की

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन

वैसे तो मूल बौद्ध-दर्शन का यदि प्राचीन उपनिषदों के उपदेश के साथ और विकसित बौद्ध दर्शन का/बेदांत दर्शन की परम्परा के साथ ठीक सम्बन्ध जाँच किया जाय तो यही सम्भवतः समग्र भारतीय दर्शन में बौद्ध विषय-प्रवेश दर्शन के स्थान का भी सम्यक् अनुमापन हो सकता है। जबकि उपनिषदें भारतीय अध्यात्म-साधना के सर्वोच्च तत्त्व को अपने नैसर्गिक और शरच्छतम रूप में प्रकट करती हैं, उत्तर-काशीन बेदांत का विकास उनके मन्त्रियों को पंडितबाब की दिशा में जाने बढ़ाता है। यही हास्य ठीक बौद्ध दर्शन की भी है। उन्नेका की भूमि में सम्यक् सम्बोधि को साक्षात्कार करने वाले धाम्यमुनि के द्वारा जिस विष्णु-मार्ग का बहु-जन के हित और सुख किए के उपदेश दिया गया वह अपने विष्णुवतम रूप में उपनिषदों के ज्ञान के समान ही आन्तरिक अनुमृति बचवा अन्तर्ज्ञान पर अवलम्बित था। किन्तु उत्तरकाशीन बौद्ध आचार्यों के द्वारा प्रायः बुद्ध के मन्त्रियों को बौद्धिक रूप से प्रस्थापित करने के प्रयत्न में जिस बाद-परम्परा का प्रवर्तन किया गया वह वास्तव में प्रतिक्रिये रूप से प्रायः उसी मार्ग से गई जिस पर उत्तरकाशीन बेदांत की परम्परा। बाद के बेदांताचार्यों के प्रज्ञानों में जिस प्रकार इस तथ्य की सम्यक् अनुमृति नहीं दिखाई पड़ती कि औपनिषद मनीषियों के चिन्तन किसी तादृिक परम्परा के परिचाम स्वरूप प्राप्त नहीं वे बल्कि गहरी आत्मानुमृति पर प्रतिष्ठित थे। उसी प्रकार उत्तरकाशीन बौद्ध आचार्य भी अपने प्रतिवा देवों को परास्त करने की मुख्य चेष्टा में सम्भवतः यह धार न रख सके कि बुद्ध के समय में भी बनेक महान् बाबी और तादृिक थे जो स्वयं बुद्ध को भी तर्क में परास्त करने का दावा रखते थे ? बनेक जति परिवर्तन करनेवाले बाह्यन याज्ञिक थे ? जो बुद्ध को तुच्छ व्यक्तित्व

(१) देखिए अनुपम प्रकरण में 'प्राग्वैदिकालीन दर्शन की अवस्था और सम्यक् सम्बद्ध का आधिर्भाव' पर विचार।

(२) देखिए उपर्युक्त के समान ही।

इच्छुक किन्तु अपने व्यक्ति और समष्टि सभी क्षयों में तत्रतत्रामिननिबन्धी तुम्बा की बुरी तरह से भ्रिकार मानवता के लिये बुद्ध का संदेश ।

अ—सद्वैवणात्मक बृष्टिपात और एक सर्वनिष्ठ संप्राप्तक तत्व की ओर संकेत

अनेक तत्वज्ञान सम्बन्धी और प्रभाव-प्रमोद विषयक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की भूमि में सब वर्तन एक होते हैं—‘मम ह्येते सर्व एव भवन्ति’ ।

पृष्ठ ७१५ १०८६

छठा प्रकरण

उपसंहार और भारतीय ब्रह्म-साधना में बौद्ध वर्धन के स्थान और महत्व का अनुमापन

सिद्धाचलोकन और अन्तिम निष्कर्ष—‘विश्वे एतो महान्त इव’—‘एकमेव वर्धनम्’ की भावना में किसी भी एक वर्धन-प्रवाली की भ्रम या महान् कहना उचित नहीं—अतः ‘बुद्ध-आसन धनन करने के लिये अत्यन्त उत्तम है’ वर्धनोत्पत्ति सारिपुत्र के इन सामान्य और अत्यन्त उदार शब्दों में ही समग्र बौद्ध वर्धन के महत्व का यही अंकन—पूर्व-प्रस्तावित ‘बहुजन वेदान्त’ के रूप में मुक्त ब्रह्म-वर्धन और ‘बौद्ध वेदान्त’ के रूप में उत्तरकालीन विकसित बौद्ध वर्धन की देखना ही भारतीय वर्धन में बौद्ध वर्धन के स्थान और महत्व का सम्भवतः सर्वोत्तम अनुमापन है—तत्त्वगत की ‘पश्चिमा वाचा’ ही समग्र भारतीय वर्धन-साधना की ‘पश्चिमा वाचा है—‘वयमस्मा संस्कारा अप्यमादेन सम्पादेवन्ति’—लोचक की रीति या कला-साधना ।

पृष्ठ १ ८७-११ ४

मान सम्मते थे किन्तु बाहियों का जो बाद कूटा यात्रिकों ने जो अपने चम्मच और कूटपात्र नदियों में डेंक दिये^१ वह सब तथामत की तर्क-परम्परा से परास्त होने के कारण नहीं बल्कि उनके सम्प्रदाय की सच्चाई से पराभूत होकर ही। उसमें तर्क प्रदान कारण न था? इसकी सम्यक् अनुभूति उत्तरकाशीन बौद्ध दार्शनिक न कर सके। तथामत के सिद्धान्तों के अधिक बुद्धि-सम्मत होते हुए भी उनके पास सत्य का एक गहरा सम्बन्ध या एक अनुपम ज्ञान-सम्प्रदाय की एक अपरोक्ष अनुभूति थी एक महान् साधना-सम्प्रदाय की ब्रह्मविद्या की थी उनके मुख पर एक भाषा थी जिस के कारण सभी उनसे अभिभूत हो जाते थे। तथामत का वह केवल अद्वितीय व्यक्तित्व ही था जिसके कारण न केवल समस्त विचारशील भारत ही बल्कि विश्व का एक विद्यालय लब्ध ही उनके प्रति नम्र होना और श्रेष्ठ और मनुष्यों के अनुपम शास्त्रा के रूप में उनके प्रति भ्रष्टा अपित करने को विवश हुआ। शास्त्रा समाज अथवा ठीक कहे तो यहमय धर्म में विश्वास करनेवाला भारतीय समाज तो उनके उपदेश को ठीक तरह से पचा न कर सकने पर भी एक उत्तर काशीन युग में उनके विद्यालय व्यक्तित्व और चारिष्यगुण एवं अपूर्व उपमा के कारण ही उसे विष्णु का साक्षात् अवतार मानने को भी बाध्य हुआ स्वयं उनके समय में ही शास्त्रा उनसे बड़ा (बड़ा) की संकीर्णता का मार्ग पूछने जाने जाने और उसके काश्मिर चारिष्य और मीढ्गस्यायन जैसे शास्त्रा महासाक्ष तो स्वयं उनके प्रतिष्ठित शिष्य ही हो गए। कहने का तात्पर्य यह कि बुद्ध का विचार जो अपने समय में आठारवर्ष की इतना उद्देष्टित कर सका उसका कारण इतना उनके द्वारा किसी नवीन व्यवस्थित दर्शन प्रकाशी का उद्भावना कला नहीं था जितना कि दिगन्तव्यापी ज्ञान-परिमयों को सदा प्रसारित करनेवाला उनका समूहपूर्व व्यक्तित्व जिसके विषय में ही धर्म सेवापति चारिष्य ने अपने परिनिर्वाण के समय अपनी माता से कहा था 'महा उपाधि के। मेरे शास्त्रा के समान हीक समाधि प्रज्ञा विमुक्ति ज्ञान दर्शन में कोई नहीं है'। जो कोई उनके मार्ग पर चढ़ता था वह यही अपने बुद्ध के अवैय नास को देखता था^२ शान्त और शान्त हो जाता

(१) देखिए इसी प्रकार में आये 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' पर विचार।

(२) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१५

(३) जो इमस्मि चम्मचिन्त्ये चम्मचसो विहेत्सति ।

वा । इसी में तथागत की सफलता का रहस्य था । अतः जिस प्रकार उपनिषदों का ज्ञान किसी चर्क-परम्परा के विकास का परिणाम नहीं किन्तु ऋषियों की विधुद नैसर्गिक अनुमति का स्फूर्त प्रकाशन है उसी प्रकार उन महाधर्म का बाद भी है और जिस प्रकार औपनिषद ज्ञान के समन्वय-विधान का प्रयत्न एक उच्चतम प्रमाण-विज्ञान का आश्रय लेकर उत्तरकालीन भाषाओं भाष्यकारों और वृत्तिकारों के द्वारा किया गया वही ठीक हालत बुद्ध-मन्त्रव्य के विषय में भी कही जा सकती है । अतः इन दोनों धाराओं का उनके उत्पन्न से लेकर (जो यदि बिल्कुल समान नहीं तो समीपतम तो है ही) उनके विकास की परम्परा पर्वत देखना ही उनके पूरे तुलनात्मक स्वस्व को भी देखना होगा । विधुदतम रूप से शीत से बेहतर ही है किन्तु अन्य न्याय-वैशेषिकादि दर्शन भी शीत परम्परा में ही जाते हैं । चूंकि इनके विकास का सामान्यतः पर्यवसान बेहतर में ही होता है अतः साधारण दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जब हम केवल बेहतर दर्शन को उसके समग्र रूप में बौद्धदर्शन के साथ देख लेते हैं तो कदाचित् यही उचिततम समग्र 'वास्तविक' दर्शनों को बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में देखना होता है । किन्तु अत्यधिक घुमघुमा और अस्पष्टता एवं विषयों के अधिक सम्मिश्रण के मार्ग को हटा कर एवं विषय की अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रकाश में दिखाने के लिए हम सभी भारतीय दर्शनों का सम्बन्ध अलग-अलग बौद्ध दर्शन के साथ देखने का प्रयत्न करेंगे और इस प्रकार न केवल सभी शीत दर्शन-सम्प्रदायों का ही बल्कि जैनवाद दर्शनों का भी सम्बन्ध हम बौद्ध दर्शन से अलग-अलग दिखाएँगे । इस प्रकार के निरूपण में हम पहले तो ऐतिहासिक ढंग का ही न अन्वय करेंगे अर्थात् वैदिक युग से लेकर आज तक की सभी दर्शन प्रक्रातियों का क्रमशः सम्बन्ध बौद्ध दर्शन से दिखाने का प्रयत्न करेंगे किन्तु प्रत्येक दर्शन के ऐतिहासिक विकास को हम यहाँ अपने अध्ययन

प्राप्त जाति संघारं बुद्धसत्तमं करिस्सति ।

महापरिनिष्वास सुत्त (बी० २११)

- (१) "कोई बण्ड से बमन करते हैं कोई घरत और कोड़े से भी तथागत के द्वारा बिना बण्ड, बिना घरत के ही मैं बमन किया गया हूँ । बड़ी बाढ़ में डूबते हुए, बुद्ध की घरत आयत, ऐसी घरतापति के प्रभाव को । जब जाल सिखर गया ।" अनुमत्तिमात्त की उक्ति, देखिए अनुमत्तिमात्तसुत्त (मज्झिम २।११६)

का विषय न बनाएँगे क्योंकि इस पर कुछ विचार हम द्वितीय प्रकरण में ही कर चुके हैं। हाँ सांख्यदि दर्शनों के विषय में ऐतिहासिक तत्व को लेकर यद्यपि यहाँ भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ा है। वैसे इस प्रकरण में विद्युत् सैद्धान्तिक पक्ष की ही प्रधानता रखी गई है। चूँकि इस सैद्धान्तिक पक्ष के भी अपेक्षित मूल्य अंकन में कभी-कभी जो बड़ा श्रम हो जाता है, जिससे कभी बड़े-बड़े विद्वान् भी मुन। नहीं हो पाते वह यह है कि जो एक सिद्धान्त प्रकारान्तर से दो दर्शन-सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है उसके आधार पर घट अपनी यथानुसार एक को दूसरे का ज्ञानी बना दिया जाता है। योगशास्त्र के जीयब धारण के 'चतुर्व्यूह' और बुद्ध के चतुरार्य सत्त्वों को लेकर बड़ी आसानी से एक या दूसरी बात कही जा सकती है, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थी का मार्ग बड़ा कठिन है। निश्चय ही वह अध्ययन की गारा पर चक्का है जिस पर घिरने में डेर नहीं लगती। वहाँ ऐतिहासिक ज्ञान का विशेष प्रकाश नहीं है वहाँ तो यह पतन कितना नीचे जा सका है इसका कोई अनुमान ही नहीं। मन्वान् कुमारिक बौद्धों पर यह आरोप लगाते हैं, कि वे वैदिक वस्तुओं को लेकर उन्हें अपनी कहकर व्यर्थ प्रकाश करते हैं^१ किन्तु उन मनीषी आचार्यों को स्वयं यह विदित नहीं था कि वे स्वयं अपने धार्मिक परिष्कारों के लिए या अन्य अनेक विचारों के लिए अज्ञात रूप से बौद्धों के कितने ज्ञानी थे। इन सब तथ्यों से ऐतिहासिक पक्षेयक को तो अपने प्रकाश के अनुसार सत्य ही निकालना ठहरे। फिर समालोचनात्मक अध्ययन की एक प्रसिद्धि वाली कटान यह भी है कि हमारी अनेक पाश्चात्य मान्यताएँ होती हैं जिन्हें तथ्यों के प्रकाश में डूबे जाकर पड़ता है परन्तु हम जोड़ने को उद्युक्त नहीं होते। समान को समान और असमान को असमान ठीक रूप से दिखा देना निष्पक्ष अध्ययन की अन्तिम कसौटी है। साधारण मस्तिष्क अपने मानविक राय-रेव के ही प्रकाश में तथ्यों की व्याख्या करने में प्रवृत्त होता है। जो कुछ भी सत्य हो उसे स्वीकार करने में मुझे विवशता नहीं होती इतना बौद्धिक वैराग्य उसके लिए सदा सम्भव नहीं होता। 'यदीदं स्ववमर्षाणां रोचते तत्र के वयम्' ऐसा चर्मकीर्ति के समान

(१) देखिए ज्ञाने 'योग-दर्शन' का विवेचन।

(२) देखिए तन्त्रशास्त्रिक में से इसी विषय का एक अत्यन्त उपयुक्त उद्धरण पैकलकुकर हिन्दी में के ऐमिसमण संस्कृत लिब्रेरीयर, पृष्ठ ४३-४४

(३) प्रमाण धार्मिक २।२ ९

कहनेवाले विचारक अधिक नहीं हुए हैं ? भूति की अपने मत से विरुद्ध व्याख्या करनेवालों के लिए भी 'तथापि बेदायदचेत् स्यात् कामं भवतु न मे द्वेष' ? ऐसा कहने के लिए सिवाय संकर और किछ की बाची प्रयुक्त हो सकी है ? स्वतन्त्र और निष्पक्ष विचार अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। यहाँ प्रयत्न मात्र ही किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने 'मीसिकस' बीछ दर्शन अपना मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-बेदान्त' नाम देने का विनम्र प्रस्ताव उपस्थित किया है। यह न तो बेदान्त के प्रति लेखक के चिपटने या उसे आत्यन्तिक महत्त्व देने के परिणाम-स्वरूप है। यद्यपि प्रत्येक भारतीय दर्शन का निष्पक्ष विचारणीय ऐसा करने का कोम करेगा। और न बीछ दर्शन की औपनिषद दर्शन के प्रति सर्वांग में एकात्मता प्रतिपादित करने के प्रयत्न स्वरूप ही है। जब मैं मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन बेदान्त' या 'जन-बेदान्त' कहता हूँ तो बेदान्त शब्द से मेरा तात्पर्य होता है या तो केवल प्राचीनतम उपनिषदों से ही मा ज्ञान के चरम अवधान से ही। उपनिषदों के श्रमियों ने जिस ज्ञान का प्रवर्तन किया वह एक उल्लकोटि का आध्यात्मिक और तात्त्विक उपदेश या अपना उपनिषदों की मापा में ही कहें तो 'गुह्य' आदेश था।^१ निरक्षय ही यह गुह्य आदेश सब के लिए नहीं हो सकता था जब कि प्रवर्तन ज्ञानभूति आदान उप कोशल और बुद्धिप जैसे साधक भी बिना कठिन साधना का मूल्य चुकाये उसके मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकते थे। उपनिषदों के आध्यात्मिक यत्र सम्बन्धी विचार, उनके पद्य विद्या सम्बन्धी उद्गार, उनके द्वारा ज्ञानवाद का प्रचार, उनके 'अधोदसीयान महतो महीयान' सम्बन्धी उपदेश निरक्षय ही साधारण जनता के लिए नहीं हो सकते थे। भगवान् तथागत ने अपने अनुसूय के आधार पर जिस धर्म का जिस सील समाधि और प्रज्ञा का एवं सबसे अधिक व्यापक वैश्वी भाव का साधारण जनता में प्रचार किया वह सब अपने व्यवहार-मध्य में तो उपनिषदों के समान था ही अपनी तात्त्विक प्रतिष्ठा के लिए भी उन्हीं पर आधित है ऐसा हम आज कह सकते हैं। साधारण जनता के लिए, 'बहुजनों' के लिए बेद का ज्ञान का पर्यवतान क्या हो सकता है इसी का निरूपण बुद्ध न किया है और इसीलिए सम्मचन से उसकी तात्त्विक व्याख्या में नहीं गए

(१) बुद्धचरितम्क भाष्य ४।३।६

(२) ब्रिहदारण्यकम्क ४।३।१२ । अथर्वकोश बेदार्य की घोषनीयता के लिये देखिये ४।३।१२

है। किन्तु साधारण जन के ज्ञान से तात्पर्य यहाँ मित्र कोटि के ज्ञान से नहीं है। केवल उच्चतम विद्वत् वास्तविक ज्ञान के ही साधारण जनों में प्रसारित स्वप्न से है। यह ब्रह्म-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' कहे जाने का संक्षिप्त स्पष्टीकरण है। आत्मवाद और अनात्मवाद की कठिनाई का जैसे शत्रु-प्रकरण में ही समाधान किया जा चुका है और ज्ञाने इस प्रकरण में भी उसपर विचार किया जायगा। कुमारिक जैसे कट्टर मीमांसक ने भी ब्रह्म दर्शन का 'उपनिषत्प्रवृत्त' स्वीकार किया है^१ और इस रूप में उसे प्रमाण भी माना है। वास्तव में वैदिक दर्शन के सामान्य स्रोत से ही समस्त भीत परम्परा के दर्शनों का और उसी प्रकार ब्रह्म दर्शन का भी उद्गम माने बिना हम भारतीय दर्शन-परम्परा के ऐतिहासिक स्वस्व को कुछ समझ ही नहीं सकते। जब 'उपनिषत्प्रवृत्त' ब्रह्म दर्शन का कुमारिक जैसे आचार्य के शास्त्र पर सिद्ध है तो फिर हम यह कैसे स्वीकार न करें कि जिस प्रकार अन्य अन्य शास्त्र मीमांसा आदि अनेक दर्शन अपने अपने विचारों को अपने अपने पक्षों की पुष्टि करने के लिए प्रसारित करते हैं उसी प्रकार ब्रह्म दर्शन भी करता है। फिर चाहे वह वेद के प्रामाण्य को स्वीकार भले ही न करता हो। फिर वेद के प्रमाण को स्वीकार करके भी शास्त्र मीमांसादि दर्शन कहीं-कहीं उसके मन्त्रम्य के कितने दूर और वेद के प्रामाण्य का तीव्रतम प्रत्याख्यान करके भी ब्रह्म आचार्य कहीं-कहीं वेद के मन्त्रम्य के कितने समीप पहुँच गए हैं, यह भी तो भारतीय दर्शन में एक अत्यन्त सामान्य-जन्य और विचारणीय प्रश्न है। सभी 'मास्तिक' दर्शनों का पर्यवसान 'वेदान्त' में है और सर्वांग में यही 'भीत' दर्शन भी है। श्रुति का तात्पर्य (यदि उसे प्रमाण रूप से शास्त्र समझ जाय तो) एक ही हो सकता है किन्तु उत्तरकालीन वेदान्त के आचार्यों ने पाँच प्रकार से उसकी व्याख्या की है और सब ने श्रुति का ही आशय और प्रमाण लेकर। उनके पारस्परिक विवादों का इतिहास ही बताता है कि वे उपनिषदों के अन्वया में कहिए कि वेद या ज्ञान के अन्तिम तात्पर्य के सम्बन्ध में मतभेद नहीं रखते हैं। जिस प्रकार सिद्ध, विष्णु, शिव और कृष्ण की उपासना करने वाले भी अपने मत के अन्त में 'वेदान्त' की संज्ञा लगा केते थे (यथा मान्य-वेदान्त रामानुज वेदान्त वैष्णव वेदान्त आदि) उसी प्रकार उन सबको माना विशिष्ट वैतन्त्र्य की कोटि में आकलनेवाले अन्त्य परिवर्तनकार्य शक्ति भी अपने अन्वया

बाह को 'यथा चायमर्थः सर्वं बेदान्ताणाम्' ऐसा कहकर 'बेदान्त' के रूप में उसकी स्थापना भी कर सकते थे जो उनसे विद्वत् 'बेदान्त' बादियों की दृष्टि में 'बसन्तसूत्र' ही हो सकता था। फिर नैमायिक सांख्य और मीमांसकों के प्रति विरोध तो सभी उत्तरकाशीन बेदान्तवादिनों का प्रायः समान ही है, अपने अपने दृष्टिकोणों को लेकर और सभी ने ब्रह्मसूत्रों के आधार पर उनका सम्यक् भी किया है। हमारा तात्पर्य यहाँ केवल यह दिखाने का है कि जिस प्रकार न्याय ब्रह्मवि की बहुत सी मान्यताओं का खण्डन करके भी एवं आपस में अनेक विभिन्नताएँ रखते हुए भी औपनिषद् मन्त्रस्य के विषय में सभी उक्तछते हुए भी अपनी प्रमाण-परम्पराओं में भी समान रूप ग्रहण न करते हुए भी (केवल श्रुति प्रामाण्य को छोड़कर और वह भी प्रकाशान्तर से अपने अपने ढंगों के अनुसार) सभी संकर, समानुक्त बल्लभ आदि के सम्प्रदाय 'बेदान्त' की संज्ञा ग्रहण करते हैं तो अन्तिम ज्ञान की ही खोज में लगे हुए धर्मकीर्ति गणार्जुन अर्जुन बसुन्धर आदि आचार्यों के मतों को उनके विरोधियों के मतों के समान ही 'बेदान्त' की संज्ञा क्यों न दी जाय ? वे तो स्वयं 'ब्रह्मवादी' होने का दावा तक करते हैं। हाकर के पूज्याभिपूज्य गुरु तक तो उनकी परम्परा में हैं। फिर जिस प्रकार संकरादि मनीषी औपनिषद् मार्ग के साध्य का दावा लेकर ज्ञान की अन्तिम गवेचना में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार बीड आचार्य बुद्ध के द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करके ही ज्ञान के मन्त की बाह पाने का प्रयत्न करते हैं जहाँ उन्हें केवल भारतीय दर्शन की सर्वोत्तम विचार-परम्परा अर्थात् 'बेदान्त' दर्शन के साथ उनका सम्बन्ध दिखाने के लिए और नञ नञ उनके महनीय विचारों के प्रति वृत्तता का प्रकाशन करने के लिए ही अन्य किसी प्रयोजन से नहीं यदि हम 'बीड बेदान्त' (अर्थात् बीड दृष्टि से ज्ञान का चरम निरूपण) के प्रस्थापन करने वाले यह तो क्याचिन् यह उन्हें भी नहीं असरगा और मात्र ही संकरादि मनीषियों की महिमा भी कुछ नहीं घटनी। निरूपण ही बीड आचार्यों की परम्परा ज्ञान की गवेचना में साहसपूर्वक उसके पर्यवमान पर्यन्त तक गई है और निर्भय पूर्वक अभिमान करते हुए उसका तथाकथित 'अमावास्या' प्रतिपेक्ष भी क्या वास्तव में 'अमावास्या' ही हुआ है अथवा 'ब्रह्मावसान' प्रतिपेक्ष करनेवाले मनीषी बेदान्तवाच्य भी उसी के पास पहुँच है और इन प्रकार विपरीत मार्गों पर चलते हुए भी दोनों ने प्रकाशान्तर ने 'नेति होवाच यात्रवन्त्य' अथवा 'स एव नेति तस्मात्मा' की औपनिषद् भूमि पर ही पैर जमाया है यह इन बातें देखें। पर तब न हक पर विचार करते हुए न दोनों कि

प्रकार समान माने के समी होने हैं इसका भी विवेचन हम करेंगे। विवेचन अखण्ड वेदान्त का निर्गुण-निष्ठकार कहा गया है। यही भूमि बीडों के निश्चित मानता की है। दृष्टि-भेद को छोड़ दें तो दोनों एक समान हैं वेदान्त हैं। उपर्युक्त कारणों से ही हम मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' और उत्तरकाशीन बीड दर्शन को 'बीड वेदान्त' के नामों से अभिहित करने में प्रवृत्त हुए हैं। किन्तु सभी तो प्रारम्भ से ही इन दोनों के उपयोग में हमें भारतीय दर्शन परम्पराओं का अध्ययन करना नहीं होता। अभी हम स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से प्रत्येक भारतीय दर्शन का बीड दर्शन से मिलान करेंगे और तभी हम कुछ कह सकेंगे। वास्तव में तो 'यदीह स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्' ऐसी बुद्धि हमें सदा रहनी है क्योंकि वेद और ज्ञान अनन्त है।

इस दृष्टि से विचार करने पर न तो यहाँ बीड दर्शन को ही बीड दर्शनों के दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है और न बीड दर्शन के अतिरिक्त दर्शनों को ही बीड दर्शन की भावना में व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार न तो एक तरफ बीड दर्शन में कुछ भी गभीर न दिखाने का प्रयत्न कर बुद्ध और बीड दर्शन की भारतीय दर्शन के प्रति अत्यन्त दीर्घकाल से पानी छेर दिया गया है और न दूसरी तरफ बुद्ध और बीड दर्शन के ही बीच बाँटकर भारतीय दर्शन में अन्य सब को उसके क्षेत्र के रूप में वर्णित किया गया है। जो बीड है उसको उसी रूप में दिखाकर केवल ने केवल दर्शन को समग्रता की ओर इंगित मान किया है। कहीं-कहीं केवल ने एक अक्षित सीमा में निम्नतापूर्वक अपने मत का निवर्तन भी आवश्यक समझा है जो बहुत भी हो सकता है और यही भी किन्तु जिसके ऐसा होने पर उसके अध्ययन की मज्जा बटती नहीं। प्रत्येक दर्शन और उ के भाषाओं की परम्परा को न य दर्शन और उ। भाषाओं की परम्परा के साथ ही रखकर अध्ययन किया गया है जो ऐतिहासिक और तात्त्विक दोनों ही दृष्टियों से समीचीन है। इस प्रकार बीड दर्शन की अन्य दर्शनों के साथ तुलना करने पर बीड कि उचाहुर नत बीड दर्शन की स्वायत्त दर्शन से तुलना करने पर, बुद्ध और उनके मन्तव्य को अक्षपात और उनके मन्तव्य के साथ ही तुलना का विषय बनाया गया है और इसी प्रकार दोनों दर्शनों के उत्तरकाशीन भाषाओं का पारस्परिक अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार साक्षरभूमि के व्यक्तित्व और विचार की तुलना अतिविश्व धनीधियों से ही की गई है जिनके प्रमाण सभी 'नास्तिक' और 'नास्तिक' प्रवृत्तियों से निरपेक्ष है और उत्तरकाशीन बीड भाषाओं की ही उत्तरकाशीन वेदान्त के

जाचार्यों के सम्पर्क में लाया गया है। फिर एक बड़ी कठिनाता जो अनुभूत की गई है वह यह है कि भारतीय दर्शनों में से प्रायः सभी का एक विशेष ऐतिहासिक विकास है और जैसे शीत परम्परा में सांख्य-मीमांसादि दर्शनोंकी उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में धर्मशास्त्र आदि विन्तन प्रणालियों की उनके बहुकालम्प्रापी ऐतिहासिक विकास में एक विशिष्ट स्वरूपता दृष्टिगोचर होती है जो सभी सामान्य व्यवस्थित अध्ययन की असफलता पर स्थित हो सकती है। सांख्य के निरीश्वरवाद और माध्यमिकों के शून्यता-दर्शन की अभावात्मक व्याख्या पर कोई सामान्य निर्णय नहीं दिया जा सकता कारण कि अन्य-ग्रन्थ में उनके स्वरूप में परिवर्तन है जो किसी एक सामान्य नियम में बांधा नहीं जा सकता। इस ऐतिहासिक विकास के तथ्य को ऐसे स्थानों में बिना देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा गया है बजाय उनके किसी एक ही स्वरूप को लेकर निश्चयात्मक निर्णय करने के। वहीं बौद्ध दर्शन का किसी अन्य दर्शन के साथ कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं है वहीं केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही निरूपण कर संक्षिप्त समीक्षा उपस्थित की गई है। मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा के विषय में ऐसा ही किया गया है क्योंकि जब इन भक्त कवियों ने भगवान् के गुण गा-गाकर साधारण लोक में उत्सववादी जीवन दर्शन की स्थापना की तो वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध विचारकों के संघर्ष या सम्पर्क में नहीं आए किन्तु फिर भी उनके (विशेषतः सन्तों के) विचार का बौद्ध विचार से तुलनात्मक अध्ययन तो अवश्य सम्भव हो सकता है अतः विपुल सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में ही इस विषय पर विचार किया गया है यद्यपि महायान धर्म के अन्तिम विचार रूप सहजमान की संज्ञा सन्त मत पर नया प्रभाव डोक गई, इसका कुछ ऐतिहासिक निर्णय करना भी आवश्यक समझा गया है। कहाँ तक सभी बातों का स्पष्टीकरण दिया जाय तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन में मिलने के अनेक स्वक हैं। न जाने कितनी बार इनमें मिलना होना ठीक नहीं कहा जा सकता। पूर्व ऋषियों और मार्ग-निर्माताओं को प्रणाम करने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है? तो फिर सभी दर्शनों के उद्भावकों वास्तव्यों और उनके मार्ग को प्रस्तुत करने वाले मनीषियों के प्रति यह विन्तन प्रणालि स है! वे सभी इस अज्ञात सत्य गवेषक के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट करें। हे शंकर! हे जीपनिषद् मनीषियों! हे निर्गुण! हे अस्मिन्नामूनसिषु में निरन्तर अब गहन करनेवाले छतसहस्र भक्त—बहि-वार्गनिकों! सभी हुवा करो बिद्या पीपी इस जन पर कि यह आपके मन्त्रों को जानकर तदनुसार आचरण कर रहे। हे सम्यक सम्बुद्ध! हे अनुमत्ता! हे पुण्य-धर्म-आरपी! हे धर्मवेप!

हे समस्त भक्त ! आपसे तो कुछ कहना ही क्या क्योंकि आप सभी उपाधियों से विमुक्त हैं। किन्तु फिर भी अपनी भावना की विसृष्टि के लिए कहना हूँ—हे निर्वाच-माया मुनि ! जिस उपासक-अवेष्टित-धर्म को आप आर्च-धर्म और आर्च विनय कहकर पुकारा करते थे उसी के विस्तृत स्वरूप के साथ हे देवातिथेय ! मैं आपके मन्त्रमय को मिलाकर देखना चाहता हूँ। मुझे प्रकाश मिले।

अ—बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान

माणव-सम्पत्ता के उदकाक में प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों की नृबली सन्धिबेला में वैदिक ज्ञान का प्रकाश सत्य इष्टा ऋषियों के प्रवृत्ति-विशुद्ध भावस में पड़ा^१। मिछ पूनाम असीरिमा वैदिक ज्ञान का उद्य और बेबीजान की प्राचीनतम सम्पत्ताओं के आदि और इसकी महत्ता मात्र से अताम्बियों पूर्ण सप्त सिम्ब के प्रवेय में सिम्ब और पंचा के पुनीत जम्बक में ब्रह्मावर्त की देवनिर्मिता पुष्पस्वली में^२ जिस आर्च संस्कृति का जन्म और पोषण हुआ वही की अजय वेद विश्व-मानव को वेद विद्या के रूप में मिली। वेद भारत के प्राचीनतम ज्ञान के माण्डार, उसके सांस्कृतिक बाधेनिक और सामाजिक आदर्शों के मूर्तिमान् प्रतीक और उसके समग्र राष्ट्रीय जीवन के संवधि स्वरूप हैं। उसके औरबताली अतीत के वे सर्व प्रथम सखी उसकी समस्त स्रष्टिजाओं के बीज रूप और प्रतिष्ठास्वान और उसकी समस्त धार्मिक और बाधेनिक विकास-परम्परा के वे सदा अत्यन्त अज्ञा और साथ ही समस्था के भी विषय रहे हैं। हिन्दु-हृदय के लिए वे परम पुरुष स्वयम्भू से उद्भूत^३ और उन्ही के साक्षात् निश्वास स्वरूप हैं^४।

(१) तद्युवेनास्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भुम्यालर्षत् तदुषीचामुदित्वमिति विज्ञा-यते। निरुक्त (तपस्यमान ऋषियों के हृदयों में स्वयम्भू वेद प्रकट हुए, यही ऋषियों का ऋषित्व है) मिलान्ने तर्बन बेरागुवस्ततपसा प्रतिवेदिरे। मनु ११।२४४ ऋषि मानों के इष्टा मात्र है रचमिता न्दु देखिने जीवीतकि बाह्मण १।३ ऐतरेय बाह्मण ३।७

(२) सरस्वती नृघडापोर्वनजीर्वनतरम्। तं देवनिर्मितं देवं ब्रह्मावर्तं प्रवक्षते ॥ मनु २।१७

(३) तस्मात्तज्जलत्तर्बहुत ऋच सायानि अतिरे। अन्वाति अतिरे तस्मात्तज्ज-स्तस्मात्तज्जत्त।। ऋग्वेद—पुरुष सूक्त (१।१९।१९)।

(४) अस्य महती भूतस्य निवसितमेतदुषीचो बृहदारण्यक २।४।१

पितृ देव और मनुष्यों के वे सनातन ऋषि हैं। अपौरुषेय और अप्रमेय हैं^१। चार वर्ष तीन लोक चार आत्मम भूत वर्तमान और भविष्यत्, इन सब की सिद्धि वेद से ही है^२। धर्म की बिन्हीं विज्ञासा करनी है, उनके लिए वेद ही अन्तिम प्रमाण है^३। सभी स्मृतिवाँ अपने प्रामाण्य के लिए वेद की ही आजी हैं और पुरुषों की भी प्रामाणिकता का यही मापदण्ड है कि वे वेद के ही बचों का भली भाँति समुपबृ हण करें^४। उसके ही निमूढ मन्त्रियों को भौतिक भाषा में समझावें। वेद की महिमा के विषय में अधिक क्या कहा जाय अगत् की उत्पत्ति स्थिति और अय के कारण स्वयं ब्रह्म की स्थिति भी तो बौद्धिक रूप में वेद रूप 'सास्त्र योनिता' पर ही अन्त में अवलम्बित है^५। भारतीय जीवन के विभिन्न संस्कारों में वेद की जो महिमा प्रतिष्ठित है उसके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। हमें यही जानना है कि दार्शनिक क्षेत्र में वेदों का महत्त्व कम नहीं है। भारतीय दर्शन की ये प्रथम और अतुल्य सम्पत्ति हैं। उपनिषदें वेद के बहिर्भूत नहीं हैं बल्कि भूति (उपनिषद्) और वेद पर्यायवाची शब्द हैं^६ और वैदिक ज्ञान का परम विकास उपनिषदों के रूप में ही हुआ है। यद्यपि आत्मविद्या के सामने उपनिषदें मन्त्रों और ब्राह्मणों के संग्रह रूप वेद की और उससे उपलब्ध ज्ञान को अधिक महत्त्व नहीं देती और यज्ञ-मय धर्म की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ या यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या ही उन्हें अधिक प्रिय है किन्तु फिर भी विरोह की हल्की भावना के साथ-साथ उनके प्रति उनकी श्रद्धा और समन्वयात्मक बुद्धि

- (१) पितृदेव मनुष्याणां वेदरचयुः सनातनम् । अघक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः । मनु १२।९४
- (२) ऋतुर्वर्त्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चात्मनः पुरुषः । भूतं भव्यं भविष्यं च तत्त्वं वेदात् प्रसिद्धयति । मनु १२।९७
- (३) धर्मं विज्ञासनात्मानं प्रमाणं परमं अस्ति । मनु २।१३ वेदोऽप्रिच्छो धर्ममूलम् । वहीं २।६
- (४) मिलाइये इतिहास पुराणार्थों वेदं समुपबृहत् । महाभारत मिलाइये वेदः प्रतिष्ठिता देवि पुराणे नाम संघयः । विभेत्त्यस्यभुताष्टौ आर्यं प्रहतिष्यति ॥ नारद-पुराण ।
- (५) शास्त्रयोनितात् । बृहत्सूत्र १।१।३ मिलाइए अतएव च नित्यत्वम् । वहीं १।३।२९
- (६) धृतिस्तु वेदो विज्ञेयो । मनु २।१

भी सर्व विहित है^१। फिर बद्धदर्शन की परम्परा में तो सभी दर्शन-सम्प्रदाय श्रुति प्रामाण्य को स्वीकार करते ही हैं और अपने-अपने ढंगों से सभी वेदों के पुजारी हैं जबवा ठीक तो यों कहना चाहिए कि उनकी वेदाविषयक भक्ति ही फिर कहीं कहीं चाहे वह केवल सम्प्रदायों में ही क्यों न हो उन्हें 'वास्तविक' दर्शनों में परिणत कराने के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार न्याय दर्शन 'सर्व' को प्रमाण मानता हुआ वेदों को ईश्वरोक्त मानता है एवं उनके प्रामाण्य को स्वीकार करता है। वैशेषिक दर्शन भी पीछे न रहकर वेद को ईश्वर (तत्) का मानकर ही उसके प्रामाण्य को स्वीकार करता है^२। सांख्य को निरीश्वरवादी सिद्ध करने के लिए हम 'ईश्वरसिद्धे' बाध जो कोई प्रमाण हूँ निकालें और चाहे मके ही यह जान लें कि कुल-वय की आपत्तिकी निवृत्ति के लिए सांख्य की 'वृष्ट' के समान ही 'आनुभविक' विधान में भी कोई आस्था नहीं क्योंकि वह उसके लिए 'अविशुद्धि' जब और 'अविशुद्ध' से युक्त है किन्तु यह सब होते हुए भी हम इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते कि सांख्यार्थ वेदों के नित्यत्व और स्वतः प्रमाण को मानते हैं और वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानकी उनके अनुसार गति नहीं बकती वहाँ आप्तश्रुति का आप्तवचन ही उन्हें प्रमाण के रूप में मान्य है। प्रत्यक्ष और अनुमान के सहित ही आमम को भी प्रमाण मानना योगदर्शन की एक सामान्य बात है^३। पूर्वमीमांसा का तो आधार ही दिक्कट वेद है और उसे नित्य और प्रमाण का मानने में मीमांसकों को सामान्य रूप से कोई आपत्ति नहीं^४। फिर नीतकार ने भी तो वेद-वाक में आसन्न वनों की 'पुष्पिता वागी' की कृत्त निम्न भी कर, वैदिक प्रमाण को कृत्त त्रैयुष्य का भी विषय बता अपरोक्षानुमति सम्पन्न महात्माओं के लिए उसकी आधेधिक कम महत्ता को भी स्वीकार कर, अन्त में सब वेदों के द्वारा वेद स्वयं सर्वप्रकृतमान् प्रभु ही को तो बताया है^५। यद्यपि बहुसूत्रकार के लिए तर्क यद्यपि एक आवश्यक वस्तु है किन्तु उसकी अप्रतिष्ठा होने के कारण वेद भी प्रमाण के रूप में उन्हें प्राप्त है। यद्यपि धंकर भी जिसकी अपूर्व तर्क-प्रणाली की भारतीय दर्शन में समता मिलना दुर्लभ है, और जो स्वयं सर्वसिद्धि

(१) देखिए आगे उपनिषदों के दर्शन का वर्णन।

(२) देखिए आगे न्याय-वैशेषिक दर्शन का विवेचन।

(३) देखिए आगे सांख्य-योग दर्शन का विवेचन।

(४) देखिए आगे 'बीछ दर्शन और पूर्वमीमांसा' पर विवेचन।

(५) सर्वत्र वेदार्थवेद वेदो—दीप्ता। देखिए आगे दीप्ता-दर्शन का विवेचन।

बेक में बुद्धि को छोड़कर अन्य कोई साधन बूझ नहीं सकते भुक्ति की सहस्र माता पिताओं से भी अधिक कल्याण करनेवाली मानते हुए अध्यात्म-चिन्तन में उसके अनन्य उपासक हूँ। अध्यात्म विरहित कृतर्क और कृताकृतियों की भरपूर निम्ना कर भ्रष्टानुबूहीत तर्क के से प्रतिष्ठापक हूँ। महा भगीषी आचार्य गौड़पाद की भी बिभक्त यही स्थिति है। इसी प्रकार भगवान् रामानुज यन्त्र निम्नार्क और बल्लभ भी अपनी-अपनी दृष्टियों से बेबों के उपासक हूँ और उन्हें प्रमानस्वरूप मानते हूँ। तन्मों के विषय में भगवान् धंकर की यन्त्रे ही यह बारना रही हो कि वे 'अवैदिक' हूँ किन्तु आचार्य रामानुज यामुन और वेदान्तदेशिक आदि उन्हें ऐसा मानने को तैयार नहीं हूँ। फिर मध्यकाळीन यन्त्रों की भी बेद भक्ति देखने योग्य ही है। ब्रह्मवासी ज्ञानेश्वर और समर्थ रामदास ने तो स्वान-स्वान पर बेद की स्तुति की ही है। बोस्वामी तुलसीदास भी ने भी 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में ही 'बम्हूँ चारों बेद विगहि न सपनेहु खेद बरनत रघुवर विमल जसु' कहकर बेद के प्रति अपनी भक्ति दिखाई है और अन्त्य भी 'भुक्ति सम्मत हरि जगति पय 'नामा पुराण निषजानम सम्मत यत्' आदि वाक्यों के द्वारा राम भक्ति के प्रतिपादन में भुक्ति की आचार रक्षण प्रह्व किया है। तुलसीदास को बेद की अतुलित महिमा का पूरा पता था। वे जानते थे कि इसी की निम्ना के कारण 'विहित बुद्ध-अवतार' निमित्त हो चुका है। इसलिये राम-वक्ति की स्थापना के लिये सगरी बेद-स्तुति की तरारता को हम जसी प्रकार समझ सकते हैं। इसी प्रकार राम की स्तुति करते हुए समर्थ रामदास के से यन्त्र भी स्मरणीय हैं 'जयावी तिला वसिती बेदवानी'। गुपेसी कहा देव वासाभिमानी' आदि'। स्वतंत्र ग्रन्थ ब्रह्मज्ञानी कबीर साहब भी तो जिनकी प्रतिपादिता के विषय में

(१) देलिप आगे धांकर दधन और बौद्ध धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन।

(२) निरिधतं मुक्तिपुस्तं य यतश्चरति नेतरत् । माण्डूक्य कारिका १।२३

(३) तुलसी महिमा बेद की अतुलित किये विचार।

बेहि निम्नत निमित्त भयो विहित बुद्ध अवतार ॥ बोहापली ।

तुलसीदास का यह वाक्य अत्यन्त मार्मिक है और तृतीय परिच्छद में बौद्धधर्म नास्तिकत्व के सम्बन्ध में जिन निष्कर्षों पर हम पहुँचे हैं उनका बल म है।

(४) 'जगत्ते इमोक्त' ।

बहुत कुछ कहा जा सकता है और जिन्होंने स्वयं लोक और कृष्ण की मर्यादा के साथ-साथ वेद की मर्यादा को भी 'बैके की फाँसी' कहा है^१ अपने को वेद विरोधी समझे जाने के लिए अपने मुँह के पुस्कों को फटकाए हुए सिंहनाच करते हैं 'वेद पुराण कहा किन मूठ मूठ बोझ न बिचारी। बहुना कि उबार महात्मा बामदेवी की जिन्होंने एक मुस्लिम बंध में बन्म ग्रहण किया ये उबार बाबियाँ भी उस प्रभाव की परिचायक हैं जिसे वेद ने मुस्लिम शासकों पर भी डाला है 'वेद पन्थ जे नाहि चर्खाहि ते मूर्खहि बन मोक्ष' 'मूठ बोझ फिर रहे न रांजा। पण्डित सोइ बेबरमत सांजा। 'वेद नचन मुख साँच जो कहा। सो जुग-जुग अहिबिर होइ रहा। करोड़ों हिन्दू जागतार्ये भी इस अवस्था को नहीं पहुँच सकती। वैदिक प्रज्ञान की सम्झाई की कैसी स्पष्ट पचाही है। उसके आधारत सत्य का कैसा मार्मिक साक्ष्य है—'सो मुय-मुय अहिबिर होइ रहा। फिर मध्य-मुन को छोड़ कर आधुनिक युग में जाने पर अहि ब्रह्मण्य के व्यक्तित्व में तो निश्चय ही एक बार ऐसा लगा कि वैदिक युग का ही प्रत्यावर्तन हुआ है और अतः पश्चात्की के उत्तर भाग से छेकर आज तक वैदिक अध्ययन की ओर जो ध्यान पूर्व और पश्चिम के विद्वानों का गया है वह चाहे बेरो के मार्मिक महत्त्व के कारण उतना न हो परन्तु मानव संस्कृति के विकास में उनका विशेषतः अन्वेषण का एक निश्चित स्थान होने के कारण उनकी महिमा की स्वीकृति तो उसमें है ही। अतः भारतीय समाज साहित्य बर्मे और दर्शन पर बेरो की एक अमिट छाप तो पड़ी ही है बिना संस्कृति के अध्ययन में भी उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु जबकि यह सब सत्य है, यह तथ्य भी कुछ कम सत्य और सार्थक नहीं है कि भारतीय दर्शन की स्वतंत्र विचार-परम्परा को अवरुध कुछ बरका लबता यदि बेरो के प्रामाण्य की सीमा से बाहर अर्थात् उनसे सर्वथा निरपेक्ष रहकर केवल अनुत्तर स्वानुमति के आधार पर ही महीन विचार भी नहीं किया जाता आन्धोप्य उपनिषद् की भावना में अभी विद्या से ऊपर किसी ज्ञान की वस्तुता नहीं की गई होती किसी भी पंच-प्रमाण का स्वतंत्र साक्ष्य स्वीकार न करके बलवृद्धि रूप अहि के ही हाथ में सब कुछ उठा नहीं दे दी गई होती, केवल विपुल अनुभव के ही शेष में विपुल आचार्यत्व की स्थापना नहीं की गई होती रक्षार्थ वा रक्षण चिन्तन कर उसकी अविवक्ति का एक अनुगम मार्ग दिखता कर ही। यदि सर्वत्र पंच प्रमाण की ही सूची (१) लोक वेद कृत की मर्यादा इहे नई में काँती।

भारतीय दर्शन में बचती तो स्वतंत्र विचारकों को उसमें कोई आश्वासन न रहता । सम्प्रदाय पुरुषों के लिए उसमें कोई आकर्षण न बचता । धार्मिक सम्प्रदायों से अलग हम दर्शन को कैसे समझ पाते उसकी समस्याओं पर निष्पक्ष रूप से हम विचार कैसे कर सकते ? बौद्ध और जैन दर्शन जो मानवीय विचार के क्षेत्र में एक अत्यन्त ऊँचा स्थान रखते हैं, बेर को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते और केवल इसी प्रवृत्ति का यह अनिवार्य परिणाम है कि मूल बातों में और विशेषतः आधार तत्व के प्रख्यापन में वे दर्शन-सम्प्रदाय लक्ष्य आस्तिक दर्शनों के साथ अत्यन्त समीप होते हुए भी एक विलम्बित अनुचित रूप से वैसा कि हम पहले निर्दिष्ट कर चुके हैं उन लक्ष्यकारी नास्तिकों के साथ परिवर्णित किए गए हैं, जो न लोक में विद्यमान रखते हैं न परलोक में न जिनके लिए कोई आधार तत्व है और न कोई आदर्श विधान तथा जिनके लिए बेर जैसे महार्घ्य 'मुनि भांडू और मिश्राचार्य' की कृतियाँ मात्र हैं । जैसे-जैसे स्वतंत्र विचार को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के तुलनात्मक अध्ययन में धर्मीय विद्वान् प्रवृत्त होंगे जैसे ही हम बौद्ध दर्शन को वैदिक दर्शन के एक पूरक रूप से विभिन्न या विपरीत दर्शन रूप में देखने से हिचकेंगे और और भविष्य के चिन्तकों का यह एक छाप होपा कि वे किसी एक धर्म-विशेष के श्रमाध्य स्वीकार करने अथवा न करने पर ही भारतीय दर्शन सम्प्रदायों का वर्गीकरण न कर इस विषय में एक नई विद्या का प्रवर्तन करेंगे । तभी हम उदात्त के विषय में महारमा ईसा के क समान कह सकते हैं कि वे 'पूर्वता प्रदान करने के लिए कार्य से विनाश करने के लिए नहीं । किस प्रकार वैदिक अध्यारमबाह को पूर्वता बूझ-शासन के मानवतावादी रूप में मिथी है इसे दिखाना भारतीय उदात्त के कल्याणकारी विकास के लिए आवश्यक होगा । जैसे यदि वैदिक प्रज्ञान बौद्ध दर्शन के विशेष के फलस्वरूप भी टिक सकता है तो सम्यक सम्बुद्ध के मार्ग के विषय में भी यह आशानी से कहा जा सकता है कि वह अपनी सत्यता की सिद्धि के लिए बेर या किसी अन्य रूप के साध्य की अपेक्षा नहीं रखता । सत्य दोनों में व्याप्त है और उसे हम समझना है । वास्तव में समन्वयपूर्वक जो देखता है वही कदाचित् ठीक देखता है । सभी सत्य-मंचेपी एक ही मार्ग से गए हैं और उस मार्ग का पोरना ही दर्शन का प्रमाण व्यवसाय है । इस प्रकार बेर की महिमा और भारतीय दर्शन में उसके स्थान का कुछ संक्षिप्त संक्षेप कर अब हम उसका कुछ और विस्तृत तात्त्विक विवरण और विकास

क्रम उपस्थित करेंगे और फिर बीड-दर्शन के साथ उसके पुनर्जागरण अभ्यास में प्रवृत्त होंगे।

जैसा कि पूर्व निवेदन किया जा चुका है वैदिक दर्शन का नियोजन तीन विकास-क्रमों में किया जा सकता है—ऋग्वेद-दर्शन, ब्राह्मण-दर्शन और उपनिषद् दर्शन। प्रथम विकास क्रम में हम ऋग्वेद की वैदिक दर्शन के तीन स्पष्टतर ऋषियों और उनके दर्शन पर विचार करते स्तर—ऋग्वेदीय, ब्राह्मण-दर्शन है। वास्तव में तो 'दर्शन' जैसी कोई वस्तु अपने और उपनिषद्-दर्शन—वैदिक पारिभाषिक वर्षों में ऋषियों में उपलब्ध दर्शन की विकास परम्परा का नहीं होती। किन्तु उनमें जैसा कि परिचयी संक्षिप्त निवेदन

इसके विद्वान् प्रायः कहते हैं बहुत विचित्र स्वरूप रखते हैं, मनुष्य-जाति के प्रमाद-काल की

सुगम और नैसर्गिकता अवश्य है। इन अवस्थाओं के आह्वान करने की उपस्थितियों के रूप में ही ये ऋषियों प्रमाणित स्मरणीय हैं और इनके माध्यम से ही हम उस समय के कार्य ऋषियों अथवा कवियों की भावनाओं का कुछ विश्लेषण कर सकते हैं। इन स्तुतियों में कहीं ऋषियों की व्यक्तिमयी विकसित, कहीं निर्धारा सरलता कहीं अशुभ कर्म के लिए उनके हृदय की अद्भुत जगमग कहीं एक अलस हिंस्रमयी नियम में उनकी आस्था कहीं प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के अन्तर एक नियामक प्रभु की देखने की उनकी सरल अनुमति जाति बाते स्पष्टतया दृष्टिकोण होती है। कहीं-कहीं 'ऋषियों से मैं पूछता हूँ जाननेवालों से स्वयं नहीं जानता हूँ' इस प्रकार दार्शनिक विज्ञानार्थ भी ऋषियों के हृदय के अन्तर उद्भूत हुई है। ऋग्वेद की उपस्थितियों का अथवा उसके वैदिक तत्त्व का मानिक रहस्य क्या है इसके विषय में अभी विद्वान् एकमत नहीं हो सके हैं। जितने मुह हैं उतनी ही बातें हैं। किन्तु उनसे हमें बड़ा विशेष प्रयोजन भी नहीं है। एकेश्वरवाद की भावना इस युग में अवश्य बूढ़ दिखाई पड़ती है। यन्त्रों नैतिक भावना की दृष्टिकोण होती है और न केवल वेदों में

(१) वैदिक ऋ १.१२१; १.१८१; १.१९७; १.१९७; १.१९७

(२) विभिन्न दृष्टिकोणों के लिए वैदिक सामाजिक; इन्द्रियन किर्तित्व, त्रिभुवनी, पृष्ठ १८-२०

(३) वैदिक ऋ १.११४ विज्ञान के विषय ७५; ऋ १.१८१; १.१९७; १.१९७

के प्रति ब्रह्मिक मनुष्यों के प्रति भी कर्तव्य की उत्काळीन श्रुतियों को अनुमूर्ति है^१। किन्तु फिर भी धर्म विशेषतया वैवर्तमय ही है। हाँ अभी उसमें कृत्रिमता के लिए संबाइस नहीं है। बाह्य विचारों की अपेक्षा मंत्रों से ही श्रुति यज्ञ करता अधिक अच्छा समझते हैं^२।

किन्तु समय आगे बढ़ता है। वैदिक धर्म के विकास में एक नए युग का आचमन होता है। देवताओं की स्तुति मंत्रों के द्वारा करने के लिए बाह्य नियमों का विधान होता है। मंत्रों का 'संहि ऋग्वेदीय युग और समाज का ठाढ़ों' के रूप में संकलन होता है। संहिता ब्राह्मणकालीन यज्ञयागादि की युग के बाद बाह्य पञ्चयानादिमय ब्राह्मण परंपरा में से गुजर कर स्वामी युग का प्रवर्तन होता है। अनेक प्रकार के विरूप से उपनिषदों की प्रष्ट कर्म-काण्ड की सृष्टि होती है। बहुत से धर्मों पर आना—बुद्ध के द्वारा विचारक इस सबसे बबर कर मंत्रों में प्रकारान्तर से उन्हीं का प्रवर्तन जाकर 'ब्राह्म्यक' बनते हैं। उन्हीं की करना और उन्हें आगे बढ़ाना परम्परा में से औपनिषद श्रुति निकलते हैं

जो यज्ञयागादिमय विचार के स्वान वर

विशुद्ध ज्ञान के पक्षपाती हैं। उन्हीं की परम्परा का प्रवर्तन करनेवाले और उसे आगे बढ़ानेवाले वैसे कि हम अभी देखने का प्रयत्न करेंगे सम्बद्ध सम्बद्ध हैं। अभी हम वैदिक दर्शन की उपर्युक्त तीन विकास की अवस्थाओं का बौद्ध दर्शन के साथ तात्त्विक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करें और विश्लेषणात्मक रूप से देखें कि वैदिक दर्शन और बौद्ध दर्शन दोनों में क्या संबंध है और दोनों की एक दूसरे के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि से क्या प्रतिक्रिया थी।

संहिताओं का दर्शन प्रारंभिक है जबकि बुद्ध-दर्शन के आदिर्भाव की पृष्ठभूमि में एक महान् दार्शनिक परम्परा निहित है जिसमें स्वयं महिमाएँ भी सम्मिलित हैं। ऋग्वेदीय युग में धर्म नितांत

ऋग्वेदीय धर्म और देवता वैवर्तमय या और देवताओं से मनुष्य के कस्यान तत्त्व तथा मृत्यु 'पुनर्जन्म' के लिए अनेक प्रकार की स्तुतियों की गई थी। और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों किन्तु बुद्ध-दर्शन की इससे उच्चतर दार्शनिक का पतद्विषयक बुद्ध के बर्णितस्थिति है। बड़ा मनुष्य के तेज को स्वयं देखों विचारों से सम्बंध की महिमा से तीव्रतर करने का प्रयत्न किया

(१) देखिए अ. १।११७

(२) देखिए अ. १।१।१।२

गया है। मनुष्य को बेबताओं से ऊपर उठाया गया है। बेबताओं के आधिपत्य से मनुष्य को मुक्त किया गया है। 'धर्म' की व्याख्या भी यहाँ अधिक व्यापक है और बेबताओं से उसका कोई संपर्क नहीं है। यहाँ 'श्रुत' अपनी समग्र महिमा में विरूपमान है किन्तु उसका 'घाटा' कोई वरण देव यहाँ नहीं है। ब्रह्मवैवर्त यहाँ स्वयं मनुष्य ही है। ब्रह्म पाप करने मांस के लिए कृपाशु है^१ किन्तु भिक्षु तो मंत्री यावना से समग्र विद्याओं को ही आप्लावित करने चाहा है।^२ वैदिक ऋषि कभी-शत्रुओं को पराजित करने के लिये भी बेबताओं से प्रार्थना करते थे परन्तु शास्त्रमुनि के ध्यान में तो किसी को शत्रु मानने का ही कोई कारण न रहा वहाँ मंत्रीपूर्व चित्त से लोक को वापुर्छि कर देने का ही एकमात्र आदेश था। जिस कार्य को वैदिक ऋषि नदियों के प्रवाहित करने में^३ सूर्य को बमकाने और वज्रादि ग्रहों को अपने नियम में रखनेवाले^४ सूर्य की ही वस्तुवाले आकाश के ही वस्त्रवाले और पवन के ही निस्त्रास बाधे^५ ब्रह्म देव से लेते थे वही काम बुद्ध के दर्शन में बुद्धवै विस्वव्यापी नियम से किया गया जिसकी संज्ञा प्रतीत्य समुत्पाद है। ऋषियों के लिए जिस प्रकार अग्नि पिता ब्रह्म, आता और मित्र था^६ उसी प्रकार बुद्ध के दर्शन में 'कर्म' (कम्म) ही केवल अपना हो गया है और उसी के हाथ हम पहुँचाते हैं अपने को देव या देव समान अवस्थाओं तक भी। वैदिक दर्शन का बुद्ध के विबुद्ध नैतिकवाद से कोई संबंध ही नहीं है, किन्तु बुद्ध उस दर्शन को सर्वथा निराकरण करने में समर्थ हुए हैं जबकि उसका उन्होंने अपने जटेश्वर के लिए प्रयोग ही नहीं किया जो ऐसी भी बात नहीं है। वैदिक देवों को (विद्येवत् ब्रह्मा और इन्द्र को) उन्होंने उपदेशों में अनेक बार प्रमुक्त किया है परन्तु उनकी उपासना के लिए नहीं बल्कि अपने

(१) इण्डियन स्टूड ७।८७।७

(२) वैश्विष्ट सिद्धिचक्र सूत्र (बीज १।१३)

(३) इण्डियन स्टूड १।२४।८; २।२८।४; ७।८७।५

(४) इण्डियन स्टूड १।२४।१; १।२५।६ १।३४।१४ २।१४;
२।१८।८; ३।५४।१८ ८।२५।२

(५) वैश्विष्ट स्टूड ७।८७।९

(६) मित्राक्षर्ये स्टूड १ ८७।६

(७) मित्राक्षर्ये स्टूड २।६

नैतिक निष्कर्षों को निकालने के लिए ही। नैतिक देवता बुद्ध-मुरूप से भीषी अवस्था में ही पालि त्रिपिटकमें अक्सर दिखाये गये हैं। कहीं वेबुद्ध या उनके शिष्यों की छोटी-मोटी सांघीरिक सेवाएँ करते बिसाये गये हैं, कहीं उनसे उपदेश ग्रहण करते हुए, कहीं (सहापति ब्रह्मा के समान) उनसे याचना करते हुए और कहीं उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए मागवीय जन्म भी ग्रहण करते हुए। यह स्मरण रख लेना यहाँ आवश्यक होना कि बौद्ध धर्म के नैतिक प्रभाव में आकर आग्नेय का उद्धत और कदाचित् जलैतिक इन्द्र भी विनम्र और सुशील बन गया है। हाँ मानवतावादी बुद्ध ने देवताओं के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया गया है यह महत्वपूर्ण तथ्य भी यहाँ स्मरण रख लेना आवश्यक होना। इसी प्रकार विद्याओं की पूजा बाकि के तत्वों की उन्होंने कुछ नैतिक व्याख्या की है जो पालि त्रिपिटक में अनेक स्थानों में दृष्टिगोचर हो सकती है।^१ ऐसी प्रवृत्ति का भारतीय वाङ्मय में अन्यत्र भी अभाव नहीं है और यह उसकी समन्वयारिक्तता बुद्धि का एक प्रधान लक्षण है। संप्राप्त रूप से हम कह सकते हैं कि माना देवताओं की अवस्था उनके अधिपति किसी एक देव की उपासना में सम्यक् संबुद्ध की कोई भ्रष्टा नहीं बीसती कम-से-कम यह उनका धार्मिक नहीं है। मनुष्य के निर्बल हृदय के लिए कुछ विवेचकों की दृष्टि में देवों के आराधन की जाहे भले ही अकुरुत पड़ती हो आग्नेय की आचार्य, विशेषतः ब्रह्म आदि की उपस्तुतियाँ (जिनमें शक्ति की याचनाएँ सामिन्ता के साथ भरी पड़ी हैं) मनुष्य के इस अभाव और सहायता की पूर्ति अवश्य करती कही जायें किन्तु यहाँ विचार का कुछ अधिक प्रकर्ष है मनुष्य को अपने भीम में कुछ अधिक विरवास है यहाँ तो उपासना का मार्ग ही अधिक आकर्षक रहता है। यह उनके वर्णन की एक विशेषता है कि 'धर्म' की पंभीरुतम अनुमूर्ति तो उनकी विचारप्रवाही में उपस्थित है किन्तु एक या अनेक देवों का कोई पता नहीं है। यही आग्नेय का बुद्ध के वर्णन से विशेष विभेद है। मनुष्य, पुनर्जन्म और मोक्ष संबंधी विषयों में तो दोनों विचारप्रवाहियों में अत्यन्त विभेद है ही किन्तु केवल एक अधिकवित और विकसित प्रवाही का ही कोई मौलिक नहीं।

(१) देखिए सुत्तनिपात (सजिय सुत्त) एवं तिप्यालोकाद सुत्त (वीय);
जिलाइये डा बापट का 'सुत्तनिपात' का संस्करण भुविका,
पृष्ठ ९७

मृत्यु पर विशेष परेपना आध्यात्मिक आध्यात्मिकों का कार्य नहीं वे तो जीवन की प्रसन्नता से ही भरपूर निरिच्छा हैं। यहाँ बुद्ध के अनुसार सत्त्वों की भी कोई भूमि नहीं मिल सकती। आध्यात्मिकों को बुद्ध और अनित्यता की भावनाएँ तो बू तक नहीं गई, हाँ एकाग्र ब्रह्म उन्होंने इन भावनाओं का कुछ प्रवर्तन अवश्य कर दिया है^१। वे तो आध्यात्मिकपूर्वक यही जोप निरन्तर करते रहते हैं 'कुभी न ऊर्ध्वान्निर्वाणाय जीवसे'^२ (मरणम्। जीवन-माया में हमें समुद्र की धार) 'महं जीवन्तो नरकामसीमहि'^३ (कस्याप्यमय जीवन व्यतीत करते हुए हम नृणावस्था को प्राप्त हों।) 'विश्ववामी सुमनसः स्वाम पश्येम नु सूर्यमुन्मथन्तम्'^४। हम सब प्रसन्नचित्त होते हुए उदीयमान सूर्य के चिरकाल पर्यन्त दर्शन करें॥ पुनः

पश्येम शरवः शतम्। जीवेम शरवः शतम्।

बुध्वेम शरवः शतम्। रोहेम शरवः शतम्।

पुष्पेम शरवः शतम्। ममेम शरवः शतम्।

भूवेम शरवः शतम्। भूमसी शरवः शतात्।^५

'हम सी और सी से भी अधिक वर्षों तक देखें जीवन-माया करें, ज्ञान संपादन करें, उत्तरोत्तर सन्नति करें, पुष्टि और बुद्धता को प्राप्त करें तथा अपने को समृद्धि, ऐश्वर्य और गुणों से भूषित करें'। इतना ही वेबताओं से वे चाहते हैं। वे अपनी ऐहिक समृद्धि की अपने और अपने पक्षों की भलाई को ब्रह्म भावना करते हैं, बिना पुत्रादि माँगने में भी उनको संकोच नहीं क्योंकि सर्वत्र ही 'मनु' प्राप्त करते हुए और मनुष्य ही जन्मको समझते हुए वे निश्चय हैं^६। किन्तु बुद्ध के विचार की ऐसी परिस्थिति नहीं है। और वह इसलिये नहीं कि वह निराला बासी है किन्तु इसीलिये कि जीवन का उसका दर्शन अधिक गंभीर है और उसने उपनिषदों की तरह ही सभी ऐहिक और पारलौकिक सुख की अनित्यता अनित्यता और दुःखमयता देखी है। निमित्तक साहित्य में

(१) यथा अपां न्ये तस्मिन्नां तुष्ठादिद्विष्टारम्। आनन्दः।

(२) अ. १।३।१।२४

(३) अ. १।३।३।६

(४) अ. १।५।२।५

(५) अथर्व १९।६७।१-८

(६) इत्येवम् अ. 'मनुष्यता कृताप्ते मनु शरति चित्तवः आदि।

वहाँ कहीं बुद्ध या उनके शिष्यों की प्रसन्नता के वर्णन आए हैं। नैतिक दृष्टिकोण की ही व्यापकता रखी गई है। कम-से-कम यहाँ सोम पीकर तो अमृतत्व पानेवाले कभी नहीं देखे गए^१ और न कहीं किन्हीं ऐहिक या स्वर्गीय उपकरणों के लिए प्रार्थना को ही बुद्ध-मार्ग में निहित बताया गया है। 'वर्चस चास्मत् प्रजया बनेन' में कोई धर्म की अनुमति नहीं है। बुद्ध का धर्म जीवन की गंभीर समस्या को लेकर बछटा है जबकि ज्ञप्तेरीय ऋषि इससे विशेष प्रभावित नहीं दिखाई पड़ते। मृत्यु के बाद ज्ञप्तेरीय ऋषियों के लिए पितरों का मार्ग खुल जाता है^२। मरने के बाद वे सुखपूर्व स्वर्ग की भी कल्पना करते हैं^३ और पापियों के लिए नरक की भी^४। पुनर्जन्म की कल्पना का भान उन्हें अस्पष्ट रूप से ही हुआ दीखता है^५ और मोक्ष का स्थान अभी स्वर्ग और नरक के अस्पष्ट विचारों में ही रखा है। कबूते की आवश्यकता नहीं कि बुद्ध-वर्णन में इन सभी विषयों संबंधी एक महनीय विचार है जिसका विवरण और विवेचन हम अनुर्ध्व प्रकरण में कर आए हैं और जिसके पिच्छेपच की यहाँ बखुरत नहीं। जन्म-मरण के संसार रूप संसार, जिसका तात्त्विक विवेचन बौद्ध-वर्णन और बाद के सभी दर्शनों का एक रचिकर विषय है ज्ञप्तेरीय ऋषियों की कल्पना को विशेष आकृष्ट करता नहीं दीखता। किन्तु फिर भी बाद के प्रायः सभी महनीय दर्शनों के बीच ज्ञप्तेर में वर्तमान है इसमें संदेह नहीं। ज्ञप्तेर की ऋषियों की यज्ञयायादिमय और आध्यात्मिक व्याख्याओं को लेकर ही ब्राह्मण ग्रंथ प्रवृत्त होते हैं और उन्हीं को ज्ञान-कांड की दिशा में बढ़ाती है उपनिषदें भी। वरुण की उपासना में हम मक्ति के सर्वोत्तम ठरव देखते हैं। इसी प्रकार सांख्य और योग आदि के बीच भी ज्ञप्तेर में हमें मिलते हैं। अतः

(१) मित्ताइये 'सुतुर्ध्व वत्त जीवाम बेरिनेसु अबेरिने। बेरिनेसु मनुस्सेसु बिहराम अबेरिने। पम्मपद, सुत्तजगो सम्य उट्ठरणी के लिए देखिए अनुर्ध्व प्रकरण में 'यया बद्ध बुद्धवादी है ? पर विवेचन।

(२) मित्ताइये अ. ८४८।३

(३) मित्ताइये अ. १।२४।१; ७।५६।२४; १।८८।१५

(४) देखिए अ. १।२५।६

(५) मित्ताइये अ. १।१३३।४; ४।५।५; १।७३।८; १।१५२।४

(६) देखिए अ. ४।२७।१ १।१६४।३ ; १।५८

बबसा भी इसके विपिठक में बनेक प्रमाण है^१ । फिर बगवान् वैदिक प्रमाण की एकमात्र महत्ता इस प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते थे कि यही सत्य है और सब भूछ । ये बरयन्त साहसिक पद हैं । बत बुद्ध का मन ब्य बेब के संहिता भाग के प्रति ब तो सर्वास में सत्य होने का था और न वे इसके साथ समग्र वैदिक कर्मकांड की परमार्थ की प्राप्ति में विशेष आवश्यकता या महत्ता ही अनुभव करते थे । वह हम बनी आने ब्राह्मण-बर्धन के प्रति उनकी प्रतिबिम्बा को बिखाते समग्र मूल विपिठक के आचार पर बिखाने का प्रयत्न करेंगे । किन्तु इसके पहले हम बगवान् की उन पूर्व ऋषियों के प्रति आदर-बुद्धि का प्रकाशन और कर दें जो एक बरयन्त सरल बंन से यज्ञ करते थे और बिनके आचरण बरयन्त पवित्र थे । ये ऋषि संभवतः संहिता काळ के ही हो सकते हैं क्योंकि इसी युग में इस प्रकार का सरल यज्ञमय बिबान प्रचलित था । कृत्-कृत् इसे हम ब्राह्मण-युग का भी परिचायक कह सकते हैं । 'पुराने ऋषि संयमी और उपस्वी होते थे । पब कामयुर्षों को छोड़ वे अपना बर्ध (ज्ञान ब्याग) करते थे । उस समय ब्राह्मणों को न पबू थे न हिरण्य न अनाज । वे स्वाभ्यास बनी पन-बाध्यबाके थे । ब्रह्मनिधि को पाकन करते थे । नाता रंन के बस्नों बयन और आबसनों (अतिथिघाऊबों) से समुद्र बनपब राष्ट्र उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे । ब्राह्मण बबभ्य बबेय बर्म से रक्षित थे कृत् डारों पर उन्हें बनी कोई नहीं रोकता था ।

वे तबूक बयन बस्न भी और तेक की मांवर बर्म के साथ निकालकर पब करते थे । यब उपस्विठि होने पर वे नाम को नहीं मारते थे'^२ । ब्राह्मणत्व की महिमा का बिठना सुन्दर प्रख्यापन है साथ ही वैदिक युग के बिब्याज सनाब और पबू-हिंसा के बभाब का बिठना बड़ा साक्ष्य भी । इसको देखकर बीन बुद्ध को पूर्व ऋषियों का निम्बक कह सकता है ? हाँ जहाँ उनकी सर्वज्ञता का सनाब है बड़ी तो तबापठ का स्वयं अपनी सर्वज्ञता के समान ही एक बिबिध मठ है और इसके लिए तबानठ का बुद्धि-स्वार्थब्य सर्वबा बराहनीय है । अब हम ब्राह्मण-युगीन-बर्मन परम्परा पर आते हैं ।

- (१) देखिए सुनक सुत (अनुतर ५।१।४१)
- (२) ब्राह्मण बग्गिनव सुत (सुत निबत्त २१७) ; मिताइये डीव सुत (अनुतर ५।४।१।२)

ब्राह्मणयुगीन यज्ञयागादिमय धर्म ही वह वस्तु है, जिस के बिना बुद्ध की आराधना संभवतः तीव्रतम है और इस विषय में वे उपनिषद् की प्रवृत्तियों के समान ही हैं जैसा उनसे भी कुछ आगे बढ़े हुए हैं। ग्रंथों में जो वर्णन निहित है उसी का कर्मकांड मय-स्वल्प ब्राह्मण युग में हुआ। मंत्रों के साथ-ही-साथ एक बबरबस्त पीरोहित्य का भी उदय इस युग की बटना है। पुनर्जाती भी वेदों के समान ही समझे जाने लगे^१।

और यज्ञ कर-करके मनुष्यों की ममतावा बढ़ने लगी अमृतत्व हासिल करने की^२। तीनों^३ वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानने की प्रवृत्ति का भी उदय और सबसे अधिक वेग संभवतः इसी समय हुआ। वेदों को ईश्वर प्रकट बताया गया^४ परमपुरुष के निष्कास उन्हें जोषित किया गया^५ और उनकी प्रामाणिकता को एक वृद्धतम मिति पर स्थापित किया गया इसी युग में। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस एक तथ्य समग्र ने भारतीय दर्शन के विकास को प्रभावित किया। वैदिक अध्ययन एक पश्चिन्नबाह की वस्तु हो गया और सुनिश्चित परम्परा के विरुद्ध जाने का किसी को भी साहस न होने लगा। विरुद्ध विचार प्रकट करने पर भी व्याख्याकार ऊपर से दुहाई देते रहे वेद के प्रति अफ़सोस की और अनस्य भड़ा बुद्धि की ही। किन्तु अतृप्ता के साथ उत्तरकाशीन भारतीय दर्शन में परस्पर

(१) वैजय्य धातपत्र ब्राह्मण २।२।२।६; २।४।३।१४

(२) वैजय्य धातपत्र ब्राह्मण ३।१।४।३; ऐतरेय ब्राह्मण २।१।१

(३) इस समय तीन ही वेद माने जाते थे वैजय्य ऋ १।९।९
५।७।१; तैत्तिरीय २।२।३; ऐतरेय ब्राह्मण ५।२२
बृहदारण्यक १।५।९ छांदोग्य २।१।७ मनु ३।१४५
४।१२४ १।१।९६३ १।१।११९ पालिदिपिठक में भी तीन विद्याओं
(तैविज्ज) का ही ज़िक्र है। जिलाइये पीता ५।२१ में वे 'तैविद्या'
को पालि से तैविज्ज के समान है।

(४) ऋ १।३।७।४; ३।१।८।३

(५) धातपत्र ब्राह्मण १।१।५।८१; इच्छव्य पुरव नुरत (आग्नेह) भी।

हम कह सकते हैं कि यह समग्र भारतीय दार्शनिक विचार की ही एक प्रकार से जाचार-भूमि है जिससे पूर्व की न केवल धारण की ही किन्तु विचार की भी विचार-परिस्थिति का कोई पता [नहीं]।

आत्मज्ञान के विकास में विद्वानों ने तीन क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन किया है। अब हम यों भी कह सकते हैं कि एक प्रकृत विकसित अवस्था के तीन स्वरूप हमें आन्धे में उपलब्ध होते हैं, अर्थात् वेदबहुत्व

एकेश्वरत्व और एकात्मत्व। इनका संबंध आत्मज्ञान के विकास की तीन अवस्थाओं का अथवा एक ही प्रकृत विकसित अवस्था के तीन स्वरूपों का वेदबहुत्व, एकेश्वरत्व और एकात्मत्व का, बुद्ध के विचार के साथ सम्बन्ध

इसलिए इनके विवेचन से हम यहाँ अवश्य ही विराम ले सकते हैं। एकात्मत्व के साथ अपने नैतिक रूप में बुद्ध-विचार का बहुत बड़ा संबंध है और बुद्धि-एकात्मत्व मुख्यतः उपनिषदों का विषय है अतः उनके उपदेशों की समानता और असमानता बुद्ध-दर्शन के साथ विचारने के समक ही हम अभी आगे इस विषय पर करेंगे।

अभी हम संहिताओं की श्रुतियों आदि के विषय में अपमान् उपाय के कुछ उपायों को देखें ताकि यह संबंध अधिक सरल और सुगम हो जाय।

प्रथम तो हमें इस संबंध में यह याद रखना चाहिए कि संहिताओं और मंत्रों की परम्परा उस समय भारत में प्रचलित अवश्य थी और लोगों को उसके विषय में प्रश्न पूछने की शिकवसी भी थी और मन्त्रान् भी उस परम्परा से पूर्ण रूप से अवगत थे। प्रोफ। जो ठेरे पूर्व के अति मंत्रों के कर्ता मंत्रों के प्रवक्ता थे उनके पुत्रने मंत्रपर को इस समय ब्राह्मण गीत के अनुसार पाते हैं। प्रोफ. के अनुसार प्रवचन करते हैं भाषित के अनुसार भाषण पाते हैं स्वाध्यायित के अनुसार स्वाध्याय करते हैं, भाषित के अनुसार भाषन करते हैं, जैसे कि अष्टक भाषक नामदेव विद्यामित्र यमदण्डि

अंगिरा मर्यादा नष्ट करके भूयः^१ । मर्यादा अग्निमें की यह नाम भी मर्यादा के विरुद्ध है । इसी विषय में मर्यादा नामक ब्राह्मण भगवान् से प्रश्न भी पूछता है 'हे गौतम ! जो वह ब्राह्मणों का पुराण मंत्र पर ('वेद') इस परम्परा से पिटक (कथन समूह) है, उसमें ब्राह्मण पूर्ण रूप से निष्ठ रहते हैं कि यही सत्य है, और सब भूटा । इस विषय में आप गौतम क्या कहते हैं ? कितना स्पष्ट प्रश्न है । अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित भगवान् का उत्तर भी कितना स्पष्ट है 'क्या मर्यादा ! ब्राह्मणों में एक भी ब्राह्मण ऐसा है जो कहे कि मैं इसे जानता हूँ इसे देखता हूँ 'यही सत्य है और सब भूटा' क्या मर्यादा ! ब्राह्मणों का एक आचार्य भी एक आचार्य प्राचार्य भी परमाचार्यों की साथ पीढ़ी तक भी ब्राह्मणों के पूर्वज अपि भी बहुत कम । क्या उन्होंने भी कहा हम इसको देखते हैं, हम इसको जानते हैं 'यही सत्य है और सब भूटा' । 'नहीं हे गौतम' । 'तो फिर मर्यादा ! ब्राह्मणों में एक भी ब्राह्मण नहीं है जो कह सके 'मैं जानता हूँ' मैं देखता हूँ 'यही सत्य है और सब भूटा । मर्यादा ! जब वेद परम्परा (अर्थों की सफाई का उदाहरण) नहीं हो पड़ता बल्कि भी नहीं देखता बीच का भी नहीं बचता पिछला भी नहीं देखता । उस ही मर्यादा ! ब्राह्मणों का कथन मन्त्रवचन (अर्थों की सफाई के समान) है, पहले वाला भी नहीं देखता बीच का भी नहीं देखता पिछला भी नहीं देखता । तो क्या मानते हो मर्यादा ! क्या ऐसा होने पर ब्राह्मणों की सदा सम्मति नहीं हो जाती' ।^२ इस प्रकार भगवान् ने अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ज्ञान की ही महत्ता पानी है और स्वयं जानकर और स्वयं साक्षात्कार कर (स्वयं अभिज्ञा सम्पन्न) वह कह सके कि ऐसा मैं जानता हूँ ऐसा मैं साक्षात्कार करता हूँ केवल इतिह' इतिह' कहने से काम नहीं चल सकता फिर वह वह वैदिक प्रज्ञा के ही विषय में क्यों न हो । जिनकी भी सत्यता वास्तविक 'अग्नि' तो मनुष्य को होना ही चाहिए । सभी वह सत्य के विषय में कुछ कह सकता है । और इसकी उत समय बड़ी कमी थी । ब्राह्मणों की अत्यन्त पवित्र

(१) श्रौतसूत्र (अंगुत्तर ५।५।२) देखिए अद्वितीय (मज्झिम २।५।५)

(२) अद्वितीय (मज्झिम २।५।५)

(३) अद्वितीय (मज्झिम २।५।५)

अवस्था भी इसके त्रिपिटक में अनेक प्रमाण है^१। फिर भववान् वैदिक प्रज्ञान की एकमात्र महत्ता इस प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते थे कि यही सत्य है और सब भूटा। ये अत्यन्त साहसिक पद हैं। अतः बुद्ध का मध्यम वेद के संहिता भाग के प्रति न तो सबाँझ में सत्य होने का वा और न वे इसके साथ समग्र वैदिक कर्मकांड की परमार्थ की प्राप्ति में विशेष आवश्यकता या महत्ता ही अनुभव करते थे। यह हम अभी आये ब्राह्मण-दर्शन के प्रति सनकी प्रतिक्रिया को दिखाते समय मूल त्रिपिटक के आधार पर बिज्ञान का प्रयत्न करेंगे। किन्तु इसके पहले हम भववान् की उन पूर्व ऋषियों के प्रति आदर-बुद्धि का प्रकाशन और कर दें जो एक अत्यन्त सरल ईश्वर से यज्ञ करते थे और उनके आधार पर अत्यन्त पवित्र थे। ये ऋषि संभवतः संहिता काक के ही हो सकते हैं क्योंकि इसी युग में इस प्रकार का सरल यज्ञमय विधान प्रचलित था। कुछ-कुछ इसे हम ब्राह्मण-युग का भी परिचायक कह सकते हैं। 'पुरुष' ऋषि संमयी और उपस्थी होते थे। पंच कामगुणों को छोड़ वे अपना धर्म (ज्ञान ध्यान) करते थे। उस समय ब्राह्मणों को न पशु थे न हिरण्य न अनाज। वे स्वाध्याय करी जन-आत्मबोध थे। ब्राह्मणि को पालन करते थे। माना रंग के वस्त्रों सवन और आवासनों (अतिविद्यालयों) से समृद्ध अथवा राजा सन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे। ब्राह्मण अवश्य अनेक धर्म से रक्षित थे कुछ द्वारों पर उन्हें कभी कोई नहीं रोकता था।

वे तम्बूल घण्टा बस्त्र भी और तेल को माँगकर धर्म के साथ निकालकर यज्ञ करते थे। यज्ञ उपस्थिति होने पर वे गाय को नहीं मारते थे^२। ब्राह्मणत्व की महिमा का चिन्ता सुन्दर प्रख्यापन है साथ ही वैदिक युग के निर्धनता समाज और पशु-ईसा के अनाज का चिन्ता बढ़ा साध्य भी। इसकी ऐनकर कौन बुद्ध को पूर्व ऋषियों का निम्न कह सकता है? हाँ जहाँ उनकी सर्वज्ञता का उपास है वहाँ तो उपास्य का स्वयं अपनी सर्वज्ञता के समान ही एक विनिमय मन है और इसके लिए उपास्य का बुद्धि-स्वार्थ्य सर्वथा उपासनीय है। अब इन ब्राह्मण-युगीन-धर्मन परम्परा पर आते हैं।

(१) देखिए सुत्त सुत्त (अंगुत्तर ५।४।४१)

(२) ब्राह्मण धम्मज सुत्त (सुत्त निपात २।७); मिलाइये डीध सुत्त (अंगुत्तर ५।४।५।२)

ब्राह्मणयुगीन यज्ञयागादिमय धर्म ही वह वस्तु है, जिस के विरुद्ध बुद्ध की आवाज संभवतः तीव्रतम है और इस विषय में वे उपनिषद् की प्रवृत्तियों के समान ही हैं जबकि उनसे भी कुछ आगे बढ़े हुए हैं। संहिताओं में जो वर्णन निहित है उसी का कर्मकांड मय-स्वरूप ब्राह्मण युग में हुआ। यज्ञों के साथ-ही-साथ एक बबरबस्त पीपेहिल्य का भी उदय इस युग की बटना है। पुत्रापी भी यज्ञों के समान ही समझे जाने लगे।

और यज्ञ कर-करके मनुष्यों की बलिभाषा बढ़ने लगी अमृतत्व हासिल करने की। तीनों^१ यज्ञों को नित्य और अपौरुषेय मानने की प्रवृत्ति का ही उदय और सबसे अधिक बेम संभवतः इसी समय हुआ। यज्ञों को ईश्वर प्रवृत्त बताया गया^२ परमपुरुष के निष्पन्नता उन्हें बोधित किया गया^३ और उनकी प्रामाणिकता को एक बृहत्तम भित्ति पर स्थापित किया गया इसी युग में। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस एक तथ्य समय ने भारतीय वर्णन के विकास को प्रभावित किया। वैदिक अध्ययन एक पण्डितवाद की वस्तु हो गया और सुनिश्चित परम्परा के विरुद्ध जाने का किसी को भी साहस न होने लगा। विरुद्ध विचार प्रकट करने पर भी व्याख्याकार ऊपर से बुझाई देते रहे वेद के प्रति बफाबारी की और अनन्य भद्रा बुद्धि की ही। कितनी चतुरता के साथ छतरकाशीन भारतीय वर्णन में परस्पर

(१) ऐजिप् घतपय ब्राह्मण २।२।२।६; २।३।३।१४

(२) ऐजिप् घतपय ब्राह्मण ३।१।३।३; ऐतरेय ब्राह्मण २।१।१

(३) इस समय तीन ही वेद माने जाते थे ऐजिप् ऋ १।९।९, ५।३।१; तैत्तिरीय २।२।३ ऐतरेय ब्राह्मण ५।२।२ बृहदारण्यक १।५।१ छागोम्य २।१।७ मनु ३।१४५ ५।१२४ ११।२६३ १२।११२ वात्तिनिविदक में भी तीन विद्वानों (तैत्तिर्य) का ही उल्लेख है। निताइये पीता १।११ में वे 'वैविद्या' को वात्ति के 'तैत्तिर्य' के समान है।

(४) ऋ १।३।५ ३।१८।३

(५) घतपय ब्राह्मण १।१।५।८१ इत्ययं बुद्ध्यं लुप्त (अन्वय) भी।

तुम्हा बाहि निवेसनीं में अप्राप्त है। यही तब जबबान् ने एक और स्थान पर भी एक यांत्रिक ब्राह्मण को सिखाया जो उपनिषदों के अधिपति के ही समान है और उनकी परम्परा की ओर संकेत करता हुआ भी कहा जा सकता है। 'ब्राह्मण! ककड़ी पका कर घुड़ि मत मालो यह बाहरी चीज है। कुछ लोप उससे घुड़ि नहीं बतलाते जो कि बाहर से भीतर की घुड़ि है। ब्राह्मण! ये शस्त्राह छोड़ भीतर ही, ज्योति बजाता हूँ। नित्य आनवाका नित्य एकान्त चित्तवाका हो ये ब्रह्मचर्य पावन करता हूँ। ब्राह्मण! यह तेरा अधिमान बलिबा का मार (वारिमार है) है शीघ्र मुझी है मिथ्या भावना भस्म है बिहवा मुझी है, और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के समन करने पर पुण्य को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण! धीरे धीरे (बाट) बाका शक्तियों से प्रसंसित निर्मल धर्म हुए है जिसमें कि 'वेदन्' (वेदज्ञ) कहा कर बिना भीने नाम के पार उतरते हैं। यह ब्रह्म प्राप्ति सत्य धर्म समय ब्रह्मचर्य पर आभित है। सोचू ऐसे हवन कियों को नमस्कार, उनको भी पुण्य-अभ्य-सारी (पुण्यों को नष्ट बनाने के क्रिये सारणी-स्वरूप) कहाता हूँ। ऐसे 'कुशल लोप' ऐसे हवन किए हुए कीन हैं। निरुपम ही योगनिपट आदि जिन्होंने कार्य पहले सिखाया। पशुहिताजयी निहृष्ट उपस्था तो मुझ को ही नहीं सभी भारतीय हवन के लिए मुझा की वस्तु है, किन्तु वास्तविक 'इन्द्र यज्ञ' की जबबान् बरी वस्तु नहीं समझते वे और अधिकतर प्रकृति तो पनयी यज्ञादिकों को नैतिक व्याख्या प्रदान करने की भी वीसी कि उपनिषदों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रदान करने कीवी। एक भारतीय इन्द्रयज्ञ का वर्जन करने हुए स्वयं जबबान् कहते हैं 'ब्राह्मण! इस यज्ञ में यों नहीं मारी गई

(१) मुत्तजिपान ३४४ । निगाइये सुम्बरिका आख्याय मुत्त (संयुक्त ७११९) भी; निगाइये 'बहुत से जन यहाँ कहा रहे है किन्तु पानी से घुड़ि नहीं होनी। जिसमें सत्य और धर्म है वही घुड़ि है वही ब्राह्मण है' अद्विजमत उद्दान ११९ तथा 'जो सत्य से राज, जिनेन्द्रिय वेद के ज्ञान को पहुँचा (वेदन्तम्) है तथा जिसने ब्रह्मचर्य लभान किया है उसे ज्ञान-उपनीन बहो। संयुक्त ७११९

(२) देविएबीड़ बुधिरकोष के लिए नवरत्न मुत्त (बीध ११९); लोमह बरिष्कारादीवानी यज्ञ लभारा के लिए देविए उपर्युक्त ही; देविए सत्त निदान भी ।

बकरे-भेड़ों नहीं मारे गए, मुर्गे सूबर नहीं मार गए, न माना प्रकार के प्राणी मारे गए। न मूष के लिए नृश काटे गए। जो भी उसके पास प्रेय्य कर्मकर ने उन्होंने भी बंद तबित मय तबित हो अभ्युमुख रोते हुए रखा नहीं की। जिन्होंने आहा उन्होंने किया जिन्होंने नहीं आहा उन्होंने नहीं किया। जो आहा सो किया जो नहीं आहा सो नहीं किया। बी-सेक मन्त्रान रही मयु, बुद्ध से ही वह बह समाप्ति को प्राप्त हुआ^१। यज्ञों की विधिति करनेवाके बुद्ध को उनका मन्त्रक किसने बताया? उन वेद के मन्त्र को पढ़ते हुए (वेदमन्त्र) महारमा को वेद के विरुद्ध बताया किस दार्शनिक सर्वधीम की कछुत है? उस 'वेदम्' (वेदम्) के सामने बाहर जैसे मंत्र-निष्ठ, वेद-पारंगत ब्राह्मण और उनके शिष्य भी तो अपनी संकाओं को मिटानेवाले हुए। यदि बहुत से विचारक ब्राह्मणों का बुद्ध के काक में ही मन्त्रभागादिमय भ्रम्या-कलाप कूटा तो यह सब उनके ज्ञान के कारण ही तो हुआ। महान् अग्निहोत्री घरमेक काश्यप की ही यवाही सुनिए। भगवान् उससे पूछते हैं 'नया देखकर हे उरवेक वासी। तप-कृष्टों के उपदेशक। तुने जाग छोड़ी? काश्यप। तुमसे यह बात पूछता हूँ तुम्हारा अग्निहोत्र कैसे कूटा?'। "शब्द और रस में कामयोगों में स्त्रियों में कामेष्टि मन्त्र कहते हैं। काश्यप ने उत्तर दिया "ये उपाधि उपाधियां मन्त्र हैं मैंने यह ज्ञान किया इसकिए मैं इष्ट और हुत से विरक्त हुआ। मुझे 'जो कुछ समस्त धर्म है वह निरोध धर्म है' यह निर्मल धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ। भगवान् ने फिर पूछा हे काश्यप। रूप शब्द और रस में तेरा मन नहीं रमा तो देव-मनुष्य-लोक में कहाँ तेरा मन रमा? हे काश्यप। इसे मुझे बता। "काम मन्त्र में अविद्यमान निर्लेप धात उपाधिर्हित निर्वाणपद को देखकर, निविकार, दूसरे की सहायता से न पार होनेवाले निर्वाण पद को देखकर मैं इष्ट और हुत विरक्त हुआ^२। विमृष्ट ज्ञान पर प्रतिष्ठित बुद्ध के विचार की वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो सकती थी इसकी एक मन्त्रक इस तरह हमने देखी। आचरण पर ही धर्म की बुनियाद माननेवाले वे भगवान् उससे

(१) कूटस्थसुत (दीप १५); वेद में प्रातिहिता मौलिक नहीं। किन्तु बाद में जाली गई है इस दृष्टिकोण के लिए देखिए अंकिमुत्त-अङ्कुरा ब्रह्मर्षा बृष्ट २२४

(२) देखिए ब्रह्मर्षा बृष्ट ३६; विनय पिटक—महावज्ज १ भी इत्ययम्।

विरोधी सिद्धांतों को एक ही वेद का प्रामाण्य स्वीकार कर और उसी का माध्यम लेकर स्थापित किया गया है, यह हमी से स्पष्ट है। स्वर्तन विचार को तो इससे घबका पहुंचा ही कुछ न भ भी इससे अवश्य हुआ कि मनुष्य केवल बुद्धिवादी न रहकर बुद्धि को अनुमति से जैसी कि वह वेद में प्रतिष्ठित थी भीमिष्ठ करने लगे। बुद्ध की इसके प्रति प्रतिक्रिया बेजनी ही होगी और करनी होगी उपनिषदों के साथ इसकी तुलना की। तो फिर और बातों से पहले हम दो प्रधान बातों को एक तो वैदिक कर्मकाण्ड को और दूसरे वेद प्रामाण्य को लें जो दो प्रवृत्तियाँ इस युग में प्रधान थीं। भगवान् बुद्ध वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध नहीं थे किन्तु वे उसके सम्यक् मूल्य को जाननेवाले थे जैसे कि उपनिषदें। तीनों क्षेत्रों में पारंगत बाहरि ब्राह्मण का धिप्य 'पल्लव' भगवान् से पूछता है 'भगवन्! किस कारण ऋषियों मनुष्यों क्षत्रियों ब्राह्मणों ने यहाँ लोक में वेदशास्त्रों के लिए पृथक् पृथक् यज्ञ कल्पित किए उन्होंने इस जगत् की चाह करते हुए जरा जाद से ब—मुक्त होकर ही किए।' पल्लव—'बिन किन्हीं ने यज्ञ कल्पित किये भगवन्! क्या वे यज्ञ पत्र में अप्रमाणी थे? हे मार्ग! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवन्! तुम्हें यह पूछता हूँ मझे बताओ।

भगवान्—'वे जो बाधसन करते स्तोम करते बमिजस्य करते हवन करते हैं सो काम के लिए कामों की ही जपते हैं। वे यज्ञ के मोन से भव के रान से रान हो जन्म-जरा को पार नहीं हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।

पल्लव—'हे मार्ग! यदि यज्ञ के मोन से यज्ञों द्वारा जन्म-जरा को पार नहीं हुए, तो मार्ग! फिर लोक में कौन देव जन्म-जरा को पार हुए? तुम्हें पूछता हूँ। हे भगवान् इसे बताओ।

भगवान्—'लोक में बार पार को जान कर जिसे लोक में कहीं भी पुण्या नहीं जो सान बुद्धि-उद्धित रागादि विरत आचारधित है, वह जन्म जरा को पार कर गया कहता हूँ'। उपर्युक्त संवाद और उपर्युक्त इनका सरल और स्वयं स्पष्ट व्यापार है कि इसे व्याख्या की अपेक्षा नहीं। केन-देन कपी व्यापार की मायना पर प्रति-

(१) सुत्तनिपाय ५:३ (पुल्लव मायव पुच्छा)

छिन्न^१ याज्ञिक धर्म के समर्पक तृप्ता के उच्छेदकधाक्यमुनि कभी नहीं हो सकते । भगवान् बुद्ध के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड विधुडि का मार्ग नहीं है । नन्द ब्राह्मण (बाबरि का एक शिष्य) भगवान् से पूछता है 'सोक कहते हैं कि 'सोक में मुनि हैं । तो यह कैसे ? उत्तर ज्ञान को मुनि कहते हैं या कठिन तपयुक्त जीवन से युक्त को ।

भगवान्—न दृष्टि (मठ) से न श्रुति से न ज्ञान से नन्द । कुछल बन किसी को 'मुनि' कहते हैं । जो विष-सा मानकर लोभरहित आचाररहित हो विचरते हैं उन्हें मैं मनि कहा हूँ ।

नन्द—'कोई कोई भगवन्-ब्राह्मण दृष्ट या श्रुत से श्रुति कहते हैं, शील और व्रत से भी श्रुति कहते हैं अनेक रूप से श्रुति कहते हैं मार्य ! भगवन ! वैसा आचरण करते क्या वे जन्म-जरा से तर गए होते हैं ? भगवान् इसे मुझे बतलाओ'

भगवान्—'जो कोई भगवन्-ब्राह्मण दृष्ट और श्रुत से जन्म-जरा को नहीं तर

नन्द—'यदि मुनि उन्हें जोष से न पार हुआ कहते हैं तो वेव ! मनुष्य जोष में कौन जन्म-जरा को पार हुआ ? हे मार्य ! तुम्हें पूछता हूँ इसे मुझे बतलाओ ।

भगवान्—'मैं सभी ब्राह्मणों को जन्म-जरा से निवृत्त नहीं कहता । जो कि दृष्ट श्रुत स्मृत शील व्रत सभी छोड़ सभी अनेक रूपों को छोड़ तृप्ता को त्याग अनासन्न है उन गरीबों में जोष-पार कहा हूँ^२ ।

भगवान् का दृष्टिकोष अरयन्त ही स्पष्ट है । न तो वैदिक कर्मकाण्ड के करने और न करने में ही वे विमुक्त का मार्ग देखते हैं, यह तो पंच ही । ब्रह्मण ही जो तृप्ता के सम्यक् निरोध से ही और अपने तीव्र प्रयत्न द्वारा ही प्राप्तम्प है । 'मावन्विष । न दृष्टि से न श्रुति से न ज्ञान से न शील से न व्रत से श्रुति कहा हूँ अ-दृष्टि अ-श्रुति अ-ज्ञान अ-शील अ-व्रत से भी नहीं^३ । 'कर्म और श्रुति से भी मक्ति पद नहीं ले जाया जा सकता । यह तो

(१) 'तुम मुझे यह भी मैं तुम्हें यह बता हूँ' इतल भावना बार प्रायः समग्र याज्ञिक विधान प्रतिष्ठित है, देखिए ब्राह्मसमेवि संहिता ३।५ ; वातवच ब्राह्मण १।५।३।१९

(२) नन्द-भाष्य बुद्धा तुल्य निपात ।

(३) तुल्यनिपात ४।९

पुष्पा आदि निवेदनो में अर्पण है। यही तत्त्व मयबान् ने एक और स्थान पर भी एक भाषिक ब्राह्मण को सिखाया जो उपनिषदों के श्रुतियों के ही समान है और उनकी परम्परा की ओर संकेत करता हुआ भी कहा जा सकता है। 'ब्राह्मण ! कण्ठीयका करधुति मत मानो यह बाहरी चीज है। कृष्ण कोय उससे धुति नहीं बतलाते जो कि बाहर से भीतर की धुति है। ब्राह्मण ! मैं वास्याह जोड़ भीतर ही, ज्योति प्रकाश हूँ। नित्य आपनाका नित्य एकान्त चित्तवाला हो मैं ब्रह्मचर्य पावन करता हूँ। ब्राह्मण ! यह तेरा अभिमान करिजा का भार (कारिभार है) है कोय बुझा है मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा जुवा है, और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के वसन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण ! सीम सीम (बाट) बाका सन्तानों से प्रसंसित निर्मल बर्म हूँ, जिसमें कि 'बेरपू' (बेरछ) महाकर बिना भीये पाव के पार चतरते हैं। यह ब्रह्म प्राप्ति सत्त्व बर्म संयम ब्रह्मचर्य पर आभित है। सोतू ऐसे हवन कियो को नमस्कार, उनको मैं पुरुष-बन्ध-सारणी (पुरुषों को नम्र बनाने के लिये सारणी-स्वरूप) कहता हूँ^१। ऐसे 'कृष्ण कोय' 'ऐसे हवन किय हुए' कीन है। निरचय ही जीवनिकर आदि विनोने मार्ग पहले सिखाया। पशुहिंसामयी निकृष्ट तपस्या तो बुद्ध को ही नहीं सभी भारतीय हृदय के किय जुवा की वस्तु है किन्तु वास्तविक 'ब्रह्म ब्रह्म' को मयबान् बुरी वस्तु नहीं समझते वे और अधिकतर प्रवृत्ति तो उनकी बजाविकों को नैतिक व्याख्या प्रदान करने की भी बीसी कि उपनिषदों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रदान करने कीबी^२। एक आदर्श ब्रह्मयज्ञ का वर्णन करते हुए स्वयं मयबान् कहते हैं 'ब्राह्मण ! इस यज्ञ में बीम नहीं मारी गई,

- (१) सुत्तनिपात ३।४ । निज्जाइये सुत्तरिका पाच्छात्थ सुत्त (संयुत ७।१।९) भी; निज्जाइये 'बहुत से जब यही कहा रहे है, किन्तु पानी से धुति नहीं होती। जिसमें तत्त्व और बर्म हैं वही धुति है, वही ब्राह्मण है' अतिस्तुत उवाच १।९ तथा 'जो तत्त्व से वास्तविक चित्तविराजित वेद के ज्ञान को पहुँचा (वेदवस्तु) है तथा जिसने ब्रह्मचर्य समाप्त किया है, उसे ब्रह्म-उपनीत कहो'। संयुत ७।१।९

- (२) वैश्विपीड बुद्धिकोय के किय कूडवन्त सुत्त (बीज १।५) ; सोमह बरिष्कारोवन्ती यह सम्प्रदा के लिय वैश्वि कथ्युक्त है; वैश्वि सुत्त निपात भी ।

बकरे-भेड़ें नहीं मारे गए, मूष सूखर नहीं मार गए, न नाना प्रकार के प्राणी मारे गए। न मूष के किए बुरा काटे गए। जो भी उसके पास प्रेय्य कर्मकर ने उन्हींने भी बंद ठबित मय ठबित हो बध्मुमुख रोते हुए सेवा नहीं की। जिन्होंने बाहा उन्हींने किया जिन्होंने नहीं बाहा उन्हींने नहीं किया। जो बाहा सो किया जो नहीं बाहा सो नहीं किया। बी-सेक मक्खन रही मधु, मुड़ से ही यह बड़ समाप्ति को प्राप्त हुआ^१। यज्ञों की विमृष्टि करनेवाले बुद्ध को उनका निम्नक किसने बताया? उन वेद के अन्त को पहुँचे हुए^२ (वेदन्तयू^३) महात्मा को वेद के विरुद्ध बताना किस धार्मिक सर्वेक्षी की करतूत है? उस 'वेदयू' (वेदज्ञ^४) के धामने बाहरि जैसे मंत्र-निष्ठ, वेद-पारंगत ब्राह्मण और उनके सिष्य भी तो अपनी शक्तियों को मिटानेवाले हुए। यदि बहुत से विचारक ब्राह्मणों का बुद्ध के काक में ही यज्ञयागादिमय क्रिया-कलाप कूटा तो यह सब उनके ज्ञान के कारण ही तो हुआ। महान् अग्निहोत्री ब्रह्मेक काश्यप की ही पचाही सुनिए। भगवान् उससे पूछते हैं 'क्या देखकर है उदबेल बासी ! तप-कृशों के उपदेशक ! तुने ज्ञान छोड़ी ? काश्यप ! तुमसे यह बात पूछता हूँ तुम्हारा अग्निहोत्र कैसे कूटा ?'। "सब्र और रस में कामगोबी में स्थियों में कामेष्टि यज्ञ कहते हैं। काश्यप ने उत्तर दिया "ये रापादि अपात्रिया मक हैं मेने यह जान लिया इसलिये मैं इष्ट और हुठ से बिरत हुआ। मुझे 'जो कुछ समुद्रय बर्म है वह निरोध बर्म है' यह निर्मल बर्मचक्षु उत्पन्न हुआ। भगवान् ने फिर पूछा है काश्यप ! क्या सब्र और रस में तेरा मन नहीं रमा तो वेद-मनुष्य-लोक में कहाँ तेरा मन रमा ? है काश्यप ! इसे मुझे बता"। "क्रम मय में अधिष्ठान मिलेप दांत रापादिर्घित निर्वाणपद को देखकर, निर्विकार, दूसरे की सहायता से न पार होनेवाले निर्वाण पद को देखकर मैं इष्ट और हुठ बिरत हुआ^५। विमृष्ट ज्ञान पर प्रतिष्ठित बुद्ध के विचार की वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो सकती थी इसकी एक मलक इस तरह हमने देखी। बाचरण पर ही बर्म की बुनियाद माननेवाले वे भगवान् उससे

(१) अद्वैतानुत (दीप १५); बर में प्राणिहिता मीलिक नहीं। किन्तु बाद में डाली गई है इत बुद्धिदोष के लिए देखिए अद्वैतानुत-अद्वैत, ब्रह्मचर्या पृष्ठ २५४

(२) देखिए ब्रह्मचर्या पृष्ठ ३६; विनय स्टिक—महाब्रह्म १ भी इष्टय्य।

कहने की शक्यता नहीं है। वेद या किसी भी धर्म के स्वतः प्रमाण को मान लेने का सबसे अधिक और ग्राह्य हेतु यही हो सकता है कि वह सत्य की विभिन्न बखेबना का और अनुभव सम्पन्न महात्माओं की अनुभूतियों के नीचे ही अपनी बुद्धि को रखने का परिणामक हो सकता है ताकि बुद्धि के द्वारा किए हुए विवेचन से कभी कभी अवाञ्छनीय मायों में भी जा सकते हैं वही से बचे रहें और अवाञ्छित साधना विनष्ट नहो जो कि भारतीय दर्शन की एक अन्यतम प्रवृत्ति है। इससे अतिरिक्त यदि और किसी हेतु से वेद या अन्य किसी धर्म की स्वतः प्रामाण्य जैसी कोई बात कही जाती है तो निश्चय ही हम कह सकते हैं कि वह मानवीय बुद्धि की शक्ति की पहली निशानी है, बीधा कि इस आचार्य धर्मश्रीति के शक्ति को पहले भी स्वीकृत कर चुके हैं। यद्यपि बुद्ध स्वयं अनभव सम्पन्न महारमा हैं उन्होंने अपने अनुभव से हम कुछ या किया है, उन्हें वैदिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। साधना की अट्टाल पर जाते होकर जब उन्होंने स्वयं ही कह दिया 'ज्ञातव्य को जान लिया जावनीय की जावना कर ली।

परित्याग्य को छोड़ दिया मत हे बाह्य। मैं 'बुद्ध' हूँ'।

तो फिर उन्हें वेद या अन्य किसी धर्म के प्रमाण की क्या आवश्यकता थी, 'इतिह' 'इतिह' कहकर आचार्यों के समान प्रमाण देने का क्या कारण था स्वयं उनको तो वे सत्य की अपरोक्ष अनुभूति करानेवाले हुए। हेमक मार्ग (बाहर के लोग ही विषयों में से एक) विद्वत्पिताकर पूछता है 'पहलों ने मुझे बताया था 'ऐसा था' 'ऐसा होना'। वह सब 'ऐसा' 'ऐसा' (इतिह इतिह) है और ठीक बतानेवाला है। हे मुनि! मेरा मन उसमें नहीं रहा। हे मुनि! तुम तुम्हा बिनाशक धर्म मुझे बताया तो बिनाश को जानकर, स्मरण कर, आचरण कर लोक में तुम्हा को पार होऊँ। भवमान के समाधान किया है हेमक। वही इष्ट, सुख स्मृत और विज्ञात में ऊँच (सत्य) का हटाना ही अन्तर्निर्माण पर है। इसे जानकर, स्मरण कर, इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त उपशान्त होते हैं और लोक में तुम्हा की पार कर जाते हैं'। फिर यद्यपि का अन्तर्गत तो अत्यन्त सार भी है। बीधा कि

किन्तु अपने अथवा अपने पूर्वजों के द्वारा रचित बाल्य से। इतिह
रावाञ्छन्तु इतिहयन किर्त्तितकी विद्वत्पिता पूछ १९९, परतकित ५

(१) लेखक (पत्रिका २५।६)

(२) हेमक मार्ग पुष्प—सुतलित ५।८

उन्होंने 'काश्यामी' को बताया कि जो कोई भी सिद्धांत या मार्ग उनको बुद्धि के अनुकूल जान पड़े और जिससे जीवन का परिष्कार हो वह ग्रहण होने चाहिए फिर चाहे वह कहीं से भी क्यों न आए हों^१। इस प्रकार यदि बेद मार्ग सही है तो उसके स्वीकार करने में भी बुद्ध को क्या आपत्ति हो सकती है? प्रजापती गौतमी से भी तो भगवान् ने कहा कि जिन बर्णों को तू अपने किये उठाने वाले समझे अर्थात् जो बर्ण विराय निरोध और विमर्श के लिए हों उन्हें तू ग्रहण करना और जो इनसे विरुद्ध हों उनको छोड़ना^२। तो फिर बेद मार्ग यदि धाति और मुक्ति के लिए ही है तो बुद्ध का उसमें क्या विचार हो सकता है? निरक्षितों के पीछे उपामन्य नहीं पड़ते उनका ज्ञेय तो मनुष्य को अपने वास्तविक महत्व की अनुभूति और साक्षात्कार ही करना है, विचार उनका काम नहीं है। हे शाह्य ! यह सत्य है, यह किससे कहे 'यह झूठ है' यह किससे विचार करे ! जिसमें सम विषम नहीं है वह किससे विचार करे। जो काम से मृग्य अपने लिए अविष्य को न बनाने वाला है, वह मुनि लोक से विग्रह की क्या

(१) काश्याम नामक क्षत्रियों से भगवान् ने कहा 'आमो काश्यामी । मत तुम अनुधव से मत परम्परा से मत 'ऐसा ही हूँ' से मत पित्र-सम्प्रदाय से मत तर्क के कारण से मत नम (न्याय) के हेतु से मत वक्ता के आकार के विचार से मत अपने चिर विचारित मत के अनुकूल होने से मत वक्ता के जग्य रूप होने से, मत सम्यग्विचार (बुद्धि) है इस कारण से, विवर्ण करो किन्तु अब काश्यामी । तुम अपने ही आप जानो कि ये बर्ण अकृशाल, ये बर्ण सरोव ये बर्ण विज्ञ-निर्बल ह ये बहुवचन जाने पर अहित के लिए, दुःख के लिए होते हैं तब काश्यामी । तुम छोड़ देना' । कैतुपुल्लिय सुत (अनुतर ० ३।७।५) बुद्धवर्ण पृष्ठ ३४७

(२) 'गौतमी । जिन बर्णों को तू जाने कि वे तराय के लिए हैं, विराय के लिए नहीं— इच्छामों के बढ़ाने के लिए हैं घटाने के लिए नहीं अनुपोषिता के लिए हैं उद्योषिता के लिए नहीं— तो तू गौतमी । तोलही जाने जानना कि, न वह बर्ण है न विषय है न छास्ता का घातन है । प्रजापती सुत (अनुतर ८।२।१।३) बुद्धवर्ण, पृष्ठ ८१

विहीन उत्काशीन ब्राह्मणों की बढ़ बढ़ कर बनाई हुई बातों को क्या महत्व दे सकते थे ? 'ये वैविध ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनको छोड़कर पाँच काम-धर्मों को योग करते हुए, काम के बंधन में बंधे हुए, काया छोड़ने पर मरने के बाद ब्रह्मा की उत्कोकता को प्राप्त होंगे यह संभव नहीं।' ब्रह्मा की उत्कोकता का उपदेश तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने दिया है। अन्य उनकी विद्या का ह्रस्वता। महान् उनकी समन्वयारिमिका बुद्धि और ब्रह्मचार की नीति-न्य स्या। 'वैविध ब्राह्मण बैठते या पड़े हैं, फँसकर विद्या को प्राप्त है। सुते में मानो ठहर रहे हैं। इसलिए वैविध ब्राह्मणों की विद्या नीचता की कही जाती है, विपिन की कही जाती है व्यसन की कही जाती है'। यह भी निर्भीक आस्ता ने कहा और यह किसी के प्रति निन्दा की आवाज नहीं थी किन्तु उत्तम की पुकार थी जो उपासक की अनुमति पर प्रतिष्ठित थी। सम्यक सम्बुद्ध के समय के ब्राह्मण जो कुछ भी उनके श्रवणों में सर्वोत्तम उत्तम वा उसे अपने में मूर्तिमान् नहीं बिखा सकते थे किन्तु बुद्ध और उनके शिष्यों में बड़ी मूर्तिमान् देखने को थे विवश थे बस बुद्ध को हमें एक पूर्णता प्रदान करनेवाले के रूप में ही देखना चाहिए, विनाशक या निष्क के रूप में कभी नहीं। जब वास्तविक जगत् ही हमारे पास नहीं तो समग्र आधुनिक धर्मन की बाधी भी कहती है कि कोई भी धर्मप्रवक्ता वास्तव अभ्यसना या कर्मकांड हमारा कुछ नहीं कर सकता। 'यस्तुन्न वेद किमुवा करिष्यति'। यह वेद ने भी तो कहा है तो फिर सम्यक सम्बुद्ध के ही इस

(१) ऐतिह्यसुत्त (दीपनिबब १।१३)

(२) 'वादिष्ठ ! मत्तत्तकट में उत्पन्न और बढ़े हुए मनुष्य को मत्तत्तकट का मार्ग पूरने पर डेरी या बड़ता हो सकती है किन्तु तत्तत्तकट को या ब्रह्मलोक जानेवाला मार्ग पूरने पर डेरी नहीं हो सकती। वादिष्ठ ! ये ब्रह्मा को जानता हैं, ब्रह्मलोक को और ब्रह्मलोकप्राप्ति की प्रतिपत्ति को भी और जैसे मार्गास्तु होने से ब्रह्म लोक में उत्पन्न होता है उसे भी जानता हैं। जैसे वादिष्ठ ! बलवान् संशयमा पीड़ी हो मिहगत से चारों दिशाओं को बुँबा देता है, वादिष्ठ ! इसी प्रकार भिन्न-जातना से भक्ति विरा की विमुक्ति से विद्वाने परिमाण से काम लिया है वह नहीं अवश्य नहीं हो जाता। यह भी विदिष्ठ ! ब्रह्मा की उत्कोकता का धर्म है'। ऐतिह्य सुत्त (दीप १।१३)।

कहने में क्या बेव-गिस्वा है 'वैदिक ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनको छोड़कर जो म-ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनसे युक्त होकर कहते हैं हम इन्द्र को बाह्मण करते हैं हम ब्रह्मा को बाह्मण करते हैं, महर्षि को बाह्मण करते हैं, यम को बाह्मण करते हैं वाशिष्ठ । ये वैदिक ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनको छोड़कर बाह्मण के कारण कामा छोड़ने पर मरने के बाद ब्रह्मा की सत्कोकता को प्राप्त हो चारोंने यह संभव नहीं^१ । 'ब्रह्मसम' होने का मार्ग तो विष्णुब्रह्मसम जीवन की प्रतिष्ठा पर ही हो सकता है^२ । और उसी का प्रस्थापन भगवान् बुद्ध का एक मात्र विषय है । वैदिक प्रज्ञान में ब्रह्मा भगवान् के अनुसार सत्य की अनुरक्ता मात्र कर सकती है और फिर भी जबकि वह एकाग्र है 'यही सत्य है और सब झूठा' कहनेवाली न हो, किन्तु 'सत्य' का बहुकारी धर्म तो उनके अनुसार 'प्रज्ञान' ही है । 'भारद्वाज' सत्य प्राप्ति का बहुकारी धर्म 'प्रज्ञान' है । यदि प्रज्ञान (प्रयत्न) न करे तो सत्य को भी प्राप्त न करे । चूंकि 'प्रज्ञान' करता है, इसीलिए सत्य को पाता है इसीलिए सत्य-प्राप्ति के लिए बहुकारी धर्म प्रज्ञान है^३ । इस प्रकार बुद्ध के प्रज्ञान के साथ वैदिक कर्मकांड के संबंध को हमने देखा । अब वेद प्रामाण्य के विषय में कुछ कहना अपेक्षित है । ब्राह्मण ग्रंथों में वेद को अपौरुषेय और नित्य होने का महत्त्व दे दिया यह हम पहले वेद चुके हैं किन्तु हमें इस विषय में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं वैदिक साहित्य में ही इस स्थिति के विरुद्ध अनेक बचन मरे पड़े हैं जिनको यदि साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं किन्तु निष्पक्ष ऐतिहासिक बुद्धि से हम देखें (उत्तरकाळीन व्याख्याकारों की अनुरक्ता से मरी हुई पुस्तकों के द्वारा नहीं) तो हम इस निष्कर्ष पर आए बिना नहीं रह सकते कि कुछ ऋषि निश्चय ही वेदों को पूर्वज ऋषियों की कृतिया मानते थे और मानते थे कि उनमें मानवीय भावनाओं का प्रकाशन है।^४ इस विषय पर यहां अधिक

(१) तैत्तिरीयसूत (टीप १।१३); जिन ऋचाओं की ओर यहां संकेत है उनके लिए देखिए ऋ १।३।११ यजु ३।४।३४ ३५

(२) देखिए श्रौतसूत (अंगुत्तर ५।४।५।२)

(३) अंकितसूत (मग्निम्न २।५।२) देखिए बुद्धचर्या पृष्ठ २२६

(४) देखिए ऋ १।१।१७।२ २।१।५।२ १।३।७।१; ३।४।७।३ जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि अनेक वैदिक ऋषि ऋचाओं को ईश्वरवृत्त नहीं

कहने की बकरत नहीं है। वेद या किसी भी ग्रंथ के स्वतः प्रमाण को मान लेने का सबसे अधिक और ग्राह्य हेतु यही हो सकता है कि वह सत्य की विनम्र गवेषणा का और अनुभव सम्पन्न महात्माओं की अनुभूतियों के नीचे ही अपनी बुद्धि को रखने का परिचायक हो सकता है ताकि बुद्धि के द्वारा किए हुए विवेचन को कभी कभी अवाञ्छनीय मार्गों में भी जा सकते हैं वही से बचे रहें और अध्यात्म साधना विनष्ट न होवे कि भारतीय दर्शन की एक अत्यन्त प्रवृत्ति है। इससे अतिरिक्त यदि और किसी हेतु से वेद या अन्य किसी ग्रंथ की स्वतः प्रामाण्य जैसी कोई बात कही जाती है तो निश्चय ही हम कह सकते हैं कि वह मानवीय बुद्धि की बढ़ता की पहली निशानी है, जैसा कि हम आचार्य बर्मकीर्ति के वाक्य को पहले भी उद्धृत कर चुके हैं। भगवान् बुद्ध स्वयं अनन्त सम्पन्न महात्मा हैं, उन्होंने अपने अनुभव से सब कुछ पा लिया है उन्हें वैदिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। साधना की बदौलत पर बड़े होकर जब उन्होंने स्वयं ही यह देखा 'आत्म्य को जान लिया मानवीय की साधना कर ली।

परित्याग्य को छोड़ दिया मरु हे ब्राह्मण ! म 'बुद्ध' हूँ'।

तो फिर उन्हें वेद या अन्य किसी ग्रंथ के प्रमाण की क्या आवश्यकता और, 'इतिह' 'इतिह', कहकर आचार्यों के समान प्रमाण देने का क्या कारण रहा स्वयं उनको तो वे सत्य की अपरोक्ष अनुभूति करनेवाले हुए। हेमक मानव (बाहर के सोलह पिण्यों में से एक) गिर्यपिकाकर पुच्छता है 'पहलों ने मुझे बतलाया था 'ऐसा था' 'ऐसा होगा'। वह सब 'ऐसा' 'ऐसा' (इतिह इतिह) है और तर्क बढ़ानेवाला है। हे मुनि ! मेरा मन वसमें नहीं रमा, हे मुनि ! तुम पुण्या विनाशक बर्म मुझे बतलाओ जिसको जानकर, स्मरण कर, आचरण कर लोक में पुण्या को पार होऊँ'। भगवान् के नवाचन किया है हेमक। यहाँ इष्ट भूत स्मृत और विज्ञात में छन्द (राग) का हटना ही अत्युत्त निर्वाण वर है। इसे जानकर, स्मरण कर, इसी वन में निर्वाण प्राप्त उपरान्त होते हैं और लोक में पुण्या को पार कर पाते हैं'। फिर भगवान् का नवत्यो तो अत्यन्त बदार भी है। जैसा कि

दिन्नु अपने अन्तरा अपने पूर्वजों के द्वारा रचित मानते थे। देखिए

रावाहप्यन् इण्डियन क्रिस्तकी विस्व वृत्ती, वृष्ट १२९, वरसरेत ५

(१) विल्लुत (अग्निम २५।१)

(२) हेमक मानव पुच्छा—मुत्तनिपात ५।८

उन्होंने 'कालामों' को बताया कि जो कोई भी सिद्धांत या मार्ग उनको बुद्धि के अनुकूल जान पड़े और जिससे जीवन का परिष्कार हो वह ग्रहण होने चाहिए फिर चाहे वह कहीं से भी क्यों न आए हो। इस प्रकार यदि वह मार्ग सही है तो उसके स्वीकार करने में भी बुद्ध को क्या आपत्ति हो सकती है? प्रजापती गौतमी से भी तो भगवान् ने कहा कि जिन बर्णों को तू अपने सिध्दे उठाने वाले समझे अर्थात् जो बर्ण विराय विरोध और विमुक्ति के किए हों उन्हें तू ग्रहण करना और जो इनसे विरुद्ध हों उनको छोड़ना। तो फिर वेद मार्ग यदि शांति और सुख के लिए ही है तो बुद्ध का उसमें क्या विवाद हो सकता है? निश्चितियों के पीछे तपायत नहीं पड़ते उनका उद्देश्य तो मनुष्य को अपने वास्तविक महत्त्व की अनुभूति और साक्षात्कार ही करना है, विवाद उनका काम नहीं है। हे ब्राह्मण ! यह सत्य है यह किससे कहे 'यह मूठ है यह किससे विवाद करे। जिसमें सम विषम नहीं है वह किससे विवाद करे। जो काम से मृत्यु अपने किए अधिपत्य को न बनाने वाला है वह मुनि लोक से विद्वद् की क्या

(१) कालाम नामक क्षत्रियों से भगवान् ने कहा 'आमो कालामो । मत्तं तुम अनुभव से मत्तं परम्बरा से मत्तं 'ऐसा ही है' से मत्तं पित्र-सम्प्रदाय से मत्तं तर्क के कारण से मत्तं नय (न्याय) के हेतु से, मत्तं वक्ता के आकार के विचार से मत्तं अपने चिर विचारित मत्तं के अनुकूल होने से, मत्तं वक्ता के मध्य क्य होने से मत्तं समज हमारा सुब (बड़ा) है इस कारण से विश्वास करो किन्तु अब कालामो ! तुम अपने ही माप जानो कि ये बर्ण अक्षुण्ण ये बर्ण तरोध ये बर्ण चित्त-निर्दिष्ट है, ये ग्रहण किए जाने पर अहित के लिए, दुःख के लिए होते हैं तब कालामो ! तुम छोड़ देना' । केतुपुत्तिय सुत्त (अनुत्तर ३७।५) बड़चर्चा पृष्ठ ३४७

(२) 'गौतमी । जिन बर्णों को तू जाने कि ये सराय के लिए हैं विराय के लिए नहीं, इच्छाओं के बढ़ाने के लिए हैं घटाने के लिए नहीं। अनुद्योगिता के लिए हैं उद्योगिता के लिए नहीं, ~ तो तू गौतमी ! सोलहों जाने जानना कि, न वह बर्ण है न विनय है, न शास्ता का शासन है। प्रजापती सुत्त (अनुत्तर ८।२।१।३) बड़चर्चा, पृष्ठ ८१

नहीं रहता^१। 'न अपने धर्म की प्रशंसा करना न परधर्म की निन्दा करना' यह तथागत का ही नहीं समग्र भारतीय विचार का ही उपक्रम है। तथागत की तो बात क्या उनके मार्ग पर चलनेवाले असोक और हर्ष जैसे सम्राटों ने भी इस प्रशुति को कितावा लिखाया इसका इतिहास साक्षी है। जगबान् के ने सच्च हितु-धर्म के लिए विरस्मरणीय है जिसमें उन्होंने 'यज्ञों में मुख्य अग्निहोत्र और ऋत्यों में मुख्य सावित्री'^२ को बताया है। किन्तु तत्त्व के निरूपण में उन्होंने सम्यक विचार और निष्पन्न-निष्कान्त को ही प्रधान बताया है और जिस प्रकार वैदिक प्रज्ञान उसी प्रकार बुद्ध के उपदेशों से भी इसी प्रकार सत्य को हमें निकालना है, यही तथागत का वाद है। 'यहाँ एक छास्ता आनुभविक (आनुभव श्रुति) को सत्य माननेवाला होता है। श्रुति में ऐसा स्मृति में ऐसा परम्परा से पिटक-सम्प्रदाय (ग्रंथ-अमान) से यह धर्म का उपदेश करता है' इसके विषय में हम क्या मत लें यह प्रश्न बुद्ध के काण की तरह आज भी किया जा सकता है और इसके लिए 'विमर्श-वादी' बुद्ध का यही स्पष्ट उत्तर है जो वैदिक प्रज्ञान के समान अन्य किसी प्रज्ञान के लिए भी सुप्रयुक्त हो सकता है—सम्बन्ध ! आनुभविक को सत्य मानने वाले छास्ता का आनुभव सु-भूत भी हो सकता है दु-भूत भी बचार्थ भी हो सकता है अयबार्थ भी हो सकता है' अब एकाक्ष से किसी भी ग्रंथ में बड़ा कहे की भाव कि यही 'सत्य है और सब भूटा'। फिर तर्क से भी तो ऐसा नहीं किया जा सकता। 'सम्बन्ध ! तार्किक विमर्शक (बीमसक) छास्ता का विचार सु-तर्कित भी हो सकता है दुष्ट रूप से तर्कित भी बचार्थ भी हो सकता है अयबार्थ भी'। मत सत्य के निर्णय में तथागत के अनुसार भी स्वानुमति ही अंतिम प्रमाण ठहरती है, जिसके लिए ही अन्ततः बेदके प्रमाण का भी

(१) बेजिए बुद्धचर्या पृष्ठ ११७। मिताहरे बेद की परम्परा में भी 'विचार स्वैरे निजिप्य विरोधीद्वन्द्व कारकम्। तौ संरक्षितसद्बुद्धिस्तुलं निर्वाति बेदवित्' मन्त्रोपनिषद्, प्रश्न ६ पर शंकर भाष्य में उद्धृत।

(२) सम्बन्धसुत (मग्गिम २।३।६) बुद्धचर्या पृष्ठ २६५

(३) सेकसुत (मग्गिम २।५।३)

(४) सम्बन्धसुत (मग्गिम २।३।६) बुद्धचर्या पृष्ठ २६३-६४ तर्क या श्रुतके द्वारा ही केवल सत्य को निकालने की चेष्टा को जगबान् ने 'अनारवातिका बह्मचर्य' कहा है, इससे आम्नातन मिलने की आशा नहीं।

उपयोग है। अब उपायत विनाशक न ठहर कर पूरक की ठहरते हैं। यह तो कर्मकांड और वेद के प्रमाण की बात रही। जब नैतिक क्षेत्र में हम आते हैं तब तो बुद्ध के विचार की एक अद्भुत विषय हम देखते हैं। यह कहना सक्त है कि ब्राह्मण-ग्रंथों में सिवाय यज्ञयामादिमय विधानों के और कुछ है ही नहीं। परमज्ञान का वर्णन वे भी करते हैं और 'आरम्यकों' में तो इसकी ठरक विशेष ही प्रवृत्ति है। ये प्रवृत्तियाँ निश्चय ही बुद्ध के विचार के अधिक अनुकूल हैं। 'सर्वमेव' वैसी वस्तु का जब अतपन ब्राह्मण आध्यात्मिक वर्णन करता है^१ 'सर्व' के आचरण के द्वाराही जब वह देवताओं की प्रसन्न किया हुआ मानता है^२ और जब वह कहता है कि यज्ञों के द्वारा ही सर्व प्राप्तम् नहीं किन्तु उसके लिए ज्ञान आवश्यक है^३ जिसके बिना यज्ञ करना भी मृत्यु के मार्ग में ही चक्कर लगाता है^४ और आरम्यज्ञही श्रेष्ठतम है श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है^५। तो हम कह सकते हैं कि वह उपनिषदों की भावना की ठरक आ रहा है जिसके ही बुद्ध निश्चय और आगे बढ़ानेवाले हैं। जब कामनाओं की प्राप्ति से भी एक उच्चतम उद्देश्य स्वीकार कर लिया जाय^६ जब देवताओं का देवत्व भी उपस्था के कारण ही प्राप्तम् में न लिया जाय^७ तो यह मनुष्यत्व की महिमा का ही विकास है। और यही बुद्ध के विचार का भी अपर नाम है। कर्म के अनुकूल ही पुनर्जन्म की भावना भी बुद्ध-दर्शन के अनुकूल

(१) अतपन ब्राह्मण १३।७।१।१

(२) वैजिए अतपन ब्राह्मण १।१।१।४ १।१।१।५; ३।३।२।२; ३।७।१।८; २।२।२।१९

(३) वैजिए अतपन ब्राह्मण १।३।७।१५

(४) वैजिए अतपन ब्राह्मण १।७।३।१ १।१।७।१४ १।२।५।१९; १।५।१।४ १।१।७।३।२०

(५) वैजिए ऐतरेय ब्राह्मण १।१।३।६; अतपनब्राह्मण १।७।१।५

(६) वैजिए अतपन ब्राह्मण १।५।७।१५। इन सब भावनाओं के कारण पौरुहित्य की महिमा निश्चय ही घट गई किन्तु फिर भी आतिवाद तो रहा ही बुद्ध की 'आनुर्बन्धी अग्रि' जिसके संस्कार के लिये प्रवृत्त हुई।

(७) वैजिए तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।३

(८) वैजिए अतपन ब्राह्मण २।६; १।२।१।११; इतल लोखं बुद्धोऽभिप्रायते । नित्ताइये 'प्रामी तो नहीं जाता है, जहाँ उतका कर्म जाता है' बुद्ध-वचन।

है। अतः इन बातों में विमर्श नहीं है। जब हम उपनिषदों के साथ बुड-दर्शन के सम्बन्ध के महत्वपूर्ण विषय पर आते हैं।

इस विषय पर आते ही सबसे पहले तो हमें यह कह देना चाहिए कि बुडा के समय में उपनिषदों की परम्परा एक जीवित परम्परा नहीं थी किन्तु फिर भी बहुत से विद्वत् लोग उनमें से बहुत से परिचित थे और उनके विषय में मगधान् से प्रश्न भी करते थे संज्ञाप भी करते थे। एक व्यक्ति ने पूछा कि 'हे भीष्य'। मार्ग-अमार्ग के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण, ब्रह्मसूत्र ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण नामा मार्ग बतलाते हैं। तब भी वे बैरा करनेवाले को ब्रह्मा (बड़ा?) की सज्जकता को पहुंचाते हैं। जैसे हे भीष्य। ग्राम या निगम के बहुत से लोग भी जानते हैं, तो भी वे सभी ग्रामों में ही जानेवाले होते हैं। ऐसे ही है गौतम। १। इसी प्रकार 'तैत्तिरीय ब्रह्मसूत्र' का भी वर्णन आया है। बुड के काक में जिस प्रकार 'सोम को पीकर हम अमृत हो गए' इस प्रकार गानेवाले लोग भी वे उसी प्रकार 'पूजा ह्येते ब्रह्मा यज्ञस्या' का निर्वाह करनेवाले का स्वतन्त्रवेत्ता न भी ब्राह्मण भी थे। इन दूसरे प्रकार के मनीषी विचारों ने ही पूरा काक में जीपनिषद् ज्ञान का प्रादुर्भाव किया था और उन्हीं के दर्शन से जब हमें बुड के मन्त्रम्य को मिलाना है।

इस विषय में सबसे पहले तो हमें यही देखना चाहिए कि 'उपनिषद्' शब्द से उस विद्या का तात्पर्य होता है जिसके द्वारा अविद्या आदि संसार के बीज का विध्वंस जिसने अर्थात् विनाश किया जाता है। १ 'निषाध्य तं मृत्युमुच्चात

(१) त्रिपिटक में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग न होकर 'ब्रह्मा' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, हाँ सामासिक पदों में तो 'ब्रह्म' अवश्य ही ही गया है यथा 'ब्रह्मसूत्र' 'ब्रह्मप्राप्ति' आदि में। देखिए ('ब्रह्मसूत्र' के लिए) श्रौतसूत्र (अनुसूत्र ५।४।५।२)

(२) तैत्तिरीय सूत्र (बीच १।१३)

(३) मुक्तवाग ६।२ देखिए बुडबर्ग बुड ७४

(४) आ ८।४८।३

(५) मुद्रक १।२।७।८

(६) ये अनुसूत्रों बुद्धानुसूत्रविषयविस्तृतः सन्त उपनिषद्ब्रह्मवाक्यां ब्रह्मवाक्यसंज्ञा विद्या उपबोधोपपन्नं तत्रिपिटकं निरचयेत् श्रीकृष्ण

प्रमुष्यते^१ । (उसे साक्षात् जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है) । ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽमृष्टिमृत्युः^२ । ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुण्य विरज और विमुक्त हो गया ये उपनिषदों की ही वाणियाँ हैं। अतः कुछ निवृत्ति के उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त होने वाली उपनिषद् उन 'वेदगू' (वेदज्ञ) बुद्ध के मन्तव्य से विभिन्न प्रयोजन की प्रतिज्ञा लेकर प्रवृत्त नहीं होतीं। इन बीजों के पन्था में भी कोई विशेष वेद नहीं यह हम अभी एक-एक क्षेत्र को लेकर देखेंगे। ब्रह्मा ही अमृत को तो मृत करके दिखाता नहीं होगा और ब्रह्म विभिन्नताएँ और विशेषताएँ भी दृष्टिभोचर होंगी (और ये अनेक स्थानों पर होंगी) तो उनका भी निष्पन्न भाव से दिखाया ही जायगा। सत्य भी जब वैसा ही होया, तो फिर हम कौन होते हैं? 'तत्र के बभम्'। अस्तु, औपनिषद ज्ञान या तो अनेक ऋषियों की कृति होने के कारण यादृच्छिक अतीत रस्य्यात्मक मन्तव्य होने के कारण या समझनेवालों की भिन्न दृष्टियों प्रवृत्तियों और अधिकार होने के कारण अपने परमार्थ स्वरूप में कुछ अनिश्चित अस्पष्ट और बहु-स्वरूप है। तथापि का मन्तव्य तो एक ही व्यक्ति का विचार होने पर भी प्रायः वैसा ही था। फिर जिस प्रकार एक ही तथागत का मन्तव्य बाद में चलकर भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यात किया गया उसी प्रकार औपनिषद दर्शन के भी उत्तरकालीन पञ्चमुखी विकास की गाथा है। इस विकास की परम्परा पर हम इसी प्रकरण में आगे स्वतंत्र रूप से विचार करेंगे ही। जिस प्रकार 'विक्रयार्थ प्रतिपत्ति' का बहुत रूप से आरो-आचार्य धरने ने सुमत् पर बताया है^३ उसी प्रकार (अबवालों कहिए कि उससे भी अधिक—उपनिषदों में तो अनेक ही 'विक्रयार्थप्रतिपत्ति' वाले उपदेश सहज ही में मिल जाने से) वह उपनिषदों के दर्शन पर भी सुप्रयुक्त हो सकता है।

तेजामविद्यादे संतारधीअस्य विअरवाङ्मितनाद् विनायनादित्यनेनार्थ योगेन विद्या उपनिषदितनुष्यते । अठ उप० पर धाकर भाष्य का प्रारम्भ । देखिए तीर्त्तिरीय उपनिषद् के प्रारम्भ में भी धाकर भाष्य ।

(१) अठ १।१।१५

(२) अठ २।१।१८

(३) सुप्रतेन स्वयदीहृतमात्मनोऽस्तव्यस्य प्रभावित्वं विद्वयार्थ प्रतिपत्त्या आदि ब्रह्मसूत्र धाकर भाष्य २।२।६।३२ । इस विषय पर विशेष विवेचन के लिए देखिए आगे 'बीज दर्शन और वेदान्त' ।

किर समयव्य के प्रयत्न तो दोनों की ही परम्पराओं में विद्यमान हैं। चंद्र, रामानुज और बल्लभ आदि के मत्तव्य यदि किसी एक ही उपनिषद् सिद्धांत में विवेचित किए जा सकते हैं, तो क्या 'कषावत्सु'कार और 'विकल्पप्रस'कार में ऐसा ही प्रयत्न बुद्ध के वास्तविक मत को जानने के लिए नहीं किया ? अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार 'विकल्प प्रतिपत्ति' और समयव्य के प्रयत्न तो दोनों दर्शनों में ही विद्यमान हैं, ऐसा हमें जानना चाहिए। किर विकल्प प्रतिपत्ति से समयव्य की दृष्टि दोनों ही ब्रह्म अधिक सीधेवती है ऐसा भी हमें भारतीय दर्शन का इतिहास बताता है। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'प्रतिपत्ति के मेघ ब्रह्मा विनेय (चिह्नों) के मेघ से' बुद्ध का एक दर्शन भी उत्तरकाशीन परम्परा को लेकर 'बहुप्रकार' विवेचित किया जा सकता है, उसी प्रकार उपनिषद् दर्शन भी। मूल रूप में दोनों एक ही दर्शन हैं अर्थात् एक ही बुद्ध-दर्शन और एक ही उपनिषद्-दर्शन और सभी भाषाओं और भाषों को छोड़कर यहाँ केवल इसी मूल दर्शनों के संबंध को विवेचित करना ही हमारा कार्य है। हाँ एक बात अवश्य है और वह अग्रजान है, अर्थात् जब कि बुद्ध का दर्शन अपने प्रमाण के लिए केवल तत्त्वतः की अभिसंबोधि पर प्रतिष्ठित है उपनिषद् के दर्शन की उत्पत्ति की गवाही मात्रवत्स्य जहालक दवेतकेतु, भारद्वाज महीबास ऐतरेय ऐक्य शास्त्रिय सत्यकाम आराध वैदिक नाम्पायन प्रतर्जन शास्त्रिक ब्रह्मातधनु, भार्गी मैत्रेयी आदि जनेक शास्त्र और शास्त्रिकाओं ने दी है। अर्थात् उन्होंने इसका आधिकार किया है। किन्तु यहाँ भी विवेक अत्यंत है। जिस प्रकार उपनिषदों के अधिवर्ग ने अपने नाम और रूप को छोड़ अपने कर्तृत्व के सभी अभिमान को छोड़ स्वयं अपने प्रमातों में ही छिप जाना पसन्द किया है, उसी प्रकार तत्त्वतः ने भी अपने में कभी यह संकल्प नहीं जाने दिया कि 'मैं' 'उपदेश दे रहा हूँ। दोनों ही एक उच्च अत्यंत-लोक के निवासी हैं। तो किर जब इन कृतज्ञाओं से सुप्रमताओं पर जाते हैं।

- (१) स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिवेदाङ्गिनेयवेदता । बहुप्रकारः—शास्त्रिक भाष्य २।२।७।१८ ब्रिहदारण्यके इती प्रतंभ में 'सर्व दर्शनवत्तं' का बीड दर्शन सम्बन्धी विवेचनभी; ब्रिहदारण्यके ब्रिहता लोकनामना सत्त्वान्नधधामना । ब्रिहता बहुधा लोक उपायवर्धुनि पुनः ॥ अग्नीरोत्तमवेदेन ववदिक्रमोभय लक्षणा । अत्रात्रि ब्रह्माभिप्राय धूम्यताय लक्षणा ॥ नायार्जुन-वृत्त बोधितवित्तिरथ भाषणी २।२।१८ में उद्धृत ।

जो कोई भी दर्शन या विचार-मंडति दुःख-निवृत्ति अथवा अमृतत्व की मिप्पति को अपना ध्येय बनाती है, मृत्यु के बंधनों को तोड़ अपार आनन्द की अनुभूति का यहाँ उपदेश करना चाहती है, वह बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुखी ही हो सकती है। 'कविबन्धोः प्रत्यगात्मानमेकदाभूतबन्धुरमृतत्व मिच्छन्'। इसी प्रकार 'मिच्छन्तो ! यह सामने बूझो की जाया है। ये एकाग्र सुने स्थान हैं। मिच्छन्तो ! ध्यान लगाओ प्रमाद मत करो'। औपनिषद दर्शन और 'मौक्तिक्य' गौड दर्शन दोनों ही समान रूप से अभ्यासविधी हैं। समस्त ब्रह्मात्मविज्ञान और 'अधिभर्म' इसी पर अवस्थित है। इन दोनों की ही मंत्र और ब्राह्मणों के प्रति जो प्रतिक्रिया रही है उसे कुछ भय हम विवेचित करें जो इस प्रसंग में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमने देखा कि छन्दम् युग (अन्धेरीय युग के प्रथम स्त) में ऋषियों ने ऋचाओं के द्वारा विभिन्न देवताओं की उपस्तुतियाँ कीं। फिर हमने देखा कि ब्राह्मण युग में इन्हीं ऋचाओं को लेकर कर्मकांड बंध पड़ा जो प्रायः याह्य स्वयम् का ही था। उपनिषत्कारों की इस परम्परा की ओर प्रवृत्ति क्या थी? जितना भी देवबहुरूप पाया गया उसका ब्रह्मात्मभाव के रूप में प्रस्थापन औपनिषद ऋषियों ने किया। केवल एक ही देव उन्होंने स्वीकार किया। और उसे 'ब्रह्म' वा 'तत्' रूप में पुकारा स्त्रीलिंग या पुल्लिंग में नहीं। जब 'ब्रह्म' के ही सब अग्नि वायु आदि देवता प्रस्फुरण हैं तो मनुष्य चाहे तो इनकी उपासना कर सकता है और चाहे तो नहीं भी'। फिर ये अन्य हैं और देवता अन्य हैं ऐसी उपासना करना भी तो केवल देवों का पक्ष पक्ष जाना है'। सब देव उसी के अधीन हैं उसी को अधिष्ठ हैं जिसके भय से अग्नि जलती है और सूर्य चमकता है मृत्यु जिसका उपदेहन है और जिससे अतीत बन्ध भी नहीं'। इस

(१) कठ २।१।१ तदेकैकं आत्म मात्मानमत्या वाचो विमुञ्चयः ।

(२) अंगुत्तर-निकाय ।

(३) बृहदारण्यक १।१

(४) वैजय बृहदारण्यक १।४।६; १।४।७ १।४।१ मैत्रायणी ४।५ ६ मुण्डक १।१।१; तैत्तिरीय १।५

(५) वैजय बृहदारण्यक १।४।१

(६) अथाहमाग्निस्तपति अयातपति भूमः । अथाहिन्द्रस्य वायव्यं मृत्युर्वावति वज्रमः । कठ २।१।३

प्रकार ज्ञाननिबद्ध भूषि संज्ञितार्थों की विविध देवताओं की उपस्तुतियों को 'ब्रह्म' अथवा 'आत्मा' के एकीकरण में पवसित कर देते हैं और यही उनकी महान् समन्वय-भावना भी है। सम्यक सम्बुद्ध का दृष्टिकोण यहाँ कुछ अधिक तीव्र और मलनीय है। हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार संज्ञितार्थों का पाठ करने वाले और इन्द्र ईशान आदि देवताओं का आह्वान करने वाले ब्राह्मणों को उन्होंने 'ब्राह्मण बनाने वाले घरों' में हीन होने के कारण फटकारा था और उनकी सभी विद्या को 'बीरान' विद्या 'कान्धार' विद्या तक कहने का साहस किया था। वह ठीक है कि वेद ने भी आचार्य और ज्ञान की प्रतिष्ठा रखने के लिए 'यस्तत्र वेद किमुवा करिष्यति' ऐसा कह दिया हो किन्तु केवल आचार्य तत्त्व अथवा विमुक्त जीवन के हाथ ही समस्त मायबोर से देना तो सम्यक सम्बुद्ध का ही काम था। जब देवताओं के से वर्म ही मनुष्य में नहीं तो 'ब्रह्मा की सत्कोक्ता' भी वह क्या प्राप्त करेगा और यही देवता के साथ सहस्रमर्ता प्राप्त करना ही उपनिषद् की इस बातों का कि 'जो वेद ब्रह्म है और मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार की उपासना करता हूँ वह देवों का पक्ष है स्पष्ट तात्पर्य है। फिर देवताओं के अस्तित्व तक का भयमान् बुद्ध ने निराकरण नहीं किया किन्तु उसे स्वीकार ही किया। जिस प्रकार उपनिषदों ने देवत्व की आत्मा के क्षेत्र में ब्रह्मात्मयाव के प्रकाश में ध्यास्या की उही प्रकार हम कह सकते हैं कि बुद्ध ने उनकी नैतिक ध्यास्या की। वह भी स्मरण रखना होना कि कहीं-कहीं उनके नाम भी परिवर्तित कर दिये गये किन्तु इतना ही क्या कम था कि बुद्ध के हाथों कम-से-कम उनका अस्तित्व ही रह गया। बुद्ध द्वारा मानवता की श्रेष्ठता के साक्ष्यस्वरूप यह क्या कम भिन्न है कि उन्होंने देवों का वर्म मनुष्यों से ऊँचा नहीं रखा। किन्तु 'भौताप्रवृत्ति आदि देवों का अकृत्रिम कर्म करने के कारण भव में पड़ जाना भी उन्होंने कहा'।

- (१) देखिए ब्रह्मजाल सुत्त (बीज निकाय का प्रथम सुत्त) मिलाने देवताओं में भी लोभ है। उनमें जो लोभ रहित है वे मनुष्य लोक में नहीं आते; जो लोभ रहित है वे मनुष्य लोक में आने वाले होते हैं। जो ब्रह्मा लोभ रहित है वह वहाँ नहीं जाता किन्तु जो लोभ रहित होता है वह वहाँ आता है। कण्वात्तक सुत्त (अग्निज १।७।१) ; महाब्रह्म और और इन्द्र तक भी सारिपुत्र के परिनिर्वाण के समय उनकी सेवा के लिए

जबकि मनुष्य 'सात' 'वस्यन्त' निर्वाण पर को प्राप्त कर सकता है। जब हम ब्रह्म यामादि विद्या की ओर दोनों की प्रवृत्तियों की तुलना पर जाते हैं तो कि संभवतः इस प्रसंग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। बुद्ध-मन्तव्य को तो हम इस प्रसंग में पहले प्रख्यापित कर ही आए हैं इसलिए यहाँ विशेषतया उपनिषदों को ही लेंगे। याज्ञिक विद्या में बुद्ध के समान ही औपनिषद ऋषियों का भी कोई विश्वास नहीं किन्तु बुद्ध ने जब कि गंभीर वाणी से उनका प्रतिपाद किया है औपनिषद ऋषियों ने अधिक समन्वयात्मक दृष्टिकोण लिया है जिसका सर्वप्रामाण्य जैसा कि पीछे दिए हुए इस प्रसंग में उद्धरणों से स्पष्ट है बुद्ध में भी नहीं है। औपनिषद ऋषि यामादि विद्या को परमार्थ की प्राप्ति में आवश्यक उपाय नहीं मानते ही आत्म और वर्णवर्गों की व्यवस्था स्वीकार कर समस्त अधिकारविधेय का विचार कर ने उसका पूर्वतः निराकरण भी नहीं करते। किन्तु यह सत्य है कि कहीं-कहीं पुरोहितों की जाने-पीने की प्रवृत्ति को लेकर उनकी और उनके याज्ञिक क्रिया कलापों को एक गुणा की वस्तु बनाया गया है और एक स्थान पर तो उन्हें कर्तों की एक पात में जैसे बड़े भी रिलिया है, लोभपता पूर्वक कहते हुए 'ओमहा ओम् पिबा ओम देवो ब्रह्म' आदि (ॐ मुझे जाने दो ॐ मुझे पीने दो देव ब्रह्म)¹। यज्ञयामादि विद्या हमें पितृलोक में भेजे ही पहुँचा दे किन्तु अंतिम वस्तु तो उससे सिद्ध होती नहीं²। वास्तव में

उपस्थित हुए, देखिए ब्रह्मचर्या पृष्ठ ५१९ तथागत के महापरिनिर्वाण के समय शैवों के ब्रह्मचर्य जाने के लिए देखिए महापरिनिर्वाण सुत (शीघ्र २।१)। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी शैवों की लोभपता का बड़ा भण्डा वर्णन किया है। इन्द्र की इन्द्रा की उपमा देवा कम-से-कम उस शैव की वैदिक महिमा पर प्रतिष्ठित नहीं है।

(१) छांन्धोग्य १।१२।४-५ आपस (त्रिलोक की मात्रा वि उपनिषद् पृष्ठ ६२) और रामाष्टक्यम् (इन्द्रिय त्रिलोक की त्रिस्त पृष्ठी पृष्ठ १४९) ने इस उपनिषद् की वाणी को इसी अर्थ में लिया है। कम-से-कम पूर्व कथ इसका यही रहा होगा ऐसा विचार है। बाद के मायिकारों ने समन्वयात्मक भाव दिखाए हैं।

(२) देखिए छांन्धोग्य १।१।१ मिलाइये बृहदारण्यक १।५।१६; १।२।१६; प्रश्न १।९; मुण्डक १।२।१ छांन्धोग्य ५।१।१ छांन्धोग्य ६।७।२ ७।१

कुछ-कुछ परम्परा बुद्ध के युग में रही ही होयी। उन्हीं के साथ अपने को मिलाते हुए संभवतः भगवान् के कहा या भिक्षुओं। मे दक्ष करते बाबा बाह्य हैं। अहमस्मि दिक्कने बाह्यको याज्योयो। जब हम यज्ञादि विधान को छोड़ देह की ओर दोनों की प्रवृत्ति पर जाते हैं। यद्यपि उपनिषद् देह के ही भाव हैं और स्वयं 'भुक्ति' कहलाती है भक्त को जीव वे स्वयं हैं इसी के प्रति संन्य के निर्णय का सबाध यद्यपि उल्ला नहीं किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह विचार यहाँ आवश्यक है। यहाँ भी उपनिषद् की द्विषि प्रवृत्ति हम पाते हैं जिसको चाहें तो समान्यात्मक भी कह सकते हैं और चाहें तो दार्शनिक दृष्टि कोष से एक निर्वैत स्विति की सूचक भी। एक स्थान पर यदि स्वयम्भू के निवास से ही प्रादुर्भूत 'आत्मा, यन्' और साय को बताया गया है^१ तो दूसरी जगह उनके ज्ञान की अपर्याप्ता भी दिखाई है^२। अपरा विद्या के रूप में उसे बालकर उसकी शुद्धता भी दिखाई है परम ज्ञान की अपेक्षा में^३ और इस प्रकार बनेक स्थलों में आंतरिक अनुभूति से वैदिक ज्ञान को गीचा ही दिखाया है और केवल उससे भुक्ति की जाया नहीं मानी है^४। वह मे तो संन्य-प्रमाण के रूप में किसी भी वस्तु को फिर चाहे वह देह ही क्यों न हो स्वीकार किया ही नहीं और अनुभूति को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण और 'प्रमाण' को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना। इस आनुष्ठ को भगवान् बुद्ध के तत्कालीन बाह्यों में नहीं पाया इत्यादि उमड़ी परम्परा को उन्हीं उधे लोगों की पंक्ति कहा। अस्तु, सात्वतीय दृष्टि से प्रमाण-विशुद्ध बुद्ध और उपनिषद् दोनों के विचार की बाहर की वस्तु है और दोनों ने ही अपने अपने दर्शनों की प्रतिष्ठा में स्वानुभूति को ही प्रमाण माना है और यही वस्तु हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी होना चाहिए। हाँ इस प्रसंग को समान्य करने से पहले धर्म

(१) वेदिए बृहदारण्यक २।४।१

(२) वेदिए छान्दोग्य ५।७।१; तैत्तिरीय २।३

(३) वेदिए 'सत्रापरा आम्बेरी'। अथ वरा मया तद्वद्वद्विषयते।
मुण्डक १।१।५; निवाहये कठ २।१३; तैत्तिरीय २।४

(४) वेदिए छान्दोग्य ५।३।१। बृहदारण्यक ३।५।१; भाषा २१; कौषी-
तकि १; तैत्तिरीय ० २।४; कठ २।२३; निवाहये राधाकृष्णन्। इति
यत् क्रितीतरी, तिस्र वही, मुण्ड २।४९

को बाणों पर और ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि जब कि वाल्मि-
 क्रियेष्टक में 'मयी विद्या' के रूप में ही तीनों वेदों को स्मरण किया गया है
 और उसके आताओं को वैविध्य (विविध) कहा गया है, उपनिषदों में हम
 प्रथम बार बार वेदों का वर्णन पाते हैं। ब्राह्मण-युग में हमने देखा कि
 तीन ही वेदों का व्यवहार था। बृहदारण्यक २।४।१ में भी तीन ही वेदों
 का वर्णन आया है किन्तु विद्वानों का मत है कि बृहदारण्यक ५।१३ में संभवतः
 सर्व प्रथम बार वेदों का प्रस्थापन हुआ है^१ और अपर्यवेय का वेद के रूप में
 प्रथम बार वर्णन हमें छान्दोग्य ७।१।२ और मूण्डक १।१।५ में उपलब्ध होता
 है। इसी बात महत्वपूर्ण यह है कि वे ऋग्वेदीय ऋषि जो सर्वथा 'मनु' के ही
 तर्कियों में व्यष्टि और विद्याओं में विहीन देखते वे सदा पशु, वित्त आदिकी
 कामना में वैद्यकों की स्तुति करते वे वे ब्राह्मणकाशीन याज्ञिक ऋषि जो
 कामनाओं के लिए ही नामा प्रकार के यज्ञ करते वे और बहुत सी
 राज्याणं देते वे कभी के पुत्र जब जीवमिषय युग में कुछ अधिक चिन्तक
 हो गए हैं, जब उन्हें ब्राह्मण बातों में अधिक आकर्षण नहीं थीलता नचिकेतस्
 के समान वे स्वर्गादि के राज्य को भी नहीं चाहते पुत्र-वीर्यादिकों को भी
 नहीं चाहते मैत्रेयी के समान वे सम्पत्ति का विमान भी नहीं चाहते।
 कर्मकांड उन्हें छांति नहीं देता। 'नैतावता विदितं भवति'^२ ऐसा वे निर्णय
 कर चुके हैं। 'नेत्रं यदिमुपासते'^३ ऐसा वे कह चुके हैं। जब वे नारद
 की तरह कहने लगे हैं। 'सो भू भवतः' सोचामि। तस्मां सोऽस्य पारं
 वार्यतु'^४। संसार या मम की एक पट्टी बेचना ने उन्हें व्यथित कर दिया है
 और इसी की निवृत्ति के लिए कभी हम नचिकेतस् को यम के पास, प्रतर्दन
 को इन्द्र के पास, जानधृति को रैवत के पास, उपकोसल को सुत्वकाम के
 पास, आरणि को प्रवाह्य के पास, इन्द्र और वीरोचन को प्रजापति के पास,
 अनक को ब्राह्मण्य के पास और बृहस्पति को सत्यकाम के पास जाते हुए
 देखते हैं। तिस्र प्रकार के 'किंसल यवेसी' 'दीप्तिष्ठिष्ठ अकपजिमिष' (वेदास्त
 सार) धार्यकुमार कभी आचार कात्यायन के पास और कभी उदक रामपुत्र के पास

(१) देखिए ब्राह्मण : द्वितीयाध्यायी आदि वि उपनिषद्, पृष्ठ ५५

(२) बृहदारण्यक २।१

(३) केन १।४

(४) छान्दोग्य ७।१

यज्ञादि की तरफ यदि सब उपनिषदों के दृष्टिकोण को हम संज्ञात्मक रूप से लें तो वह द्विविध ही दीखता है। एक तरफ तो उनके प्रति कुछ समझौते के भाव^१ और दूसरी तरफ उनकी निम्ना^२। किन्तु वास्तव में जो प्रकृति उपनिषदों की इस प्रसंग में प्रतिनिधि स्वरूप कही जा सकती है वह है उनके द्वारा यज्ञ को आध्यात्मिक रूप देना उसके 'द्रव्यमय' स्वरूप को हटाकर बचवा उठाकर उसे एक 'ज्ञानमय' रूप में संनिविष्ट कर देना^३। आचार्यों ने इसी प्रकृति की ओर पग बढ़ाए थे और उपनिषदों में तो इस प्रकृति के बनेकउदात्त और काव्यमय बर्णन मिलते हैं। इस प्रकार आन्धोय उपनिषद् मनुष्य को ही यज्ञ का रूप दे देती है और उसके समस्त क्रिया कलाओं को यज्ञ की ही विभिन्न क्रियाओं का रूप देती है^४। इसी प्रकार अन्य बनेक उपनिषदों में यज्ञ को 'ज्ञानमय' स्वरूप प्रदान किया गया है और समस्त जीवन को ही एक यज्ञ बनाने का आदेश दिया गया है^५। ये स्थान इतने

(१) यथा कण्ड १।१० कण्ड० ३।२; श्वेताश्वतर २।६-७ आदि।

(२) यथा बृहदारण्यक १।४।१ ; ३।९।६; ३।९।२१

(३) नीता में यही प्रकृति परिपूर्णता प्राप्त कर लेती है। किन्तु प्रारम्भ तो इस प्रकृति का बाह्य-सुप्त में ही हो गया था। सतपथ ब्राह्मण में इन स्थान-स्थान पर याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या आध्यात्मिक अर्थों में देवते हैं यथा ब्रह्मर्षीर्नमास के विषय में 'ऐवा नु देवता ब्रह्मर्षीर्नमास्यौ तम्भ्यं अवाप्स्यन्तम्, आदि। मिलावटें यज्ञों की व्येकतर्पण करें। सतपथ १।७।१।५; इसी प्रकार, एव ही महान्वीर्यो यज्ञः; यज्ञो वै बृहत् विपश्चित्; यज्ञो वै ब्रह्म यज्ञो वै विष्णुः; यज्ञ उ देवानामसमा; यज्ञ उ देवानामन्तः संवत्सरो वै यज्ञः; आत्मा वै यज्ञः; युष्मदी वै यज्ञः; रेतो वै यज्ञः; शिराश् वै यज्ञः; आदि आदि।

(४) देखिए समग्र तृतीय अध्याय ही 'अथ येऽयं वसिष्ठा रश्ममस्ता एवात्म ब्रह्मिना' इत्यादि।

(५) यथा देखिए बृहदारण्यक ३।१। आन्धोय ४।१६; ऐतरेय-आरण्यक ३।२।६; बृहदारण्यक १।५।२३; आन्धोय ५।११ २४; कौत्सीतिक २।५ आन्धोय ३।१९ १७; महानारायण ६४; प्राचागि ३।४; बृहदारण्यक ४।६ में पञ्च महायज्ञों की आत्मा के प्रति यज्ञ बताया; आन्धोय ४।११ १४ में तीन अग्निधों की आत्मा के ही रूप बताया;

अधिक है कि पूर्वतया इनका उद्धार कर इनकी प्रवृत्तियों को उनके मौलिक रूप में यहाँ नहीं दिखाया जा सकता। इस प्रकार उपनिषदों के चिन्तकों ने यज्ञ के बाह्य स्वरूप का निराकरण कर उन्हें एक आध्यात्मिक अर्थवत्ता प्रदान की है। और यही कार्य क्या सम्पूर्ण सम्बुद्ध ने खोज खाना और प्रज्ञा का यज्ञ के रूप में वर्णन कर नहीं किया जब उन्होंने यह कहा कि 'आहुताम् । यह तेरा अविमान अरिया का भार (अरिमार) है। क्रोध भुजा है मिथ्या भाषण धर्म है, विद्या भुजा है हृदय ज्योति का स्थान है'। क्या वे अर्हत् सम्बुद्ध संबुद्ध भी इस कार्य मार्ग से ही नहीं गए थे? औपनिषद परम्परा के ही वे प्रवर्तक नहीं हुए? जब उन्होंने यह कहा कि 'कुशल लोभ उससे सुख नहीं बढाते जो बाहर से भीतर की सुख है' तो क्या इसमें निश्चित 'कुशल' लोभ औपनिषद मनीषी ही नहीं हो सकते? जब उसके काव्य ने यह शास्त्र दिया कि 'काम-मद में अविद्यमान निर्लेप छाँट राधादिर्द्विष्ट निर्वाण पर को देखकर, निर्विकार, दूसरे की सहायता से पार न होने वाले निर्वाण पर को स्वयं देखकर सैद्धन्त और हृत् से विरक्त हुआ, तो क्या यही त ज्ञान के उपासक उपनिषदों के ऋषियों के विषय में भी ठीक नहीं कही जा सकती? जब तपास ने यह कहा कि याज्ञिक जन 'यज्ञ के मोक्ष से सब के राग में क्लिष्ट होकर अन्ध बरा को पार नहीं हुए' तो इससे विरक्त आत्मज्ञानी औपनिषद चिन्तकों ने भी तो कुछ नहीं कहा उन्हे उसका समर्थन ही तो किया वैया कि पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। जो यज्ञारि करते हैं वे 'काम के लिए कामों को ही बपते हैं' ऐसी बुद्ध-बाणी की ध्वनि भी तो उपनिषदों में प्रतिध्वनित होती है। सारांश यह कि ज्ञान-यज्ञ करने वाले वे महारत्ना जो राय धर्म और संयम से ही ब्रह्म-प्राप्ति संभव बताते हैं और जिनको उद्देश्य वरके ही तपास ने आख्यायिका से कहा था 'तू ऐसे हवन क्यों को नमस्कार कर उनको मैं पुरव-धर्म-सारणी कहूँ हूँ वे ऐसे हवन किए हुए महात्मा उपनिषदों के ऋषि ही संभवतः सभी प्रकार हो सकते हैं जिन्होंने उपनिषदों में यज्ञ को ज्ञानमय स्वरूप प्रदान किया है और जिनकी

बृहदारण्यक १।५।२३; तथा कौषीतकि २।५ में अग्निहोत्र की प्राजापाम में ही अतिवर्तितकर देना, यदि कुछ इस प्रकार के उदाहरण हैं। तैत्तिरीय २।५ तो ज्ञान को ही यज्ञ और ज्ञान को ही कर्म भी बताती है—विज्ञानं यज्ञं तनुते वर्मानि तनुते च ।

बुद्ध-न-बुद्ध परम्परा बुद्ध के मुख में रखी ही होती। उन्हीं के साथ अपने को भिन्न करते हुए संभवतः भगवान् के कहा या निश्चयों। मैं दत्त करने वाला बाह्य हूँ। वहमस्मि निश्चय बाह्यो यात्रायोगी। जब हम यथादि विद्या को छोड़ देते हैं और दोनों की प्रकृति पर आते हैं। यद्यपि उपनिषद् वेद के ही साथ हैं और स्वयं 'मूर्ति' कहाती हैं अतः जो चीज ने स्वयं हैं उन्हीं के प्रति संबंध के निर्बंध का सवाल यद्यपि उठता नहीं किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह विचार यहाँ आवश्यक है। वहाँ भी उपनिषद् की विभिन्न प्रकृति हम पाते हैं जिसको चाहें तो समान्यतया भी कह सकते हैं और चाहें तो दार्शनिक दृष्टि कोय से एक निर्बंध स्थिति की सूचक भी। एक स्थान पर महि स्वयम्भू के निश्वास से ही प्राकृतिक जल, यक्ष और धाम को बताया गया है^१। तो दूसरी जगह उनके ज्ञान की अपर्याप्तता भी दिखाई है^२। अपना विद्या के रूप में उसे बाँटकर उसकी तुल्यता भी दिखाई है परम ज्ञान की अपेक्षा में^३ और इस प्रकार अनेक स्थलों में आंतरिक अनुभूति से वैदिक ज्ञान को नीचा ही दिखाया है और वेदक उन्हीं मुक्ति की आशा नहीं मानी है^४। बुद्ध ने तो पंच-प्रमाण के रूप में किसी भी वस्तु को फिर चाहे वह वेद ही क्यों न हो स्वीकार किया ही नहीं और अनुभूति को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण और 'प्रमाण' को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना। इस अनुभूति को भगवान् बुद्ध के तत्कालीन बाह्यों में नहीं पाया इसलिये उनकी परम्परा को उन्होंने बंधे लोगों की पंक्ति कहा। वस्तु, वास्तव्य दृष्टि से प्रमाण-विनाश बुद्ध और उपनिषद् दोनों के विचार की बाह्य की वस्तु है और दोनों ने ही अपने अपने दर्शनों की प्रतिष्ठित में स्वानुभूति को ही प्रमाण माना है और यही उच्च हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी होना चाहिए। हाँ इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले हमें

(१) वैजय बुद्धवारण्यक २।४।१

(२) वैजय छांदोग्य १।७।२ तैत्तिरीय २।३

(३) वैजय 'तत्रावरा ज्ञानेनो' अथ परा धमा तद्वत्तरमधिगम्यते'। मुख्य १।१।५ निताइये कठ २।२३; तैत्तिरीय २।४

(४) वैजय छांदोग्य ५।३।१; बुद्धवारण्यक ३।५।१; भाषा २।१; कीर्ति-तत्त्व १; तैत्तिरीय २।४; कठ २।२३; निताइय राजतरुण्य; इति यत्तं प्रतीतिः, निताइय, पृष्ठ १४९

दो बातों पर और ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि जब कि पाणि
 निपिटक में 'त्रयी विद्या' के रूप में ही तीनों बेदों को स्मरण किया गया है
 और उसके आठारों को त्रिविध्य (तेविज्ज) कहा गया है, उपनिषदों में हम
 प्रथम बार बार बेदों का वर्णन पाते हैं। ब्राह्म-सुम में हमने देखा कि
 तीन ही बेदों का व्यवहार था। बृहदारण्यक २।४।१ में भी तीन ही बेदों
 का वर्णन आया है किन्तु विद्वानों का मत है कि बृहदारण्यक ५।१।१ में संभवतः
 सर्व प्रथम बार बेदों का प्रस्थापन हुआ है^१ और अथर्ववेद का वेद के रूप में
 प्रथम बार वर्णन हमें छान्दोग्य ७।१।२ और मुख्यक १।१।५ में उपलब्ध होता
 है। दूसरी बात महत्वपूर्ण यह है कि वे आग्नेयीय ऋषि जो सर्वथा 'मनु' के 'ही
 त्रियों' में सृष्टि और विद्याओं में विकीर्ण देखते थे सदा पशु, वित्त आदिकी
 कामना में वैश्याओं की स्तुति करते थे, वे ब्राह्मणकालीन याज्ञिक ऋषि जो
 कामनाओं के लिए ही नाना प्रकार के यज्ञ करते थे और बहुत सी
 बलिबार्ह देते थे उन्हीं के पुत्र जब औपनिषद युग में कुछ अधिक चिन्तक
 हो गए हैं जब उन्हें ब्राह्मण बातों में अधिक आकर्षण नहीं बीलठा तबिकेतस्
 के समान वे स्वर्गादि के राज्य को भी नहीं चाहते पुत्र-पौत्रादिकों को भी
 नहीं चाहते मेमेयी के समान वे सम्पत्ति का विभाजन भी नहीं चाहते।
 कर्मकांड उन्हें छांति नहीं देता। 'नैवावता विदितं भवति'^२ ऐसा वे निर्घोष
 कर चुके हैं। 'नेदं यदिवमपासते'^३ ऐसा वे कह चुके हैं। अब वे मारुह
 की तरह कहने लगे हैं। 'सो भू भवतः सोमामि। तन्मां सोमस्य पारं
 वारयतु'^४। संसार या भव की एक पट्टी बेदना ने उन्हें व्यथित कर दिया है
 और इसी की निवृत्ति के लिए कभी हम तबिकेतस् को यम के पास, प्रतर्दन
 को इन्द्र के पास, आनभुति को रीक्ष के पास, उपकोशक को सत्यकाम के
 पास, आश्वि को प्रवाहन के पास, इन्द्र और वैरोचन को प्रजापति के पास,
 अमर को याज्ञवल्क्य के पास और बृहन्न को सत्यकाम के पास जाते हुए
 देखते हैं जिस प्रकार वे 'किंसल गवेसी' 'वीष्टधिरा बकराधिमिष' (वेवान्त
 सार) दास्यकुमार कभी आकार काष्ठाम के पास और कभी उहक रामपुत्र के पास

(१) बेजिए आयतन : क्रिस्तोसली मांक वि उपनिषद् बुद्ध ५५

(२) बृहदारण्यक २।१

(३) केन १।४

(४) छान्दोग्य ७।१

शास्त्रिक भाषाओं इस दृष्टिकोण के विरुद्ध भी हों तो भी एक ताल्लिक दृष्टि का विचारों को किसी भाव्य विषय का इस सही बनेगा संभवतः एकारमबाध को ही उपनिषदों के मन्त्रार्थ के रूप में स्वीकार करेगा। अनेक शास्त्रिक विद्वानों ने इस बात की मनाही की है, जिनमें अनेक विदेशी विचारक भी सम्मिलित हैं। इस आत्मैक्य विज्ञान को आधियों ने किस प्रकार प्रस्थापित किया है, इसे हमें कुछ उनके ही शब्दों में जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मतत्त्व के विषय में आदि कहते हैं कि 'यहां सब एक होते हैं'। उनके अनुसार 'भूमा' रूप 'ब्रह्म' ही सुख है और अन्न (छात वयम्) में सुख नहीं है^१। 'भूमा ही अमृत है'^२। 'बहु आत्मा ब्रह्म है'^३। 'मैं ब्रह्म हूँ'^४। 'बहु तुम हो'^५। 'यह जो पुरुष मैं है और यह जो सूर्य मैं है वह एक है'। 'यह छात वयम् कर्म तप और पुरुष ही है। यह पर और अमृत रूप ब्रह्म है। उसे जो अपूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित जानता है, वह है सौम्य। इस लोक में अविद्या की बन्धि को छेदना कर देता है'। बिना पशुओं के यह देखता है बिना कर्मों के यह

for the restlessly inquiring human spirit but one thing we may assert with confidence—this principle will remain unshaken and from this no deviation can possibly take place *हिमालयी गाँव दि*
उपनिषद् पृष्ठ ३९४

- (१) अन्न हृष्यते सर्व एकं अवसति। बृहदारण्यक १।४।७; मिताह्वये-
वरेऽप्यये सर्व एकीभवन्ति। मुण्डक ३।२।७
- (२-३) यो वै भूमा तत्तुल्यं नान्ये सुखवसति। छात्मीय ७।२।४१; यत्र
नाम्यत्वावसति नाम्यत् अथोति नाम्यत् विद्यावसति स भूमा। यत्रावस्यत्
वस्यति अन्त्यत् अथोति अन्त्यविद्यावसति तदन्त्यं। छात्मीय ७।२।४१;
मिताह्वये वही 'यो वै भूमा तदमृतम् अन्न परत्वं तत्तत्त्वं'।
- (४) अयमनात्मा ब्रह्म। बृहदारण्यक १।५।१९; य आत्मना हृतवत्मा।
छात्मीय ८।७।१
- (५) बहु ब्रह्मास्मि। बृहदारण्यक १।४।१
- (६) तत्त्वमसि। छात्मीय १।८।१७
- (७) अन्नार्थं पुरुषे मरणासाधारित्ये स एकः। तैत्तिरीय ३।८
- (८) पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म वरानभूतम्। एतच्छीर्षं विहितं ब्रह्मार्थं
सोऽविद्यापन्धिं विकिरतीह सौम्य। मुण्डक १।१।१

सुनता है' । 'यही यह पुरुष स्वयं ज्योति है' । 'सब का शासक' । सब का ईश्वर, और सबका अधिपति 'एक ही वेद 'निष्कल निष्क्रिय शीत निरवयव और निरम्बन' । न यह उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है न स्वयंही यह नित्य शासक और पुरुषान् है और शरीर के मारे जाने पर स्वयं नहीं मरता' । 'यही एक है सीम्य । आगे वा' । 'एक ही है ब्रह्म' । 'आत्मा ही एक पहले वा' । यही एक ब्रह्म है अपूर्व अद्वितीय अनन्तर और अबाह्य' । 'किर किस को किस से देखे' । 'यह आत्मा

- (१) पश्यत्यथानु स ध्योत्यकर्णः । श्वेताश्वतर ३।१९; ओ मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरी यं मनो न बोध यस्य मनः शरीरं ओ मनोऽन्तरी यमयति । अतः प्राप्ताऽन्यस्यमृतः । बृहदारण्यक ३।४।२ ; निजाइये केन १।५-८ ('सर्वेन्द्रिय युष्माभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्' आदि गीता भी)
- (२) अत्रायं पुरुष स्वयं ज्योतिः । बृहदारण्यक ४।३।९ तदेव ज्योतिषां ज्योतिः बृहदारण्यक ४।४।१६; तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । कठ ५।१५; अथ यदतः परी द्रिषो ज्योतिर्हीन्यते विवर्जतः बुद्धेः सः तः पुण्येऽनुत्तमैः पूतमेव लोकेऽधिर्वाक तदुपविबभूवस्मिनात्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैवा वृष्टिः । छान्दोग्य ३।१३।७ (ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः—गीता) । आत्मीयास्य ज्योतिः । बृहदारण्यक ४।३।६
- (३) सर्वस्य ब्रह्मी सत्त्वस्यैतानः सर्वस्याधिपतिः । बृहदारण्यक ४।४।२२
- (४) निष्कलं निष्क्रियं शालं निरवयं निरम्बनम् । श्वेताश्वतर ३।१९
- (५) निजाइये 'न आत्मते म्रियते वा विपरिवर्तय क्तिविचम बभूव कश्चित् । यत्रो नित्यः शासकतोऽयं पुराणो य हृष्यते हृष्यमाने शरीरे ॥ इत्ता वेगमन्यते हन्तुं हतः श्वेताश्वतर हतम् । उभी तौ न विजानीतौ नाम हन्ति न हृष्यते ॥ कठ १।२।१८ १९; निजाइये गीता २।१९-२
- (६) तदेव सीम्येवमथ मासीत् एकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्य ३।२।१
- (७) एकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्य ३।२।१
- (८) आत्मा वा ह्रस्वमेक एवाथ मासीत् । ऐतरेय २।१।१।१
- (९) तदेव ब्रह्म अपूर्वमनन्तरमनन्तरमबाह्यम् । बृहदारण्यक २।५।१९
- (१०) तदेव कल्पयेत् । बृहदारण्यक २।४।१३; न विजातैर्विजातारं विजानीयाः । बृहदारण्यक, ३।४।९; विजातारमरे केन विजानीयात् । बृहदारण्यक २।४।१४; स वेति वेद्यं न तस्यास्ति वेत्ता । श्वेताश्वतर, ३।१९ भी ४९

भायते हुए, झूठे हुए कि 'परम तत्त्व कहां है? परमक्षांति कहां है? इस प्रकार वैराग्य और बुद्ध की बहरी अनुभूतिर्पा को बुद्ध के विचार में इतनी मुख्यता ग्रहण करती है—उपनिषदों के चिन्तन में भी अपना प्रतिरूप पा सकती है क्योंकि उपनिषदों के ऋषि भी उसी जागना से चिन्तित हैं जिससे कि अक्षयमुक्ति से। 'किमिह तेन कृप्यं येनाहं नामृता स्याम्'¹। यह क्या बुद्ध के समान उपनिषदों के ऋषियों को भी कही हुई है।

अब हम उपनिषदों के उत्तरदर्शन और उनकी मूल समस्याओं पर बातें हैं। उपनिषदों ने तत्त्व की गवेषणा की है सत्, चित् और आनन्द के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उपनिषदों के ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान यह सभी प्रकार अनुभव किया है कि और व्यागत-अवेदित अमात्मबाह्य मानवीय उपकरणों से यह ज्ञान सिद्ध के स्वरूप और सत्य में नहीं हो सकता। ब्रह्म की अविच्छेदता पारस्परिक समस्या और विषमता के विषय में भूतियों का यदि संज्ञा किया जाय² तो किसी भारतीय दर्शन के विचारों को यह म न हो सकता है कि यह दो तत्वावयव की सम्पादित की हुई बातों से भी गणना अधिक पहुँच जाती है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। मन बुद्धि आदि से परम तत्त्व यदि प्राप्त नहीं है तो उपनिषदों के ऋषियों ने उसे अपने ज्ञान के प्रकाश में देखा है³ विबीज अक्षुण्णतम्⁴। और इसी में उनके ज्ञान की सारवत्ता भी है। उपनिषदों की मूल समस्या है परम सत्त्व का साक्षात्कार करना और इसके लिए अक्षयिष्य ऋषि बाहरी जगत् में भी जिसे बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में 'रूप' कह सकते हैं घृष्ट किये हैं और आंतरिक जगत् की भी जिसे बौद्ध शब्दों में 'नाम' कह सकते हैं उन्होंने इसी तत्त्व के कोटने के लिए महान् साधना की है। अरिजामस्वरूप बाह्य जगत् में से तो

(१) बृहदारण्यक उपनिषद् ।

(२) कुछ इस प्रकार, केन २।३; कठ १।२।१४; तैत्तिरीय ३।९; मुण्डक १।१।६; बृहदारण्यक ३।७।१४; ३।९।१६; ३।७।२; २।७।१३; ३।८।११; ७।१५।१५; ३।९।१; ३।८।७; ७।२।४; ७।७।१५; ७।१६।१७; कठ १।३।१; २।१४; छान्दोग्य ३।१७।३; ८।२।५।७; तैत्तिरीय २।४ आदि।

(३) अन्तर्ज्ञान से अग्रया ज्ञेय है वैदित्वाच्छब्दोऽय २।१३; बृहदारण्यक २।७।५

(४) यथा नश्यन्ति मूर्त्यः तद्विजोः नश्यन् नश्यन् । विबीज अक्षुण्णतम् । अश्वेत ।

आच-वदताछ कर वे जिस मूख तत्व पर पहुँचे हैं उसको उन्होंने 'ब्रह्म' नाम से पुकारा है और आंतरिक व्यापारों का सूक्ष्म अन्वेषण और विश्लेषण कर जिस स्थायी तत्व की भ्रांती उन्होंने की है उसे उन मनीषियों ने 'आत्मा' कह कर पुकारा है। आत्मा ही उनके लिए प्रेष्ठ पदार्थ और अंतिम गन्धर्वीय तत्व है और उसका साक्षात्कार मानवीय साधना का उच्चतम फल है। फिर यह आंतरिक में अपना मनोमय जगत् में सबका स्थापक और आपक तत्व जिसे उन्होंने आत्मा पुकारा है उस तत्व से अलग नहीं है जो सब बाह्य सृष्टि में व्याप्त है अर्थात् 'ब्रह्म' से। दोनों अखण्ड-अखण्ड पदार्थ नहीं किन्तु एक ही तत्व की देखने की दो दृष्टियाँ हैं। द्रष्टा और दृश्य भी जो है विषयी और विषय भी जो है वह एक ही सत्य का रूप है। यही 'ब्रह्म' और 'आत्मा' की एकता का विज्ञान है और इसके पीछे एक गहन तत्त्व-वर्तित विद्यमान है जिसके कारण ही उपनिषदों की संभवतः गृह्य आवेष भी कहा गया है। किस प्रकार गन्धर्व्याणं कर, कितने संग्रहण कर, कितनी साधना कर, औपनिषद अपि उपर्युक्त सत्य पर पहुँच इसका कुछ निदर्शन उपनिषदों के ही छररण देकर यदि हम प्रस्तुत करें तो संभवतः हम उपनिषदों के तत्व ज्ञान की दिशा को अधिक ठीक समझ पायें किन्तु यहाँ तो हमें अपनी सीमाओं का त्याग कर औपनिषद अधियों के अंतिम परिणामों को ही जानकर संतोष कर लेना चाहिए और जिस मार्ग का गमन कर वे इस पर पहुँचे उसके विषय में ही सभी मौन ही रहना चाहिए। औपनिषद अधि अपनी पन्ध्रपात्रों के परिणाम स्वरूप जिस ज्ञान के उच्चतम चिह्न तक पहुँचे वह 'ब्रह्म' और 'आत्मा' की एकता संबंधी ज्ञान ही है। ब्रह्मात्मिकत्वविज्ञान स्वरूप यह ज्ञान मानवीय विज्ञान का अरम अनुसंधेय विषय है। ज्ञान का यह अरम निष्कर्ष है जिससे जाने मनुष्य संभवतः कभी नहीं भ्रंक सकेगा^१। यद्यपि कुछ साम्प्र

- (१) आपस्य का कहना है आत्मिकत्व-विज्ञान "will be found to possess a significance far beyond the upanishads, their time and country may we claim for it an inestimable value for the whole race of mankind. We are unable to look into the future we do not know what revelations and discoveries are in store

सामिक आचार्य इस दृष्टिकोण के विरुद्ध भी हों वो भी एक तार्किक दृष्टि का विद्यार्थी जो किसी आध्य विषय का बहस नहीं बनेगा संभवत एकतरफा को ही उपनिषदों के मन्त्रमय के रूप में स्वीकार करेगा। अनेक सामिक विद्वानों ने इस बात की गवाही भी है, जिसमें अनेक विवेची विचारक भी सम्मिलित हैं। इस आर्यकत्व विज्ञान को आधियों ने किस प्रकार प्रस्थापित किया है, इसे हमें कुछ उनके ही उद्धरणों में जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मतत्त्व के विषय में आधि कहते हैं कि 'यहां सब एक होते हैं'। उनके अनुसार 'भूमा' रूप 'ब्रह्म' ही सुख है और अन्य (सांठ जगत्) में सुख नहीं है^१। 'भूमा ही अमृत है'^२। 'यह आत्मा ब्रह्म है'^३। 'मैं ब्रह्म हूँ'^४। 'यह तुम हो'^५। 'यह जो पुरुष मैं हूँ और यह जो सूर्य मैं हूँ वह एक है'। 'यह सांठ जगत् कर्म तप और पुरुष ही है। वह पर और अमृत रूप ब्रह्म है। उसे जो संपूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित जानता है, वह हे सौम्य! इस लोक में अविद्या की बंधि को छेदन कर देता है'। 'बिना पशुओं के वह देखता है दिवा कानों के वह

for the restlessly inquiring human spirit but one thing we may assert with confidence—this principle will remain unshaken and from this no deviation can possibly take place किन्तु सप्रती आधि वि उपनिषद्सु दृष्ट १९४

- (१) अत्र हृषेते सर्व एकं अवन्ति। बृहदारण्यक १।४।७; निरुहये परेन्द्रिये सर्व एकीभवन्ति। मुण्डक ३।२।७
- (२) यो वै भूमा तत्पुरुषं नाम्ने सूचयन्ति। छान्दोग्य ७।२।४।१; यत्र नाम्यत्यस्यति नाम्यत् अचोति नाम्यत् विद्यानाति स भूमा। यत्रात्यत् अत्यति अत्यत् अचोति अत्यद्विद्यानाति तदवन्। छान्दोग्य ७।२।४।१ विस्तार्यते यही 'यो वै भूमा तदनुत्तम् अत्र अवस्य तन्मर्त्य'।
- (३) अत्रयमात्मा ब्रह्म। बृहदारण्यक २।५।१९; य आत्मन्तुतपात्मा। छान्दोग्य ८।१०।१
- (४) अहं ब्रह्मास्मि। बृहदारण्यक १।४।१
- (५) तत्त्वन्ति। छान्दोग्य ६।८।१०
- (६) यत्रात्यं पुरुषं यत्रात्मावाहित्यं स एकः। तैत्तिरीय २।८
- (७) पुरुष एवेवं विस्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वैव निहितं ब्रह्मायं यो अविद्यायन्ति विकिरतीह सोम्य। मुण्डक २।१।१

सुनता है' । 'यहाँ यह पुण्य स्वयं ज्योति है' । 'सब का धातक' । सब का ईश्वर, और सबका अभिपति 'एक ही देव निष्कल निष्क्रिय साँठ निरवश्य और निरञ्जन' । न यह उत्पन्न होता है, न मरता है न यह किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है न स्वतन्त्री यह गित्य धातक और पुरातन है और धरीर के भारे जाने पर स्वयं नहीं मरता' । 'यही एक हे सौम्य । जाने का' । 'एक ही है ब्रह्म' । 'आत्मा ही एक पहले का' । यही एक ब्रह्म है अपूर्व अद्वितीय अनन्तर और अबाह्य' । 'फिर किस को किस से देखे' । 'यह आत्मा

- (१) पश्यत्यक्षु स भयोत्पत्तम् । इवेतावतार ३।१९; यो मनसि सिष्ठम् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽनन्तरो धमयति आत्माऽन्तर्यामिभूतः । बृहदारण्यक ३।७।२०; मिलाइये केन १।५-८ ('सर्वेन्द्रिय गुणानां सर्वेन्द्रिय विवक्षितम्' आदि गीता भी)
- (२) अनायं पुनः स्वयं ज्योतिः । बृहदारण्यक ४।३।९ तदेव ज्योतिषां ज्योतिः बृहदारण्यक ४।४।१६; तस्य भाता सर्वमिदं विनाति । कठ ५।१५; अथ धवतः परो दिवो ज्योतिर्वाप्यने विश्वतः पुच्छेत् सः सः पुच्छेत्पुनस्तमे-पुनस्तमे तु लोकेऽम्बिर्वाय तदुद्विह्वलस्मिन्मन्तः पुन्ये ज्योतिस्तस्यैवा वृष्टिः । छान्दोग्य ३।१३।७; (ज्योतिषामपि तस्यज्योतिः—गीता) । आत्मैवास्त्य ज्योतिः । बृहदारण्यक ४।३।६
- (३) सर्वस्य ब्रह्मी सवस्यैधानः सर्वस्याभिपतिः । बृहदारण्यक ४।४।२२
- (४) निष्कलं निष्क्रियं आनतं निरवधं निरञ्जनम् । इवेतावतार ३।१९
- (५) मिलाइये 'न आपते गिर्यते वा विपश्चित्त्यां कतश्चिन्नं बभूव कश्चित् । अजो गित्यः धातकतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ हन्ता वेन्नन्यते हन्तुं हतश्चेन्नन्यते हतम् । अजो तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ कठ १।२।१८ १९; मिलाइये गीता ५।१९ २०
- (६) तदेव सौम्येदमप आसीत् एकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्य ६।२।१
- (७) एकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्य ६।२।१
- (८) आत्मा वा इदमेक एवाय आसीत् । ऐतरेय ७, २।१।१।१
- (९) तदेतत् ब्रह्म अपूर्वमपरमन्तरमबाह्यम् । बृहदारण्यक २।५।१९
- (१०) तत्केन कथ्यते । बृहदारण्यक २।४।१३ न विनातीविनातारं विना-भीया । बृहदारण्यक ३।४।२ विनातारमरे केन विजानीम्यम् । बृहदारण्यक, २।४।१४; स वेति वेत्तं न तस्यास्ति वेता । इवेतावतार ३।१९ भी ४९

‘हे जनक’ ! ‘तुम जन्म को प्राप्त हो’^१ । ‘न करता है न क्षिप्त होता है’^२ । ‘वहाँ क्या मोह है ? क्या शोक ? जो एकता को देखता है’^३ । ‘एक ही देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है सर्वव्यापी और सर्वमूतान्तरात्मा’^४ । ‘यही आत्मन् की मीमांसा है’^५ । ‘वह रघस्य है और इसी को पाकर मनुष्य आत्मन् होता है’^६ । ‘इस आत्मा को इस जगत् में जानना ही परम काम है और इसे बिना जाने इस लोक से चले जाना बिनाश है’^७ । आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय होता है । ‘वहाँ न जन्म न मरण देखता है न जन्म सृजता है, न जन्म जानता है वही भूमा है । जो भूमा है वही अमृत है’^८ । ‘इसके बिना दूषण द्रष्टा नहीं है’^९ । ‘वह नित्य विभु,

ब्रह्मेति व्यजानात् । तैत्तिरीय ३।५ मित्रात्मन्वर्त्तव्यम् । बृहदारण्यक ३।१।२८; आत्मन्वर्त्तव्यममृतं दक्षिणाति । मुण्डक २।२।७ को हि एवात्मात् कः प्राप्नोति यदेव आकाश आत्मन् न स्यात् । तैत्तिरीय २।७।१

- (१) जन्म के जनक प्राप्तोति । बृहदारण्यक ३।१।४
- (२) मित्राहवे न करोति न क्षिप्यते । यिता १।१।३१
- (३) तत्र को मोहः कः शोकः एकत्रमनुपपद्यते । ईश ७; तथा पीरो हर्षघोषी ब्रह्मति । कठ १।२।१६; त मोक्षते मोक्षनीयं हि कर्मणा । वहीं १।२।१३ न पश्यो नृत्पुं पश्यति न रोषं मोक्षं बुद्धतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वथा । छान्दोग्य ७।२।२; सा त्वा तं नृत्पुमत्येति । कौषथ्य ९
- (४) एको देवः सर्वभूतेषु ब्रह्म सर्वव्यापी सर्वमूतान्तरात्मा । कर्माप्यस्य सर्वभूतामिवाद्यः साक्षी वेत्ता केवलो निर्गुणश्च । श्वेताश्वतर ६।११; त परंपराच्छुक्लकायमब्रह्मजस्ताविरं ध्रुवमपावविद्धम् । ईश ८
- (५) स्यात्मात्मन्वर्त्तव्यं मीमांसा भवति । तैत्तिरीय २।७
- (६) रतो वे तः रतं ह्येवायं सत्त्वात्मन्वर्त्तव्यं भवति । तैत्तिरीय २।७ मित्राहवे अकामो पीरोऽमृतः स्वयम्भू रतेन तुष्टः न कृतद्वन्द्वीः । अथर्व १।८।४४
- (७) इह वेदवेदीदयः सत्यमस्ति । कोन २।५
- (८) आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । बृहदारण्यक उपनिषद् ।
- (९) यत्र नाम्यत् भवति नाम्यत् अप्नोति नाम्यद्विजानाति त भूमा यो वे भूमा तदमृतम् । छान्दोग्य ७।३।३१
- (१) न जान्यतोऽस्ति द्रष्टा । बृहदारण्यक ३।७।२३

सर्वगत और सुसूक्ष्म है^१ । 'बिद्ये न पादर बाधियां कीट जाती हैं मन के छात्र'^२ । 'बिना बभ्रु, बिना भोज और बिना पाद के'^३ । 'एतद् है बह्मात्मा'^४ । छय 'ज्ञान मनस्त बह्म'^५ । 'बह्मात्मा सबके भीतर है'^६ । 'प्रज्ञानजन है और ज्ञानम् मय । 'मैं विन्मात्र हूँ । सदा धिक्' 'साधी है बह्म चित्सत्त्वम् । स्वेक और निर्गुण 'संपूर्ण प्रज्ञान जन भी'^७ । 'जनस्त है बह्मात्मा विश्वम् और अकर्ता । 'अस्मूक जनम् ब्रह्मस्व अभीष्ट'^८ । 'जो इसे जानते हैं वे जयर हो जाते हैं'^९ । 'आत्मा को जानो और सब बातें छोड़ दो'^{१०} ।

- (१) नित्यं विभु सर्वपथं सुसूक्ष्म । मुख्यक १।१।६
- (२) 'यतो बाधो निवर्तन्ते अप्राप्य जनता सह । तैत्तिरीय १।४।१; नैव बाधा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न बभ्रुवा । कठ ७।१२; न बभ्रुवा पुरुष्यते नापि बाधा । मुख्यक १।१।८
- (३) अचक्षु ओर्ध्वं तदपाधिपादम् । मुख्यक १।१।६ अद्यप्यनस्पर्शकपम् कठ १।१५; 'अचक्षुरचक्षुरिव सत्कर्षोऽर्कम् इव सबाधबाधिव इत्यादि । एव स आत्मा सर्वादिः । बृहदारण्यक १।४।१
- (४) प्रज्ञानमेव एवानन्दमयः । कैवस्य १८
- (५) विन्मात्रो सर्वाधिक् । कैवस्य १८; न चास्ति वेत्ता नम चित्तब्रह्मन् कैवस्य १८
- (६) ज्ञानी वेत्ता केवली निर्गुबाध । स्वेताश्वतर १।११
- (७) 'इत्यनः प्रज्ञानमेव एव । बृहदारण्यक ४।५।११
- (८) मनस्तद्वत्तया विश्वक्यो ह्यकर्ता । स्वेताश्वतर १।९
- (९) अन्तुलमनस्य हस्त्वनवीर्यम् । बृहदारण्यक १।८।८
- (१०) य एतद्विदुरमृतास्ते जयन्ति । कठ २।१।९; न जरा न मृत्युर्न शोकः छात्रोऽप्य ४।८।८।१; न बाधो मृत्युं पश्यति न रोगम् । छात्रोऽप्य ७।१६।२; जराभामृतमेति । बृहदारण्यक १।५।११; स तस्य रोगो न जरा न मृत्युः । स्वेताश्वतर २।१८; मृत्युर्बाधति बन्धनः । तैत्तिरीय २।१।९; ब्रह्मस्त्वोऽमृतात्ममेति । छात्रोऽप्य १।१३।१ तरति शोकमात्मदिन् । छात्रोऽप्य ७।१।१; विमस्तद्वय विमुच्यते । कठ ५।१; विजरो विजत्यु । छात्रोऽप्य ८।७।१; न जरा न मृत्युर्न शोको छात्रोऽप्य ८।७।१; आत्मास्तिरात्मवीर्यः । छात्रोऽप्य उपनिषद् ।
- (११) तनेवेकं ज्ञानम् आत्मानमन्या बाधो विमुच्यते । उपनिषद् ।

‘आत्मा ही यह सब है’ । ‘भगवन् ! धोक से मुझे पार करीबिए’ । ‘तुम्हीं मृत्यु क्या न रे’ ।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर हम मज्जी प्रकार देख सकते हैं कि आत्मदर्शन ही उपनिषदों का अंतिम उपदेश है। आत्मा की संवेदना को छोड़ उनके लिए कोई सवाल ही महत्वपूर्ण नहीं है। इस आत्मा के दर्शन को वे अत्यन्त कठिन किन्तु साब ही पवित्र जीवन के द्वारा सम्पन्न भी मानते हैं यह भी हमने उपर्युक्त उद्धरणों के द्वारा देखा है। औपनिषद ऋषि अमृतत्व की इच्छा को एक सत्य आत्मा की अनुभूति से ही पुरा हुआ मानते हैं यह भी हमने ऊपर देखा है। किन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे जीवन की अनेकता में एकता देखने के समर्था हैं। ‘मृत्योः स मृत्युं पच्छति य इह गानेन पश्यति’ यह उनकी अनेक भावियों का सार है। निश्चय ही यह उनका विश्व के लिए सब समय के लिए, सम्भवतः आज तक का सबसे बड़ा दान है। मनुष्य की बुद्धि या अनुभूति इससे आगे नहीं बढ़ सकती। ‘बचाव आरेखो नेति नेति’ ऐसा उसके विषय में आज भी कहा जा सकता है। किन्तु इस ज्ञान की सर्वोत्तम प्रतिष्ठा पर औपनिषद ऋषि किसी तर्क परम्परा के द्वारा अपना किसी निश्चित या व्यवस्थित दमन प्रणाली के द्वारा नहीं पहुंचे थे। हाँ उत्तरकालीन आचार्यों ने तो उनके प्रश्नों को परिशुद्धता की बिना में आगे बढ़ाया है और अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार उनकी व्याख्याएं

- (१) आत्मैवेदं सर्वम् । छान्दोग्य ७।२।५।२ इदं सर्वं परममात्मा । बृहदारण्यक २।४।६ ; बह्वेदेदं तत्तम् । मुण्डक १।२।११ ; सर्वं अस्मिन् ब्रह्म । छांदोग्य ३।१।४।१ ; बह्वेदेदं विद्मस्मिन् ब्रह्म । मुण्डक २।२।११ ; आत्मन एवेदं सर्वम् । छान्दोग्य ७।२।६।१ अस्मिन् धौः पृथिवी आत्मनि छमीतम् । मुण्डक २।२।५ ; मृत्योः स मृत्युं माप्नोति य इह गानेन पश्यति । बृहदारण्यक ४।४।१९ अन्वोऽस्तत्त्वान्मोऽस्त्योति न स वेद यथा वयुः बृहदारण्यक १।४।१ ; यथा हि ईतनिव न च तत् तदितर इतरं परमति कड १।४।१३ नाव्योऽशोऽस्ति इत्यादि । बृहदारण्यक ३।७।२३ ३।८।११
- (२) तस्मात् भगवान् प्रोक्तस्य पारं तारयन् । छान्दोग्य ७।१।३ तस्यै बुद्धित-कदापि ततः पारं दर्शयन् भगवान् तत्तत्तत्तत् । छान्दोग्य ७।२।६।२
- (३) या वो ज्ञेयः परिष्यसि । उपनिषद् ।

भी की है। किन्तु उपनिषद् ऋषियों ने तो उस ज्ञान को हृदय के प्रकाश में ही देखा था। अतः उस ज्ञान में कहीं कहीं अस्पष्टता भी दिखाई दे सकती है, कहीं कहीं अन्वयस्वा और कहीं कहीं परस्पर विरुद्धता भी। किन्तु वे सब बातें उसकी परिपूर्णता को ही दिखाने वाली हैं। जिस ब्रह्म और आत्मा की एकता को इन ऋषियों ने देखा है वह हमारे ज्ञान की एक अपूर्व निधि है। उपनिषदों का चिन्ता भी तत्त्वदर्शन है उस सबका केन्द्र वही मान प्रयोजन है कि सत्य को अपने अन्तर देखना चाहिए और वैसे अपने अन्तर देखते हैं वैसे ही बाहर देखना चाहिये क्योंकि सृष्टि के व्यापक तत्त्व में निमित्तता नहीं है। इससे व्यावहारिक जीवन के लिए क्या उपदेश हो सकता है। जो अपने को सर्वत्र और सब में अपने को देखता है वह क्या किसी से द्वेष कर सकता है क्या क्रोध और मोह उसके पक्ष फट सकते हैं क्या वह इन्धिमाराधन हो सकता है क्या प्रमाद का जीवन उसके द्वारा सम्भव है? आत्मज्ञानी होने के मत में ही यह सब छोड़ना पड़ता है फिर उसे प्राप्त करने के बाव की तो बात ही क्या? आत्मज्ञान का उपदेश इसीलिए दिया जाता है कि मनुष्य अपनी वेह से इन्द्रियों से सूक्ष्म अहंकार से प्राणवर्ष से मूतवर्ष से आसक्ति न करे, इनमें राग न बढ़ाए, इनमें 'अहं' और ममत्व बुझि न करे, किन्तु जो 'आत्मा' इन सब की प्रतिष्ठित है जिसमें ही इन सब के उत्पत्ति स्थिति और कर्म होते हैं और जो ही समग्र अनुभव का अधिष्ठान है उस आत्मा को मनुष्य अपना ही स्वल्प समझ कर, उसके साथ तादात्म्य अनुभव कर, उपर्युक्त को अनात्म पदार्थ कहे गए हैं (यथा सरीर नम आदि) उससे निर्बन्ध और वैराग्य प्राप्त करे आत्मा को ही अपना देखे आत्मा को ही अपना समझे, जो सत् चित् और आनन्द है। इस प्रकार उपनिषदों के आत्मज्ञान की भी शिक्षाएं हैं एक तो अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि न करना (मीनेयी और लचिकैतत् के समान) और दूसरे परमार्थ-सत्य अनुभवतीत निम्न बुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वभाव आत्मतत्त्व की तादात्म्य से अनुभूति करना। पहला पक्ष साधन पक्ष है और दूसरा साध्य पक्ष। पहले का संबंध अनुभव जन्य वे है और दूसरे का इन्द्रियातीत से। यहां हमें बुद्ध का मन्तव्य समझना चाहिए। जहां तक अनुभव जन्य अर्थात् साधना पक्ष से संबंध है वहां तक बुद्ध और उपनिषदों के ऋषि एक हैं। बुद्ध ने यह बड़ी मार्मिकता पूर्वक सिद्धाया है कि यह 'सत्य' तुम्हारा नहीं है ये बेवनाएं तुम्हारी नहीं हैं ये संझाएं

तुम्हारी नहीं हैं वे संस्कार तुम्हारे नहीं हैं वे विज्ञान तुम्हारे नहीं हैं। इनमें फँसते हो तो बकलाबुर हो जाओगे। इनमें आराम बढि करोगे तो तो कहीं के न रहोगे। वे सब तो एक अन्न में उत्पन्न होते हैं बुरे लव में विनष्ट होते हैं। सभी कुछ रूप हैं। इनको 'मैं' या 'मेरा' समझते हो इन पर अपना प्रेम लटकाते हो तो छोड़े का बल्ला गोला अपनी बदन में बाँधते हो। 'मित्रुओ ! मत प्रमाद करो। मत इस छोड़े के बल्ले पोले को निकलो यह तुम्हारी बँधकियां तोड़ देया और तुम हाम ! हाम ! कहते फिराने' ! यह छोड़े का बोला क्या है ? यही जो रूप को आत्मा समझता बेदना को आत्मा समझता संज्ञा को आत्मा समझता संस्कार को अपना समझता विज्ञान को अपना समझता। इनमें तुम्हारा कुछ नहीं है। इस प्रकार भगवान् उवाच ने आत्मा और अनात्मा के रूप का बल्ल भूम्य बभट् को लेकर किया है और वह उपनिषदों के अनुसार इस प्रयोजन के लिए ही कि मनुष्य को निर्बन्ध प्राप्त हो निर्बन्ध प्राप्त होने से उसे स्थिरता प्राप्त हो स्थिरता प्राप्त होने से उसे शान्ति प्राप्ति हो और शान्ति प्राप्ति होने से उस विमुक्ति प्राप्त हो। यह विमुक्ति या निर्वाण की अवस्था ही वह अतीत अवस्था है जिसे हम उपनिषद् की भाषा में 'ब्राह्मी' स्थिति कह सकते हैं। उवाच 'ब्रह्मभूत' वे ऐसा औपनिषद् अर्थ को लेकर भी कहा जा सकता है। उवाच ने इस ब्राह्मी स्थिति को निर्वाण के रूप में स्वीकार किया और यही उनके समग्र नैतिक आदर्शवाद का कर्ष भी रहा क्योंकि उन्होंने स्वर्ग ही कहा कि मूल वस्तु (कुल निरोध कृती इच्छाव्यता) जब प्राप्त हो जाय तो और ना तो कहना क्या मनुष्य स्वर्ग उनके वर्म को भी छोड़दे क्योंकि कि बिना भव को उससे उसे पार करना करना या वह तो कर ही लिया क्या अब उसके उपयोग की श्रेयता नहीं रही।^१ अब उवाच ने उदा

- (१) ब्रह्माह्वये मित्रुओ ! मेरे द्वारा उपदेश किए हुए धर्म की कृत्त (बेड़े) के समान लभ्यमान, यह पार होने के लिए है पकड़ रखने के लिए नहीं। महातत्त्वार्थसंग्रह तत्त (मग्नियम निवाय) 'ऐसे ही मित्रुओ ! मैंने बेड़े की भांति निस्तरण के लिए तुम्हें धर्म की उपदेशा है पकड़ रखने के लिए नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदेशा जानकर तुम धर्म को भी छोड़दी अपर्ध की तो बात ही क्या ? अतमह्मवन्त (मग्नियम निवाय)

होता है। उपनिषदों की ही मनोवैज्ञानिक जीवनिष्पन्न मनोविज्ञान चिन्ताओं को केन्द्र सांख्य दर्शन ने एक स्वतन्त्र मनोविज्ञान का उद्भावन किया है जिसका प्रयोग प्रायः सभी 'आस्तिक' दर्शन करते हैं और जिसके ही आधार पर योग अपने चित्तवृत्तिनिरुप्राणक साधन-मार्ग का उपदेश करता है। यद्यपि यहाँ मनोविज्ञान का तुलनात्मक सम्बन्ध सांख्य दर्शन में निहित मनोविज्ञान के साथ करते समय स्पष्ट ही जीवनपरम मनोविज्ञान की व्याख्या की जायगी। यहाँ केवल साधारण रूप से कुछ कहना अपेक्षित है। उपनिषदों का कल्प आत्म-दर्शन मनुष्य को करना है जिसके आधार पर ही उसके मनोविज्ञान का निर्माण हुआ है उसी प्रकार जैसे कि नीति-आदर्शवाद पर चलने व्यवहार-नियम हैं और न्यायवाद पर अपने नैतिक पक्ष में प्रतिष्ठित 'मीमंसा' बीड़ दर्शन का उद्भावन किया और 'वैशेषिक' एवं 'कुल्ल' और 'अकल्ल' करने आदि के रूप में हुआ है। वैसे जिस दर्शन का उत्पत्ति-मार्ग वही उसका मूलतत्त्व-निर्बचन। उपनिषदों के अधियों के लिए सबसे बड़ी वस्तु ज्ञान है जिसके साक्षात्कार में अज्ञानता निहित है किन्तु ज्ञान तो बड़ी ब्रह्मात्म योग से ही ऐसा हो सकता है, यद्यपि मनस्तत्त्वों के सर्वजन की आवश्यकता है। 'मनोपुष्पगमा चम्पा' जिस प्रकार 'मीमंसा' बीड़ मनोविज्ञान की सर्व प्रथम बाणी है, उसी प्रकार उपनिषदों के लिए भी प्रधान धर्मिय पक्ष ही है। 'यन्मा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (१)। 'मन से ही देखता और मन से ही सुनता है। इसका ही नहीं काम सम्पूर्ण, विविचित्रता यद्वा अज्ञाना वृत्ति अवृत्ति आदि सब मन ही है' (२)। ज्ञान ही आत्ममन्त्रोक्त और प्राथमिक है। बुद्धिपरमक उपनिषद तो अपनी अज्ञानात्मक बाणी में आकाश की ही मन का उत्तर और व्योम की ही रूप बताती है। प्रत्यक्षनिष्ठ दस द्वितीयों पर बड़ा ही विचार करने उपस्थित करती है। विप्लवाव मनि से पूर्व के तीन मार्ग ने पूछा है 'अथ मन ! इस पुरुष में कौन मोती है ? कौन इसमें जायगी है ? कौन देव स्वप्नों को देखता है ? किने यह सब अन्तर्गत होता है ? किने में ये सब प्रतिष्ठित है ? इस अत्यन्त

(१) बृहदारण्यक १/५/३

(२) काकः संजाली विविचित्रता यद्वाऽप्यद्वा वृत्तिरपि ह्युत्तीर्यते तत्तत् पक्ष एव । बृहदारण्यक १/५/३

में पर्यवसान करने के लिए ही उनका समग्र उद्यम है। उनके बीर्य के आरोप का अंतिम परिणाम है? वह सब नहीं हो सकता। जब तथापि ब्रह्मार्थों के लोक की सञ्चोदता का उपदेश करते हैं, जब वे त्रीविध्य होने का दावा करते हैं, जब वे जीवन में एक नियम मानते हैं जब 'बर्म' समाप्तोत्त हिता बर्धयन्ति तथापि। (चतुःशतक) और जब वे जीपनिषद् ऋषियों की परम्परा में ही 'उपपाठ' होकर परम तत्त्व का निवेद्य करते हैं तब हम यह कहे कहें कि उनका अनात्मवाद भी जो तृष्णा के निवेद्यों को चम्कित करने का एकाग्र मार्ग है और जो इस प्रकार सत्त्वों की छांति के लिए, विराट के लिए, निरोध के लिए और निर्वास के लिए एकमात्र उपाय है वह जीपनिषद् मन्त्रम्य के समान अभिप्राय वाला समान फल वाला और वहाँ तक अनुभव पर श्रेष्ठ संबंध है समान ही कम वाला नहीं है? अनुभवशील को प्रवृत्ति ने निःसम्बन्ध ही छोड़ दिया है और जिन्होंने उसके विषय में सम्बन्ध भी कहे हैं उन्होंने भी उनकी अपवृत्तता ही स्वीकार की है। चतुर्वै प्रकरण में जो कुछ 'अनात्मवाद' के प्रसंग में एवं 'निर्वास' के प्रसंग में हम यह चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं। ऊपर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो उद्धरण दिये हैं उनमें तीन चौथाई निवेद्यात्मक भाषा का ही आशय है। चरम जाँच निवेद्यात्मक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है और उसी का प्रवर्तन बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद में हुआ है यह हम अनात्मवाद के निवेद्यन में बिना चुके हैं। बुद्ध का मन्त्रम्य मस्ति आरुणाटि मित्यता और अनित्यता की सब कोटियों से वरीत वा और सिवाय भीत के उसके स्पष्टीकरण का और कोई उपाय ही नहीं है। यदि जीपनिषद् 'आत्मा' के प्रति बुद्ध के मन्त्रम्य को प्रस्थापित करने के लिए केवल की मीमांसा के एक लून (तत्त्व ज्ञानमुपदेश १।१।५) की लकल पर एक सुनात्मक वाक्यांश बढ़ने की वृष्टता साम्य हो तो वह निगमता पूर्वक कह सकता है

'तस्य मीममुपदेश' । 'एतेन चर्मे व्याख्याता'

जब हम जीपनिषद् मनोविज्ञान पर जाते हैं। उपनिषदों में व्यवस्थित मनोविज्ञान उपलब्ध नहीं होता ऐसा है कि बीछ बर्तन या छाँक बर्तन में (१) 'अकृतीनामिवात्मासौ चर्मे वारिचरस्य च । पर्व चर्मा च द्रुमेत तथा ज्ञानवता मस्ति' । गृह्यारण्य, आग्नि २३।१।३४; मित्राश्रये कर्तृ तैत्ति मस्ति पञ्चमनसस्य । उवाच १।८

होता है। उपनिषदों की ही मनोवैज्ञानिक औपनिषद् मनोविज्ञान चिन्ताओं का केकर सांख्य दर्शन ने एक स्वतंत्र मनोविज्ञान का उद्भावन किया है जिसका प्रयोग प्रायः सभी 'आस्तिक' दर्शन करते हैं और जिसके ही बाधार पर बौद्ध अपने चित्तवृत्तिमिरीधात्मक साधन-मार्ग का उपदेश करता है। अतः बौद्ध मनोविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन सांख्य दर्शन में निहित मनोविज्ञान के साथ करते समय स्वतः ही औपनिषद् मनोविज्ञान भी व्याख्यात हो जायगा। यहाँ केवल साधारण रूप से कुछ कहना अपेक्षित है। उपनिषदों का सर्व्व आत्म-दर्शन मनुष्य को कराना है जिसके बाधार पर ही उसके मनोविज्ञान का निर्माण हुआ है उसी प्रकार जैसे कि नैतिक आदर्शवाद पर अपने व्यवहार-मध्य में और मनात्मवाद पर अपने तात्त्विक पक्ष में प्रविष्टित 'मीलिक्य' बौद्ध दर्शन का उद्भावन चित्त और चतुर्धर्मों एवं 'कृच्छ्र' और 'ककुब्ब' कर्म आदि के रूप में हुआ है। वैसा चित्त दर्शन का उत्पन्नदर्शन वैसा ही उसका मनस्तत्त्व-विवेचन। उपनिषदों के ऋषिओं के लिए सबसे बड़ी वस्तु आत्मा है जिसके साक्षात्कार में कृच्छ्रकृतता निहित है किन्तु आत्मा को मंजीर अभ्यास योग से ही देखा जा सकता है, अतः मनस्तत्त्वों के मधेपक्ष की आवश्यकता है। 'मनो पुरुषगमा भग्ना' जिस प्रकार 'मीलिक्य' बौद्ध मनोविज्ञान की सर्व्व प्रथम बाणी है उसी प्रकार उपनिषदों के लिए भी प्रधान इन्द्रिय मन ही है। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति'¹। 'मन से ही देखाता और मन से ही सुनता है। स्वप्ना ही नहीं काय सक्रम्य विचित्रित्वा भद्रा अभद्रा वृत्ति अपवृत्ति आदि सब मन ही है²। आत्मा ही बादमय मनोपम और प्राणमय है। बृहदारण्यक उपनिषद् तो अपनी रहस्यावस्था वाली में आकाश की ही मन का शरीर और ज्योति की ही रूप बताती है। श्रुतौपनिषद् सब इन्द्रियों का बड़ा ही विषय दर्शन उपस्थित करती है। पिप्पलाय मुनि के तुर्य के पीन नार्य ने पूछा है 'भगवन् । इह पृथ्वी में जीन लोती है? कीन इसमें जागती है? कीन देव स्वप्नों को देखता है? किसे वह तुम अनुभव होता है? किसमें ये सब प्रतिव्युत्त है ? इह अवस्था

(१) बृहदारण्यक १।५।३

(२) काण्डः संकल्पो विचित्रित्वा भद्रा-अभद्रा अतिरपुतिर्ह्यौर्मीरित्येतत्पञ्च मन इव । बृहदारण्यक १।५।३

ही उस 'अज्ञात अमृत' तत्व की स्मृति तो रखते हैं (अर्थात् 'आत्मा' तत्व के रूप में नहीं) जो पञ्चस्कन्धों के क्षेत्र से बाहर है और इसलिये स्वतन्त्रता से विपरीत है अर्थात् अ-बुद्ध अ-अनित्य और अ-अनारम्भ है। किन्तु इस अनुभववादी तत्व की व्याख्या में समझान् मुक्त नहीं होते वैसे कि हम 'निर्वाण' के स्वरूप का विवेचन करते समय देख चुके हैं। फिर यदि हम बोधी के लिए यह भी मान लें कि समझान् बुद्ध ने सिद्धाय चिर परिवर्तनशून्य पञ्चस्कन्धों के और किसी की स्थिति ही नहीं मानी है तो फिर उनके 'निष्ठा' की ही क्या संगति है? वह भी तो फिर अनित्य अनारम्भ और दुःख ही ठहरा। फिर उसे बुद्ध का अक्षेप निरोध क्यों कहा जाता है? यदि प्रतीत्यसमुत्पन्न पञ्चस्कन्ध बुद्ध है तो जो अ-बुद्ध है वह उससे विपरीत होता ही चाहिए और उससे विपरीत होने का स्वरूप इससे अतिरिक्त क्या हो सकता है कि वह अ-अनित्य (अर्थात् नित्य) और अ-अनारम्भ (अर्थात् 'आत्मा') हो। इस प्रकार अर्थात् से समझान् तत्त्वतः भी उपनिषद् के ऋषियों के पास ही दीवते हैं। इससे अतिरिक्त न उनके तत्त्वज्ञान की न भाषा तत्व की और न सम्यक संबोधि की ही कोई संगति है, किन्तु वैसे कि हम 'अनारम्भवाद' के विवेचन में पहले कह चुके हैं साधवतवादी आत्मवाद का उपदेश करना तत्त्वतः का काम नहीं था। वैसे कि मार्कण्डेय से उन्होंने कहा ऐसा करने से वे भ्रष्ट उस समय में प्रचलित साधवतवादी सिद्धान्तों की कोटि में आ जाते और फिर वे एक सद्धर्म के संस्थापक न होकर केवल उस समय में प्रचलित एकामी सिद्धांत (साधवतवाद जिसके विपरीत असाधवतवाद की कोटि भी प्रचलित थी) के ही प्रचारक होते। इसीलिए 'नैतद् बुद्धेन आविष्टम्'।^१ उपनिषद् 'आत्मा' के विषय में बुद्ध-मीमा की व्याख्याएं हम 'अनारम्भवाद' के विवेचन में कर चुके हैं। बुद्ध तत्त्वतः ने केवल मील से ही उपदेश दिया और उत्तरक कीर्तन बीछ भाषाओं ने जो यह कहा है कि बुद्ध के द्वारा आत्मवाद और अनात्मवाद दोनों का ही उपदेश दिया गया है^२ वह बहुत कुछ अंध में गिरा है। वास्तविकता यह है कि पञ्चस्कन्धों में आत्मा न मानने का विचार ही आत्मा की स्थिति की ओर संकेत करता है विचार से घाली नहीं है क्योंकि कोई भी प्राणी यह तो अनुभव नहीं

(१) देखिए आपने 'बीछ दर्शन और बेदन्त दर्शन' का विवेचन।

(२) देखिए बीछे अनुर्ध्व प्रकरण में 'अनारम्भवाद' का विवेचन।

करता कि 'मे नहीं हूँ'। हाँ पञ्चस्कन्ध में नहीं हूँ वा पञ्चस्कन्ध मेरे नहीं हैं यह कहना तो बिल्कुल बुरी बात है। तथागत ने परमार्थ रूप से आत्मा का निवेश नहीं किया किन्तु बिना 'काम' या अहंकार के नाश का विधान अतिनिषेध अथि अनुभवानुगत आत्मा के वर्धन दाउ करते हैं। उसी का तथागत ने बनाया। पक्षों से विरुद्ध रखकर किया है। इतना ही दोनों में विरोध है। 'मे यह हूँ' और 'मे यह नहीं हूँ' यदि इन दोनों बातों के समानान्त में एक पूर्ण वर्धन की अनकम्पि नम मात्र तो बौद्ध वर्धन उपनिषद् वर्धन की अपेक्षा अपूर्ण अथवा अपूर्ण किन्तु यह बुरी बात ही कहता है जब कि उ निषेध दोनों बातें कहते हैं। उपनिषदें ज्ञान स्वरूप हैं अतः वे सिक्के के दोनों पक्षों को छोट कर दिखाती हैं, तथागत ज्ञान के साक्षात् हैं इसलिए वे साधना के केवल एक ही पक्ष को दिखाते हैं क्योंकि 'मार्ग' उनके उपदेश का रहस्य है 'मार्गबीज' की विशेषताएं बता-बता कर मनुष्यों के चित्त में अतिनिषेध उत्पन्न कराना उनका अर्थ नहीं था। उनके मीन में हमें प्रयोजन का देखना चाहिये। साधन उनका मुख्य ध्येय था साम्य नहीं। यदि कामनाएं नष्ट हो जायेंगी हृदय की धृति का क्षय हो जायगा तो सब ठग पड़ जायगा बहुचर्च पूरा हो जायगा जो कह करता है यह कर लिया हुआ हो जायगा और इससे अधिक आत्मोपदेश का ही क्या ध्येय है? केवल आत्मवाद के विषय में बात करने से तो आत्मवादी भी आत्मा की प्राप्ति संभव नहीं मानते तो क्या फिर तथागत का समग्र नैतिक आदर्श भी बिना किसी प्रयोजन के हो जायगा? क्या अभाव

(१) मिताइये तर्हो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न माहृपस्मीति । पक्षि हि नत्स्या
स्तित्वं प्रसिद्धिं स्यात् तर्हो लोकः माहृपस्मीति प्रतीयत्य् । आत्मा न बहू ।
बहुमुख-शांकर भाष्य १।१।१

(२) मिताइये, इन्द्रियाणि पराज्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनस्तसु परा बुद्धिर्बुद्धे परतस्तसु सः । त्रीता १।४२

एवं बुद्धे परं बुद्ध्या सततम्यात्मनानात्मना ।

अथि धर्म महाबाहो कामकर्म कृतस्तवम् ॥३।४३

यह एक व्यवस्थित वर्धन है उपनिषदों में देखिए, छांदोग्य ७।३।१
उठ ३।१।१५; १७-११ आदि । देखिए अभी आपने अतिनिषेध
अतिविज्ञान का विवरण भी ।

में पर्यवसान करने के लिए ही उनका समग्र उद्यम है, उनके जीव के मार्ग का अंतिम परिणाम है? वह सब नहीं हो सकता। जब तत्वापठ ब्रह्मार्थ के लोक की सन्नोदता का उपदेश करते हैं, जब वे वैदिक होने का दावा करते हैं जब वे जीवन में एक नियम मानते हैं जब 'वर्म' समाप्तोऽहिंसा बर्बन्धि तत्वापत्ता (चतुःशतक) भी जब वे औपनिषद अधिपति की परम्परा में ही 'उपसर्ग' होकर परम तत्त्व का निर्देश करते हैं तब हम यह कैसे कहें कि उनका अनात्मवाद भी जो तृष्णा के निदेशनों को उच्छिन्न करने का एकाग्र मार्ग है और जो इतने प्रकार सत्त्वों की रीति के लिए, विद्या के लिए, निरोध के लिए और निर्वास के लिए एकमात्र उपाय है वह औपनिषद मन्तव्य के समान अभिप्राय वाला समान फल वाला और वहाँ तक अनुभव बरहूँसे सर्वत्र है समान ही रूप वाला नहीं है? अनुमवासी को भगवान् ने लिख्य ही छोड़ दिया है और जिन्होंने उसके विषय में शक भी कहे हैं उन्होंने भी सगरी अपर्याप्तता ही स्वीकार की है। चतुर्व प्रकरण में जो कुछ 'अनात्मवाद' के प्रसंग में एवं 'निर्वास' के प्रसंग में हम कह चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति को यहाँ आवश्यकता नहीं। ऊपर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो उद्धरण दिये हैं उनमें तीन चीजें निवेदात्मक भाषा का ही आशय लेते हैं। चरम अर्थात् निवेदात्मक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है और उसी का प्रदर्शन बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद में हुआ है यह हम अनात्मवाद के निवेदन में दिखा चुके हैं। बुद्ध का मन्तव्य अस्ति आर नास्ति नित्यता और अनित्यता की सब कोटिवाँ से अतीत वा और सिधाय मौल के उसके स्पष्टीकरण का और कोई उपाय ही नहीं है^१। यदि औपनिषद 'आत्मा' के प्रति बुद्ध के मन्तव्य को प्रस्थापित करने के लिए केवल की मीमांसा के एक लूज (तस्य ज्ञानमुपदेश १।१।५) की गल्ल पर एक सूनात्मक बाधना न करने की दृष्टि का सम्य हो तो वह निनम्यता पूर्वक कह सकता है

‘परेन मौलमुपदेश’ । ‘परेन सर्वे व्याख्याता

जब हम औपनिषद मनोविज्ञान पर आते हैं। उपनिषदों में व्यवस्थित मनोविज्ञान उपलब्ध नहीं होता बीसा कि बीड़ दर्शन या सांख्य दर्शन में

(१) ‘अकृतौनामिवात्मानो ज्ञेयं वारिचरस्य च । परं यथा न दृश्येत तथा जायमता वति’ । महाभारत आन्ति २३।१।२४ मिलाइये बर्हें तैत्ति नलिच ब्रह्मापभाय । उवाच ३।८

होता है। उपनिषदों की ही मनोवैज्ञानिक औपनिषद् मनोविज्ञान चिन्ताओं को लेकर सांख्य दर्शन ने एक स्वतंत्र मनोविज्ञान का उद्भावन किया है जिसका प्रयोग प्रायः सभी 'वास्तविक' दर्शन करते हैं और जिसके ही आधार पर योग अपने चित्तवृत्तिनिरोधारमक साधन-मार्ग का उपदेश करता है। अतः बौद्ध मनोविज्ञान का तुच्छात्मक अध्ययन सांख्य दर्शन में निहित मनोविज्ञान के साथ करके समग्र स्वतः ही औपनिषद् मनोविज्ञान भी व्याख्या हो जायगा। यहाँ केवल साधारण रूप से कुछ कहना अपेक्षित है। उपनिषदों का अन्वय आत्म-दर्शन मनुष्य को कराना है जिसके आधार पर ही उसके मनोविज्ञान का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार जैसे हि नैतिक आदर्शवाद पर अपने व्यवहार-मूल में और अनात्मवाद पर अपने तात्त्विक पक्ष में प्रतिष्ठित 'मीलिक्य' बौद्ध दर्शन का उद्भावन चित्त और चेतसिकों एवं 'कल्ल' और 'अकुल्ल' कर्म आदि के रूप में हुआ है। जैसा जिस दर्शन का तत्त्वदर्शन वैसा ही उसका मनस्तत्त्व-विवेचन। उपनिषदों के श्रुतियों के लिए सबसे बड़ी वस्तु आत्मा है जिसके साक्षात्कार में कृतकृत्यता निहित है किन्तु आत्मा तो संघीर अध्ययन योग से ही देखा जा सकता है अतः मनस्तत्त्वों के अवैयर्थ्य की आवश्यकता है। 'मनो पुष्पंगमा ब्रह्मा' जिस प्रकार 'मीलिक्य' बौद्ध मनोविज्ञान की सर्व प्रथम बाणी है उसी प्रकार उपनिषदों के लिए भी प्रधान इन्द्रिय मन ही है। मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति^१। 'मन से ही देखा और मन से ही सुना है। इतना ही नहीं काम सकृन् चिचिदित्ता धडा ब्रह्मडा वृति अपुति आवि सब मन ही है'^२। आत्मा ही वाच्यम मनोमय और प्राणमय है। बृहदारण्यक उपनिषद् तो अपनी उद्भासनक बाणी में आकाश को ही मन का धरौं और स्योति को ही रूप बताती है। प्रस्तोतुपनिषद् इस इन्द्रियों का बड़ा ही विषय वर्धन उपस्थित करती है। विषयवाद मति से मूर्ख के पीछे मार्ग ने पूछा है 'जनवन् ! इन पुरुष में कौन मोली है ? कौन इसमें जागती है ? कौन देव स्वप्नों को देखता है ? किसे यह कुछ जनवन् होता है ? किसे ये सब प्रतिष्ठित हैं ? इस अत्यन्त

(१) बृहदारण्यक १।५।३

(२) काण्डो लंकावती चिचिदित्ता धडाऽप्यडा ब्रह्मरजतिह्रीर्जीतिप्येतत्तर्ब मन एव । बृहदारण्यक १।५।३

में पर्यवसान करने के लिए ही उनका समग्र उद्यम है उनके शीर्ष के मार्ग का अंतिम परिणाम है? यह सब नहीं हो सकता। जब तन्मायत ब्रह्मार्थ के शोक की सन्नोदता का उपरोध करते हैं, जब वे त्रैविध्य होने का दावा करते हैं, जब वे जीवन में एक नियम मानते हैं जब 'धर्म' समाप्तोत्त हिता बर्धनस्थि तथागत। (अनुशासन) और जब वे जीपनिषद अधिपों की परम्परा में ही 'उपनिषत्' होकर परम तत्त्व का निरोध करते हैं तब हम यह कैसे कहें कि उनका अनारम्भवाद भी जो तृप्त्या के निरोधों को उन्मिष्य करने का एकमात्र मार्ग है और जो इस प्रकार सत्त्वों की घाति के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए और निर्वाण के लिए एकमात्र उपाय है वह जीपनिषद मन्तव्य के समान अनिप्राय बाधा समान एक बाधा और जहाँ तक अनुभव वस्तु से संबंध है समान ही कम वाला नहीं है? अनुभवशील की मनवान् ने निश्चय ही छोड़ दिया है और जिन्होंने उसके विषय में शब्द भी कहे हैं उन्होंने भी उनकी अपवाप्तिता ही स्वीकार की है। अनुर्व प्रकरण में जो कुछ 'अनारम्भवाद' के प्रसंग में एवं 'निर्वाण' के प्रसंग में हम कह चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं। ऊपर अरम्भस्वरूप के सम्बन्ध में जो उद्धरण दिये हैं उनमें हीन जीवार्थ निवेवात्मक भाषा का ही आशय लेते हैं। परम अद्वैत निवेवात्मक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है और उसी का प्रवर्तन बुद्धोपनिषत् अनारम्भवाद में हुआ है यह हम अनारम्भवाद के निवेचन में दिखा चुके हैं। बुद्ध का मन्तव्य अस्ति और नास्ति नित्यता और अनित्यता की सब कोटियों से अतीत या और सिद्धांत मील के उसके स्पष्टीकरण का और कोई उपाय ही नहीं है। यदि जीपनिषद 'आत्मा' के प्रति बुद्ध के मन्तव्य को प्रस्थापित करने के लिए वैश्वक की सीमांसा के एक सूत्र (तस्म ज्ञानमुपरोध १।१।५) की लक्ष्य पर एक सूत्रात्मक वाक्वाच बढ़ने की बुद्धता सम्भ हो तो वह निगमता पूर्वक कह सकता है

'तस्म मीनमुपरोध' । 'एतेन सर्वे व्याख्याता'

जब हम जीपनिषद मनोविज्ञान पर आते हैं। उपनिषदों में व्यवस्थित मनोविज्ञान उपलब्ध नहीं होता ऐसा कि बीड दर्शन वा सांख्य दर्शन में (१) 'अनुमीनामिवात्माते ज्ञाने चारिचरस्य च । सर्वं यथा न वक्ष्येत तथा ज्ञानवतां यति' । गृह्यसूत्र, आश्वि २३।१।२४; भिषाहये अर्थ तेन नस्ति पञ्चमात्मनस । अथान ६।८

और सोना तो मन रूप संपादि के ही कारण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा गया है 'बह बुद्धि से तापात्म्य प्राप्त कर स्वप्न रूप होता है और मानो ध्यान करता तथा खेप्ता करता है'¹। स्वप्नावस्था में आत्मा स्वयं ज्योति रहता है,² यह उपनिषदों का एक मौलिक सिद्धांत है और इसका तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रियों के मन में सीन हो जाने पर तथा मन के जीम न होने पर आत्मा मन-रूप होकर स्वप्न देखा करता है'³। वैसे उपनिषदों में इस आत्मा के वास के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह आत्मा घूमन करता है,⁴ और कहीं-कहीं तो ऐसा भी कहा है कि वह 'पुरीतद् नाडी में घूमन करता है'⁵। शंकर, जिसको भूतिवर्गों की एकता ही द्रष्ट है इन सबका बड़ा अच्छा समन्वय-समाधान करते हैं⁶। जब यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता तो उस समय शरीर में यह सुख (ब्रह्मानन्द) होता है और यही सुषुप्ति की अवस्था होती है⁷। 'यहां वर्षान् इस समय यह मन नाम वाक्य देव स्वप्नों को नहीं देखता क्योंकि उन्हें देखने का द्वार तेज से रुक जाता है। तदनन्तर इस शरीर में यह सुख होता है वर्षान् जो निराश्रय और सामान्य रूप से संपूर्ण शरीर में व्याप्त विज्ञान है, वह प्रसन्न हो जाता है।' अन्त में

- (१) स भीः स्वप्नो भूत्वा व्यापतीव लोकापतीव । बृहदारण्यक ३।३।७ कहीं-कहीं 'व्यापतीव लोकापतीव स हि स्वप्नो भूत्वा ऐता भी वाठ है। शंकर ने एह्ने ही पाठ को अपने भाष्य में उद्धृत किया है।
- (२) अत्रायं पुरुष स्वयं ज्योतिः । बृहदारण्यक ३।३।१४
- (३) मनसि प्रतीनेषु करयेषु अप्रकीर्णै च मनसि मनोमयः स्वप्नान् वापति । शंकर भाष्य प्रश्न ३।५ पर ।
- (४) य एवोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् होते । बृहदारण्यक २।१।१७; जिलाइये बृहदारण्यक ५।६ ध्यान्वोऽप्य ८।१।११; ५।१।६; कठ १।२० ३।१; ३।६ ६।१८; इवेतावन्तर ३।१।१५ ।
- (५) पुरीतसि घेते । बृहदारण्यक. २।१।१९
- (६) अर्थकत्वस्य द्रष्टृत्वम् । देखिए शंकर भाष्य प्रश्न ३।५ पर ।
- (७) जिलाइए, स पदा तेजसाभिमतो भवात्यर्थय ईवः । स्वप्नाग्र पन्थत्यव तदैतस्मिन् शरीर एतत्सुखं भवति । प्रश्न ३।६
- (८) अत्रैतस्मिन्वात एव मन आस्यो ईवः स्वप्नाग्र वन्त्यति वर्तन्तारस्य

यबीर बीर बिस्तृत प्रश्न के उत्तर स्वरूप इन्द्रियों के समय-स्वानुसार भावना को बताते हुए भगवान् पिप्पलाद सौम्यमयी (सूर्य के पीप) मार्ग से कहते हैं। तस्मै च होवाच 'यथा मार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं मच्छत' तथा एतस्मिंस्तेजो-मयस्य एकी भवन्ति। तां पुनः पुनश्चक्षत प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्वेकीभवति। तेन तद्दर्शये पुरुषो न श्रुनोति न पश्यति न विद्यति न रसयते न स्पर्शते नाभिभवते नास्ते नागन्भवते न विभुवते नेयामते स्वीपती त्याज्यते^१। अर्थात् बिच प्रकार सूर्य के अस्त होने पर संपूर्ण किरने उस तेजोमयिक में एकत्र हो जाती हैं और उसका उदय होने पर वे फिर फैल जाती हैं। वही प्रकार वे सन (इन्द्रियां) परम देव मन्त्र में एकीभाव को प्राप्त हो जाती हैं। इससे तब वह पुरुष न सुनता है न देखता है न सूँघता है न चकता है न स्पर्श करता है न चोत्ता है न ग्रहण करता है, न बालन्य भोजता है न मन्त्रोत्सार्य करता है और (न कोई चेष्टा करता है। तब उसे 'छोटा है ऐसा कहते हैं। यही उपनिषद् मनस्तत्त्वों का कुछ अन्वेषण के साथ वर्णन करती हुई स्वप्न वर्णन के विषय में कहती है 'इस स्वप्नावस्था में वह देव अपनी विभूति का अनुभव करता है। इसके द्वारा जो देखा हुआ होता है उस देवे हुए को ही यह देखता है सूनी बातों को ही सुनता है तथा बिना बिचिखाओं में अनुभव किए हुए को ही पुनः पुनः अनुभव करता है। यह देवे बिना देवे सुने बिना सुने अनुभव किए, बिना अनुभव किए, तथा सत् और असत् सभी प्रकार के पदार्थों को देखता है और स्वयं भी सर्वस्व होकर देखता है^२।' यहाँ विभूति का अनुभव करने से तात्पर्य यद्वयान् चकत्वाय के मतानुसार, विषय-विषयी रूप अनेकारण्य को प्राप्त करने से है^३। अज्ञान की स्वतंत्रता मनु की उपाधि के कारण है, वास्तव में अज्ञान तो स्वयं न छोटा है और न बामता है। उसका बाधना

(१) प्रश्न ४२

(२) अर्थव देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। परबुद्धं दृष्टमनुभवति। कुतः कुतमेवार्थमनुश्रुति। देव दिवन्तरित्वं प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति बुद्धं चाबुद्धं च कुतः चाभुतं चानुभूतं चानुभूतं च सत्त्वात्तत्त्वं सर्वं पश्यति सर्वं पश्यति। प्रश्न ४५

(३) महिमानं विभूतिं विषयविषयीकज्ञानमनेकारण्यभावमवतन्। अनुभवति मतिपद्यते। उपर्युक्त पर आकर भाव्य।

और सोना तो मन रूप उपाधि के ही कारण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा गया है 'बहु बुद्धि से तादात्म्य प्राप्त कर स्वप्न रूप होता है और मानी ध्यान करता तथा बेचटा करता है'¹। स्वप्नावस्था में आत्मा स्वयं ज्योति रूपा है,² यह उपनिषदों का एक मौलिक सिद्धांत है और इसका तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रियों के मन में जीम हो जाने पर तथा मन के जीम न होने पर आत्मा मन-रूप होकर स्वप्न देखा करता है'³। वैसे उपनिषदों में इस आत्मा के बाह्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह आत्मा ध्यान करता है,⁴ और कहीं-कहीं तो ऐसा भी कहा है कि यह 'पूरीतत्' नाड़ी में ध्यान करता है'⁵। शंकर, जिसको बुद्धियों की एकता ही इष्ट है, इन सबका बड़ा अच्छा समन्वय-समाधान करते हैं⁶। जब यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता तो उस समय घटीर में यह सुख (ब्रह्मानन्द) होता है और यही सुषुप्ति की अवस्था होती है⁷। 'यहां जर्बान् इस समय यह मन नाम वाला देव स्वप्नों को नहीं देखता क्योंकि उन्हें देखने का द्वार टेक से बन्द बाठा है। ठगनठर इस घटीर में यह सुख होता है जर्बान् जो गिराबाब और सामान्य रूप से संपूर्ण घटीर में व्याप्त विज्ञान है, वह प्रसन्न हो बाठा है'⁸। अन्त में

- (१) स जी-स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव । बृहदारण्यक ४।३।७; कहीं-कहीं 'ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वा ऐता भी पाठ है। शंकर ने पहले ही पाठ को अपने भाष्य में उद्धृत किया है।
- (२) अत्रत्यं पुदयः स्वयं ज्योतिः । बृहदारण्यक ४।३।१४
- (३) मनसि प्रलीनेषु करबेषु अप्रलीने च मनसि मनोमयः स्वप्नान् पश्यति । शंकर भाष्य प्रश्न ४।५ वर ।
- (४) य एबोऽन्तर्हृदय आकाशास्तस्मिन् भेते । बृहदारण्यक २।१।१७ मिलाइये बृहदारण्यक ५।६ छान्दोग्य- ८।३।३; ५।१।६ वृत् २।२ ३।१; ४।६ ६।१८ इतैतावत्तर ३।१।१२ ।
- (५) पूरीतसि भेते । बृहदारण्यक. २।१।१९
- (६) जर्बकत्वाय इष्टत्वात् । ऐजिप् शंकर भाष्य प्रश्न ४।५ वर ।
- (७) मिलाइए, त यदा लेजसामिभूतो भवत्यर्चय देवः । स्वप्नाज वस्यत्यव तर्तस्मिन् घटीर एतत्सुखं भवति । प्रश्न. ४।६
- (८) जर्बतस्मिन्काल एव मन आक्यो देवः स्वप्नाज पश्यति जर्बनृपारस्य

हे सोम्य ! जिस प्रकार पक्षी अपने बड़े-के वृक्ष पर जाकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार यह स्रग (कार्यकारण संघात) सबसे उत्कृष्ट आत्मा में जाकर स्थित हो जाता है^१ । यही जीपनिपद दर्शन की अंतिम विषय है न केवल बौद्ध मनोविज्ञान पर ही किन्तु आज के बहुमुखी मानस-शास्त्र पर भी । सर्वज्ञात आत्मा-ब्रह्म में जाकर सभी मानसिक व्यापारों का मित्र बना या तीन हो जाता उपनिषदों के मनोविज्ञान का प्रायस्वल्प सिद्धांत है । इसके तीन स्वल्प उपनिषदों में प्रकाशित हुए हैं । किस प्रकार समग्र मानसिक और भौतिक व्यापार क्रमशः एक के बाद एक में प्रवेश कर अन्त में आत्मा में लीन हो जाते हैं इसकी तीन व्यवस्थाएँ हैं (१) सुषुप्ति की अवस्था में (२) योग की अवस्था में एवं (३) मृत्यु होने पर । नामरूपात्मक समग्र कार्यकारण-संघात जिस प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में आत्मा में लीन होता है, उसका क्रम मृति यों वर्णन करती है । पृथिवी और पृथिवीमात्रा (ब्रह्ममात्रा) अक्ष और रस तन्मात्रा तेज और रूप तन्मात्रा वायु और स्पर्श तन्मात्रा आकाश और शब्द तन्मात्रा नेत्र और द्रष्टव्य (रूप) श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द) घ्राण और घ्रातव्य (रस) रसना और रसमितव्य (रस) त्वचा और स्पर्श योग्य पदार्थ हाव और ग्रहण करने योग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दमितव्य वायु और विस्पर्शनीय पाद और गन्तव्य स्थान मन और मनन करने योग्य बुद्धि और बोद्धव्य अहंकार और अहंकार का विषय चित्त और चेतनीय तेज और प्रकाश्य पदार्थ तथा प्राण और चारण करने योग्य वस्तु, ये सभी आत्मा में लीन हो जाते हैं ।^२ इससे परे जो आत्म स्वल्प अक्ष में प्रतिबिम्बित पूर्व

निष्कृतत्वात् तेजता । अथ तदैतस्मिन् करीर पतत्तुलं भवति बद्धिर्ज्ञानं निराबाधनचित्तोच्चैः करीरम्यात्पक्षं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः । प्रश्न ४१६ पर उत्तरक लाप्य ।

- (१) स्रगं लोम्य क्पाति वास्तोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्तर्धं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्ते । प्रश्न ४१७
- (२) पृथिवी च पृथिवीमात्रा आप्तवायोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा आकाशश्चाकाशमात्रा च अक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसमितव्यं च त्वक्च स्पर्शमितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्ती चावातव्यं श्रोत्रस्पर्शवाक्चक्षितव्यं च वायुश्च विस्पर्शमितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मनव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं

के समान इस शरीर में कर्ता-भोक्ता रूप से अनुप्रविष्ट है 'वही इष्टा
स्पष्टा श्रोता धाता रक्षिता मत्ता (मनन करने वाला) बाधा और
कर्ता विज्ञानात्मा परम है और वह पर असर आत्मा में सम्मक प्रकार से
स्थिर हो जाता है' १ । यह तो जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में मानसिक
व्यापार आत्मा में लीन होते हैं उसका निदर्शन हुआ । अब जिस रूप से
वे योग की दशा में आत्मा में लीन होते हैं वह इस प्रकार है । इन्द्रियों
से मन पर (उत्प्रेष्ट) है मन से बुद्धि भेष्ट है, बुद्धि से महत्तत्त्व बढ़कर है
तथा महत्तत्त्व से अम्यक्त उत्तम है अम्यक्त से भी पुरुष भेष्ट है और वह
व्यापक तथा बलिन है जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्व को
प्राप्त हो जाता है—जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित आत्मा में
स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी भेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परम
पति कहते हैं—इस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं २ ।
वही योग की अवस्था में मानसिक व्यापारों का आत्मा में लीन हो जाना है ।
इसी का एक दूसरा वर्णन भी उपलब्ध है । 'इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय
भेष्ट है विषयों की अपेक्षा मन भेष्ट है मन से बुद्धि भेष्ट है और बुद्धि
से भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) भेष्ट है । महत्तत्त्व से अम्यक्त (मूल प्रकृति) पर
है और अम्यक्त से भी पुरुष पर है । पुरुष से पर और कुछ नहीं है । वही पर
काष्ठा है वही परमापति है—प्राज्ञ पुरुष वाक इन्द्रिय का मन में
उपसंहार करे, उसका प्रकाश स्वरूप बद्धि में रूप करे, बुद्धि को महत्तत्त्व
में लीन करे और महत्तत्त्व को सात आत्मा में लीन करे ३ । इस प्रकार हमने

बाह्यकारणबाह्यकर्तृत्वं च चित्तं च चेतयितव्यं च तैजस्य विद्योत्पत्तित्वं
च प्राज्ञस्य विद्यारमित्यर्थं च । प्रश्न ४१८

- (१) एव हि इष्टा स्पष्टा श्रोता धाता रक्षिता मत्ता बौद्धा कर्ता विज्ञानात्मा
पुरुषः स परेश्वर आत्मनि तत्प्रतिष्ठते । प्रश्न ४१९
- (२) इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः तत्त्वतस्तमम् । तत्त्वादपि महानात्मा महतोऽ-
म्यक्तानुत्तमम् ॥ अम्यक्तास्तु परः बुद्धौ व्यापकोऽस्ति एव च । यं ज्ञात्वा
मुच्यते जगदुत्तमं च पचति ॥ परा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा
सह । बद्धिरथ न विवेक्यति तान्मातुः परमां पतिम् ॥ तां धीममिति मय्यन्ते
स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । पृष्ठ २११७, ८, ९ ११
- (३) इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अवगम्यरथ परं जगः । जगतस्तु परा बद्धिर्बद्धरात्मा

पहुँचते हैं जहाँ अध्येष्ट दुःख-निरोध होता है ऐसा हमें जानना चाहिए। अगर के विवरण से स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थायों का तो स्वल्प स्पष्ट हो चुका है, किन्तु संक्षेप से आत्मा की चार अवस्थायों का अर्थात् चारों स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय अवस्थायों का कुछ और निर्बंध मांडूक्य उपनिषद् के अनुसार कर दें। मांडूक्य उपनिषद् ने आत्मा को 'चतुर् ए' कहा है जिसका संक्षेप विचार हम ऐसे कर सकते हैं (१) व्यापित स्थान बहिःप्रज्ञ स्पृश भुक् वीरवानर आत्मा (२) स्वप्न स्थान अन्तः प्राज्ञ प्रविशित भुक् वैजस आत्मा (३) सुषुप्त स्थान एकीभूत प्रज्ञागमन आनन्दमय आनन्द भुक् चेतो-मन्त्र प्राज्ञ (४) न अन्तःप्रज्ञ न बहिःप्रज्ञ न मनयतःप्रज्ञ न प्रज्ञागमन न प्राज्ञ न अप्राज्ञ किन्तु अक्षय्य अक्षय्यवहार्य अप्राप्त्य अक्षय्य अचिन्त्य अक्षय्यवहेत्य एकात्मप्रत्ययसारा प्रपञ्चोपशान्त सात विध ब्रह्म आत्मा। यही आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं जिन पर उपनिषदों के विचार किया है और अंतिम अवस्था ही वह अनुभवा चीत अवस्था है जिसके विषय में 'तत्त्वमसि' 'अमात्मा ब्रह्म' 'तत्सर्वम्' 'स आत्मा' 'मत्तादायपरोक्षाद्ब्रह्म' 'स आत्मात्मन्तरो ह्ययम् आत्मीयेन' 'ओमित्येवोपासीत' आदि वाक्याँ कही गई हैं। इसके विषय में हम चतुर्भ प्रकार में देख ही चुके हैं कि बुद्ध का तो है धीन (उपदेश) और उत्तरकाचीन बौद्ध भाषायों का निवेद्य। इस प्रकार औपनिषद् मनोविज्ञान की कुछ ककड़ हमने देखी और विद्येयत सभी प्रत्यक्षादि ज्ञानों के वास्तविक अविच्छिन्न पुरुष को भी देखा। अब हम औपनिषद् मोक्ष साधन-मार्ग और कर्म और पुनर्जन्म संबंधी विचारों पर आकर संक्षेप में एतद्विषयक बुद्ध के विचारों के साथ उनके तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं।

उपनिषदों के मोक्ष-संबंधी विचार की बुद्ध के द्वारा उपरिष्ट निर्वाण से एक विभिन्न तुलना है, यद्यपि यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक

- (१) लोभमदमो मोहकाराविशेष परापरत्वेन व्यवस्थितास्तुल्यात् कार्वा-
क्यवचनं वीरियं । अयायां विद्यावीणां पूर्वपूर्वविद्याकमेन तुरीयस्य प्रति-
पत्तिरिति करवतामकं वाचकम् । तुरीयस्तु पञ्चत इति कर्मतामकं
वाचकम् । माण्डूक्य कारिका-आकर भाष्य ।
- (२) यत्र सुप्तो न कंचन ज्ञानं कायमते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सु-
षुप्तम् ।

परिस्थितियों से ही वे इस पर पहुँचे हैं। औपनिषद् मोक्ष साधन 'विष प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने पथ कम और पुनर्जन्म नाम-रूप को छोड़ कर समुद्र में अस्त हो जाती सम्बन्धी सिद्धांतों की है। उसी प्रकार विज्ञान नामरूप से मुक्त एतद्विषयक बुद्ध के विचारों होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्य हो जाता से तुलना है^१। ऐसा उपनिषदों ने कहा है। यह नाम-रूप (औपनिषद् प्रयोग)^२ से विमुक्त हो जाना

क्या है? शंकर के साध्य पर 'अस्तम् अर्थात्तम् अवशिष्टात्ममात्रं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं च नामरूपे विहाय हित्वा।'^३ यह सब चतुर्थ प्रकरण में तिद्विष्ट निर्वाण से मिलाने योग्य है, यदि निश्चय ही हम उसकी ब्यापारमक व्याख्या पर तुल्य नहीं हुए हैं। विष बीज को हम अपना व्यक्तिगत नष्ट कर पुकारते हैं, 'अई' की धनियों से जिसे बिप पिका पिका कर बढ़ाते हैं, उसका तो निःशेष परमावस्था में बह और उपनिषदों के अनुसार भी होना चाहिए। सूक्ष्म विमेश केवल घट्टों का इतना ही कहा जा सकता है। जब कि उपासक केवल 'अस्तनयन' ही कहते हैं उपनिषदें उसे 'ब्रह्मभाव' कह कर भी पुकारती हैं। किन्तु यदि एक ओर निर्वाण के 'छात' प्रपीठ पद की ओर ध्यान दिया जाय और दूसरी ओर बुद्ध के 'ब्रह्मभूत' विशेषण को 'ब्रह्मभाव' समझा जाय तब तो कोई विमेश खोप नहीं रह जाता। बुद्ध ने भी तो 'ब्रह्म-प्राप्ति' का मार्ग बताया है फिर चाहे उनका मन्तव्य ब्राह्मणों के ब्रह्मलोक से अतीत ही क्यों न हो। मुक्तावस्था में तो बुद्ध और उपनिषद दोनों मिलते हैं। उपनिषदें निरन्तर ही पुनर्जन्म का शीघ्र स्वीकार करके भी चिन्ताती हैं 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ईश ११) 'ब्रह्मगच्छो विरजोऽमृतिमृत्युः' (कठ २।१।१८) 'उदेव विहित्वा मृत्युमत्ययि' (स्वेताश्वत० १।८।१।१५) 'अथ मृत्योऽमृतो भवति अथ ब्रह्मसमश्नुते' 'अनैव समवर्णीयन्ते' (बृहदारण्यक १।२।११) 'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्षेयञ्च सम्प्रत्ये' (छान्दोग्य १।१।४२) 'न तस्य प्राप्ता उत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक-४।४।१) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्मार्थेति' (बृहदार

(१) मुद्रक १।२।८ देखिए प्रश्न ६५ भी।

(२) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'अतीत्यतत्पार' का विवेचन।

(३) टीकर भाष्य मुद्रक १।१।८ पर

वह भी देख किन्ना की योग की अवस्था में किस प्रकार इन्द्रियों बाहि का आत्मा में कम किन्ना जाता है। अब यह कम मूल्य में कैसे होता है यह हमें और देखना है। मूल्य सब काम बहुत संश्लेष में कर देती है। 'पुण्यस्व प्रवर्तौ बाह्यमनसि धाम्यद्गते मन प्राप्ते प्राणस्तेजसि तेज परस्यां देवतायाम्'^१। जबकि मरते हुए पुरुष की बाह्यी मन में प्रवेश कर जाती है, मन प्राण में प्राण तेज में और तेज परम देवता में। इस प्रकार सत्यव्रष्टा ऋषियों ने ज्ञान को हमारे किए प्रकाशित किन्ना है। इन्द्रियों बाहि के आत्मा में कम होने के उपर्युक्त विविध कम को वहां इस तात्त्विका द्वारा विद्याना कथाविद् विषय को अधिक बोधनम्मा बनायेगा

(१) सृष्टि की अवस्था में (२) योग की अवस्था में (३) मूल्य होने पर
प्रश्न ४८ कठ २।१।३-११ छान्दोग्य ६।८।६

कठ १।३।१०-१३

आत्मा	पुरुष	पर देवता
प्राण	अव्यक्त	प्राण
तेजस्	महान् आत्मा	मन
चित्त	बुद्धि	बाह्य
बहुकार	मन	
बुद्धि	इन्द्रियां	
मन		

तन्मात्राएँ, मूल इन्द्रियां

अब तक बितली भूमि हम बल चुके हैं जहाँ की कुछ बीड दर्शन के सम्बन्ध में देखने का प्रयत्न करें। हम जानते हैं कि अवगत बुद्ध योग के अन्तर्गत ही वे और ध्यान (ध्यान) का उपदेश ने दिया करते थे। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही उनका अनन्यसाधारण ही था^२। इन सब बातों पर हम वहां

महान्वयः ॥ बहुलः परमव्यक्तमव्यक्तताम् पुण्यः परः । बुद्ध्यान् परं किञ्चित्
ता काष्ठा ता परा पतिः ॥ यच्छेदादमनसो प्राणस्तच्छेदज्ज्ञान आत्मनि ।
आत्मनश्च मति मयि यच्छेदस्तच्छेदज्ज्ञान आत्मनि ॥ कठ १।३।१ -
११।१३

(१) छान्दोग्य ६।८।६

(२) देखिए महात्माविनिष्ठाव सत्त (बीड १।३) में ध्यानी बुद्ध का एक चित्र ५

विचार नहीं कर सकते। यहाँ तो हमें केवल यही देखना चाहिए कि क्या बौद्ध मनोविज्ञान का भी भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट समाधि से कोई संबंध है जिस प्रकार औपनिषद मनोविज्ञान का एकलम। मन्त्रम्य और प्रयोगन आत्मा में इन्द्रियादि को कम करना है? इसका उत्तर हाँ में ही है। भगवान् ने उस उच्चतम समाधि का उपदेश दिया है जिसको उन्होंने 'संज्ञाबोधयितनिरोध' कहा है (जिसको ही जैसा हम आगे वेदान्त दर्शन के प्रसंग में देखेंगे भगवान् गौडपादाचार्य ने अस्पर्शयोग कहा है) 'मिसाओ ! मिस एक दिशा दूसरी दिशा तीसरी दिशा चौथी दिशा ऊपर नीचे ठिठके हर एगह हर प्रकार से सारे लोक के प्रति बिपुल महान्, प्रमाणरहित निर्दर, निष्प्रब मेची-चित्त बाधा और छोला मुक्त चित्त बाधा हो बिहरता है। वह सब रूप संज्ञाओं को पार कर, प्रतिप संज्ञाओं को अस्त कर नाशान् संज्ञा को मन ने बाहर निकाल आकास बनता है ऐसा विचार करके 'आकाशानन्त्यायतन' को प्राप्त हो बिहरता है। आकाशानन्त्यायतन को पार कर 'विज्ञान अनन्त' है विचार करके 'विज्ञानानन्त्यायतन' को प्राप्त हो बिहरता है। विज्ञानानन्त्यायतन को पार कर 'कुछ नहीं है' विचार करके 'आकिञ्चन्यायतन' को प्राप्त हो बिहरता है। सभी आकिञ्चन्यायतनों को पार कर 'नैव संज्ञानमज्ञायतन' को प्राप्त हो बिहरता है। सभी नैव-संज्ञानामज्ञायतन को पार कर 'संज्ञा बधियत-निरोध' (संज्ञा की अनुपुति क निरोध) को प्राप्त बिहरता है। यही निरोध समाधि बौद्ध मनोविज्ञान का अंतिम फल है। समाधि की ७५ अवस्था में काय-अस्वार, वचन-अस्वार और चित्त-अस्वार तो निपट हो जाते हैं परन्तु उप्पादाय मही दुर्ती आयु-अस्वार शीन नहीं होत। यही हमारा मृत्यु से विमल है।

जिन प्रकार आत्मा में सभी मानसिक प्रकृतियों क रूप होने पर 'तस्मि शास्त्रमात्मविन्' ऐसा उपनिषदों का निर्णय होगा है उन्ही प्रकार 'संज्ञा बोधयितनिरोध' की अवस्था प्राप्त कर साधक को अनुभव होगा है, 'जग-मरण बाधा रहा ब्रह्मचर्यबाध बुरा हो गया भी करना वा सो कर लिया अब यहाँ क लिए कुछ योग नहीं रहा। कृतकृत्यता दोनों ही जगह ममान है। और दोनों ही अग्ने-आन मार्ग में चलकर किसी एक समान अवस्था पर

नहीं कह सकते (क्यों कि बहुत कम प्रथम प्रकरण में ही कह चुके हैं) किन्तु केवल संकेत रूप से ही निवेदन करते हैं कि औपनिषद्वैदिक जब आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की शर्तें रखते हैं और जब ‘न अतपस्करम आत्मज्ञाने अभिगम’ कर्मसिद्धिर्वा ऐसा कहते हैं तो वे बुद्ध के अभिप्राय के सम्मिलित स्वर में ही बोलते हैं। पुनः इन्द्र को जो प्रजापति के पास से आत्मोपदेश पाने के लिए पवित्र जीवन बिताने हुए ? अब तक ठहरना पड़ा (छान्दोग्य ८।१।११) स्वयं इन्द्र ने फिर प्रगटन से वही आत्मज्ञान के मूल स्वरूप तपस्या का जो प्रस्ताव किया (कीरीतद्धि-३।१) यम ने नचिकेतस् को जितना तप किया (अ १।२) तैत्ति ने जानमृति को (छान्दोग्य ४।१) सत्यकाम ने उपकोशल को (४।१।१२) प्रवाह्य ने आर्क्षि को (छान्दोग्य ५।३।७ बृहदारण्यक ६।२।९) प्रजापति ने इन्द्र और वैरोचन को (छान्दोग्य ८।८।४) याज्ञवल्क्य ने जनक को (बृहदारण्यक ४।३।१) और सत्यकाम ने बृहन्न को जो तपस्या की प्रापदिक शर्त के लिए, पवित्र जीवन की प्रथम प्रतिष्ठा के लिए, इतना उत्साहित किया तो निश्चय ही विचित्र नैतिकवाद की ही वह विजय की जिसके बिना सभी अम्यात्म-विद्या की शर्तें निश्चय ही धूल में मिस जाती हैं। अतः महा भी ब्रह्म-मन्त्रम् और औपनिषद् मन्त्रम् समान ही हैं। ब्रह्म ने महाचार की जो प्रतिष्ठा कायम की है उसी पर किसी भी ज्ञान की बुनियाद रखनी या खड़ी है अतः हम यह सकते हैं कि ब्रह्म-मन्त्र पर बार-बार बुद्ध न उपनिषद् के मन्त्रों की ही पूरा किया है और फिर उपनिषद् तो ज्ञान की पर्याय है। जिस प्रकार हम एक मजिल की प्रतिष्ठा और उसके ऊपरी रूप में कोई विवेक नहीं कर सकते क्योंकि एक के टूटने पर ही दूसरा गिरना या ध्वंस होता है उसी प्रकार हमें आचार्यगुरु और तत्त्वज्ञान दोनों का संत को मानना चाहिए और इन दृष्टि से हम उपनिषद् और बुद्ध के मन्त्रों में विवेक नहीं कर सकते। उपनिषद् के श्रुतियों ने आत्मज्ञान के अनविचारी व्यक्तियों की जो सभी सुधी बनाई हैं^१ उसी से हमें समझ लेना चाहिए कि जीवन की पवित्रता को वे विना परम उच्च स्थान देते थे और इन दृष्टि में भी औपनिषद् बनींसी और उन्हीं की परम्परा में जाने वाले धर्मज्ञान बुद्ध एक ही है। कर्म और धर्मज्ञान के मिश्रित उपनिषद् में बड़ी धार्मिक महत्ता के साथ मिलाए गए हैं। इस प्रकार छांदोग्य उपनिषद् बह्वी

(१) देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।६।९; छांदोग्य ३।१।१५; बृहदारण्यक ६।३।१२ इवेनादितर ६।२२; मुण्डक ३।२।११

रम्यक ४१४१९ देखिए वहीं ११४१५ जी) 'विमुक्तोऽस्मृतो भवति' (मुख्य-
३।२।९) 'विमुक्तश्च विमुच्यते' कठ-५।१) जाहि जाहि। ये भावनाएँ भीते
भी निर्वाण की भावना से कितनी समान हैं इसे कौन नहीं जान सकता? इसी
प्रकार वहाँ 'न च पुनरावर्तते' (छान्दोग्य-८।१५।१) 'न तेषामिह पुनरावृत्तिः'
(बृहदारण्यक-६।२।१५) 'ब्रह्मलोकगमिसंपद्वते' (छान्दोग्य-८।१५।१)
जैसी अवस्थाओं का संबंध है, वहाँ तो बुद्ध ने भी पतञ्जल का निरोध
होना दिखाया है। जाहे बिना किसी भी दृष्टिकोण से हम वहाँ
विमोक्ष पर हम नहीं पहुँच सकते। उपनिषदों ने अत्यन्त निश्चित शब्दों
में परमावस्था के 'आनन्द' का वर्णन किया है, आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य
को दिखाया है 'अथ ह्येते सर्व एव भवन्ति' ऐसा कहा है और 'सर्वमेवा
विसन्ति' ऐसा भी कहा है और यह सब 'निष्कालं परमं सुखं' की
भावना से दूर नहीं है। सब बात तो यह है कि बड़ निर्वाण की अनिरुद्ध
अवस्था पर अधिक जोर देते थे और इसीलिए उन्होंने उसे वास्तव में
कमल मार्ग का विषय बनाया ही नहीं था और इसी बात पर उपनिषदों
के श्रद्धियों के भी ज्ञान की प्रतिष्ठित है। ब्रह्मज्ञान और मोक्ष में औपनिषद
श्रद्धियों ने कोई विमोक्ष ही नहीं रखा है। मोक्ष कोई उत्पन्न होने वाली
चीज नहीं है। यदि उत्पन्न होने वाली होती तो विनाश होने वाली भी होती—
इस व्याख्या में जाते ही हम निश्चय ही 'मिथुन्य प्रसक्तार' और बंधन
पर आवाते हैं जो इमारत इस समय प्रयोजन नहीं है। मोक्ष तो ज्ञान का
ही आत्म-साक्षात्कार का ही अपर नाम है। जो ज्ञान होता है, वही मुक्त
हो जाता है। अतः जिस प्रकार बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मोक्ष की व्याख्या करता
हुवा कोई स्थिरवादी मंदन्त 'निष्कालं हि महाप्राज्ञ ब्रह्मज्ञं ब्रह्मज्ञं'
(मिथुन्यप्रसक्तार) जाहि कह सकता है तो औपनिषद मोक्ष का कोई
उत्तरकाशीन व्याख्याकार भी तस्माच्च संस्कारोऽपि मोक्ष (ब्रह्मसूत्र आकरमाय
१।१।४) वैसे कह सकता है। उत्पन्न मोक्ष कहाँ ठहरता है? ब्रह्मज्ञान ब्रह्मज्ञान ने
अपने अपरिमित धीरवान् शब्द कह कर इसके लिए कोई संभावना ही नहीं
कोई है। 'मोक्षो! यहाँ दो का नाव है वहाँ तो एक दूसरे को देख सकता
है सुख सकता है मोक्ष सकता है, सुख सकता है, मोक्ष सकता है किन्तु

(१) मिथुन्य बृहदारण्यक ३।५।१; छान्दोग्य २।४।१; ईश. १; कठ
१।२।१२ १३; छान्दोग्य ४।१५।१ जी।

वहाँ सब ही आत्मा में परिणत हो गया तब किसीको किसीके द्वारा वह देखे घुने सोचे समझे^१। हमारा चित्तना ज्ञान है वह तो ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत पर ही निर्भर है किन्तु वहाँ 'अविशेष' है वहाँ क्या कहा जान ? वहाँ मीन के सिवाय और क्या उत्तर हो सकता है ? सिवाय निषेधात्मक विवरण के और विधानात्मक अर्थ की वहाँ क्या व्यवस्था हो सकती है ? गौडपादाचार्य ने भी तो कारमबाध के समाप्त होने पर ऐसी ही अवस्था दिखाई है और क्या स्वयं कर्मारिक्त ने भी नहीं कहा कि यदि मोक्ष को प्राप्त होना है तो उसे निषेधात्मक होना ही चाहिए ?^२ हमारी सभी संकल्प और सभी विबाध व्यक्तित्व के स्वरूप को न समझने के कारण ही होते हैं और यदि हम उसके स्वरूप को बुद्ध के और उपनिषद् के मन्त्रियों के अनुसार समझ पायें तो हमारे किए विधानात्मक और निषेधात्मक बीसे शब्द ही व्यर्थ हो जाते हैं और अपने को विनाश करना या सत्ता का अनाश होना जिससे हम बहुत ही डरते हैं ये बातें बिल्कुल व्यर्थ ही हो जाती हैं। यदि उपनिषद् और बुद्ध के मन्त्रियों के अनन्तरपरमावस्थाका कुछ चित्र हमें ग्रहण करना होगा तब तो हमें निश्चय ही 'नाम' और 'रूप'। (उपनिषद् और बौद्ध दोनों ही प्रयोगों में क्योंकि चित्तना भी 'नाम' है और चित्तना भी 'रूप' है चाहे मूत का चाहे अभिष्यन्त का चाहे वर्तमान का—वह न मेरा है न वह मैं हूँ ऐसा भयवान् बुद्ध ने तो कहा ही है, संकर के मतानुसार उपनिषद् के मन्त्रियों में भी 'नामरूपे च न आत्मनो'—ते च पुनर्नामरूपे सञ्चितरि अहोरात्रे इव आत्मनि नस्मिन्ते न परमार्थतो विद्यमाने-तैत्तिरीय भाष्य-२।८) उनके प्रति बिमोह छोड़ना ही होगा। किन्तु यदि इतनी दक्षिण अभी हम में नहीं है, आत्माभिनिवेश से अभी हम इतने चिपटे हुए हैं कि उसके बिना समाग्नित हो उठते हैं, तो हमारे आत्मासह के लिए भक्तों और वैष्णवों की सुबिल्लूत परम्परा उपस्थित है जो मोक्ष के विधानात्मक स्वरूप पर ही धोर बैठी है और जिसने अपने उपास्य देव के साथ भी 'नाम रूप बोध ईश उपाधी' वह कर उन्हें ईश्वर व साथ विपद्य रचना है किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जब भक्त भी 'जहाँ न नाम न रूप' की अनिदल्य अवस्था में रहस्यात्मक रूप में जाने लगे तब तो आत्माभिनिवेशी जन के लिए कोई आशय ही नहीं रहेगा। भारतीय दर्शन में मल्लि के स्वरूप को समझ के लिए और

(१) उद्धरण के लिए देखिए पीछे उपनिषद् के एकप्रसंग का विवेचन।

(२) देखिए आने सेवान्त और पूर्वमीमांसा दर्शनों के विवेचन।

जिसमें एकमात्रता जाने के लिए (यदि वह संभव हो) हमें व्यक्तित्व के संश्लेष पर ही पहले निश्चित हो जाना चाहिए और चूंकि उसका विवरण हम आत्म-वाद और अनात्मवाद के रूप में पहले कर ही चुके हैं इसलिए इस विषय में यहां कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाता। साधन-मार्ग के विषय में हम यह तो कह ही आए हैं कि यज्ञादि के प्रश्न को छोड़कर बुद्ध और उपनिषदों के विचार में पारस्परिक क्या संबंध है। यहां यही कहना योग्य है कि सत्य (मुख्य ३।१।६) और अज्ञा (तैत्तिरीय १।१।१) पर उपनिषदों अत्यन्त जोर देती ही हैं और इन्द्रिय निषेध पर भी उनका विशेष आग्रह है (देखिए कठ-उपनिषद्)। फिर उपसू का जो स्वल्प उसमें निहित है उसके विषय में हम प्रथम प्रकरण में ही बहुत कुछ कह आए हैं अतः यहां कहने की विशेष आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती। केवल कुछ श्रुतियों की ओर संकेत मात्र कर सकते हैं। जिसको देखकर पाठक स्वयं ही बुद्ध के मन्त्रियों से उनकी बहुमत समागतता का अनुमान कर सकेंगे। फिर औपनिषदमनीषियों ने बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्ग की भी अनुमति पहले से न कर ली हो ऐसा भी हम नहीं कह सकते। सत्यवद् भारद्वाज को हम बुद्ध के मध्यम मार्ग के लिए पूर्ण नृमि तैयार करते देखते हैं। बहुत तो हम यहां इस विषय में

(१) ब्रह्मसूत्रसंग्रह ३।१।६ बृहदारण्यक १।२।६ ३।८।१ तैत्तिरीय १।९।१।६ २।१।३; ३।१; तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।३।६ भिखाइए वास्तुपुत्र : हिन्दू और इस्लाम क्रिस्तोसारी विश्व पृथ्वी पृष्ठ १२६

(२) भिखाइये "सत्यवद् भारद्वाज was one of the pioneers among those thinkers who bravely faced the problem, upheld transcendentalism against both asceticism as largely practised by the Vedic ascetics and wordly life as regulated with puritanic strictness by the Brahmin priests and jurists He thus prepared the way for the rationalism of Buddha who enunciated the Middle path and sought for a via media in thought, conduct and intellectual training" डा. वेणीसायन वादुजा : प्रो. ब्रिटिश इन्डियन कलाकाली पृष्ठ २४४

यही कह सकते (क्यों कि बहुत कुछ प्रथम प्रकरण में हो कह चुके हैं) किन्तु केवल सकेत रूप से ही निवेदन करते हैं कि औपनिषद् ऋषि जब आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की धर्म रखते हैं और जब ‘न अतपस्करम आत्मज्ञाने अधियम’ ‘नर्मसिद्धिर्वा’ ऐसा कहते हैं तो वे बुद्ध के अभिप्राय के सम्मिलित स्वर में ही बोलते हैं। पुनः इन्द्र का जो प्रजापति के पास से आत्मोपदेश पाने के लिए पवित्र जीवन बिताने हुए १ वय तक ठहरना पड़ा (छान्दोग्य ८।१।१३) स्वयं इन्द्र ने फिर प्रतर्दन से बड़ी आत्मज्ञान के मूल स्वल्प तपस्या का जो प्रस्ताव किया (कौरीतकि-३।१) यम ने तपिक्रेतम् को बितना तप किया (अ १।२) ऋषि ने ज्ञानभूति को छान्दोग्य ४।१) सत्यकाम ने उपकोशल को (४।१।२) प्रवाह्य ने आर्षि को (छान्दोग्य ५।३।७ बृहदारण्यक ६।२।५) प्रजापति ने इन्द्र और वैश्वदेव को (छान्दोग्य ८।८।४) वासिष्ठात्म्य में जनक को (बृहदारण्यक ४।३।१) और सत्यकाम ने बृहन्न को जो तपस्या की प्राथमिक धर्म के लिए, पवित्र जीवन की प्रथम प्रणिष्टा के लिए, इतना उत्साहित किया ता निरवय ही विच्छिन्न नैतिक्वाद की ही वह विजय की जिम्मे बिना सभी अध्यात्म-विद्या की धार्मिक निरवय ही मूल में मिल जाती है। अतः यहाँ भी ब्रह्म-मन्त्र और औपनिषद् मन्त्र समान ही हैं। ब्रह्म ने सवाचार की जो प्रतिष्ठा कायम की है उसी पर किसी भी ज्ञान की बुनियाद रखी जा सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि ब्रह्म-शुद्धि पर और देकर बुद्ध न उपनिषदों के मन्त्रों की ही पूरा किया है और फिर उपनिषदों का ज्ञान की पर्याय है। जिस प्रकार हम एक मन्त्र की प्रणिष्टा और उसके ऊपर ही रूप में कोई विमर्श नहीं कर सकते क्योंकि एक के टूटने पर ही दूसरा गिरता या व्यर्थ होता है उसी प्रकार हमें आचारतन्त्र और तत्त्वज्ञान दोनों के मंग को मानना चाहिए और हम बुद्धि से हम उपनिषदों और बुद्ध के मन्त्रों में विमर्श नहीं कर सकते। उपनिषदों के ऋषियों ने आत्मज्ञान के अनविच्छिन्न व्यक्तियों की जो लंबी सूची बनाई है^१ उसी से हमें समझ लेना चाहिए कि जीवन की पवित्रता का वे बितना परम उच्च स्थान रखे थे और हम बुद्धि ने भी औपनिषद् मनीषी और उन्हीं की परम्परा में जाने वाले धर्मवान् बुद्ध एक ही हैं। नर्म और पनर्जन्म के मिश्रित उपनिषदों में बड़ी धार्मिक महत्ता के साथ मिलाए गए हैं। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् बह्वी

(१) देविए देवरेय आरण्यक ३।३।६।९; छान्दोग्य ३।१।१।५ बृहदारण्यक ६।३।१२; इत्यादि ६।२२ मुण्डक ३।२।११

है 'अथ कथं कर्तुमयं पुरुषः' । अथ कर्तुमस्मिन् कोके पुरुषो भवति तस्य प्रेत्य भवति ।^१ इस एक छोटे से वाक्य में कर्म का मनोवैज्ञानिक रूप भी रखा हुआ है और मनुष्य के जीवन में उसका व्यापक महत्व भी । 'सत्यमिदं मत्तं पश्यते सत्यमिदं ब्रह्मते पुनः'^२ अर्थात् 'मनुष्य खेती की तरह पकता और खेती की तरह फिर उत्पन्न होता है' इसमें पुनर्जन्मवाद का सत्य अच्छी तरह से दिखाया गया है । इसी प्रकार चांदोग्य ५।३।१ (बेलमवित्तो अथ प्रजाप्रवृत्तीति) तथा बृहदारण्यक १।२ (बेलम यजमाना प्रजा उत्पादि) पुनर्जन्म के सत्य को बड़ी अच्छी तरह से दिखाती हैं । फिर यहाँ तो उनका यह सरलतम उपदेश ही पर्याप्त है कि 'पुष्य' पृथ्वी कर्मका भवति पाप पापेन^३ अथवा 'यमाकामो भवति तत्कर्तुर्भवति यत्कर्तुर्भवति तत्कर्म कृते यत्कर्म करोते तद्विषयस्य च' । यह सब बीछ दृष्टि कोण के अनुकूल ही है इसे हमें विस्तार से दिखाने की यहाँ आवश्यकता नहीं । उपनिषदें मनुष्य की भवता को पूर्ण स्वतन्त्रता देती है और बूझ भी । उपर्युक्त चरित्रों से स्पष्ट है कि इस विषय में दोनों में तनिक भी भेद नहीं है । कर्म करने से ही दोनों के उपदेशों का पाठन हो सकता है^४ और ज्ञान की महत्ता में दोनों का ही समान विश्वास है ।

इस प्रकार दर्शन के अनेक विवेचनात्मक विषयों को लेकर हमने बूझ के विचार और उपनिषदों के विचार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है । ऐतिहासिक मार्ग को भी हमने अपना अध्ययन बनाया है । सम्मत् सम्बुद्ध औपनिषद् बिना पुनर्बलि किए हम ऐतिहासिक रूप विचार-परम्परा से विरहित थे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्मत् नहीं हुए, बल्कि वही उनके सम्बुद्ध औपनिषद् विचार-परम्परा से विरहित समग्र आचारतत्त्व और नहीं हुए, किन्तु वही उनके समग्र आचारतत्त्व तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और और तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और उसके बिना तसक बिना इसका समग्र उसका समग्रता ही असंभव है । तत्त्व दर्शन जाना ही असाध्य है में केवल अनु सग जाने से ही कोई विपरीत दर्शन नहीं हो जाता । उसके समग्र

(१) ३।१।३।१। इत्यस्य बृहदारण्यक ५।३।५ भी ।

(२) कठ १।२।६

(३) बृहदारण्यक ५।३।५

(४) अर्थात्, बृहद्वैवर्त कर्मानि विधीविधेयानि समग्र । इति १। आत्मबोध आत्मरति ध्यानादयः कृतविरा बरिष्क । मुद्रक १।१।४

रूप होत उद्देश्य और जीवन के साध सम्बन्ध की विवचना करनी पड़ती है और इस तरह से हमने देखा है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद (उत्तरकाशीन बौद्ध नैरात्म्यवाद नहीं) औपनिषद् आत्मवाद का विपरीत सिद्धान्त नहीं है । बुद्ध केवल निष्कल दृष्ट भूत व्यक्त और परम का आशय लेकर और औपनिषद् ऋषि अनिश्कल अदृष्ट, अमृत अव्यक्त और अतीत का आभास देकर उपदेश देते हैं । दोनों में ही इसके विभिन्न प्रकृतियाँ भी न हों ऐसा भी नहीं है यह सब हम पहले देल ही चुके हैं । दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और मनुष्य-जीवन के लिए एक ही सन्देश देते हैं । मग हम कहते हैं कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद औपनिषद् ऋषियों के द्वारा ही किए हुए आत्मा के निवेद्यात्मक व्याख्यानों का स्वाभाविक प्रवर्तन और आगे बढ़ाना है^१ जो ब्रह्मवाद से ऊपर की स्थिति को प्रकट करता है । बुद्ध को ऐसा कोई ब्रह्मवादी नहीं मिला जो अधिकार पूर्वक कह सकता 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' । यदि ऐसा होता तो बुद्ध-धर्म का आधिर्भाव ही नहीं होता । बुद्ध धर्म वह ब्रह्मवाद है जो अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित है अन्धबधु परम्परा नहीं है । इस लिये मगवान बुद्ध अपने को ब्रह्मा की श्लोकज के मार्ग की जानने वाला मानते न । बुद्ध ने किसी नवीन धर्मोपपर का निर्माण नहीं किया बल्कि केवल प्राचीन पञ्चावस्था नगर का उद्धार ही किया है^२ । इसीलिए ही तपान्त ऋषि से वेदान्त से वेदान्तज्ञ से यह करने वाले ब्राह्मण (मात्रयोगी ब्राह्मण) से और इन सबके साथ ही साथ 'उत्तम मित्र' भी थे ।

इतना समझ करने पर हमारे लिए यह भी समझना बख्ति नहीं रहे बाता

कि बुद्ध के धर्म को 'बहुजन' वेदान्त

यहुजन यथास्त (जबकि वेदान्त न कहना उपनिषद् से साथ उससे सम्बन्ध वात्पर्य यहाँ प्राचीन उपनिषद् को समझने के लिए ठीक ही अनिवार्य या ज्ञान के चरम निष्कर्ष से हो सकता है । उपनिषद् उन पुरातन है) के रूप में बुद्ध-शासन का दर्शन वाक में भी सबसाधारण के लिए ही वास्तव में औपनिषद् मन्त्रव्य व्याख्यात्मक पुनर्जाँ ही थी । 'गुह्यारण' के साथ मूल बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध जिसको छात्राव्य ३१२५ में कहा का ठीक अनुरोध करना है, गया 'परम परमम्' जिसको ब

(१) देखिए बालगुप्त शिरोही बाक इन्द्रियन त्रिस्तोत्रयी त्रिस्त बह्म, पृष्ठ ४४ ४५

(२) देखिए, 'नपर लत' (संयुक्त-निर्वाण)

६।१७ एवं स्वेताश्वतर ६।२२ में कहा गया जिसके विषय में 'वेद बृहस्प उपनिषत्सु गूढम्' स्वेताश्वतर ५।९ में कहा गया वह औपनिषद ज्ञान साधारण जनों को अपना लक्ष्य बनाने वाला कभी नहीं रहा होगा ऐसा वादानी से कहा जा सकता है । किन्तु इसको उनमें प्रसारित करने की आवश्यकता तो भी थी । यह कार्य अनायास रूप से ही बुद्ध के द्वारा सम्पन्न हुआ ऐसा हम कह सकते हैं । निश्चय ही महा औपनिषद तत्त्वज्ञान श्रवीमृत होकर अनेक प्राणियों के कल्याणार्थ माता के स्वल्प दुःख की तरह अपना समझती मायीरबी की तरह प्रवाहित होने लगा है जिसे बिसा बिजाल वाला भी 'आश्चर्य बधता' बुद्ध जैसा मित्र जिसकी बाणी का सा ओष और मुख का सा बहुवर्षस विषम में आचटक किसी का नहीं देखा गया । अन्य जो कारण बुद्ध के धर्म को 'बहुजन वेदान्त' के नाम से पुकारने के हो सकते हैं उन्हें हम पाँचवें प्रकरण के आरम्भ में प्रकट कर चुके हैं । महा इतना ही कहकर हम विराम लेते हैं कि उपनिषदों के स्वाभ्यास को प्रारम्भ करने के प्रथम क्षण में ही 'य उपनिषत्सु ब्रह्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु' की वाक्यति करते समय यदि हम बौद्धिपक्षीय धर्मों की कुछ अनुसृष्टि कर लें तो हमने जो कुछ कहा है उससे असहमत होने का कोई विशेष कारण नहीं दिखाई पड़ेगा । जैसे बौद्धिक विचारों और मत-मैत्रों का अन्त ही नहीं है । किन्तु जीवन के प्रति जो सन्देश है वह तो अनिषाद और अनिच्छा है और नही सम्मक आत्ममार्ग भी है—'एष वै पन्था' सुकृतस्य लोके' ।

आ—बौद्ध दर्शन और गीता

गीता एक समग्र दर्शन है । सम्पूर्ण अविरोधी सत्य को दिखाने का । जहाँ प्रयत्न किया गया है । इसलिये स्वभावतः अनेक तारिखिक चिन्ताओं का समाधान उसके अन्तर हुआ है । गीता वस्तुतः गीता-परायण का समग्र और कामधेनु है । जैसा अन्त ज्ञानेश्वर ने कहा है

अविरोधी स्वरूप "यह गीता कभी माता कभी ज्ञानी और अज्ञानी सन्तान में कोई भेद नहीं करती" १ । ममबान् कृष्ण की यह वाक्यमयी मूर्ति है । यदि बौद्ध परिभाषा का प्रयोग करें तो गीता को हम ममबान् कृष्ण का धर्मकाम कहेंगे । गीता का प्रत्येक अक्षर ब्रह्म रस से सुगन्धित है जिस प्रकार प्रत्येक बुद्ध-वचन विमुक्ति-रस से आर्द्र है ।

(१) ज्ञानेश्वरी (रामचन्द्र बर्मो-कृत हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ६९५

समस्त ज्ञान और वर्णन का मन्त्रन करके व्यासदेव की बुद्धि में गीता को उत्पन्न किया है। गीता किसी को 'न' नहीं कहती। चाहे कोई उसका केवल ध्वनि करे (भक्त्यापि यो नट) चाहे कोई पाठ करे, और अर्थ-ग्रहण करने चाहे की तो कोई बात ही नहीं मोक्ष-रूपी प्रसार वह सबको बराबर-बराबर ही बाँटती है। शानेस्वर महाराज के उदात्त शब्दों में "मोक्ष से कम तो वह कभी किसी को देती ही नहीं और सब को एक सिरे से ही मोक्ष देती है"।

पीता-तत्त्व का आकलन प्रमाप प्रमेय-विषय बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है। तत्पाप-प्रवेष्टित धर्म के समान वह भी 'अतर्कविषय' है। पीता-तत्त्व ब्रह्मेय और अपरिमेय है। पर अनुभव के सामने वह अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। ब्रह्म-ज्ञान के समान वह अनुभवमय है वृष्ट धर्म ह इसी धरीर में संवेद्य है। गीताकार ने ६ यं कहा है 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य अभ्यास करने में सुख और अभिलाषी है'। समस्त में पूर्णता प्राप्त मनुष्य ज्ञान आने पर स्वयं अपने अन्दर इस ज्ञान का वर्णन करता है^१। पीता-वर्णन बुद्ध-वर्णन की भाँति प्रत्येक धरीर में वेदनीय (पञ्चग वेदनीय) धर्म है। विश्वान् मनु और इन्द्राक्ष की परम्परा से प्राप्त (विश्वान् मनने प्राह मनु रिषाकवे-इतीन्—एवं परम्पराप्राप्त) यह ज्ञान नित्य मवीन है। इसका प्रभाव अनीन्द्रिय है और वह शब्दों की पकड़ में नहीं आता। जानियों के स्वामी विश्वज्ञ महाराज-मन्त्र ने कहा है 'यह कथा वास्तव में दिना शब्दों की सहायता के ही नहीं आती है इन्द्रियों का गिरा पडा करने ही इसका अनुभव होता है और काना तक शब्दों के पहुँचने के पक्ष ही इसके तत्त्व सिद्धान्तों का आकलन किया जाता है'। यह ज्ञान अक्षरणा सम्प है।

गीता में उपनिषद् का सार-मन्त्रन हुआ है यह प्राचीन साम्यता है। इन्द्र की बीम ने अर्जुन की बाणों को लगाकर उपनिषद् की गायों से पीना

(१) आने-वरी पृष्ठ ७७

(२) प्रत्यक्षावयव धर्म्यं सुमुखं वर्तमान्ययम। पीता १।१

(३) तत्त्वय योपसंनिधः कालेनात्मनि विन्यति। पीता ३।३८ मित्तायै
"मागन्धिव। अब नू सद्धर्म के अनुसार आचरण करेगा तो स्वयं ही आनेगा,
स्वयं ही ईश्वर। भागवत-मन्त्र (मन्त्रम २।३।५)

(४) आने-वरी पृष्ठ ४

मृत को बुझा है^१। गीता में वस्तुतः उपनिषदों गाथा ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है के ज्ञान का ही वाचन हुआ है और उसका अन्तिम मन्तव्य उससे भिन्न नहीं है। आचार्य संकर ने गीता-दर्शन को इसी दृष्टि से देखा है। उनका कहना है कि इस बीता-शास्त्र का प्रयोगन संशेपतः परम निश्चेयस की प्राप्ति ही है और परम निश्चेयस का अन्वय करते हुए उन्होंने कहा है कि वह इस सहेतुक संसार की आत्मनिक उपशान्ति ही है^२। परम निश्चेयस की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह सर्वकर्म-संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान-निष्ठा कपी कर्म से ही सम्भव है^३। इस प्रकार उन्होंने सर्व-कर्म-संन्यास के द्वारा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति को ही परम निश्चेयस के रूप में गीता का प्रथमाय विषय माना है। सीमे-सादे सध्यों में आचार्य संकर के मतानुसार, बीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है। वहाँ तक बीड दर्शन के साथ गीता-दर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है हम इसी भूमिका को लेकर चलेंगे। बीड दर्शन मुख्यतया बोध-मार्ग है और बोध के द्वारा ही वह बुद्ध-विमुक्ति को विवक्षाता है। गीता में भी ज्ञान की महिमा परम मानवीय पुरुषार्थ के रूप में सरक्षित है। महारमा गान्धी ने बीता को श्रीकृष्ण का अर्चन को दिया हुआ बोध कहा है^४। अतः स्पष्ट देखी-निमान को दृष्टि से हम बीड दर्शन और बीता दोनों को बोध-मार्ग या ज्ञान-मार्ग के विषय मान सकते हैं।

परन्तु बीता के ज्ञान में कर्म और शक्ति का भी समन्वय है। बुद्ध-कर्म के अनुसार, विवक्ष और माधी जैसे आधुनिक विचारकों ने बीता के कर्म-योग को कुछ अधिक महत्व दे दिया है जो उसका मौलिक एवं परम ज्ञान और कर्म मन्तव्य नहीं जान पड़ता। इसमें संदेह नहीं कि गीता का का समन्वय सर्व-कर्म-संन्यास वास्तव में सर्व-कर्म-फल-संन्यास ही है और वहा कर्म करने पर धोर दिया गया है। साक्ष्य (ज्ञानबोध)

(१) सर्वोपनिषदो यावो बोधो बोधोऽप्युक्तम् ॥

यार्थो वत्ता सुधीर्भीक्ता बुद्धं बीतामृतं पश्यत् ॥

(२) अस्य बीताशास्त्रस्य संशेपतः प्रयोगन परं निश्चेयस सहेतुकस्य संसारस्य आत्मनोपरमत्तत्वात् ॥ गीता-भाष्य का उपोद्घात ॥

(३) तत् च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठात्मात् कर्मात् भवति ॥ गीता-भाष्य का उपोद्घात ॥

(४) बीता-बोध गृष्ठ ४

और कर्म (कर्म-योग) में गीता कोई भेद नहीं देखती। 'सांख्ययोगी पुरुषाणां प्रवृत्तिर्न वर्जिता' १। गीता के अनुसार तो "सांख्य और योग को जो एक देखता है वही वस्तुतः देखता है १।" अर्जुन के कर्म-विहीन नैराश्रमत्व 'प्रज्ञावान्' की वहाँ भर्त्सना की गई है (प्रज्ञावादाश्च मापसे) और उससे कहा गया है कि 'तू कर्म कर' (कृत्स्न कर्म व तस्मात्त्वम्) १। स्वित्तप्रश्न के उत्तर (अध्याय २) सुनकर अर्जुन ज्ञान-योग की ओर प्रवृत्त हो जाता है और वह द्विविधा में पड़ जाता है कि यदि ज्ञान ही कर्म से भेद्य है तो फिर उसे ओर कर्म में क्यों किया जा रहा है। 'तरिङ् कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केसव' १। तदन्तर भगवान् कृष्ण ने उससे जो कुछ कहा है, उसका सारांश यही है कि बिना कर्म के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'कर्म में ही तेरा अधिकार है १।' इसलिये 'योगस्व होकर तू कर्म कर' १। 'कर्मों के अनारंभ से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नहीं कर सकता और न केवल संन्यास से ही वह सिद्धि प्राप्त करता है १। फिर 'बिना कर्म किये कोई दाब धर भी नहीं रह सकता १। 'इसलिये निश्चय ही तू कर्म कर ११' 'बिना कर्म किये तो तेरी शरीर-यात्रा भी न चलेगी १। 'इसलिये तू रायग्रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर, क्योंकि यज्ञार्थ कर्म से व्यतिरिक्त कर्म इस भोक में बंधन का कारण है ११। 'अतः अनासक्त होकर तू सत्तत करणीय कर्म को कर' ११।

(१) ५।४

(२) एकं साध्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति । ५।५

(३) ४।१५

(४) ३।१

(५) कर्मण्येवाधिकारस्ते । २।४७

(६) योगस्य कश्च कर्माणि । २।४८

(७) न कर्मणामनारम्भान्नैकस्य बुद्धयोज्ज्वले ।

न च तस्य तन्मात्रेण तिष्ठति तमविमण्डित ॥ ३।४

(८) न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥ ३।५ मित्तादये १८।११ भी

(९) निपतं कश्च कर्म त्वं ॥ ३।८

(१०) शरीरयात्रायि च ते न प्रसिद्धयेव कर्मणः ॥ ३।८

(११) यज्ञार्थान् कर्मणोऽप्यत्र लोकोऽर्थं कर्मबन्धनम् ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्ततमः समाचर ॥ ३।९

(१२) तस्मात्तव नः तत्तत् कार्यं कर्म समाचर ॥ ३।१२

ऐसा जनकादि ऋषियों ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की और लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुम्हें कर्म करना चाहिये। 'लोक-संग्रह की इच्छा से विद्वान् पुरुष को सब असक्त होकर कर्म करना चाहिये'। ज्ञान पूर्वक पूर्वकाष्ठ में मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है इसलिये पूर्वकों का अनुसरण करतू कर्म कर। 'करवीयकर्म को जो आश्रित छोड़कर करता है, वही संन्यासी है वही योगी है न कि जग्गि और क्रिया को छोड़ने वाला'। इसलिये जिसे संन्यास कहा जाता है उसे तू योग समझ। 'यज्ञ दान तप आदि कर्म छोड़ने योग्य नहीं है।' 'इन्हें तू आश्रित और फल की कामना छोड़कर कर, यह मेरा निश्चित मत है'। कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव में त्यागी है और काम्य कर्मों का त्याग ही संन्यास कहा जाता है। 'इसलिये तू कर्म कर। कर्म पर इतनी पुनश्चितियों के साध और बेने से यह आभास होने लगता है कि गीता प्रवृत्ति-समस्त कर्म का प्रचारक ग्रंथ है, ज्ञान-परायण निवृत्ति-मार्ग का नहीं। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। गीता निवृत्ति और प्रवृत्ति में कोई भेद नहीं करती। उसका कर्म-योग वास्तव में ज्ञान को बीजत से एकाकार करने का साधन है। जिस किसी ज्ञान-मार्ग का विकास प्रायः में हुआ है उसमें सदा यह आशंका रही है कि उसे बलती से अक्रियावाद न समझ लिया जाय। हम जानते हैं कि जयवान् बुद्ध के समय में

- (१) कर्मबीजं हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि तं पश्यन् कर्तुं श्रूयति ॥ ३।२
- (२) कुर्याद्विद्वान्नास्तथास्तत्तद्विषयीर्बुद्धौ कर्तुं प्रहम् ॥ ३।२५
- (३) एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वं यदि मुमुक्षुनिः ।
कुत्र कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वं पूर्वतरं कृतम् ॥ ४।१५
- (४) जगन्निष्ठः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरमिर्म आकिम् ॥ ६।१
- (५) यं संन्यासमिति प्राहुर्वीर्यं तं विद्धि पाण्डव । ६।२
- (६) यज्ञदानतपः कर्म न त्याग्यं कर्मैव तत् ॥ १८।५
- (७) एतावन्पि तु कर्माणि तान् त्यक्त्वा कथानि च ।
कर्तव्यानीति मे शार्ङ्ग निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८।६
- (८) यस्तु कर्म कञ्च त्यागी स त्यागीत्यविधीयते । १८।११
- (९) काश्चानां कर्मणां त्यागं संन्यासं कथयो विदुः । १८।१२

उनके विषय में कितना प्रभाव फैला हुआ था कि वे अक्रियावादी हैं जिसका उन्हें काफी प्रतिपाद करना पड़ा था। बुद्धी यीठा ज्ञान में संपूर्ण कर्म की परिष्काराप्ति मानती है,^१ ज्ञानाग्नि के द्वारा यह सब कर्मों का भस्मीभूत होना स्वीकार करती है,^२ ज्ञान के संपूर्ण पवित्र यहाँ यह कुछ नहीं देखती^३ ज्ञानी को भगवान् की आत्मा ही बतलाती है^४ ज्ञान स्वी। तब के द्वारा संपूर्ण पापों से पार होना सिखाती है^५। और ज्ञान के द्वारा ही यह भगवद्भाव की परम साति की प्राप्ति भी संभव मानती है^६ इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसका चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता की अभिव्यक्ति करता है कि वही ज्ञान अक्रियावादी न हो जाय जिसके विषय में जैसा हम पीछे देख चुके हैं स्वयं भगवान् उपापत्त भी अत्यन्त सावधान थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि संपूर्ण यीठा वर्धन कूर्बदेवेह कर्माणि (इस लोक में कर्म करते हुए ही) इस मृति का विस्तार है। परन्तु इस मृति के भाष्य की प्रस्ताव १ में आचार्य शंकर कहते हैं “जो आत्मत्व का ग्रहण करने में असमर्थ अनात्मज्ञ पुरुष है उसके लिये यह मंत्र उपदेश करता है^७। यदि हम यीठा को प्रकृति-वरक कर्म योग-साधन मानें जैसा लोकमान्य ठिखर ने प्रस्ताव किया है, तो आचार्य शंकर की यही दृष्टि उसके संबंध में भी होनी जैसा उन्होंने स्वयं यीठा-

(१) सर्वं कर्माक्षिप्तं पार्श्वं ज्ञाने वरित्तमाप्स्यते । ४।३३

(२) ज्ञानाग्निः सर्वं कर्माणि भस्मस्तत् कस्तेऽर्जुन । ४।३७

मिताहये ज्ञानाग्निश्चकर्मणि तमाहुः पंडितं वयाः । ४।१९

(३) नहि ज्ञानेन सबुधं पविमिह बिद्यते । ४।३८

(४) ज्ञानी स्वात्मीयं ये मतम् । ४।१८

(५) सर्वं ज्ञानप्लवेनैव बुद्धिर्न संतरिष्यति । ४।३६

(६) बहुषो ज्ञानतपसा वृता बहुबाधभगलतः । ४।१०

ज्ञानं सप्रिया परां शान्तिमचिरेनापियच्छति । ४।३९

मिताहये पश्यन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्मुक्तकर्मवः ५।१७

(७) वेदिये वृष्ट ५२९

(८) ईश २

(९) अथ इतरायावात्मनस्तथा आत्मग्रहणाय अज्ञस्तत्त्वेनबुधविद्यति अन्तः ।

ईश १ वर शंकर भाष्य ।

आप्य के उपोद्वाह में भी व्यक्त कर दिया है। और फिर गीता को उपनिषदों का सार भी कैसे कहा जायगा? अतः गीता का साध्य तो परम निश्चेयस क्य ज्ञान ही मानना पड़ेगा और उसका साधन कर्म। 'म्यास एवात्परेषयत्' (संम्यास ही उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ) इस श्रुति से गीता इन्कार नहीं करती केवल 'म्यास' का अर्थ वह कर्म-फल-म्यास करती है कर्म-म्यास नहीं। यही एक मात्र मार्ग है जिससे हम उपनिषद् के 'संम्यास ही उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ' इस वचन और इसके ठीक विपरीत दिखाई देने वाले गीता के वचन 'कर्म-संम्यास और कर्मयोग इन दोनों में कर्मयोग ही श्रेष्ठतर है' की वास्तविक अविरोध स्थिति को समझ सकते हैं। ज्ञान की अभिव्यक्ति के साथ एकनिष्ठता स्थापित करने की गीता की त्रितयी श्रद्धा और निष्ठा दिखाई पड़ती है वह उसकी एक प्रमुख विशेषता है और उपायत इस संवत्स में उसके साथ है। हाँ कुछ महारथ से पैठने पर यह अवश्य ज्ञात होगा कि कर्म-प्रवृत्ति पर गीता में आधेयिक दृष्टि से कुछ अधिक और है जब कि प्रज्ञा पर बौद्ध धर्म में। इसलिए 'कर्म-कौशल' को ही योग मानने वाले गीता के साधक को निरिच्छा बनासकत स्थिति प्राप्त करने में विशेष कष्ट उद्योग पड़ेगा वैसे कि ध्यान को ही श्रेष्ठतम कर्म मानने वाले प्रज्ञापरायण बौद्ध साधक को आभात कर्मयोगसि संपर्क स्थापित करने में पर नहीं होने का मिश्रन-विशुद्ध होना वहीं बौद्ध और गीता दर्शन एक दूसरे का आधिक्यन करते दिखाई पड़ेगे और वहीं पूर्ण मानवत्व का विकास भी होगा।

बौद्ध धर्म का प्रायः मध्यम मार्ग है। और वह गीता में भी प्रशंसित है। मोक्षदाय और आत्मा-मीक्षा की अथिया जिस मध्यम-मार्ग गीता प्रकार बौद्ध साधना को पद्यत्व नहीं उसी प्रकार गीता में भी प्रशंसित में भी उन्हें श्रेय का मार्ग नहीं माना गया है। यद्यपि कृष्ण ने स्वयं कहा है —

“यह समस्त क्य योग न तो अधिक जाने वालों को प्राप्त होता है और न निरे उपवास करने वालों को। उसी तरह बहुत सोने या बहुत चायने वालों को भी यह नहीं मिलता।

जो मनुष्य बाह्य-विहार में दूसरे कार्यों में सोने आचने में समानता

(१) तैत्तिरीय उपनिषद्, ईश २ पर आकर-आप्य में उद्धृत।

(२) तयोस्तु कर्मसंन्यासस्तु कर्मबोधी विशिष्यते। गीता ५।१

रखता है उसका योग बुझनायक सिद्ध होता है।" भगवान् बड़ के प्रथम प्रवचन का जो उन्होंने बारायसी के समीप ऋषियवन मृगशाल में दिया था वस्तुतः सार यही है।

यदि हम यह कहें जैसा कि बहुतेको कहने का प्रलोभन होया कि मध्यम मार्ग कभी बीड़ धर्म इन दो स्तोकों का विस्तार ही है, तो यह कहना ठीक न होगा। पहले तो भीता निश्चयात्मक रूप से पूर्व-बुद्धयगीन नहीं है और फिर बाह्य-विहार का स्थूल समत्व ही मध्यम मार्ग नहीं है। हम केवल यही कहेंगे कि साधना के एक सामान्य मार्ग के रूप में मध्यम मार्ग भीता में भी प्रशंसित है और इससे हमारी यह धृष्टा बलवती ही होती है कि तत्प्राप्त के द्वारा अभिज्ञात मध्यमा प्रतिपदा निश्चयतः जन्म देने वाली ज्ञान पैदा करने वाली और छांति ज्ञान बोध और निर्वाण की प्राप्ति करने वाली है। 'मश्मिमा पटिपदा तत्प्राप्तये अभिसम्बुद्धा बल्लभकरणी भाणकरणी पपसमाय अभिज्ञाय सबोवाय निम्बाभाय संवत्ति'। मार्ग-दर्शन के संबंध में भगवान् कुरुन और बड़ का यह समाज अभिप्राय जीवन-शोधकों के लिये परम संतोष और आश्वासन की बात है।

गीता का भक्ति-योग उसके दर्शन का मुख्य आश्वासन कहा जा सकता है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि भीता के मध्य गीता का भक्ति-योग में स्थित यह श्लोक बुरी की तरह उसके दर्शन को और बीड़ साधना संशुद्धि कर देता है।

"ओ लोभ जन्य माय से भेरा जितन करते हुए मुझे मजते है उन सब मुझ में रह रहने वालों के बोग-बेम का भार ये जटाता है।" भगवान् की जन्य भक्ति और भगवान् के द्वारा वस्तु के योग-लेम के भार को उठाने की प्रतिज्ञा गीता-दर्शन के ये दो बड़े आश्वासन हैं। भक्ति धर्म और ज्ञान के बीच मध्यस्थता करती है। कर्म-नियम की कठोरता भीता को माय है, कर्म

(१) भाव्यमनस्तनु योगोऽस्ति न चैवान्तमनस्ततः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य आपतो नैव चार्जुन ॥

मुक्ताहार बिहारस्य बल्लभेष्टस्य वर्मसु ।

मुक्त स्वप्नावबोधस्य योगी भवति कुप्यता ॥ ६।१६-१७

(२) धम्मचरटपवत्तम-मुत्त (संयुत-निकाय)

(३) १।२२

श्री ५१

की कृच्छ्रता भी योगी का अनिवार्य कष्ट है। परन्तु जो दुराचारी है जिसके कर्म बुरे हैं, जिसमें पुरुषार्थ सहसा नहीं बचाया जा सकता उसके लिये आश्वासन अनन्य भक्ति में ही मिल सकता है। पीता में भगवान् का कहना है बड़े से बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मेरा भक्त करता है तो यह जानो कि वह साबु ही ८९ चुका है क्योंकि जब उसका संकल्प शुभ है। वह शीघ्र ही भर्मात्मा बनकर शांति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता^१। अनन्य भक्ति दुराचार को नष्ट कर देती है भयवृत्त का कभी विनाश नहीं होता ये आश्वासन निर्बल मानवता के लिये बड़े गहत्व के हैं। यह बात नहीं है कि पीता कर्म और पुरुषार्थ पर भगवान्, बड़ के समान बोर नहीं देती है। 'आत्मबी' और 'आत्मशरण' होने का उपदेश देने वाले भगवान् बुद्ध के समाज उसकी भी मायता है कि "मनुष्य आत्मा द्वारा आत्मा का उद्धार करे उसकी अबोधति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का धनु है। उसी का आत्मा बन्धु है जिसने अपने बल से मन को जीता है। जिसने आत्मा को नहीं जीता वह अपने प्रति ही धनु का व्यवहार करता है।" ^२ 'कर्म प्रतिशरण बनों' 'कर्म ही दुःखार्थ अपना है ये बुद्ध बचन गीता को पूरी तरह मान्य होंगे यह हम उसके पूर्व विवक्षित कमयोग से भसी प्रकार समझ सकते हैं। परन्तु जो प्रयत्न में मग्न है जिसका मन मोह से विचलित रहता है (मोहावस्थित मानस) जो ईश्वरी संपत्ति को छेकर नहीं आता है कर्म की जिसे प्रेरणा नहीं होती आत्म-मार्ग को समझने की जिसके पास बुद्धि नहीं है, वह क्या करे? क्या वह नष्ट हो जायगा? क्या ऊर्ध्व संहरण का मार्ग उसके लिये बन्द है? गीता कहती है कि नहीं। भक्ति मार्ग उसके लिये खुला है। भक्ति का आश्वासन अनन्त है। जहाँ कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग अछलक होते हैं योग और चित्त जहाँ अपने आश्वासन को समाप्त कर देते हैं वहाँ भक्ति माता के समान साधक को अपनी गोद में ले लेती है। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न म भक्त प्रणम्यति' यह आध्यात्मिक जीवन का एक बड़ा आश्वासन है। परन्तु इस आश्वासन का आचार है भागवती द्वारा। भक्त का अवलम्ब अवलम्ब ही है। कछुई के अङ्गों की तरह भक्त केवल भगवत्पदा के सहारे ही जीवित

रहते हैं। उन्हें अपने पुरुषार्थ या ज्ञान का नहीं बल्कि भगवत्कृपा का ही सहारा रहता है। यद्यपि यह भक्ति अपनी निर्बलता और असमर्थता की भावना से उत्पन्न होती है परन्तु इसकी साधना कर्म और ज्ञान-मार्ग से कुछ कम कठिन नहीं है। “विन पुण्यकर्मा व्यक्तिषोः का पाप मष्ट हो मया है, ये ही इन्द्रविमुक्त पुरुषोत्तम पुरुष मंत्र भजन करते हैं”। मूढ़ आसुरी भाव सम्पन्न व्यक्ति जिनके कर्म बुरे हैं और माया के कारण जिनका ज्ञान अपहरण कर लिया गया है कभी भगवान् की ओर अभिमुख नहीं होते^१। वस्तुतः सात्विकवृत्ति-सम्पन्न महारमा लोग ही भगवान् का भजन कर सकते हैं^२। भक्त के लिए ये बड़े आश्वासन हैं। कर्म और ज्ञान के साथ भक्ति को मिचाने का सरल प्रयत्न गीता में किया गया है। ‘सब काल में मुझे स्मरण कर और मुझे कर’ इसी कर्मयोगमयी भक्ति का उपदेश है। कर्म-मार्गियों में भक्त को अच्छा बताया गया है^३। अनन्यचेता भक्त नित्य मुक्त होती है और उसके लिए भगवान् शुभ है। अज्ञानान् भक्त सब योगियों में श्रेष्ठ होती है^४। इसी प्रकार ज्ञान के साथ भक्ति की एकनिष्ठता स्थापित की गई है। ज्ञानी भगवान् का श्रेष्ठतम भक्त है। ज्ञान-यज्ञ के द्वारा उपासना की बात बही गई है। अव्यभिचारी भक्ति के द्वारा मनुष्य ब्रह्मयूत महारमा हो पाता है।^५ वस्तुतः भक्त के लिए जितना आश्वासन भगवान् ने दिया है उसका उदाहरण भी योगी (कर्मयोगी) या ज्ञानी के लिए नहीं दिया है। ‘अनन्य भक्ति से जो मंत्र ध्यान करते हैं उन्हें मैं मृत्यु-संसार-सागर से पार कर देता हूँ’। इस आश्वासन से भगवान् की भक्त के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है।

(१) ७।२८

(२) ७।१५

(३) ९।१३

(४) तस्मात्सर्वेषु कार्तेषु भाजनुस्मर मुप्य च । ८।७

(५) ८।१४

(६) ९।४७

(७) ७।१६

(८) ९।१५

(९) १७।२६

(१) श्रुति ११।६-७

भगवान् परम भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हूँ^१ ऐसा भगवान् ने भक्तों के विषय में कहा है। गीता में कर्मयोग की प्रशंसा तो है और ज्ञान के प्रक्रम में स्थित प्रज्ञा और गुणातीत पुरुषों के स्थान भी गिनाए हैं परन्तु कर्मयोगियों और ज्ञानियों के संबंध में कहाँ 'प्रिय' होने की बात नहीं कही गयी है। ज्ञानी को भगवान् ने अवश्य अपना अत्यन्त प्रिय कहा है। यहाँ तक कि उसे के स्वयं अपना आत्मा कहा है^२। किन्तु केवल इस प्रसंग में जबकि ज्ञानी स्वयं नित्य युक्त एकनिष्ठ भक्त है^३। गीता के अठारहवें अध्याय में कहा कि उसके सम्पूर्ण ज्ञान का उपसंहार किया गया है। भगवान् ने गूह्य से बृह्य (बृह्याद् बृहत्तरं) ज्ञान भी बताया है कि मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान से बृह्य-स्थित ईश्वर की शरण में जाय। इसी से उसे परम शान्ति मिलेगी^४। इतना कह चुकने के बाद फिर भी संतोष प्राप्त न कर ले हुए गीताकार ने आगे के श्लोक में फिर बृह्यवा है "सबसे अधिक बृह्य मेरे परम भजन को तू फिर सुन। तू मुझे बहुत प्यारा है। वत में तुझे तेरे हित की बात कहूँगा। मुझमें मन लगा। मेरा भक्त बन। मेरे लिए यत्न कर। मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही पावेगा। मेरी यह सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय हूँ।"^५ गीता-वर्धन का यह उपसंहार है ऐसा आसानी से कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर गीता ऐकान्तिक भक्ति का ग्रंथ मान पड़ेगा जिसमें कर्म और ज्ञान की उचित स्वीकृति है। वस्तुतः गीता का अधिकांश भाग भक्ति से ही संबंधित है और दूसरे अध्याय के उन्तासीसवें श्लोक से पचासवें अध्याय के पचासवें श्लोक तक और पूरे बारहवें अध्याय को रूप 'भक्ति उपनिषद्' ही कह सकते हैं। परन्तु गीता के इस भक्ति-वर्धन का बीड वर्धन से संबंध क्या है?

हम पहले देख चुके हैं कि भगवान् बृह की साधना में भक्ति को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। उन्होंने किसी ईश्वर (इस्वर) या ब्रह्मा के प्रति आत्मसमर्पण किया हो या ज्ञान-प्राप्ति में भगवत्कृपा बीसी किसी वस्तु ने

(१) १२।२ देखिये १२।२ जी

(२) देखिये ७।१७-१८

(३) तथा ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिविशिष्ट है। ७।१७

(४) १८।६२-६३

(५) १८।६४-६५ मिकादवे ९।६४ एवं १२।८ जी। इस प्रकार "यम्मवा नम भक्तभक्तो" की तीन बार आवृत्ति गीता में हुई है।

उनकी सहायता की हो ऐसी कोई बात उपास्य ने हमें नहीं बताई है। उनका मार्ग तो विरुद्ध ज्ञान का था जो अभ्यास पर आधारित था। हाँ भगवान् बुद्ध के समय में उनके शिष्यों ने जिस धर्म का अभ्यास किया उसमें बुद्ध के प्रति जो उनकी अपूर्व निष्ठा की भावना थी उसमें भक्ति के बीज हम अवश्य देखते हैं। भिरुन की शरणमें जाना भक्ति के कुछ उत्कृष्ट अवस्था स्थित हुए था। 'बुद्ध शरणं गच्छामि' में शरणार्थि तो किसी-न-किसी प्रकार है ही जो स्वयं बुद्ध की साधना में हमें नहीं मिलती। बुद्ध और साधारण मनुष्यों की साधना में इतना भेद तो होगा ही यह स्वाभाविक है। हम जानते हैं कि धर्मसंस्थापति सारिपुत्र की अपने मुख अरबजित् (अस्सजि) भिक्षु के प्रति जिनके मुख से प्रथम बार उन्होंने 'ये नग्मा हेतुप्पमभा' बाह्य सूचार्थक बुद्ध-मन्त्र को सुना था कितनी सहृदी भक्ता-भक्ति थी। प्रतिदिन संध्या समय जिस विद्या में सारिपुत्र जानते थे कि भिक्षु अरबजित् बिहुर रहे हैं उसी विद्या की ओर शिर कर सोते थे। भगवान् बुद्ध से बिदा लेते समय कोई उनका शिष्य जब तक कि भगवान् अदृश्य न हो जायें भगवान् की ओर पीठ करके न चलता था। धर्मसंस्थापति सारिपुत्र ने अपने छात्रों से जो अन्तिम शिक्षा की और अपने छात्रों के चरणों की अन्तिम वन्दना की उससे अधिक उदात्त मूलमन्त्र आज तक किसी वैष्णव ने नहीं की है। अतः छात्रों के प्रति शीर्ष के रूप में भक्ति के बीज आधारित बौद्ध साधना में विद्यमान थे ऐसा हमें मानना पड़ेगा। भक्ता के उत्पन्न की किस प्रकार स्वीकृति स्मरित्वारी बौद्ध धर्म में हुई है यह भी हम पहले देख चुके हैं। भक्ति का इतना ही विकास हमें बौद्ध धर्म के प्रारंभिक रूप में मिलता है। भक्ति का प्रकृत विकास बस्तुन बौद्ध धर्म के महायान रूप में हुआ। इसके संबंध में हम काफी पहले कह चुके हैं। यही पीठा के सम्बन्ध को लेकर यही कहा जा सकता है कि उसका रचना-नाम द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में सेवर प्रायः द्वितीय शताब्दी ईसवी तक माना जाता है। अतः महायान के भक्ति धर्म और पीठा के भक्ति-नग्न में काफी समीप सम्बन्ध है। दोनों में पारम्परिक आदान-प्रदान भी हुआ है जिसका विस्तृत विवेचन हम महायान-धर्म के विवरण के प्रसंग में कर चुके हैं। उनकी पुनर्प्राप्ति करना यहां आवश्यक न होगा।

पीठा के दान या बुद्ध के दान के साथ मिलान करने पर सबसे पहले जो बात ध्यान में आनी है वह है इन दोनों की वेद के प्रति प्रवृत्ति।

गीता एक समन्वयमयक दर्शन है। कर्म उपासना और ज्ञान वैदिक प्रज्ञान की के मार्ग तीनों ही उसमें विलिप्त रूप से मिले हुए हैं। अगर दोनों की बड़-दर्शन की ओर उसका कहीं संकेत मानूँ नहीं सकता प्रवृत्तियों की सुझना किन्तु यह निश्चित है कि जिन विचार की क्रान्तियों का यह कहीं कहीं निदर्शन करती है और जिनका समन्वयमयक

विधान ही उसका प्रधान लक्ष्य है। जहाँ के समान विचार की क्रान्तियों का सामना बुद्ध को भी करना पड़ा था जिनके समाधान-स्वरूप ही उन्होंने मध्यम प्रतिष्ठा का मार्ग ग्रहण किया था और पवित्र जीवन के अभ्यास में ही कर्म के सर्वोच्च स्वयम् के दर्शन किया थे। अतः इसका एक परिणाम यह बड़ा हुआ है कि मानवत्व के आदर्श स्वरूप का जो विधान गीता में उपलब्ध होता है वही बिल्कुल भूमि बुद्ध के उपदेशों में भी है। वहीं के अत्यन्त तत्पक्ष गीता के भक्त स्मितप्रज्ञ और मुगालीत के स्मरण है। किन्तु गीताकार जबकि तात्त्विक समस्याओं के भीतर से भी एक सर्वनिष्ठ तत्त्व को निकाल कर अद्वितीय भाषा में रखने में समर्थ हुए हैं बुद्ध ने उसके विषय में मौन ही रखा है। अतः गीताकार ने अतीत के प्रति कुछ अधिक समन्वय किया है अपेक्षाकृत बुद्ध के। बुद्ध-मन्त्रम्य के समान गीता-दर्शन क्रान्तिकारी नहीं है। यह प्रवृत्ति दोनों की ओर के प्रति भावना से घड़ी प्रकार स्पष्ट होती है। गीताकार दोनों के प्रमाण को उड़ा नहीं देते। 'सर्वेषां वेदेषु वेदो' ऐसी उनकी जगन्मूर्त घोषणा है। किन्तु 'वेदबाधरत' होता उन्हें पसन्द नहीं 'एतावन्ति निश्चितता' होता ठीक नहीं क्योंकि बाहिर वेद 'त्रैलोक्य' के विषय ही तो है और अनुभव सम्पन्न महात्मा को यह सब अपने महान् अनुभव में से ही तो निकाला है जो कुछ भी वेदों में है। फिर अकेले वैदिक ज्ञान से भी तो कुछ बनता नहीं उसके साथ संश्लेष भी तो चाहिए, इसीलिए 'महं वेदेन तपसा' कह कर भगवान् ने उसकी अपनी प्या भी दिखाई है। किन्तु मनुष्य उच्छ्वस्त न हो जब अनुभूति को छोड़ स्वेच्छाकारी न हो तब इसीलिए कुछ-न-कुछ उस पर संकट तो चाहिए ही। इसीलिए भगवान् ने कहा है 'हृद कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वं पूर्वतरं कृतम्'। इतना

- (१) देखिए गीता २।५५-७२; ४।११-२३; ५।१८-२८; १२।११-१६; इन्हें लिखाइये अर्जुन के चरन्ती के साथ जो हम अर्जुन परिच्छेद के उत्तरार्ध में देखेंगे हैं।

कह कर भी यह कहा 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते । कर्मो न हो सर्वं वेदाः यत्
 वमामानन्ति' यह भी तो बही है जिसे साधक को खोजना है तो फिर उनका
 साहाय्य सेना क्या बुरा है ? किन्तु इसकी सीमा होनी चाहिए । आत्मसाक्षा-
 त्कार तो अन्त में ज्ञान में ही होता ठहरा और उस समय जब की पृथिवी
 बाष्पी में घटने की प्रकृत गयी । यही हास वैदिक कर्मकाण्ड का भी
 है । यज्ञ यज्ञ तप आदि सभी करभीय ही है त्याग्य नहीं किन्तु उनको अन्तिम
 तो कौन मूढ़भी मानेगा ? ज्ञानान्ति को अन्त में सब कर्मों को भस्म करना
 ही ठहरा यज्ञों में 'अपयज्ञ' को सबसे ठहाना ही ठहरा । यदि 'वैविध्य
 होकर साम को पीकर, यज्ञों को करक स्वयं को प्राप्त कर भी लिया तो
 क्या इस प्रकार 'अयोध्यामनुप्रपन्ना' होकर भी क्या केवल 'कामकामा' होगा
 ही नहीं पड़गा ? क्या इस प्रकार 'गतागत' का बनकर ही नहीं रहगा ? क्या
 फिर 'पर्यवकोट' में ही प्रवेश करना नहीं होगा ? क्या 'कामकामा' होकर
 फिर 'नरकशुची' में ही प्रत्यावर्तन नहीं होगा ? तो क्या फिर इन्हें छोड़ देना
 हाया ? यही भगवान् का उत्तर है नहीं । साक्षात् और कामना को छोड़
 कर करने में इनके विपरीत है ज्ञान के और न परमार्थ की प्राप्ति में
 साहायक हो जाना है, बाधक नहीं । एताव्यदि तु कर्मानि सर्वं त्यक्त्वा धनंजय ।
 वर्तमान्यतीति मे पार्य निदिचनं यत्तुमुत्तमम् । यदा भगवान् तत्प्राप्त का
 भगवान् वृत्त में विनिर है । भगवान् ब्रह्म का तात्त्विक आदर्शवाद इतना स्पर्श
 व्यापक स्वयं परिपूर्ण और सर्वविद्य है कि वह कबल मनुष्य के 'प्रधान' पर
 ही प्रतिष्ठित है और उसकी प्रभा केवल मनुष्य के कर्म में ही प्रसफटित होती
 है किन्तु भगवान् गीताकार सभी को साक्ष्य लेकर जसने के पतापानीदियाई
 परत है भगवान् कार्यात्मिक ज्ञान में जो भी वह उचर है कि न मानव के समस्त
 व्यवहार को लेकर, जिसमें मित्र-निघ्न प्रकृतिवा मित्र-निघ्न आरत मित्र-निघ्न
 अधिकार और अवस्थाएँ स्वयं ही समा जाँच जसने है और परिणामतः बहुत
 ही ज्ञान का निराकरण न कर न उनकी कबल मोमा मात्र बाँध देने है
 ताकि 'कर्ममयी' ज्ञानिया में भेद-बुद्धि उत्पन्न न हो जाय । भगवान् तत्प्राप्त के
 द्वारा इस दृष्टि में भद्र वृद्धि अवश्य जनिनी की गई और इसीलिए न-निघ्नक तक
 उन्हें बनना पड़ा । यह माननीय ज्ञान में एक अत्यन्त विचारणीय विषय है कि
 यद्यपि गीताकार कुछ उक्तिपरों और धौलिक्य माग्य दर्शन ज्ञाने अनक
 मित्राणां में वेदा के विरुद्ध बन गए हैं किन्तु उनके विचार इनकी प्रतिक्रिया
 के नाशग्रहण नहीं किए दर्शितने कि ब्रह्म के । इसका रहस्य यही ज्ञान वदत

है कि उपर्युक्त अन्य दर्शनकारों ने ऊपर निर्दिष्ट प्रवृत्तियों को ही कारण
 वेदों के प्रमाण को स्वीकार कर लिया है। सम्मत् सम्बुद्ध ने केवल वेदों
 की अपर्याप्तता को ही दिखाया है। सम्मत्त मयमानकृष्ण अर्जुन को
 'उत्तरेण काश्यप' नहीं बना सकते थे और न सम्मत् सम्बुद्ध कर सकते थे
 उसके प्रति 'तस्मात्त्वमुचिष्ठ मयो लभस्व वित्त्वा सवृन् भूम्न राज्यं समृद्धं' का
 उपदेश। इस विषय में दोनों की विभिन्नता है किन्तु इस पर तो हम बाद
 में आँवेंगे। अब निष्कर्ष चाहे जो कुछ निकाला जाय तब यह है कि भगवान्
 बुद्ध अपने नैतिक आदर्शवाद के लिए किसी भी अन्य के स्वतः प्रमाण
 की अपेक्षा नहीं रखते निर्भीक होकर उन्होंने सत्य को ही प्रस्थापित किया
 है जैसा कि उन्होंने स्वयं अपरोक्षानुभूति के द्वारा देखा है फिर चाहे बहुवेद
 के अनुकूल हो या प्रतिकूल उसका प्रामाण्य या अप्रामाण्य वा उनके लिए कोई
 प्रश्न ही नहीं है जबकि नीताकार ने वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड को भी
 छावना का एक प्राथमिक किन्तु आवश्यक अंग माना है और अन्त में उही
 दृष्टिकोण को किया है, जिसका साम्यबुद्ध के दृष्टिकोण से किया जा सकता है।
 इन सब बातों का दर्शन हमने वैदिक दर्शन के प्रसंग में भी किया है
 और अब तृतीय प्रकरण में 'वास्तिक' और 'नास्तिक' दर्शनों के विषय
 में विवेचन करते समय भी। अब यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

तीता दर्शन की चार संसार में भगवान् कृष्ण स्वी ज्ञोत से बड़ी है और
 बौद्ध दर्शन की उपायत से। दोनों के व्यक्तिगत कितने उदात्त और हितु-हृदय
 को कितने आकृष्ट करने वाले हैं यह बताने की आवश्यकता
 बुद्ध और कृष्ण नहीं। किन्तु जबकि उपायत को हम कुछ समझ भी सकते हैं,
 भगवान् योगिराज कृष्ण हमारे इस प्रकार के सभी प्रयत्नों
 पर स्मित सा करते हैं। भगवान् कृष्ण के जीवन का ऐतिहासिक स्वल्प
 इतना स्पष्ट और विशद नहीं है जितना भगवान् उपायत का। कृष्ण पोषों
 और योगिकाओं के प्यारे सखा भी हैं एक कृच्छ्र राजनीतिज्ञ भी प्रसिद्ध
 योगी भी और नीता के ज्ञान को देनवाले महान् ज्ञानी और योगी भी
 विष्णु विष्णु और श्रीमन् जैसे ज्ञानी धामार्त् नायक का अवतार मानते
 थे। अब तक कृष्ण और बुद्ध के मानवीय व्यक्तित्व का सम्मान
 है दोनों आकाश के दो विपरीत कोरों पर हैं—एक के हाथ में बाँसुरी है
 तो दूसरे के हाथ में है निष्ठा पाश। एक आहुताग्नि यज्ञ को छाव में बिजे
 हुए हैं तो दूसरे के साव है प्रज्ञा पारमिता। एक मोर मुकुट पहने हुए है

तो दूसरे ने अपनी तलवार से अपने कंधों को काटकर समय भाग प्राप्त किया है। दोनों रामकुमार हैं किन्तु कितना अंतर? कृष्ण पीठाम्बर धारण करते हैं किन्तु तथामठ ने काशी के बुझाओं की छोड़ कर पांडुकूट (फटे-भुरावे बिजहों से निर्मित बीबर) को अपनासा है। कृद्वेष के मुख में कृष्ण अर्जुन के सारथी बनकर निकलते हैं तथामठ मुख के लिये प्रस्तुत शास्त्र और कोशियों के बीच बाँकर लड़ हो जाते हैं और उन्हें मुख बिरल करने में सफल होते हैं। कृष्ण कर्मयोग के साथ सौन्दर्य का भी उपभोग करते हैं मायमें के साथ भोग भी उन्हें प्राप्त है बीजल में मानन्द की स्वीकृति के साथ वह एक रामयोगी हैं, दूसरी ओर बुद्ध की जलान्ध और सौन्दर्य की स्वीकृति तो होमी कहाँ से उनकी विरति को तो आत्मा के उच्च सुख की भाँ प्राप्तता दृष्ट गयी है जिसमें उपनिषदों के ऋषियों ने आत्म के चरम दर्शन किये थे। अत्यर्थयोगी (बुद्ध) ने उसे भी त्यागकर उससे ऊपर अपना स्थान बनाया है जिसका दूसरा नाम 'अनात्मवाद' है। तथामठ ने उस सूक्ष्मतम आत्मा के लुप्त को भी छाड़ा था। उनका अत्य-व्यथ उन्हें तथोक्त सौन्दर्य में आश्रय के ही दर्शन कराता है और वे सब आसक्तियों से पर चले गये हैं। विश्व की व्यवस्था में दुःख के पम्पीर दहन कर उनकी प्रजा जीवन के सम्युक्त ज्यों की त्यों करती हुई दुःख-निरोध के प्रयत्न में पहुँचि जमी गई है जिसने जीवन में स्वाधनौय कछ नहीं बचा। भगवान् कृष्ण ने इनके विपरीत प्रत्यक्ष जीवन के क्रिया-कलापों में भाग लिया और उनक अनेक उपशोषा को ब्राह्मण बना। परन्तु दूसरी ओर वह उच्च कछ कम ब्रह्मचर्यनक नहीं है कि जबकि तथामठ का परिनिर्वाण उनक और विश्व के लिए एक गुनह और मरुतमय अवनर का रोष और मनुष्यों के लिये एक अतोत्तर का जिस परिस्तिथियों में भगवान् कृष्ण की मृत्यु हुई व उनके कर्मचार और सौन्दर्यवादी जीवन शानो पर बुढ़ी तरह व्यंग्य करने वाली है। भगवान् कृष्ण के जीवन के अन्त की परिस्थितियाँ अत्यन्त निरुत्साह और दुःखमय हैं जबकि अज्ञातिनिर्वाण में प्रवेश करते हुए तथामठ अपने जीवन-वार्म की संरचना रंग रहे व इनहत्याना अनुभव कर रहे व।

भगवान् कृष्ण का विनोद आश्चर्य आश्चर्यपूर्ण हृदय पर उनके 'मैलावार' होने के बाद ही नहीं है यद्यपि विश्व में वही उनकी स्वर्णि का एक मात्र कारण है बल्कि उनके स्वयंभवात् ज्ञान के माने ही हैं जिसका विषयः प्रचार सम्पन्न म इसार हम में रहा। मृत, बर्हीदान और जीवन के प्रचार

स्वल्प कृष्ण हमारे लिये इतने समीप हो गये हैं कि इतिहासकारों का प्रयत्नपूर्वक यह दिखाना कि बासकृष्ण की कथा आमीर खाति ने सिरिया से साकर भारत में प्रचलित की^१ 'हास्यास्पद सा लगता है। परन्तु बीछा के कृष्ण गोपाल कृष्ण नहीं हैं। गोपाल कृष्ण तो विसेपत हरिवंश पुराण और वासु पुराण के हैं और अंशतः भागवत पुराण के भी। मुर और अन्य प्रबन्धा का सक्त कवियों के कृष्ण भी प्रायः गोपाल कृष्ण हैं। गोप-गोपिकाओं के साथ कवि कीड़ाएँ करनेवाले और रास रचानेवाले कृष्ण के जीवन के साथ बीछा के दर्शन का कोई साम्य नहीं है फिर भले ही ऐसे कृष्ण की उद्भावना सम्पूर्ण ज्ञान से संतोष न पाकर स्वयं बेबान्तपारंगत भाववतकार ने ही की हो। बीछा के कृष्ण को तो हम केवल वासुदेव कृष्ण कहना ही अधिक अच्छा समझेंगे। महाभारत के कृष्ण भी यही हैं। ऐतिहासिक महापुरुष होते हुए भी उनका वैवीकरण किया गया है, जिसमें वैदिक और ब्राह्मण युग के देवता विष्णु और नारायण मिलकर एक हो गये हैं। विष्णु, नारायण और कृष्ण एक हैं। कृष्ण वासुदेव अपने मौलिक ऐतिहासिक रूप में बुद्ध के पूर्ववर्ती थे यह इससे प्रकट होता है कि षट् चातक में बुद्ध का अपने एक पूर्वजन्म में वासुदेव होता दिखाया गया है। जाम्बोव्य उपनिषद् २-१७-१ में कृष्ण देवकीपुत्र का उल्लेख है जो चोर अंगिरस से शिक्षा ग्रहण करते दिखाये गये हैं। कौपीतकि १०-९ में क्षत्रिय महारमा चोर अंगिरस का वर्णन है। यह अत्यन्त सम्भव है कि बीछा के कृष्ण वही व्यक्ति हैं जिन्हें कौपीतकि १०-९ में कृष्ण आंगिरस कह कर पुकारा गया है। 'आंगिरस' नाम उन्होंने अपने गुरु अंगिरस के शिष्य होने के कारण प्राप्त किया था। अतः यह प्रायः निश्चित ही सम्भूत बाह्य है कि हमारे कृष्ण जाम्बोव्य उपनिषद् और कौपीतकि ब्राह्मण के 'कृष्ण देवकीपुत्र' या 'कृष्ण आंगिरस' ही हैं। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण का समय छठी या सातवीं सताब्दी ईसवी पूर्व होगा बाह्ये अपनी बुद्ध से पहले। वैसे हम पहले देव बुद्ध हैं पार्थिव के समय (चतुर्थ सताब्दी ईसवी पूर्व) तक तो वासुदेव की पूजा चल पड़ी थी और उनका विष्णु के साथ पूर्ण वैवीकरण हो चुका था।

- (१) बीछा का मार भी भाग्यकारक ने दिखाने का प्रयत्न किया है देखिये उनका वैष्णवदर्शन, टीबिन्स एण्ड भाइवर रिलिजस सिस्टम्स पुष्क १८ ३९
- (२) देखिये पीछे बुद्ध ५८९

जिस प्रकार प्रारंभिक बौद्ध धर्म में बुद्ध को धर्म और सत्य से एकाकार दिखाया गया था और बाद में इसी आधार पर महायान बौद्ध धर्म में उनका पूरा ईश्वरीकरण कर दिया गया था वही बात कृष्ण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गीता के कृष्ण ब्रह्म के साथ एकाकार दिखाये गये हैं^(१)। वे सब प्राणियों के अन्दर रहने वाले आत्मा हैं^(२)। वे ब्रह्म को धारण करने वाले आत्म स्वरूप हैं^(३)। ऋषियों और देवताओं के आदि हैं^(४)। भगवान् कृष्ण विरवरूपमय हैं यह पूरे इन्हें काव्यमय अभ्यास का सार है। भगवान् कृष्ण बल्लुठ एव आत्मज्ञानी महारत्ना थे जो सत्य के साथ एकाकार हो गये थे जिस प्रकार भगवान् तपोमत थे। चूँकि कृष्ण के जीवन के सावक स्वरूप की पूरी समझी हमें प्राप्त नहीं है इसलिये उनके उपदेशों की पृष्ठभूमि के रूप में हम उनके जीवन से आस्थापन प्राप्त नहीं कर सकते बस कि भगवान् तथागत के सम्बन्ध में हम बहुत रूप से कहते हैं। तपोमत के उपदेशों और उनके जीवन में वैसे समन्वय है, वैसे कृष्ण के जीवन में भी वह अवश्य होना चाहिये परन्तु वह हमें नहीं मिलता। परन्तु ज्ञानी दार्शनिक रूप के नहीं भगवान् कृष्ण तो उपास्य रूप के रूप में स्वयं साक्षात् हरि के रूप में भारतीय हृदय में पीठे हुए हैं। विश्व-मानव का हृदय जिसके छिपे उपास्य बर्णों के दिन बसे गये हैं निरक्षय ही बुद्ध से अधिक आवासन प्राप्त करता है किन्तु हिन्दु हृदय में जिस बाड़े हृण से निमगी लाल देवकीपुत्र गढ़ गये हैं उसे कोई निहाल नहीं सकता। हम यहाँ दोनों के विचार पक्ष से ही विवेक प्रयोजन है।

कर्म पुनर्जन्म और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त गीताकार को भी माय्य हैं और आधार सत्य की व्याख्या उन्होंने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के रूप में की है ऐसा हम कह सकते हैं। कर्म पुनर्जन्म मोक्ष और कर्म के निवृत्ति के विषय में गीताकार का आधार सत्य सम्बन्धी दानों मत है कि कर्म करने तो चाहिए, क्योंकि क बिचारों का सम्बन्ध स्वभावतः ही कोई धन मात्र भी बिना नाम

(१) गीता १।१९

(२) गीता १।११

(३) गीता १५/१७

(४) गीता १।१२

किए नहीं रह सकता। प्रकृति ही नियम प्रति क्रियाशील है और उसका नियामक 'पुरुष' भी। यदि हमें न बर्तन बनायें कर्मस्थ तन्निष्ठः। यम बर्तनमनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वथा' और फिर तो निश्चय ही 'उत्तीरेषु रिमे लोका म कुर्या कर्म चेदहम्'। अतः न में पार्थस्ति कर्तव्यं विषु लोकेषु किंचन। नामवाप्त मवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि यव स्वयं प्रकृति के नियामक तत्त्व (जिसके साथ एकारमता का अनुसरण करके ही भगवान् अहं इस पद व्यवहार करते हैं जो भारतीय दार्शनिक परम्परा में अत्यन्त प्रचलित बात है) का ही यह हाथ तो फिर मनुष्यों का तो कहना ही क्या जिसके जीवन-व्यापार की समग्र स्थिति ही कर्म पर है। अतः गीता का यह स्पष्ट उपदेश है कि संतुष्ट कार्य कर्म समाचार, संतुष्ट करने योग्य काम को करो (बिना कार्य किए बुद्धों के उपदेश को मन में जाना भी सुकर नहीं है, सारिपुत्र बचन) किन्तु 'कार्य' कर्म क्या है—इस पर ही सब विचार उठ खड़ा होता है। इसीलिए तो गीताकार ने भी कहा है 'यथा कर्म है अथवा यथा अकर्म है' इसके विषय में बुद्धिमान जन भी विमोहित हैं किन्तु उनका दावा है कि मैं तुम्हें ऐसा कर्म बताऊंगा जिसको जानकर तु अमुम से वचेबा 'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽसृगम्'। 'यह कृच्छ्र है, यह अकृच्छ्र है यह भगवान् उचामत ने भी तो बनेक प्रकार से प्रकट किया है। तो फिर गीताकार का मत क्या है? गीताकार कहते हैं यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त यहाँ और सब कर्म बन्धन स्वल्प हैं इसलिए तु कौन्तेय। इसी के लिए मुक्तसंग होकर कर 'यज्ञार्थ कर्मयोग्य लोकोर्म कर्म बन्धन। तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचार'। जो उचामत के मनी विज्ञान-स्थित आचार तत्त्व का रहस्य जानते हैं कि लोभमूळक द्वेषमूळक और मोहमूळक वित्तों का और इनसे विपरीत कृच्छ्र-वित्तों का रहस्य क्या है वे गीताकार का समान भाव देखे बिना नहीं रह सकते? फिर जब भगवान् उचामत ने विष्णुओं को आमान्वित कर कहा था (परम विषयों के चारित्र्य बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्प्याय अत्याय हिताय सुखाय देव मनुस्त्रान्) तो यह बहुजनों के हित सुख और कल्याण के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग कर भूमना लोक पर अनुकम्पा कर उसके सर्व हित और सुख की सोचना क्या (यज्ञार्थ कर्म) नहीं है, बरि औपनिषद और गीता के बर्तनों को ही खेता है। अनासक्तिपूर्वक यज्ञार्थ कार्य कर्म करने का जो उपदेश गीता में निहित है, वह भगवान् बुद्ध के 'कर्म' की व्याख्या के

रिक्त नहीं है। फिर भगवान् बुद्ध की कर्म की चेतनामयी व्याख्या भी ठीक ही उद्देश्य के लिए अर्थात् नैतिक उपयोग के लिए ही नीताकार की अनुपस्थिति ने भी न देखी हो ऐसी भी बात नहीं है। 'कर्मोन्निपाणि संयम्य य वास्तुं वनता स्मरन्। इन्द्रियाणि विमुञ्जता निष्पाचारसं' उच्यते अर्थात् जो मुञ्जता कर्मक्रिया का (बाहर से) संयम कर इन्द्रियों के बंधों को मन से स्मरण करता रहता है, वह निष्पाचार करने वाला है। ऐसी उद्बोधना नीताकार ने संयत जीवन की विचारों की इच्छा करने वाले सामकों के प्रति की है। इसी प्रकार के कुछ भगवान् उवाच ने धर्म—विनय और धर्म-धर्म में इन्द्रिय संयम किस प्रकार होता है, इस विषय पर बोधते हुए कहे थे। अतः वह भगवान् उच्यते हैं कि मन से इन्द्रियों का नियमन करके ही मर्त्य होकर कर्मबोध का कारण करने में सिद्धि का मार्ग है, तो यह मत धार्मिकता के विरुद्ध अनुकूल ही है। यहाँ एक बात और विषय रूप से उल्लेख है। भगवान् उच्यते ने कर्म का निरूपण करते हुए अर्थ रहने का अनासक्त रहने का बार-बार उपदेश दिया है। चाहे कहीं भी नीता में कर्म का विधान है या उसके विषय में भगवान् उच्यते को कुछ कहना है, तो इस 'अनासक्त' भाव को दिखाए बिना वे शायद कभी नहीं रहते। 'उत्साहसक्त' 'लज्ज' 'मदसक्तो ह्याचरन् कर्म' 'कुत्रादिहास्तपाज्जस्र' 'इति मत्वा न सुमते' 'न वि कर्मणि संयमस्य' 'निराशीतिमेवो भूत्वा' 'योगमम्यस्त कर्माणि' 'नैव विविक्तु करोमीति' 'संग त्यक्त्वा करोति य' 'मुक्तस्य समाचार' 'मुक्त-कर्मस्य त्यक्त्वा' 'ब्रह्मचार्याय कर्माणि श्व त्यक्त्वा' 'योगिन' कर्म कुर्वन्ति संय त्यक्त्वा' 'यत्ते वक्तो निरुध्यते' 'आहंस्वर्गोत्पन्नतायां तप' 'स्मते बुधन' 'न कर्मस्वमुपज्जत' 'निराशीरपरिग्रह' 'ममस्य बुद्धिः सर्वत्र' 'मुक्तमगोऽहंकारी' 'निपत' 'कर्महित' 'संग त्यक्त्वा कर्म वैश' 'कुले नानुपज्जते' 'समत्यक्त्वा पतति च' आदि अनेक आधिया नीता में बरी हुई पड़ी है। यदि ठीक बुद्ध-यत्तव्य के अनुसार हम 'अनात्मवाद' का विवरण करने में सफल हुए हैं तो वह अवश्य ही स्पष्ट हो जायगा कि नीता जिस अनात्मविन का उपदेश करती है और उसके द्वारा कर्म के अतिरिक्त जो के अर्थन से हमका बचाती है उसी का प्रसारानुसार वे उपदेश उवाच ने इस निरुक्ति में दिया था कि वे रूप बहना संज्ञा नस्वार और विज्ञान धारमस्वरूप नहीं है और उनके अन्तर्गत में आकर हूँ 'आत्म' बुद्धि उनमें अवित नहीं बरती चाहिए। यही बात नीताकार ने भी अनेक निरुक्ति में दिया है। नीता कहती है कि देखते सुनते उठते

विच्छेद नहीं है। फिर भगवान् बुद्ध की कर्म की चेतनामयी व्याख्या भी समान ही उद्देश्य के लिए भर्षाति नैतिक उपमोह के लिए ही गीठाकार की अन्तर्दृष्टि में भी न देखी हो ऐसी भी बात नहीं है। 'कर्मविर्याणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियाणि विमुक्तास्मा मिथ्याचारस्य' उच्यते' भर्षाति को पुरातन कर्मविर्यों का (बाह्य से) संयम कर इन्द्रियों के बर्षों को मन से स्मरण करता रहता है, वह (मिथ्याचार करने वाला है)। ऐसी उद्घोषणा गीठाकार ने संयत जीवन को बिताने की इच्छा करने वालों साधकों के प्रति की है। इसी प्रकार के अन्य भगवान् तथागत न आर्य—विनय और आर्य-मम में इन्द्रिय संयम किस प्रकार होता है, इस विषय पर बोझें हुए कहे थे। भगवान् भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मन से इन्द्रियों का नियमन करके ही असंग होकर कर्मयोग का आरम्भ करने में सिद्धि का आशंका है, तो यह भक्त वाक्यमणि के विष्णुसूक्त अनुकूल ही है। यहाँ एक बात और विशेष रूप से स्पष्ट है। भगवान् बुद्ध ने कर्म का निरूपण करते हुए 'वर्षा' करने का अनासक्त करने का बार-बार उपदेश दिया है। आह! कहीं भी गीठा में कर्म का विधान है या उसके विषय में भगवान् बुद्ध को कुछ कहना है, तो वह 'अनासक्त' भाव को दिखाए बिना न प्रामाण्य करी नहीं रहते। 'तस्मादसक्त-सततं' 'असक्तो ह्यनासक्तं कर्म' 'कृपाहिंसास्तथाप्रयत्न' 'इति यत्ना न संयमते' 'असि कर्माणि संन्यम्य' 'निराशीर्निर्ममो पूरवा' 'योगसंन्यस्त कर्मानं' 'तैव किंकिट् करोमीति' 'यं त्यक्त्वा करोति य' मुक्तसंग समाचार' 'मुक्तकर्मफलं त्यक्त्वा' 'ब्रह्मविद्यायां कर्माणि संन्य त्यक्त्वा' 'योगिन' कर्म कूर्वाति संय त्यक्त्वा' 'कलं अस्ती निबध्यते' 'आहस्यसंन्यस्तवात्मा' तपु रमते बुध्न 'न कर्मस्वनुपगच्छते' 'निपटीरस्यतिबहु' 'असक्तबुद्धिः सदैव' 'मुक्तसंन्यस्तवाही' 'निपतं बंधिर्न' 'संय त्यक्त्वा फलं वैव' 'मुक्ते नानुपगच्छते' 'संगत्यक्त्वा कर्माणि च' आदि अनेक वाक्यों गीठा में बरी हुई पड़ी है। यदि ठीक बुद्ध-अन्तर्दृष्टि के अनुसार हम 'अनात्मवाद' का विवेचन करने में समर्थ हुए हैं तो वह वाक्य ही स्पष्ट हो जायगा कि गीठा जिस अनासक्ति का उपदेश देती है और उसके द्वारा कर्म के अश्रित पक्षों के बन्धन से हमको बचानी है उसी का प्रकारानुसार के उपदेश तथागत ने इस निश्चिन्त न दिया था कि ये रूप बदला ब्रह्मा भोक्ता और विज्ञान आत्मस्वरूप नहीं है और उसके बन्धन में बाँधकर हमें 'आत्म' बुद्धि जगमें अश्रित नहीं करनी चाहिए। यही भाव गीठाकार ने भी अनेक निश्चिन्त से दिया है। गीठा कहती है कि देखते सुनते उठते

बीडों जीवन का प्रत्येक काम करते ऐसी भावना करनी चाहिए कि 'मै कश्चित् करोमि'। यही 'युक्त तत्त्वविद्' का मार्ग है। तपायत का कार्य भी इससे क्या भिन्नरिक्त है ? फिर भीता कहती है कि जो मनुष्य जानता है कि 'मुम-मुमों में भरत रहे है' वह कामरित नहीं करता किन्तु जो उनमें भासत होता है वही तो 'मै कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। 'वर्तमिति मम्यत'। 'जगता' का सिद्धान्त भी क्या ठीक यही नहीं है करने मूल एवं विमुद्यतम रूप में ? कर्म में भासति का निरोध इसीलिए किया जाता है कि वह बुद्धयम है। बुद्ध ने भी अनारमवार का उदरेण इसीलिए दिया कि मनुष्य बाह्य पदार्थों और आन्तरिक वेदनाओं से निर्वह प्राप्त कर बुद्ध के अम को करने वाला हो। महात्मा गांधीजी ने ठीक ही 'अनासक्ति' को भीता की आत्मा माना है और हम कह सकते हैं कि यही बात तपायत न प्रकाशान्तर से अनारमवार क द्वारा सिद्धाई है। इस विषय पर अधिक विस्तार करना बड़ी ठीक न होया क्योंकि अनुम प्रकरण में अनारमवार के प्रबंध में ही इस पर हम बहुत कुछ कह आए हैं। यहाँ इतना ही कहना उचित है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनारमवार को, भीता के अनासक्ति सम्बन्धी विचारों को, साध्य-योग दर्शन के स्वाधि-सम्बन्धी सिद्धान्त को (एकमेव दर्शनम् स्वाधिरेव दर्शनम्-यच्चधिव वाक्य व्यासभाष्य में उद्धृत) वित्तक प्रख्याक वचन 'एवं तत्त्वाम्यातान् नास्मि न मे नाहमित्यपरिपोषम्' इस साध्यकारिका के कारिकाई में विद्यमान है एवं अन्त में मयवान् बोधपाशाचार्य ने वित्तको 'अस्पर्धयोग' कहा है उसको एक समन्वयात्मक रूप में रख कर स्वाध्याय करने से वास्तविक तत्व की एकता के विषय में कुछ समझे नहीं रहे जाता। किन्तु कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर भीता और बुद्ध के विचार में एक बड़ी विभिन्नता भी न हो ऐसी भी बात नहीं है। यह ठीक है कि भीताकार कहते हैं कि कर्म से ही जनकादि ने भी छिड़ि पाई, यह भी ठीक है कि जीवन बाधा के लिए वे इसे आवश्यक मानते हैं, यह भी ठीक है कि उनके अनुसार मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है और फिर यह भी ठीक है कि वे अन्त में 'मयेच्छति तथा कश्' ऐसा कह कर मनुष्य को स्वतंत्रता देने के पक्षपाती भी हैं किन्तु ऐसा फिर भी कहा जायगा कि उन्होंने मनुष्य की उन्मी स्वतंत्रता नहीं की है वित्तकी कि साम्यक सम्बुद्ध ने।

मयबान् कृष्ण ने किसी कार्य की सिद्धि के लिए पांच हेतु बताए हैं यथा अधिष्ठान कर्ता करण चेष्टा और ईश। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पुरुषत्रयम्। विविधादयं यत्र चेष्टादेव बीजान् पञ्चमम्' (१८-१४)। यह 'ईश' का हेतु बुद्ध के विचार में बिल्कुल विद्यमान नहीं है ऐसा हमें जानना चाहिए। तथागत ने 'कर्म' के हाथों सारी शक्ति सौंप दी है। इसी एक तथ्य के कारण गीताकार और सांख्यमुनि के विचारों में बड़ा विरोध पड़ जाता है। गीताकार को कर्म का समन्वय न केवल ज्ञान से ही करना था वैसे कि बुद्ध विचार में भी विद्यमान है किन्तु भक्ति दर्शन के साथ भी उसकी संगति बिजाना भी जो 'कर्म' का सब सत्ता सौंप कर सम्मिश्रण नहीं हो सकती थी। प्रभु रूपी भी तो किसी कार्य की सिद्धि में हेतु होनी ही चाहिए क्योंकि यदि मनुष्य अपने बीर्य या प्रभा या पुरुषार्थ से ही सब कुछ सम्पादनीय सम्पादित कर लेगा तो फिर किसी उपास्य दैव के पास ही उसे ज्ञान की क्या आवश्यकता रहेगी? देखीं 'गुणमयी' 'बुरतमया' माया को यदि कोई मनुष्य अपने प्रयत्न से ही तर पार तो किसी उपरष्टा को अपनी स्वयं उपास्यदेव को ही उसे यह उपदेश या आत्मासन देने की क्या आवश्यकता कि 'मामेव मे प्रपन्नो मायामेतां तरन्ति ते ? यदि इस अनिरूप्य और 'असूत' लोक में जाकर कोई अपने सीधे सद्यम से ही नित्यता और सुख प्राप्त कर सके तो उसे 'भक्तस्व माम्' का ही उपदेश देने की जरूरत क्या? बुद्ध के 'कर्म' में यदि बीर्य घट प्रतिघट है तो हमें कहना पड़ना कि भीता में वह ? क्या कम है और वह उसकी भक्ति के प्रति न केवल प्रवणता के कारण ही बल्कि उसके साथ वास्तविक सम्मयता की अनुभूति के साथ भी वैसे कि हम जागे देखते। वैसे कर्म-स्वातंत्र्य भीता में भी प्रस्थापित है इसमें तथ्य नहीं किन्तु घटाघट में तो तुम 'जन्मपटिसरव' हो 'कम्मादायाव' हो ईसा तिसौप तथागत ने ही किया है और यही उनकी विशेषता है^१। 'कर्म' के प्रतिष्ठान प्रतिघट भक्ति न दिखाकर यदि गीता उम दृष्टि-कोण के कुछ कम रह जाती है तो उसे ज्ञान और भक्ति के साथ मिलाकर एक परिपूर्ण दर्शन प्रस्तुत करने में भीवही समर्थ हुई है जिसमें कि सत्यानुयायि

- (१) 'मानव की स्वाधीनता का इससे बड़ा बाधा कभी किसी ने नहीं किया' सर एडविन आरनोल्ड; जे. आर. जयवर्धन के लेख 'बौद्ध धर्म और राजनीति' विश्व-भाषी (वर्ग १९४२, बौद्ध संस्कृति अंक) पृष्ठ ५२८ में उद्धृत।

बैठते जीवन का प्रत्येक काम करते ऐसी भावना करनी चाहिए कि 'नैव किञ्चिद् करोमि'। यही 'युक्त तत्त्वावगम' का मार्ग है। तत्त्वामय का मार्ग भी इसम क्या अतिरिक्त है ? फिर भीता कहूनी है कि जो मनुष्य जानता है कि 'युव-युवों में बरत रहे हों' वह जानपित नहीं करता किन्तु जो उनमें भागल होता है वही तो 'मैं कहीं हूँ' ऐसा मानता है। 'कठिणमिति मन्यते'। 'जनता' का सिद्धान्त भी क्या ठीक यही नहीं है अपने मूल एवं विगुह्यतम रूप में ? कर्म में भागलित का निराप इसीलिए किया जाता है कि वह दुःखपय है। बुद्ध ने भी जनतामचार का उल्लेख इसीलिए दिया कि मनुष्य बाहर पराधीन और आन्तरिक बेबनामी से निर्वेद प्राप्त कर दुःख के अय को करने बन्ना हो। महात्मा गान्धीजी ने ठीक ही 'जनतामयि' को भीता की आत्मा माना है और इन कह सकते हैं कि यही बात तत्त्वामय में प्रकाशान्तर से जनतामचार के द्वारा सिद्धाई है। इस विषय पर अधिक विस्तार करना यहाँ ठीक न हाया क्योंकि अनुरूप प्रकरण में जनतामचार के प्रसंग में ही इस पर इन बहुत कह कह आए हैं। यहाँ इतना ही कहना अवशिष्ट है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट जनतामचार को, भीता के जनतामयि सम्बन्धी विचारों को सांख्य-योग दर्शन के स्वाधि-सम्बन्धी सिद्धान्त को (एकमेव दर्शनम् स्वाधिरेव दर्शनम्-नृ-नृपिब वाक्य व्यासभाष्य में उद्धृत) जिसका प्रख्यापक बचन 'एवं तत्त्वाम्यासात् नास्मि न मे नाहमित्यपरिधेयम्' इस सांख्यकारिका के कारिकाई में विद्यमान है, एवं अन्त में मयवान् धीरपाशाचार्य ने जिसको 'अस्पर्धोप' कहा है उसको एक समन्वयात्मक सूत्र धरे रख कर स्वाध्याय करने से नास्तिकता तत्व की एकता के विषय में कुछ समझ नहीं रहे जाता। किन्तु कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर भीता और बुद्ध के विचार में एक बड़ी विभिन्नता भी न हो, ऐसी भी बात नहीं है। यह ठीक है कि भीताकार कहते हैं कि कर्म ने ही जनतामयि ने भी सिद्धि पाई, यह भी ठीक है कि जीवन वाता के लिए वे इसे आवश्यक मानते हैं यह भी ठीक है कि उनके अनुसार मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है और फिर वह भी ठीक है कि वे अन्त में 'अवेच्छति तथा क्व' ऐसा कह कर मनुष्य को स्वतंत्रता देने के पक्षपाती भी हैं किन्तु ऐसा फिर भी कहा जायगा कि उन्होंने मनुष्य को उसी स्वतंत्रता नहीं दी है जितनी कि शम्भक सम्मूह ने।

मगवान् कृप्य ने किसी कार्य की सिद्धि के लिए पांच हेतु बताए हैं यथा अभिप्यन कर्ता करण चेष्टा और रंब। 'अभिप्यनं तथा कर्ता करणं च पूर्वनिश्चयम्। विविधाश्च पथक चेष्टाश्च रंबाश्च पथमम् (१८-१४)। यह 'रंब' का हेतु बुद्ध के विचार में बिल्कुल विद्यमान नहीं है ऐसा हमें जानना चाहिए। उपायव ने 'कर्म' के हाथों छापी सक्ति सौंप दी है। इसी एक तथ्य के कारण भीताकार और शास्त्रमुक्ति के विचारों में बड़ा विमेल पड़ जाता है। भीताकार को कर्म का समन्वय न केवल ज्ञान से ही करना था वैसे कि बुद्ध विचार में भी विद्यमान है किन्तु भक्ति दर्शन के साथ भी उसकी संगति दिखानी थी जो 'कर्म' को सब सत्ता सौंप कर सम्भव नहीं हो सकती थी। प्रभु कृपा भी तो किसी कार्य की सिद्धि में हेतु होगी ही चाहिए क्योंकि यदि मनुष्य अपने बीर्य या प्रभा या पुरुषार्थ से ही सब कुछ सम्पादनीय सम्पादित कर लेता तो फिर किसी उपास्य दब के पाठ ही उसे जाने की क्या आवश्यकता रहनी? 'बीबी' 'युधमयी' 'पुरतप्या' माया को यदि कोई मनुष्य अपने प्रयत्न से ही तर जाय तो किसी उपदेष्टा का व्यवसाय स्वयं उपास्यदब को ही उसे यह उपदेश या आश्वासन देने की क्या आवश्यकता कि 'भामेव ये प्रपद्यन्ते शायमेतां तरन्ति ते' ? यदि इस 'भक्तित्व' और 'ममुख' लोक में आकर कोई अपने तीव्र उद्यम से ही नित्यता और सुख प्राप्त कर सके तो उसे 'मन्त्रस्व माम्' का ही उपदेश देने की जरूरत क्या? बुद्ध के 'कर्म' में यदि बीर्य घट प्रतिघट है तो हमें कहना पड़ेगा कि गीता में यह ? अथ कम है और यह उसकी भक्ति के प्रति न केवल प्रवचन के कारण ही बल्कि उसके साथ वास्तविक सम्मयता की अनुभूति के साथ भी वैसे कि हम आज देखेंगे। वैसे कर्म-स्वातंत्र्य भीता में भी प्रस्थापित है हममें सम्बद्ध नहीं किन्तु पताच म तो तुम 'बम्मपटिनस्स' हो 'बम्मारायाद' हो रैना निर्बोध उपागत ने ही किया है और यही उनकी विशेषता है^१। 'रमं' के प्रतिघट प्रतिघट भक्ति न दिखाकर यदि भीता उन दृष्टि-कोष के कण कम रह जाती है तो उसे ज्ञान और भक्ति के साथ मिलाकर एक परिपूर्ण दर्शन प्रस्तुत करने में भीवही तबर्ब हुई है जिनमें कि सत्पानुप्राप्ति

- (१) 'ज्ञानव कीर्त्तवासीनता वा इतते बड़ा बाधा कभी पड़ती ने नहीं किया' सर एडविन आरलोराड ने बार अवधारण के लिए 'बौद्ध कर्म और राजनीति' विवर-वाची (वर्ग १९४२, बौद्ध संस्कृति अंक) पृष्ठ ५२८ में उद्धृत।

प्रसारित किया है। हम यह समझते हैं कि मोक्ष के दोनों स्वरूपों में कोई तात्त्विक विभेद नहीं है और भोविभेद है वह केवल व्यक्तित्व के गलत विचार से ही कल्पित है वैसे कि हम ब्रह्म के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण के विवेचन में भी बिना माए है (अतुर्भ प्रकरण)। फिर ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिस निर्मूलक निर्विकल्पक अभिस्त्य और अनिस्त्य अवस्था के रूप में पीठाकार ने मुक्ति की व्याख्या की है वह बुद्ध के निर्वाण सम्मन्धी मत के अधिक समीप है और फिर दोनों का मुख्य उद्देश्य तो मोक्ष के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं किन्तु 'अभित्य और सुख' लोक में से होकर मनुष्य को शान्ति के एक मार्ग को दिखाना बताना मात्र है और इस वर्ग में दोनों समान है। गीता का कर्मवाद उसके ज्ञान और भक्ति के बीच में साधी है। चाहे ज्ञानी अथवा ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करे, मामक्य को छोड़कर आत्मा के महासमुद्र में नमक की डली होकर पुत्र बाय और चाहे मल्ल पुण्योत्तम से नित्यबुद्ध हो बाय उसके 'बाम' में अक्षिर काण तक निवास करे, किन्तु जब तक उसे जीना है उसे लोक-हिताय ही जीना है पाप-पुण्य से अस्पर्ध होकर ही जीना है यतध्वज जवाहीन और निरुधी होकर ही रहना है बहुध-से क्या लोक-हिताय ही कर्म सम्पादन करते हुए यही ब्रह्मनिर्वाण को देखना है। केवल की निम्न राय में यह ध्वनि बीठा और बुद्ध दोनों के ही दर्शन में पर्याप्त रूप से विद्यमान है। गीताकार के आचारारण्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक है। उसमें न केवल बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट साधना ही किन्तु समग्र विश्व की साधनाएँ बड़ी अच्छी तरह समा सकती है ऐसा निश्चय ही तुल्यनात्मक वर्ग और दर्शन का विचारों कह सकता है। पीठाकार ने जीवन में साधना के मुख्यतः तीन मार्ग बताए हैं कर्म उपासना और ज्ञान। इनका निरूपण तो हम यहाँ संक्षेपतः भी नहीं कर सकते किन्तु केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि यह विभाजन विभिन्नता का चोटक नहीं है किन्तु केवल इस बात का चोटक है कि सत्य की अवस्था मनुष्य की किसी एक वृत्ति का विकास करने से परिपूर्ण नहीं हो सकती बल्कि उसके लिए समग्र व्यक्तित्व का उपयोग आवश्यक है। जब उपर्युक्त तीनों साधन एक दूसरे में संनिविष्ट है और उनको अलग-अलग देखना पीठा के दर्शन पर बाधात करना है। किन्हीं न ध्यान से आत्मा को देखना है किन्हीं ने सांख्य-योग (ज्ञान) से और किन्हीं ने कर्मायोग से। ये सभी निष्ठाएँ एक ही फल को पकने वाली हैं।

मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार एक या दूसरे तत्व की प्रधानता कर सकते हैं किन्तु वे अपनी समग्र वृत्तियों के संस्कार से ही परम ज्ञान में प्रवेश कर सकते हैं। किसी एक हो वृत्तियों के परिष्कार या भावना से नहीं। श्रीता के व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार गीता में उपर्युक्त तीन साधना मार्गों में से एक या दूसरे की प्रधानता दिखाई है। स्वर्ग की साधना की समन्वयारमक भाषा के आधार पर इनमें से किसी की भी प्रधानता बड़ी आसानी से सिद्ध की जा सकती है और हम कह सकते हैं कि यह श्रीताकार को भी दिखाना इष्ट था। ज्ञान की ओटना दिखाते हुए यदि कभी भगवान् कहते हैं, 'नहि ज्ञानेन सद्गुणं पवित्रमिह विद्यते' 'आनामि सर्वकर्मणि मत्प्रसादात् कुरुते' 'ज्ञानी त्वारम्भ मे मतम्' तो कभी 'ज्ञानि नामपि सर्वेषां मद्भवतान्तरारम्भा' भजते सो मां य मे युक्ततमो मत' ऐसा भी कहते हैं इत्यादि ही नहीं 'सर्वं बुद्ध्यतममूय' शृङ्ग में परम ब्रह्म ऐसा कह कर 'मय्यता भव मद्भक्तो मयाही मां नमस्कृत्य' ऐसा ही उपदेश करते हैं और 'तमेव धरन् बभूव सर्वं मायेन जारत' इस प्रकार भगवन् ज्ञान का उपदेश कर कि इसे ही 'गुह्यात् गुह्यतरं' ज्ञान बताते हैं 'इति श्रीभगवत्प्राज्ञात् गुह्यात् गुह्यतरमया'। इस सबके होते हुए कर्म की महिमा उन्होंने सुरक्षित नहीं रखी हो ऐसा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता। कर्मफल त्याग को कही तो उन्होंने इन सब श्रवितों से ऊपर ही रख दिया है, वेदो हि ज्ञानब्रह्मासाद् ज्ञानाद्यपार्जविधिष्यते। ध्यानात् कर्मफलस्यापत्त्या बाष्पान्तिरन्तरम्। इस प्रकार अपूर्व समग्रव्य भगवान् ने साधनाओं का गीता शास्त्र में किया है। इस प्रकार गीता के आधारतत्त्व का निरूपण कर देने के बाद निरूपण ही किस तत्व की गीता में प्रधानता है यह जिज्ञासा ही अनवरण हो जाती है। चूंकि इस विषय में दुनिया के बड़े-मे-बड़े विद्वानों ने कुछ कहा है अतः इस पर कुछ ही पांडा और विचार अपेक्षित है। व्यक्तियों और युगों की भावनाओं के अनुसार इस महाग्रन्थ के मन्त्रम्य अनेक प्रकार से व्याख्यात किये जा सकते हैं ऐसा अब तक का गीता विषयक अध्ययन का इतिहास दिखाता है। बहुत से पवित्र विद्वान् 'इत्यं बामुदय' की उपासना के रूप में ही गीता के उपरान्तों को इतना चाहते हैं और फिर कुछ 'एकान्तिक' वैष्णवों की इति के रूप में ही गीता दर्शन को स्वरूप करना चाहते हैं (यथा प्रधानतया वासुदेव) किन्तु इनके हर्षे यहाँ प्रयोजन नहीं। महात्मा गांधी जी जो स्वयं एक बड़े विचारक

के लिए न केवल मनुष्य की किसी एक विशेष वृत्ति का ही उपयोग किया जाता है (वैसा कि अकेले कर्म या ज्ञान में होता है) किन्तु जिसमें मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व के वेग को ही उसके प्रति उपयोग होता है जबकि तत्काल ने 'कर्म' को ही प्रधान तत्व मानकर एक प्रकार से (कर्म से कर्म कष्ट के समझने के लिए) ईश्वर के सहाय को ही सहा दिया क्योंकि जब उसका कार्य ही कुछ न रहा सब कुछ 'कर्म' को ही अधिकार दे दिया गया, तो फिर उसे भी सिखाया 'कर्म' में ही अपने को छिपाने के और प्रति ही क्या की? पूज्यजन पूछते हैं कि तत्काल के दर्शन में 'ईश्वर' कहाँ है? उत्तर केवल यही है कि 'कर्म' में देख लो। इस प्रकार के विचार से तत्काल के दर्शन में एकाग्रता कुछ अवश्य आई, किन्तु फिर भी आराधन की कुछ कमी रह गई हो ऐसी बात नहीं है। आशा है इतने से कर्म सम्बन्धी विचार गीता और बुद्ध के दर्शन के स्पष्ट हो गए हों। अब हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर आते हैं।

गीता ने भी अन्य भारतीय दर्शनों के समान पुनर्जन्म की एक स्वसंदिग्ध मानकर स्वीकार किया है और बहुभूत महात्माओं की रेषयाग माये से मुक्त प्राप्ति एवं अन्य जनों की पितृयाग मार्ग से पितृयति दिखाई है। पापियों का गरक लोक में जाना भी कहा है जो अशुचि और कुछ बहुत है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कर्म के अनुसार यह सब व्यवस्था गीताकार ने की है। गीता के २-१३ २२ ४-५ ९-४१ ४५ ८-१५-१६ ९-१ २१-२४ में पुनर्जन्मवाद की ओर निर्देश मिलता है और १३-२१ में कर्मकारण कर्तृत्व हेतु प्रकटितव्यते। पुण्यं पुण्यपुण्यानां भोक्तव्यत्वे हेतुव्यते। इस प्रकार पुनर्जन्मवाद का कारण बतलाया गया है। अन्य कोई माहृत्यपूर्ण बात इस सम्बन्ध में नहीं है। मुनिव को गीताकार ने कई नामों से पुकारा है बजा ब्राह्मी स्थिति ब्रह्मनिर्वाण (गीता में अन्तर निर्वाण अन्य अकेला न आकर 'ब्रह्मनिर्वाण' ही बताया है) नैष्कर्म्य निरुदेमुष्य नैवस्त ब्रह्मभाव आदि। 'सर्व भूतस्वमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' देखना ही गीताकार के अनुसार समझी हो जाना है और नहीं विमुक्ति है। 'ममिहो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितस्वामान्' इस प्रकार जीवभक्ति की व्यवस्था पर ओर उपनिषदों और प्रारंभिक बीड़ दर्शन की तरह गीता में भी विद्यमान है। गीताकार ने कहा है कि जो कुछ भी बेहो में यज्ञों में और बानों में फल प्रतिष्ठित है उस सबको ब्रह्मज्ञानी मुनि अतीत कर जाता है (८-२८) और हम कह सकते हैं कि यह मत

बुद्ध के मन्त्रव्य क अनुकूल ही पड़ता है। कहीं पीठाश्वर ने 'परा धान्ति' कह कर उत्कृष्टतम आध्यात्मिक मनोवशा का वर्णन किया है कहीं उसे 'पदम् अनामयम्' कहा है और कहीं 'धास्वतं पदमभ्ययम्' और कहीं 'मत्पन्त ब्रह्मसंस्पर्शं सुखम्' कहा है 'मृत्यु संसार सागरं से बाज सब बपहू ही तन्मि स्थित है। पीठा में निश्चय ही अनेक प्रकार की साधनाएँ एकत्र हुई हैं इसलिये उन सबके अनुसार मोक्ष के विधान में भी कुछ कथन-मार्ग से विविधता आ गई है। प्रायः दो प्रकार के वर्ण मयीतार्थ हमें उपलब्ध होते हैं। प्रथम के अनुसार परमावस्था में केवल विमुक्त 'मात्मेव' ध्येय रह जाता है और 'मह' या 'युष्मो' या 'बुद्धि' का कोई अस्तित्व नहीं रहता। यह वशा कुछ-कुछ सांख्यो 'के केवल्य' बीसी है। पीठा के ज्ञान के उपदेश का यह स्वाभाविक पर्यवसान है 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विद्यते तदनन्तरम्' 'मर्त्यस्मामभिमण्डति' 'अवाप्नोति धास्वतं पदमभ्ययम्' या 'प्रयाति समुद्रमावम्' 'स धान्तिमधिपण्डति' 'ब्रह्म निर्वाणमण्डति' 'पञ्चमपुनारावृत्ति' 'सर्वं ज्ञानपक्षेव बुद्धिं सन्तरिप्यसि' आदि। दूसरे में प्रायः इसी प्रकार के वाक्यों पर जोर देकर अपने ज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की है। किन्तु पीठा को भक्तों आतियों का ही मार्ग प्रदर्शन करना नहीं था। उसमें भक्तों के लिए भी आस्थासन है। भक्ति अर्थात् ज्ञानकर्म मिश्रित निष्काम ईश रोपा सत्ता। इस भक्ति का उद्देश्य ज्ञान के मोक्ष के समान नहीं हो सकता। भक्त तो अपने उपास्य देव के साधिव्य के सामने मुक्ति को भी कुछ समझते हैं। उन्हें ज्ञानियों के मोक्ष में विशेष आकर्षण नहीं दीख सकता। अन्यथा उनकी भक्ति ही गौण हो जाती है। अतः भगवान् शृणु ने भक्ति मार्ग को ध्यान में रख कर मोक्ष तत्व का निरूपण करते हुए कहीं कहीं उसे पुरोत्तम म स्थित होने की अवस्था के रूप में भी प्रकट किया है। यही पड़ती अवस्था की तरह व्यक्तित्व का निःशेष नहीं हो जाता किन्तु 'निवर्तिप्यनि मर्त्येव' 'मात्रेवैप्यति' के अनुसार भक्त भगवान् को ही प्राप्त होने है 'मद्भक्ता याति मायि'। इसीलिए तो 'यक्षपत्ना न विवर्तन्ते तस्याव परम पद' ऐसा कह कर भगवान् का यह कहना पड़ा कि वहाँ पहुँच कर मनुष्य इस 'कुन्तामयवशा'वनम्' संसार को नहीं लीगा। प्रसादना की तो धान्ति यही भी होती है। अमृत-रूप में तो सबका समान अधिकार है किन्तु सब इसे अपनी-अपनी भावना के अनुसार ही पाते हैं एता भगवान् का अविशय है। उपर्युक्त विधीयत को भी रामानुजाचार्य न अधिक बो ५२

प्रसारित किया है। हम यह समझते हैं कि मोक्ष के दोनों स्वरूपों में कोई तात्त्विक विभेद नहीं है और जो विभेद है वह केवल व्यक्तित्व के यत्न विचार से ही कल्पित है जैसा कि हम बुद्ध के द्वारा उपरिष्ट निर्वाण के विवेचन में भी दिखा आए हैं (चतुर्थ प्रकरण)। फिर ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिस निर्मूलक निर्बिकल्प अभिरम्य और अनिश्चित अवस्था के रूप में पीठाकार ने मुक्ति की व्याख्या की है वह बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी मत के अधिक समीप है और फिर दोनों का मुख्य उद्देश्य तो मोक्ष के सिद्धांतों का प्रतिपादन करना नहीं किन्तु 'अनित्य और सुख शोक में से होकर मनुष्य को धाम्नि के एक मार्ग को दिखा देना मात्र है और इस अर्थ में दोनों समान हैं। पीठा का कर्मवाद उसके ज्ञान और भक्ति के बीच में छापी है। चाहे ज्ञानी अथवा ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करे, नामरूप को छोड़कर आत्मा के महासमुद्र में तमक की डबी होकर बुल बाव और चाहे भक्त पुण्योत्तम से नित्ययुक्त हो जाय उसके 'नाम' में अग्निर काष्ठ एक निवास करे, किन्तु जब तक उसे जीना है उसे शोक-हितार्थ ही जीना है पाप-पुण्य से अस्पर्श होकर ही जीना है गतव्यम उदासीन और निराशी होकर ही रहना है बहुत-से क्या शोक-हितार्थ ही कर्म सम्पादन करते हुए नहीं ब्रह्मनिर्वाण को देखना है। श्रेष्ठ की विनम्र राय में वह धमि पीठा और बुद्ध दोनों के ही दर्शनों में पर्याप्त रूप से विद्यमान है। पीठाकार के आचारव्यवस्था का क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक है। उसमें न केवल बुद्ध के द्वारा उपरिष्ट साधना ही किन्तु जनप्र विरम की साधनाएँ बड़ी अच्छी तरह समा सकती हैं ऐसा निश्चय ही तुलनात्मक अर्थ और दर्शन का विचारार्थ कह सकता है। पीठाकार ने जीवन में साधना के मुख्यतः तीन मार्ग बताए हैं कर्म उपासना और ज्ञान। इनका निरूपण तो हम यहाँ संक्षेपतः भी नहीं कर सकते किन्तु केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि यह विभाजन विधिमता का श्रेष्ठक नहीं है किन्तु कबल इस बात का श्रेष्ठक है कि धर्म की गवेषणा मनुष्य की किसी एक वृत्ति का विकास करने से परिपूर्ण नहीं हो सकती बल्कि उसके लिए समग्र व्यक्तित्व का उपयोग आवश्यक है। अतः उपर्युक्त तीनों साधन एक दूसरे में सन्निविष्ट हैं और इनको अल्प-अल्प देखना पीठा के दर्शन पर आधारित करना है। किन्हीं ने ध्यान से आत्मा को देखा है किन्हीं ने सांख्य-योग (ज्ञान) से और किन्हीं ने कर्मयोग से। ये सभी निष्ठाएँ एक ही एक को पकड़ने वाली हैं।

अनुप्य अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार एक या दूसरे तत्व की प्रधानता कर सकते हैं किन्तु वे अपनी समग्र वृत्तियों के संस्कार से ही परम नाम में प्रवेश कर सकते हैं। किसी एक ही वृत्तियों के परिष्कार या भावना से नहीं। गीता के व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार गीता में उपर्युक्त तीन साधना मार्गों में से एक या दूसरे की प्रधानता दिखाई है। स्वर्ग-पीठा की समन्वयात्मक भाषा के आधार पर इनमें से किसी की भी प्रधानता बड़ी आसानी से सिद्ध की जा सकती है और हम कह सकते हैं कि यह गीताकार को भी दिखाना इष्ट था। ज्ञान की भेद्यता दिखाते हुए यदि कभी भगवान् कहत हैं, 'नहि ज्ञानेन उपर्युक्तं पवित्रमिह विद्यते' 'आनामि' सबकर्मणि भस्मसात् कृते 'ज्ञानी त्वात्मेव ये मत्तम्' तो कभी 'मां मा-भवि सर्वेषां भवत्पुत्रान्मत्परायना' मन्त्रते यो मां स मे युक्ततमो मत्त' ऐसा भी कहते हैं इतना ही नहीं 'सर्वं युक्ततमनूप-शृणु मे परमं वच' ऐसा कह कर 'ममत्वा भव मद्भक्तो मयाजी वा नमस्कृत' ऐसा ही उपदेश करते हैं और तमेव धारणं यच्छ सर्वं भावन भावत' इस प्रकार अनन्य भक्ति का उपदेश कर कि इसे ही 'ब्रह्माद् गुह्यतरं ज्ञानं वदन्ते' 'इति से ज्ञानमाख्यातं ब्रह्माद् गुह्यतरं मया'। इस सबके होते हुए कर्म की महिमा उन्होंने सुरक्षित नहीं रखी हो ऐसा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता। कर्मफल त्याग को नहीं तो उन्होंने इन सब शक्तियों से ऊपर ही रख दिया है, 'येन हि ज्ञानमप्यासाद् ज्ञानाद्विषयविरिष्यत'। 'ध्यानाद् न पर्यवृत्त्यप्यसत्या माप्स्यन्ति रत्नम्'। इस प्रकार अपूर्व समन्वय भगवान् ने साधनाओं का गीता धातन में दिया है। इस प्रकार पीठा के आधाररूप का निरूपण कर देने के बाद निश्चय ही विद्य तत्व की गीता में प्रधानता है यह जिज्ञासा ही मनवशाय हो जाती है। चूंकि इस विषय में दुनिया के बड़े-से-बड़े विद्वानों ने कुछ कहा है अतः इन पर कुछ ही बाड़ा और विचार आवश्यक है। व्यक्तिगत और पुरुषों की भावनाओं के अनुसार इन महापुरुष के मन्त्रमय अनेक प्रकार से व्याख्यात किए जा सकते हैं ऐसा अब तक का बीड़ा विषयक अध्ययन का इतिहास दिखाता है। बहुत से पवित्री विद्वान् 'इत्यं बामुदर' की उपासना के रूप में ही गीता के उपदेशों को इतना 'बाह्य' है और फिर कुछ 'एकान्तिक' वैष्णवों की इति के रूप में ही गीता ध्यान को स्मरण करना चाहते हैं (यथा प्रधानतः वा उपर्युक्तं) किन्तु इनसे हमें यहाँ प्रयोजन नहीं। महारामा गोपी जी ओ स्वयं एक बड़े विचारक

हे गीता के कर्मयोग ('भक्तिज्ञान मिश्रित') से विशेष प्रभावित हैं और तिलक महाशय ने उसे 'कर्मयोग शास्त्र' कह कर पुकारा ही है। वे व्याख्याएँ युग के अनुरूप हैं और गीता के ऐतिहासिक तत्त्व को संकर भी हम देखते हैं कि महाभारत युग में 'अध्यात्मवाद' (जिसके कुछ वर्णन हमें पाणिनिपिटक में भी उपलब्ध होते हैं) का बड़ा और वा बौर उसके विरोधस्वरूप गीता में अनेक बार कृष्ण की बानी को हम अपूर्व ओजस्विता ग्रहण करते पाते हैं। किन्तु गीताकार का अन्तिम मन्तव्य कर्मवाद रहा हो ऐसा सम्भव हम नहीं कह सकते। स्वर्गीय श्रीकृष्ण तिलक के सिद्धान्त को हम गीताकार का अन्तिम मन्तव्य नहीं मान सकते और इसका प्रधान कारण यह है कि गीता में कर्म का पर्यवसान ही ज्ञान में दिखाया गया है ज्ञान का पर्यवसान कर्म में नहीं। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि भगवान् संकर और ज्ञानेश्वर महाराज कुछ अधिक स्पष्ट रूप से गीताकार के मन्तव्य को दिखाने में समर्थ हुए हैं अन्यथा उपनिषदों के उसे छार कहने का कोई बर्ष ही नहीं रह जाता। कुछ जो भी हो बहुत तक गीता ज्ञान और कर्म का निरूपण करती है वह तथागत प्रवेक्षित ज्ञान से बिलकुल संगत है किन्तु उसका भक्तिवाद केवल महायान से मेल खाता है बुद्ध के मौलिक मन्तव्य से नहीं। यज्ञादि के प्रति दोनों की बराबरी है और आदर्श मनुष्य के वर्णन में दोनों दर्शन कितने समान हैं वह हम पहले बिना बुझे हैं अतः अब हम गीता और बुद्ध-दर्शन दोनों की पारस्परिक सात्विक परिस्थिति पर आते हैं^१।

भिन्न प्रकार गीता में सभी भारतीय साधनाएँ एकत्र हुई हैं उसी प्रकार भारत के सभी तत्त्व ज्ञान संबंधी सिद्धान्त भी उसमें निहित हैं। अतः यह

- (१) गीता की समस्या की भावना देख बिना गुप्त प्रज्ञा ब्रह्म 'अध्यात्ममहिम्ना' आदि—से लेकर तत्ताम तन्मुद्राहृतम् तक (१७।१४-१९); उसके द्वारा 'अस्त्यस्त्यना यतो बुद्धत्वं 'प्राप्तोऽप्य बुद्धात्मनो नामुपपन्नम्' इति ते गतस्तत्काम' आदि रूप से चारित्र्य को जूल प्रसिद्धा मानने की प्रवृत्ति; 'नित्यं योगानुबर्धनम्' 'अनित्यमसुखं कौतुकं' आदि रूप से बुद्ध सत्य की अनुस्मृति पर और 'पुस्तताहार विहारस्य इत्यादि' रूप से (अध्याय ६) मध्यम मार्ग का प्रतिपादन बुद्ध के मन्तव्यों से असाधारण समानता रखते हैं। यहाँ विस्तार-मय से इनके विवेचन में नहीं जाया जा सका।

विषय में गीता की मूल स्थिति का हम कोई ठीक गीता और बुद्ध-दर्शन अनुमान नहीं लगा सकते। जो निश्चित है वह है कि की पारस्परिक सात्विक गीता की सात्विक परिस्थिति सामान्य तः उपनिषदों की परिस्थिति—मनुष्यता ही हो सकती है। दूसरी बात यह है कि गीता ने के द्विचार से बुद्ध जो इतने सिद्धान्तों का अपने अन्दर सम्मिलन किया है बाणी अधिक प्रभाव और उन्हें अपने अन्दर पचाया है वह उसने वैज्ञानिक शास्त्री किन्तु सात्विक समन्वयवाद ही स्थापन करने के लिए नहीं किया है, दृष्टि सगीता सम्मिलनः ब्रह्मसूत्रवाद के समान विपरीत सिद्धान्तों की अनुपपन्नता अधिक परिपुष्ट दर्शन दिखाने की तो कोई बात ही नहीं। गीता ने जो इतने सिद्धान्तों को मिलाया है वह केवल जीवन के एक समग्र मार्ग की स्थापना करने के लिए हो मिलाया है। यदि प्रज्ञा (मिलाइए बौद्ध और गीता के प्रयोग) की स्थापना करने वाला कोई ध्यानी भी जले तो भी वह स्थितप्रज्ञ (द्वितीय अध्याय) के रूप में वही लक्षण प्रकट करेगा जो एक आदर्श मनुष्य के होने चाहिए (बारहवां अध्याय) अथवा ज्ञानमार्ग के अध्यास करने वाले किसी विद्युत्वादीत महात्मा के होने के चाहिए (अध्याय १४)। इतना ही नहीं जो छोटे-मोटे देवी-बचताओं को भी पूजन है तर्जि मानेक कौन्तेय ब्रह्मसूत्रविधिपूर्वकम्' महां तक भी उधारवासी कहने से भगवान् नहीं बूझे हैं। तो फिर समन्वय के महान् इच्छा ही क्या रही? भगवान् गीताकार का वास्तविक मन्त्र भी निरूपण ही विरलेपन करने के लिए उतना ही कठिन है जितना कि उपनिषदों का। फिर भी श्रुति गीता के दर्शन में साधन-मार्ग की ओर उपनिषदों से कुछ अधिक प्रवृत्ति है अतः वह बुद्ध के दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन वा अच्छा विषय बनाया जा सकता है ऐसा हम कह सकते हैं। जहां तक विपुल तत्त्वज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्ध है गीता उपनिषदों के ब्रह्मार्थवत्त्वविज्ञान को स्वीकार करती है ऐसा तो हम प्राथमिक रूप से कह ही सकते हैं। 'बामुदेव-सर्वमिति' अथ तस्मा गुहाकेन सर्वभूतान्यपस्थितं 'मुनिर्बैव दवराके च पण्डिता-सम गितं' 'यच्छानि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन' 'मयभूतेषु यनैकं तस्मान्नि विद्धि सात्विकम्' 'नवभूतस्य तस्मान् सर्वभूतानि चात्मनि' 'मत्त परतरं नाप्यन् आदि बाधिया इसी मार्ग की प्रवृत्ति करती है। धार और अक्षर तत्त्व के विषय में जो माना हम नृपता दतो है (१५-१६) और तीनों लोकों के प्रत्यक्ष चरमात्मा की वा (१५-१७) जिसके अन्दर गीता प्राणी स्थित

हैं और जिसमें वह सब जगत् समाप्त है। उसी की गीता पर पुरुष कह कर पुकारती है (८-२२)। यही परम ब्रह्म है और यही कटस्थ सत्ता है जिसके विषय में पीता कहती है इन्द्रियाणि पराभ्याहुर्इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनस्तु परा बुद्धिर्मात्रं परतस्तु सः। यही तत्त्व ऐसा है जो न उत्पन्न होता है न मरता है। किन्तु भ्रम है नित्य है सारवत है पुराण है और छरीर के मारे जाने पर मारा नहीं जा सकता (२-२)। इसी प्रकार 'ब्रह्मेष्टोमम वाह्यो' आदि रूप से पीता में इस तत्त्व का बड़ा सुन्दर प्रस्थापन किया गया है (२।२२-२५)। इसी का अकनूत भी गीताकार ने दिखाया है। वह यह कह कर कि यह परम आत्मा अमय अनादि है और निर्गुण है अतः छरीरत्व रहता हुआ भी यह न कुछ करता है और न क्षिय होता है (११-१२)। ये सब बीजा दर्शन की मूलभूत मायताएँ हैं। परिवर्तनशील पदार्थों में एक अपरिवर्तनशील तत्त्व को पीता स्वीकार करती है। छंकर का मायाभाव वा अभ्यासभाव पीता में कहाँ तक पाया जाता है यह एक समस्या है किन्तु इस प्रश्न में हम यहाँ नहीं जा सकते। इस कठिनता को तो गीता ने हम पर स्वर विरोधी गुणों का परम तत्त्व पर आरोप कर ही उसे व्यक्त करने की चेष्टा की है। सब जबहु उसके हाथ और पाँव है सब जगह ही जाँचें सर और मुख। सबको वह सुनने वाला है और सब का ही आवरण कर लोक में वह ठहरता है। सब इन्द्रियों से विचित्र होने पर भी सब इन्द्रियों के गुणों का उसमें आभास है। वह असक्त है किन्तु सब का आश्रय भी है। निर्गुण भी है और गुण मोक्त भी है। सभी प्राणियों के वह बाहर भी है और भीतर भी है। अन्तर भी है और वह चर भी है। सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय भी है। वह दूरस्थ है किन्तु समीप भी है। वह प्राणियों में अव्यक्त है किन्तु फिर भी विमक्त सा स्थित है। वह ज्ञेय भूतों का आधार है और बही सानेवाका और बही उत्पन्न करनेवाका है (११।१४-१७)। काव्यात्मक रूप से यह सब पढ़ने में बड़ा अच्छा कपड़ा है किन्तु इसकी बार्थनिक स्थिति हमें किम अज्ञात सिद्धान्तों और अविज्ञेय तत्त्वों की ओर ले जाती है इसकी हम साधारण कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके स्वरूप को समझना है तो हमें छंकर और राजानुज जैसे आचार्यों के पास जाना पड़ेगा जिन्होंने एतत्संबन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही और गीता के सिद्धान्तों में एकनाम्य साधपति माने के लिए ही भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने मतों को

विस्तारित किया है। वस्तुतः हम तो इतना ही कह सकते हैं कि गीताकार ने परमतत्त्व के ज्ञान करने में कठिनाई अनुभव की है। मायावश्व उस नहीं माना है और इसीलिये विरोधात्मक भाषा का प्रयोग किया है। फिर गीताकार के मन्तव्य की अविशेषता यही समाप्त नहीं हो जाती। उन्होंने सांख्यो के प्रवृत्तिवाद, उनियसों के ब्रह्मवाद और भाष्यवर्तों के ईश्वरवाद का ऐसा समन्वय किया है कि सिवाय भगवान् सर्वव्याप्य के बाहेधानुसार 'भगवत्पीठा किञ्चिद्पीठा' का अनुसरण कर पीठा माता का कुछ ही प्रसार पाने के (अपनी प्रवृत्ति और भावना के अनुसार) सामग्र्य में उसके रूप को समझने की तो हम चेष्टा भी नहीं कर सकते। पीठा निश्चय ही वह 'ब्रह्मनाम' (भेष्ट ज्ञान बौद्ध अर्थ) है जिसमें संसार की सभी विचार प्रणालियों फिर जाह्नव कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हों निमृशीत कर ली गई हैं और फिर यह सब उनका पला चौंटा के लिए नहीं बल्कि उन सबमें एक विधायक तन्त्र का संसार कर उनकी शीघ्र को और अधिक प्रबल करने के लिए, उनमें जीवन के प्रति समाधान स्थापित करने के लिये। यही कारण है कि विभिन्न विचार प्रणालियों के मनुष्य भी उनमें अपने मिथ्यात्वों की भ्रमक पा सकते हैं। गीताकार ने यह अपना उद्देश्य सा बना लिया जान पड़ता है कि वह तत्त्व को किसी भी दृष्टिकोण से बिना देखे नहीं छोड़ते। इसीलिए उनके दशन को इतनी परिपुष्टता प्राप्त हुई है। एक ईश्वरवाद का उभरपटा महात्मा ही जो एक शब्द में 'तमसः शरणं गच्छ' 'मया सर्वमिदं तनम्' 'अहं सर्वस्य प्रपद्ये' 'मत्त सर्वे' प्रवचन कहता है दूसरे शब्द में 'म सर्वं त्व न कर्माणि सावस्य सृजति प्रभु न कर्मफलमयोक् स्वभावरसु प्रवर्तते' कहता है 'न दत्तं न्यस्यति स्थाप न चैव सृजति विभु' कहता है। इतना ही नहीं प्रवृत्तिवत् न कर्माणि किम माप्स्यति सर्वथा' या परपति तत्राऽऽमातमवर्तारं न परपति' यह भी कहता है। तो यह उसके मन्तव्य के बनी होने का कारण ही है अतन्त्रवादी के फल स्वरूप नहीं। जीव जगत् और आत्मा को लेकर अनन्त मिथ्यात्व है जो महज ही पीठा के दशन में समा सकते हैं और शक्ति के लिए जाने मायावाद को पीठा के महारे प्रस्थापन करना जिनका आशय है उनका ही हमारा क लिए जगत् की पर्याप्तता का दिशाना भी। यही बात है और अद्वैत ज्ञान को लेकर जो बड़ी आ गवनी है। निश्चय ही पीठा अनन्त दार्शनिक दिशान्तों की स्थापना करती है और जीता कि हम बड़े आनानी में देव बन रहे बड़ के विचार में यह बात सम्भव नहीं है। बड़ी निरपेक्षता

निष्कर्ष तो उत्तरकासीन बौद्ध आचार्यों ने बहुत निकाले हैं किन्तु निरिचय विवेचारमक सिद्धान्तों को गवीनतम रूप से निकालने का बड़ा विरोध अबकाब नहीं है। किन्तु इसके विपरीत गीता की तो 'अस्तित्वों' का कोई अन्त ही नहीं है। प्रकृति पुरुष पुरुषोत्तम धर, अधर, द्यौः क्षेत्रज्ञ भीर ईश्वर, आत्मा परमात्मा अनात्मा कर्म कर्ता अकर्मन्त कूटस्थ विराट् न जाने यहाँ क्या-क्या है। सांख्य-योग राम विद्या 'ब्रह्मसूत्र पर' और 'गुह्यात् गुह्यतम ज्ञान' न जान क्या क्या यहाँ संनिविष्ट है। निश्चय ही इन सात सौ श्लोकों में समग्र मानवीय ज्ञान को ही भगवान् ने गाप डाला है। इस महान् आकाश में जितना स्थान हमारी बुद्ध धेर सकती है, वह एक छोटे बटाकाश के रूप में ही हो सकता है। कितनी विभिन्न विचार प्रवृत्तियों और मुक्तों के लोगों ने गीता से अमृत को बुझा है इससे हम उसके सार्वभौम स्वरूप और उसके तत्त्वदर्शन की व्यापकता का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। बुद्ध का दर्शन भी अत्यन्त सार्वभौम स्वरूप का है और उससे भी अमृत के एक बड़े भारी भाग ने आश्वासन पाया है किन्तु उसके प्रमाण का रहस्य कुछ और है। गीता का-सा परिपूर्ण तत्त्वदर्शन हमें बुद्ध के विचार में नहीं मिलता। तबानत अनेक बातों पर मौन है जिनके चिन्तन से मानवीय बुद्धि को नहीं रोका जा सकता। गीता निर्बन्ध रूप से इन प्रश्नों पर भी विचार करती है और समाधान पूर्वक उत्तर देती है। वह न तबानत की तरह मौन है और न उत्तरकासीन बौद्ध शार्ङ्गिकों की तरह निवेचारमक। आचार्य अनोखा ने एक जगह कहा है कि एक परिपूर्ण दर्शन के बिना उद्योगों का होना आवश्यक है। एक तो यह कि मैं यह मरणशील रहे नहीं हूँ रहे तो ऊपर की सुख पपड़ी मात्र है और दूसरा यह कि मैं कभी न मरने वाला अक्षय्य और व्यापक आत्मा हूँ। इन दो सिद्धान्तों के मेल से आचार्य अनोखा के अनुसार एक पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। यदि हम इसे ठीक कसौटी मालें तो हमें स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि बौद्ध दर्शन एक अपूर्ण दर्शन है और पीता परिपूर्ण। रूप केवला सदा संस्कार, विज्ञान में नहीं हूँ इतना तो बुद्ध कहते हैं, किन्तु मैं अब निष्प धारण और पुरुष भी हूँ इसकी तो इतनी बट बुद्ध ने नहीं किया है वह उनके दर्शन में अन्तर्हित मने ही हो। परम्परागत रूप से बौद्ध विचार-वाच के विचारक बुद्ध के अनात्मवाद को निवेचारमक रूप में ही औपनिषद आत्मा के निवेचन रूप में ही (जिसका प्रत्याख्यान हम

पहले बर चुक है" प्रायः समझत रहे हैं। यही कारण है कि ज्ञानेश्वर जैसे महारामा ने भी बीड दर्शन को 'यन्त्रेय का बंध्यित बाँत' कहा है^१ जब कि गीता के दर्शन के सम्बन्ध में उनका कहना है मत्-अर्थों का परिहार करने वाला यह जो संसार है वह आपका बन्धित और मृग्य वर्ण वाला बाँत है।^२ बीड दर्शन यन्त्रेय का बंध्यित बाँत है और गीता रसिक है उनका सुभ्र और मन्त्रित बाँत किताबी सुन्दर उपमा है, यद्यपि इसमें सत्य की मात्रा अधिक नहीं है। हम उन लोगों की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते जिन्हें हम जनार्दनबाद के विवेचन के सम्बन्ध में पहले ब चुके हैं। हमें यही बड़ी प्रसन्नता है कि ये दोनों बाँत धन्य के ठो हैं और यह एक बड़े आस्वादन की बाँत है। तार्किक दृष्टि से गीता की स्थिति अधिक परिपूर्ण होते हुए भी हमें यह मानना पड़ता कि मानवता की दृष्टि से बीड दर्शन उसकी अपेक्षा अधिक प्रमाणवादी दर्शन है। गीता के ईश्वरभाव और पुनरोत्पन्नता (यदि ऐसा हम कह सकें) मनुष्य के संसार को स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती नहीं। हम ऐसा ही कह सकते हैं कि इनके दर्शन की स्वीकृति से ही गीता मनुष्य के संसार की वास्तविक स्वतन्त्रता की सम्प्राप्ति मानती है। यह ठीक है कि गीताकार मनुष्य को कर्म करने का अधिकार दते हैं किन्तु उसके साथ यह भा उगता ही ठीक है कि वही भवमान् भर्तृन् को डराने बमकाने भी लगते हैं 'यन्तु मेच्छसि यन्मोहान् वरिष्यसि बभष्यसि तन्'। इतना ही नहीं 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृदि सञ्जितं तिष्ठति। ध्यायन् सर्वभूतानि यथाकृतानि मायया'। इन वाक्यों से गीताकार मनुष्य की अवस्था और ईश्वर के प्रति उसकी शरणावृत्ति की आवश्यकता दिखाकर उसके सम्पूर्ण कर्म-स्वातन्त्र्य का वापस ले लेते हैं। गीता की कर्म-स्वतन्त्रता केना एक पारस्वात्य गीतानुसारक ने कहा है, मनुष्य के सामान्य कर्म के ब्रूताव की एत मायावी स्वतन्त्रता होती है। गीता का कर्म स्वातन्त्र्य ब्रह्मण एक ब्रह्म नियतिवाद की परिधि के भीतर ही कार्य करता है। स्वतन्त्र की पूर्ण स्वतन्त्रता कहा नहीं है^३।

(१२) ज्ञानेश्वरी पृष्ठ २

(१) Freedom in the Gita is an illusory liberty of choice working within the bounds of an ultimate determinism

हिन्दू का गीता का अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ १७ (भूमिका)

किन्तु बड़ोपदिष्ट कर्म और प्रतीत्य समुत्पाद तो सर्व निरपेक्ष निवृत्त हैं। वे स्वयं उपागत की भी पर्याप्त नहीं रखते। संन्यस्त की पूर्ण स्वतंत्रता ही बुद्ध-साधन है और मानवीय पुण्यार्ष के द्वारा वहाँ निर्वाण प्राप्ति की बात कही गई है। ममत्वहत्या ने जाकर वहाँ मनुष्य को निर्विक नहीं बनाया है। 'प्रधान' ही वहाँ आरम्भगत पाठा है। वहाँ प्रधान है और उसको अधिकृत करने वाला कोई नहीं। बुद्ध की भाषा में 'ईवं बीबाव पंचमम्' जैसी कोई चीज नहीं है। वहाँ तो जो संयत्तनिय हुआ है जिसने आत्म विनय प्राप्त की है उसकी विजय को देखता ही 'अविजय' नहीं कर सकते

न देवो न मन्त्रव्यो न भारो सद् ब्रह्मणा।

जितं अपजितं कविरा तथा रूपस्य अन्तुनो१ ॥

यही बुद्ध के विचार की विशेषता है वही उसकी नीरवर्ती भाषा है, जिसके द्वारा मनुष्यता के आकर्षण की वह इतनी व्यापक वस्तु बन गई है। यहाँ मनुष्य देश से ऊपर चला गया है जो बात गीता में कही नहीं है। किसी एकोन ईस्वीसदी वर्षों में यह बात नहीं हो सकती। एक ईसाई पादरी ने तो इसे बौद्ध धर्म का एक बड़ा दोष माना है। उसने कहा है कि बौद्ध धर्म ने यह कह कर कि मानव से ऊँचा और कोई नहीं है मानव का अपमान किया है उसे नीचे गिराया है२। विद्यप कोन ऐसा करते हैं (देवोपासक भक्त भी प्रायः ऐसा ही करेंगे) तभी तो बौद्ध दर्शन मानवता के किये इतनी अधिक आकर्षण की वस्तु बनता है।

अधिक हम इस सम्प्रदाय में क्या कहें कृष्ण और बुद्ध दोनों ही निस्व-सात्ता हैं। ममत्वान् बुद्ध तो स्वयं-बोध्य-नुरूपों के अद्वितीय सारथी 'पुरिचरन्-सारथि' हैं ही ममत्वान् कृष्ण ने भी अर्जुन के उपसंग्रह से मानवता के सारथी का काम किया है। एक की साधना से जिस प्रकार निरि-वज्र (राजगृह के समीप पर्वत) पवित्री कृत है दूसरे की लोक-कल्याण-साधना को उसी प्रकार 'वज्र-निरि' (योद्धा) नाम एक स्मृत बनाते हुए है। जम्बीदास की राजा उमाक बुद्ध की स्वामकता

(१) बाल्मिक ८।६

(२) विद्यप कोपल्लव साधक ने कहा है *Buddham degrades man by denying that there is any being above him.*

सोशल सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक फाथ, पृष्ठ ५५ में उद्धृत।

के कारण उसे दुष्ण के समान ही पूजनी थी। 'दुष्ण काको तमास काको पाइते तमास भाको बासी'। हमारे मन्द-मन्दन तो भगवत्स्वरूप हैं ही महापुरुष (महापुरुष) उपायत भी ब्रह्मभूत महात्मा हैं। तमास के समान विषास आकाश रूप ज्ञान से मण्डित। जो-जो लोकोत्तर विमूर्तिमान् भी-संयुक्त और अजित हैं यदि वह सब परम पुरुष के अंश से ही सम्भूत हैं तो विषम-मानव को प्रभावित करनेवाले उपायत से अधिक उस अंश की मात्रा और कहाँ मिल सकती है? सत्य ज्ञानेश्वर ने सबकारी पुरुष के स्मरण के सम्बन्ध में भगवान् दुष्ण से अर्जुन के प्रति कहसन्नामा है "उसे पहचानने का मसल एक ही है। वह यह कि साथ संसार उसके आगे मग्न होता है और उसकी आज्ञा का पालन करता है।" यदि इस स्मरण के आधार पर इन भगवान् दुष्ण और उपायत के विषम-मानव पर प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा करें तो बौद्ध दर्शन और बौद्ध-दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध और उनका तुलनात्मक महत्त्व बाधनी से हमारी समझ में आयापगा।

३—बौद्ध दर्शन और आध्यात्मिक-मत

आध्यात्मिक सिद्धान्त भारतीय दर्शन का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। किन्तु आधुनिक जर्च में उस दर्शन' नहीं कहा जा सकता। वह जड़वाद पर आधारित है और जीवन की समस्याओं पर उमगा सुत्तपिटक में महानास्तिक कोई व्यवस्थित विचार नहीं। वह भिद्यवादा के रूप में आध्यात्मिक मत के वा मूलक और अतिव्यवस्थावाद का प्रचारण है। समान सिद्धान्त का बहान करके बेह-विरोधी होने के कारण उसे बौद्ध और मुद्द की समझे प्रति और जैन जैसे महनीय दर्शनों के साथ बैठने का प्रतिव्यवस्था अवसर मिला है। बद्ध के समय भारत में जितनी प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं उनमें बहुतों का पर्यवसान आध्यात्मिक सम्मत नास्तिक मत में हो गया है। विरोधवादी की बालाएँ नास्तिकवादियों की बुद्धकाक म अधिक पैनी हुई थी। एक की यह कि पुष्प-नाप नामों का कल नहीं है और हमारी यह कि कृत्य के बाद जीवन नहीं है। मन्दक गुण में आध्यात्मिक मत के मद्दम महानास्तिक बन वा अल्प विषय बचन हमें उपलब्ध होता है।

मास्तिकवादी कहते हैं 'नहीं है बान (का फल) नहीं है यज्ञ नहीं है इवन। यह छोकर नहीं है परलोकर नहीं है माता नहीं पिता नहीं औपपातिक (अपोनिज) प्राणी नहीं है। छोकर में ऐसे सत्य-माया सत्यास्य समय बाह्यम नहीं है जो छोकर-परलोकर को स्वयं जानकर साक्षात्कार कर दूसरी को बतलाएँ। यह पुरुष आनुमहामुक्तिक (चार मुक्तों का बना) है। जब मरता है पृथिवी काय पृथिवी में मिस जाती है जली जाती है एक बड़ काय में जमा जाता है ठेज ठेज काय में मिस जाता है वायु बाहुकाय में मिस जाता है इन्द्रियाँ आकाश में जमी जाती हैं पुरुष मृत शरीर को साठ पर ले जाते हैं। बसाने तक पर (बिह्न) जान पड़ते हैं फिर इन्द्रियाँ कमूतर के पंखों की-सी सफेद हो जाती हैं। पूर्व कृत आहुतियों राख रह जाती है। यह बान मुर्खों का प्रमाण है। जो कोई मास्तिकवाद कहते हैं यह उनका सुच्छ है। मूर्ख या पश्चित सभी शरीर छोड़ने पर सन्निध हो जाते हैं विनष्ट हो जाते हैं मरण के बाद कोई नहीं रहता। इस मास्तिकवाद का भयान् ने और विरोध किया और इसे 'महाहर्षनार्थ' कहा। इस प्रकार की विचार प्रणाली तो नैतिकवाद की जड़ पर ही सीमा आघात करती है। फिर भी अपने अनात्मवाद के कारण बुद्ध भी नैतिकवाद के पास ही पहुँचे कहे जा सकते हैं। श्री राज्ज जी ने लिखा है, "बुद्ध ४५ वर्षों तक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, आदिवाद और फितने ही अन्य बातों के विरोधी बड़वाद की सीमा के पास पहुँचे। १ बड़वाद और नैतिक आदर्शवाद तो उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव जैसी दूरी पर हैं।

(१) सम्यक सुत्त (अभिम्म २।३।९ अजित केस कमवली के 'उच्छेदवाद' के लिये इसी सम्बन्ध में देखिए सामञ्जस्यक सुत्त (दीघ १।२) 'न सन्ति परलोकावादा' के सिद्धान्त के लिये देखिए पापासि सुत्त (दीघ २।१) भी। पापासि राजन्य नैतिकतावादी था। यह कहता था कि मरे हुए व्यक्ति को किसी ने आज तक लीटकर आता नहीं देखा। मृतक शरीर से किसी जीव के निकल जाने का कोई बिन्दु नहीं मिलता। यदि परलोका होता तो मरने की इच्छा धार्मिक पुस्तों को होनी चाहिये थी जो उनको नहीं होती। भिक्षु कुमार काश्यप ने उसे पुनित्तों से समझकर कर्म-फल और पुनर्जन्म की सत्यता की शिक्षा दी।

(२) पुरातत्त्व निबन्धावली पृष्ठ १२१

छन्द निकट नहीं कहा जा सकता है। कहा 'वातुर्महामूर्खि' प्राची का विचार और कहा कर्मानुसार उसके संसार की कथा। कहा "स्वाभाविक संस्मरण प्रवृत्त कहकर बड़बाबियों का प्रयत्न को मोप बताना और कहा बहम्य भीम प्रारम्भ करने का सास्ता का उपदेश और सिद्धान्त। भवमान् बुद्ध का मन्तव्य किसी भी एक बात में नास्तिकवाद के साथ मेल नहीं खाता फिर उसमें बड़वाद की उपपत्ति कैसे? किन्तु इसके लिए माण्डवीय बड़वाद के स्वल्प का कुछ और विस्तृत वर्णन उपस्थित कर बुद्ध के मत से उसकी विमर्शना दिखाना आवश्यक है।

वार्त्तिक मत बहुत प्राचीन है। इसका प्रादुर्भाव सम्भवतः वैदिक कर्मकाण्ड के विद्वत् स्वल्प धारण कर लेने पर उसकी प्रतिक्रिया स्वल्प हुआ। वार्त्तिक

जीम वेदों की निम्ना में तथा संसार के सुखों वार्त्तिक-मन्मत बड़वाद को मोपने के लिए, बनेक प्रकार की मीठी का संक्षिप्त विवेचन बाह्यी लोगों को सुनाते थे इसी में सम्भवतः और बुद्ध-मन्तव्य की उनके नाम वार्त्तिक वा 'वाद्वाक्य' की तथा उसके साथ किसी भी उनके वर्तन की जो मोपवाद पर माधित प्रकार समझा दिखाने हैं सारी क्याति निहित हैं। लोक 'पुनरुत्पत्ति'

की अनुपपत्त्या अबका प्राकृत पुनर्जन्म को इनका सिद्धान्त मन्मत बतता था सम्भवतः इसीलिए इन्हें 'लोकायितक'

भी कहा जाता है। जूकि संसार के अधिकतर मनुष्य ब्रह्मात्मबारी न होकर अपने माधरस में गला भोगों को ही मानने वाले होते हैं। उनके बेबाहि सम्प्राप्तों के बाधा मन्त और प्रचारक भी अपने वैयक्तिक जीवन में भीतिक विषयों की ही अधिक चिन्ता करते रहे गए हैं। वह माधवाचार्य ने इन वार्त्तिकों की विचार-पद्धति की मनुष्य के जीवन में व्यावहारिक रूप से इतनी व्यापक अभिव्याप्त देखकर ही इनके वर्तन को 'दुष्पञ्चेय' वर्तन कहा है दुष्पञ्चेय हि तावन् वार्त्तिक वेष्टितम्। मात्र के चोर भीतिकवाद और बड़वाद के पुप में तो यह विरामा सत्य है। जस्तु, वार्त्तिकों के भी दो विवेक किए गए हैं दिष्ट वार्त्तिक और सुई वार्त्तिक। दिष्ट वार्त्तिक वे हैं जो शरीर में 'आत्मा' नामक एक पदार्थ की स्थिति बहम्य मानते हैं किन्तु शरीर के साथ ही उनका उच्छिन्न होना मानते हैं। पुनः

आर्वाक किसी भी प्रकार के चैतन्य तत्त्व को स्वीकार ही नहीं करते। वे जोर नास्तिकवादी एवं पूर्ण जड़वादी हैं। सामान्यतया आर्वाकों से मतलब हम उच्छेदवादियों से लेते हैं। माधवाचार्य ने अपने 'सर्ववर्धनसंग्रह' के प्रथम परिच्छेद में आर्वाक-मत का अत्यन्त विस्मय और साधारण बर्णों के पढ़ने योग्य बर्णन किया है। उस छबमें न बाकर हम वहाँ मूल-मूल बातों का ही निर्वेक्ष कर सन्तोष करेंगे। आचार्य बृहस्पति (जिनके शिष्य आर्वाक कहे जाते हैं—इस मत के प्रचारक) ने कुछ सूत्र किये हैं जो बहुत थोड़े में समस्त आर्वाक दर्शन को प्रस्थापित करते हैं। भाष्यकार घाभ्य में समुद्रुत ये बार्हस्पत्य सूत्र इस प्रकार हैं अथ लोकायतम्। पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्तानि। तत्तन्मुदाय छरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञा। तेष्वपचैतन्यं किन्वादिभ्यो मरुदक्षितवत् विज्ञानम्। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में और भी अत्यन्त विस्मय और छक्षित रूप से कहा गया है 'लोकायतमेव शास्त्रम्। अत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। बर्बकानो पुस्वार्थो। नृणामेव चैतन्यन्ते। नास्ति परलोकः। मृत्युरेवापवर्गः। इन उपर्युक्त उद्धरणों का यही तात्पर्य है कि पृथिवी बल तेज वायु ही आर्वाकों के लिए अस्तित्व तत्त्व हैं। इनके समुदाय मात्र छ ही वे छरीर, इन्द्रिय विषय की संज्ञा या अनुमूर्ति मानते हैं। इन मूर्तों में से ही उनके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति होती है यथा मादक-द्रव्य आदि खाने-पीने से मद्य(मद्या) हो जाता है। ऊपर उद्धृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' के वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि लोकायत शास्त्र के लिए केवल प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। बर्ब और काम यही दो पुस्वार्थ हैं। नृत् ही चैतन्य कारण कर लेते हैं। परलोक नहीं है। मृत्यु ही अपवर्ग है। आर्वाकों के अनुसार प्रकृति में नियम कुछ भी नहीं सब कुछ स्वभाव प्रसङ्ग अनुबद्ध या भाकस्मिकता के कारण ही होता है इसी-लिए वे 'स्वभाववादी' 'यदुच्छेदवादी' 'प्रसङ्गवादी' अनुबद्ध्यवादी कदाचिदासी और 'अकस्माद्वादी' के नाम से भी अभिहित होते हैं। इनकी इस बात का बर्बन कारणवाद के प्रसङ्ग में अन्य अनेक भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के ग्रन्थों में आया है। त्याज कृष्णमाञ्जलि की टीका में उद्धरण दिया गया है "नित्यसत्त्वा भवत्त्वेन नित्यासत्त्वात्त्व केचन। विविधा केचिदित्यत्र तत्त्ववादी निवामकः ॥ अन्विजनं यच्च भीतं समस्पर्शस्तवाग्रिजः। केनेदंविधितं तस्यात् तत्त्ववादी नियामकः ॥ इसी प्रकार 'बोधिचर्यावतारपञ्चिका' में भी आर्वाकों की इसी प्रकृति का उद्धरण दिया गया है 'सर्वहेतुनिराकृतं चावातां अन्य वर्धते। स्वभाववादिभिः.. तं च ननुः स्वमपि कारणम् ॥ पञ्चीनकेसरीवा

वैशिष्ट्यं कं करोति हि । मयूरचन्द्रिकादिर्वा विवित्रं कन निर्मित ॥ यदैव
 कष्टकारीनां वैश्यमधिकमहेतुकम् । काशाभिरुक्तया तद्वत् बुद्धादीनामहेतुता ॥
 कहा जाता है कि चार्वाकों की उपर्युक्त स्वभाववाद की प्रवृत्ति को
 गौतमीय स्यामसूत्र 'अतिमिततो मावोत्पत्ति कष्टकरीव्यादिषु' (४।१।२२)
 अवकाश देता है तथा इसी प्रकार उनका आत्मा विषयक उच्छेदवाद या पूर्ण
 निवेदवाद को 'नाहं मोहं इदीमि अनुच्छिन्नतिवर्त्मयमात्येति' (बृहदारण्यक
 ४।५।१४) नाममस्तीति चैके (कठ १।२) 'विज्ञानवन एव एतस्यो मृतस्य'
 समुत्थाय तास्येवानुविन्दयति न प्रेत्य संज्ञाप्रतिष्ठ' (बृहदारण्यक) तथा 'असदा
 इवमत्र आसीत् (तैत्तिरीय २।७) आदि श्रुतियां अवकाश देती हैं और फिर
 सदानन्द (वेदान्तसार के रचयिता) ने तो चार प्रकार के चार्वाकों का
 उद्भावन कर श्रुतियों के उद्धरणों से ही उनका निराकरण भी करया है २ ।

(१) मिलाइए 'बुद्धचरित' में भी लोकायतिकों की इसी प्रवृत्ति का सुन्दर
 निदर्शन 'वैचित्स्वभावाविति वर्त्मयमिति धुनाधुर्भवमवामधीय । स्वभाविकं
 सर्वमिदं च परमावतौगपि मोघो भवति प्रपल ॥ परिन्दीयाणां नियत
 प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव । संयुज्यते परस्परमातिनिदय कस्तत्र
 यत्नो ननु स स्वभावः ॥ अविर्जुतास्तः शममभ्युपैति तेजांसि चास्ये पक्व-
 यन्ति शीत्यम् । जिह्माणि भूतानि शरीरसंस्वायैर्यं च यत्वा जपकुड्महन्ति ॥
 यत्पापिपाशोदरपृष्ठं भूर्धा निवर्तते परमगतस्य भावः । यदात्मनस्तस्य च
 तेन योगः स्वाभाविकं तत् कथयन्ति तज्ज्ञा ॥ कः कष्टकस्य प्रकरोति
 तैव्यं विवित्रभावं नृपपक्षिणां वा । स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न
 कामकारोऽस्ति कतः प्रपल ॥ १।५।८।९२

(२) यदा चार्वाकस्तु त वा एव पुदयोऽप्ररतमयः' इत्यादि श्रुते महीयत युहात्
 स्वपुत्रं परतयस्यापि स्वस्य निर्वनवर्जनातत्तपुलोऽहं इतीहमिरयाद् यनु-
 भवाच्च स्मृतप्ररीरमात्येति वदति । अपरचार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजायन्ति
 पितरमेत्योषुः' इत्यादि अनेरिन्द्रियाभामबावे प्ररीरचलनामावात्तायो-
 हं अपिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चैन्द्रियाप्यात्येति वदति । अपरचार्वाकः
 'अभ्योन्तर आत्मा प्राक्मयः' इत्यादि श्रुते प्राणामाव इन्द्रियारिचलना
 योमावहमजवापावान्हुं पिपातावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्येति
 वदति । अन्यस्तु चार्वाकः अभ्योन्तर आत्मा जगोमयः इत्यादि अनेर्यवति
 श्रुते प्राणादेरवाहं संकल्पवान्हुं विक्षयवानित्याद्यनुभवाच्च जग
 आत्येति वदति । वेदान्त सार, पृष्ठ ८ (हिरियन्त्र वा संस्करण)

चार्वाक किसी भी प्रकार के चैतन्य तत्त्व को स्वीकार ही नहीं करते। वे जोर नास्तिकवादी एवं पूर्ण जड़वादी हैं। सामान्यतया चार्वाकों से मठस्थ हम उच्छेदवादियों से लेते हैं। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वरूपसंग्रह' के प्रथम परिच्छेद में चार्वाक-मठ का अत्यन्त विस्मय और साधारण जनों के पड़ने योग्य वर्णन किया है। उस सबमें ग जाकर हम यहाँ मूख-मूठ बातों का ही निर्वेक कर सन्तोष करेंगे। आचार्य बृहस्पति (जिनके सिष्य चार्वाक कहे जाते हैं—इस मठ के प्रचारक) ने कुछ सूत्र किये हैं जो बहुत बड़े में समस्त चार्वाक दर्शन को प्रस्थापित करते हैं। माफ़कर भाष्य में समुद्धृत ये बाईसत्य सूत्र इस प्रकार हैं—
 अथ लोकायतम्। पृथिव्यप्तेजोवायुर्दिष्टं तत्त्वम्। तत्समु-
 द्भवं सरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। तेष्ववर्तन्त्य किञ्चादिभ्यो मयसक्तिवत् विज्ञानम्।
 'प्रबोधचन्द्रोदय' में और भी अत्यन्त विस्मय-और सन्निप्त रूप से कहा गया है
 'लोकायतमेव वास्तवम्। अथ प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। वर्तकामौ पुस्वार्थौ। भूत-
 न्येव चैतन्यते। नास्ति परलोकः। मृत्युरेवापवर्गः।' इन उपर्युक्त उद्धरणों का यही तात्पर्य है कि पृथिवी जल तेज वायु ही चार्वाकों के लिए अन्तिम तत्त्व हैं। इनके समुदाय मात्र ही वे सरीर, इन्द्रिय विषय की संज्ञा या अनुभूति मानते हैं। इन भूतों में से ही उनके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति होती है यथा मादक-द्रव्य आदि खाने-पीने से मद्य(नष्टा) हो जाता है। ऊपर उद्धृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' के वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि लोकायत शास्त्र के लिए केवल प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। वर्त और काम यही दो पुस्वार्थ हैं। भूत ही चैतन्य कारण कर लेते हैं। परलोक नहीं है। मृत्यु ही अपवर्ग है। चार्वाकों के अनुसार प्रकृति में नियम कुछ भी नहीं सब कुछ स्वभाव प्रसङ्ग अनुबन्धन या आकस्मिकता के कारण ही होता है इसी-
 लिए ये 'स्वभाववादी' 'अवृण्णवादी' 'प्रसंगवादी' अनुबन्धनवादी कदाचि-
 द्वादी और 'अकस्माद्वादी' के नाम से भी अभिहित होते हैं। इनकी इस बात का वर्णन कारणवाद के प्रसङ्ग में अन्य अनेक भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के ग्रन्थों में आया है। त्याग कृष्णाम्बिकि की टीका में उद्धरण दिया गया है "नित्यसत्त्वा मयन्त्येके नित्यासत्त्वास्तु केचन। विविधा केचिद्विज्ञान तत्त्ववाचो नियामकः ॥ अविज्ञानं च त्वं सीतं समस्पर्शस्तवाग्निनः। केनेदं विविधं तस्मात् तत्त्ववाचो नियामकः ॥" इसी प्रकार 'बोधिवर्णविचारपञ्चिक' में भी चार्वाकों की इसी प्रकृति का उद्धरण दिया गया है 'सर्वहेतुनिरासं चार्वाकां नम्य वर्तते। स्वभाववादिनि ते न नाहुः स्वमयि कारणम् ॥ राजीवकेतयदीनां

ऐसे चार्वाकवादियों के साथ बोधिपक्षीय धर्मों के उपदेष्टा 'आर्यमज्जापिक' मार्ग के प्रस्थापक आर्यविनय और आर्य धर्म के एक अनुत्तर समुद्धर्ता सम्मत् समुद्ध भगवान् तथागत की तुलना कैसे की जाय? बीच पुनर्जन्म परलोक और मुक्ति संबंधी एक भी तो सिद्धान्त भगवान् बुद्ध का चार्वाकों से भिन्न नहीं जाता फिर समान पंक्ति में उन्हें कैसे बैठायें? नास्तिकवाद वेद-निन्दा ईश्वर की निन्दा परमछन्द्रेय आदि भी तो बातें बुद्ध के मत में निषिद्ध नहीं होतीं वैसे कि हम पहले ही बिना बुझे हैं। प्रत्यक्ष अनुमति की अपेक्षा वेद या किसी अन्य ग्रन्थ को कम ही महत्त्व देना तो बुद्ध की तरह उपनिषदों को भी मान्य है यह सब हम पहले ही अच्छी तरह प्रपञ्चित कर चुके हैं अतः उन त्रिविध (तीनों विद्याओं) के ज्ञाता बुद्ध तैत्तिरीय 'वेदम्' (वेदज्ञ) मुनि को वेदों का निन्दक कैसे कहा जाय! वेदों की मांड और निराचरों की ही हृति बताने वाले निरर्थक पद्यों की ही उनमें भरमार और बुद्धि-वीर्य-हीन मनुष्यों की ही उसे भीविका का आधार बताने वाले! उन 'पूर्व' चार्वाकों की तथागत से क्या तुलना है जिसको बाहरि जैसे वेद पारङ्गत ब्राह्मणों के शिष्य भी ऋषि और 'वेदज्ञ' नाम से पुकारते हैं। यदि 'वेद ज्ञान' है तो निदम्य ही ज्ञान के रूप में तथागत ने उनका ही प्रस्थापन किया है। अनुत्तर बुद्ध निरोध विज्ञान के प्रसङ्ग में ही उसकी अपेक्षा से 'ब्रह्मी विद्या' की हीनता दिखाई है और यही तब 'पर' और 'अपर' विद्या के औपनिषद नामकरण में भी विद्यमान है। अतः तथागत बुद्ध-निन्दक कभी नहीं और इस दृष्टिकोण से भी उन्हें नास्तिक चार्वाकवादियों की पंक्ति में नहीं बैठाना चाहिए। तथागत ऋषियों की पंक्ति में ही घोषा देते हैं क्योंकि वे भी वैसे ही आये वैसे अन्य बुद्ध या ज्ञानी मुनि। तथा आगत-

संसार में घटाना बढ़ाना उत्कृष्ट अपकर्ष नहीं होता। उसे कि सूत को पोखी उधरती हुई छेकने पर गिरती है ऐसे ही मूल और पण्डित बौद्धक, आवागमन में पड़कर बुद्ध का अन्त करें' महानास्तिकवाद का धर्मन सम्बद्ध सूत (मग्गिम्मा २।३।६)

- (१) मिताइये—अथो वेदस्य कर्तारो भण्डपत्तं निजाचरतः। अर्हरी मुर्हरी
 एषादि पण्डितानां बन्धु स्मृतम् ॥ मातामां तावत् तद्वि-
 शाचरतमोरितम् ॥ अग्निहोत्रं अथो वेदास्तिवन्द्यं मामपुच्छम् ।
 बुद्धिपीत्यहीनाणां भीविक्तेति बृहस्पतिः । सर्ववार्ता संपहं मे उद्युतः।

किन्तु इस सब विस्तार में न आकर हम ठी यही केबल ऊपर उद्धृत व हंसत्व सूत्रों के ही विवेचनमा प्रकाश में (ऐसा करना ही ग्याम्य भी होगा क्योंकि भुविर्वा के आचार पर तो ऐसा करना किसी भी प्रकार ठीक नहीं) और कुछ 'सर्वदर्शन संग्रह' के आचार पर भी आर्वाक-मत का बौद्ध दर्शन से सम्बन्ध देखें ।

सर्वप्रथम तो बात यह है कि आर्वाक परलोक को नहीं मानते किन्तु भगवान् बुद्ध पुनर्जन्मवादी है । आर्वाक मत की किसी निमम में निष्ठा नहीं और वे अकारणवादी हैं किन्तु सम्मत्क सम्मुद्ध मे कर्म निमम को सिखाया है । 'आनन्द ! क्या अन्म-भरण स-कारण है पूछने पर कहना चाहिए कि 'सकारण' है ऐसा उम्मुक्त निबोध किया है । अपीत्यसमुत्पाद (अविज्जसमुत्पाद-अकारण वाद जिसका अर्थ 'ब्रह्मवाक्यमुत्त' में उपलब्ध है) को मानने वाले इन आर्वाकों से 'अपीत्य-समुत्पाद' के उपदेष्टा की क्या तुलना है ? 'अे अन्मा हेतुप्राप्तवा तेसं हेतु तथागतो आह तेसं अ यो निरोधो एवं वासी महासमणो' । उन तथागत की तुलना इन उच्छेदवादीयों से क्या है ? उच्छेदवादी भगवान् बुद्ध नहीं है इसका निरूपण तो पहले हो चुका है (चतुर्थ प्रकरण में) अतः उसकी पुनरावृत्ति की यहाँ जरूरत नहीं । यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अनात्मवाद' औपनिषद आरम्भवाद का विपरीत सिद्धांत नहीं है अतः 'उच्छिष्टि कर्म' आर्वाक मत से यह किस प्रकार समता ग्रहण कर सकता है ? भगवान् बुद्ध तो नैतिक आदर्शवाद के संसार के सर्वोत्तम उपदेष्टा है फिर भोगवादी आर्वाकों से उनकी किस बात में तुलना बेबी बाव ? जिनके लिए स्वर्ग नहीं अपर्णा नहीं आत्मा नहीं परलोक नहीं वर्ग नहीं सुख से जीना ही जिनके लिए जीवन का एकमात्र ध्येय है और जो किसी भी नैतिक दृष्टि के पक्षपाती नहीं । उन

- (१) मित्राक्षर्य—न स्वधो नापचर्यो वा नैवात्मा पारलीकिकः । नैव वर्णाश्रमा-धीना किम्यात्म फलमाधिकः ॥ पावग्धीयेत् सुखे जीयेत् अर्थं कुर्या कृतं पिबेत् । नस्मीजुतस्व हेतुस्य पुनरात्ममर्गं कृतः ॥ सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत । मित्राक्षर्ये 'पुत्रिणी काय, जल काय, तेज काय, वायुकाय, सुखं बुद्ध और जीव ये सात अद्भुत अनिमित्त हैं' । यहाँ न तुलना है न वास्तविकता है, न तुलने वाला न तुलने वाला है । आवागमन में ही पड़कर मुद्ग और पण्डित बुद्धों का जन्त करीये । सुख-बुद्ध श्रेय से (नाप से) तुलने हैं

ऐसे चार्वाकचार्वकियों के साथ बोधिसत्त्वों के समान 'उपवेष्टा' चार्वाकचार्वाकियों के प्रख्यापक चार्वाकचार्वाक और चार्वाक चर्म के एक अनुत्तर समुद्रार्थ सम्यक समुद्र भगवान् तथामत की तुलना कैसे की जाय ? जीव पुनर्जन्म परछोक और मुक्ति संबंधी एक भी तो सिद्धान्त भगवान् बुद्ध का चार्वाकों से भेद नहीं जाता फिर समान पंक्ति में उन्हें कैसे बैठाएँ ? नास्तिकवाद बेद-निन्दक ईश्वर की निन्दा परमत-द्वेष भावि भी तो बातें बुद्ध के मत में निष्पन्न नहीं होतीं जैसा कि हम पहले ही दिखा चुके हैं । प्रत्यक्ष अनुमति की अपेक्षा बेद या किसी अन्य धर्म को कम ही महत्व देना तो बुद्ध की तरह उपनिषदों को भी मान्य है, यह सब हम पहले ही अच्छी तरह प्रपञ्चित कर चुके हैं मत्त उक्त वैशिष्ट्य (तीनों विद्याओं के ज्ञाता बुद्ध तैमिर्य) 'बेदयु' (वेदज्ञ) मुनि को बेदों का निन्दक कैसे कहा जाय ! बेदों को माँड़ और निघाणों की ही कृति बताने वाले निरर्थक शब्दों की ही उनमें घरमार और बहिर्भीरु-हीन मनुष्यों की ही उस भीमिका का आचार बताने वाले ! उन 'पूर्व' चार्वाकों की तथामत संन्यास तुलना है जिसको बाहर जैसे बेद पारद्वयत शास्त्रों के सिध्य भी 'अपि' और 'बेदज्ञ' नाम से पुकारते हैं । यदि 'बेद' जगत् है तो निरर्थक ही ज्ञान के रूप में तथामत ने उनका ही प्रख्यापन किया है । अनुत्तर दुःख निरोध विज्ञान के प्रसङ्ग में ही उसकी अपेक्षा से 'यदी विद्या' की हीनता दिखाई है और यही तत्त्व 'पय' और 'अपय' विद्या के बोधनिपट्र सामकरण में भी विद्यमान है । अतः तथामत बेद-निन्दक नहीं और इस दृष्टिकोण से भी उन्हें नास्तिक चार्वाकचार्वकियों की पंक्ति में नहीं बैठाना चाहिए । तथामत अपिओं की पंक्ति में ही घोभा बैठ है क्योंकि वे भी वैसे ही आये जैसे अन्य बुद्ध या ज्ञानी मुनि । तथामत

संतार न घटता, बढ़ता उत्कृष्ट अथर्व्य नहीं होता । जैसे कि सूत की गोली उधरती हुई धँकने पर भरती है ऐसे ही भूर्ज और वज्रित बीड़कट, आधायमन में पड़कर बुद्ध का अस्त करेगा' महानास्तिकवाद का चर्मक सूत (मग्गिम २।३।६)

- (१) विताइये—अथो वेदस्य कर्तारो भगवन्मं निपाचरतः । अर्कंती दुर्धरी-
रपारि वज्रितानां वज्रः स्मृतम् ॥ भावार्थो चार्वाकं तद्वि-
भावरसमोदितम् ॥ अग्निहोत्रं अथो वेदातिरिक्तं अस्मदुत्तमम् ।
बुद्धिबीरुपहीनानां भीषिकेन दुहस्पतिः । तत्तदर्थं संघं नं उद्युतः ।

यथा अन्य (अप्य) । इसीलिए वे भगवान् तथागत हैं और वैसे भी 'तथा' बर्म 'सत्य' बर्म को प्राप्त करने के कारण ।

हां एक बात यहां और द्रष्टव्य है । 'बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नाप-
चार्यते । मतो निरमिच्छप्यास्ते नि स्वभावाद्य दृष्टिता । (छद्मकावतार सूत्र)
जैसे बार्बाकों से तथा 'एवं च न निरोधाप्रति न भावोऽस्ति उत्पत्तः ।
अजातमनिदृष्टं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्' (बोधिचर्यावतार) इस प्रकार के
बीड़ आचार्यों के सतत उद्बोध से और 'अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धिन विद्यते ।
अचोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मिन् नास्त्यहं पुन' (बोधिचर्यावतार) इस प्रकार
के उन्मुक्त नैराश्रय के प्रस्थानों से और फिर इतना ही क्यों कर्मकौति को
तो जगद्व्यापी के तो इतना भी कह देने से कि 'बैध प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तुं
वाचः स्नाने चर्मच्छा चातिवायवक्षेप' । सन्तापः पापहाताय चेति ध्वस्तप्रज्ञायां
पञ्चमिदं बानि वाक्ये (प्रमाद-वातिक) एक परम्परा से प्रवृत्ति भारतीय
दर्शन में अवश्य हो गई कि बीड़ भी बार्बाकों की तरह नास्तिक है और
कुछ अनुमानादि प्रमाणों को बढ़ाकर एवं कार्य कारण भाव का निरर्थक
कर वे बार्बाकों की एक धाबा का ही अनुवर्तन करते हैं ।^१ किन्तु यह
एक भ्रमपूर्ण विचार है । अनुत्पादक तथा भूतकोटिरव शून्यता । स्वस्व
नामान्येयानि जगत्वं न विजम्पयेत्' (छद्मकावतार सूत्र) इस प्रकार के बार्बाकों
को हमें कांक्षी विचार देना चाहिए । 'निर्गुण' निर्विषेय 'शून्य' और 'अनिर्-
वचनीय' आदि धर्मों पर भी अधिक ध्यान देना चाहिए एक विधुष्ट लिप्यभ्रष्ट
दृष्टि के साथ । तो फिर हम इन बीड़ आचार्यों को भी बार्बाकों की पंक्ति
में बिठाना स्वीकार नहीं करेंगे । फिर किसी 'नास्तिकपरिहाकरिणु'
आचार्य की आवश्यकता हमें बीड़ मत को सञ्चल करने के लिए नहीं
पड़ेगी क्योंकि फिर वे हमारे लिए बर्म के द्वेष्टा (बर्मद्विषो बीड़ा) न
होकर बर्म के प्रकाशस्वर से संस्वापक ही ठहरेंगे क्योंकि प्रायः सभी बीड़
आचार्यों ने भी अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने के बाद उनके नैतिक
मूर्खों को प्रस्थापित और विवेचित किया है । यदि यहां हम
गीताकार को अपना मध्यस्थ बना सकें जैसा कि हम निबन्ध ही वैज्ञानिक

- (१) कार्य कारण वाक्याद्वा स्वभावज्ञान नियामकात् । अविनामावतियनो दर्श-
नान्तरदर्शनात् । सत्यार्थप्रकाश इत्यस्य समुत्पत्तौ न समुद्भूत । चेति च यो
इत विषय में स्वामी जी के विचार थी ।

दृष्टि को सामने रखकर भी कर सकते हैं—इस महान् ग्रन्थ के अत्यन्त ही निष्पक्ष और समन्वयात्मक होने के कारण तो हम कह सकते हैं कि जिन बच्चों में गीता नास्तिकवाधियों को स्मरण करती है भयवा उनकी ओर संकेत करती है। उस अर्थ के प्रति जार्वाकवादी तो पूर्णरूप से प्रतिनिधि हैं, किन्तु भगवान् बुद्ध या उत्तरकाशीन बौद्ध आचार्य तो उस कोटि में कभी नहीं जा सकते। जार्वाक मत तो जिनको के लिए अनास्थापन का मार्ग है और सबसे अधिक यदि उसकी प्रशंसा में कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह केवल बुद्धि को लेकर समस्या का हल कर लेना चाहता है और वह प्रकृतिवाद के समान अपूर्ण सिद्धान्त है। बुद्ध के बच्चों में संसार का सबसे अधिक भाग (और वह भी अधिकतर विचारकों का) आस्थापन पाता है, कारण कि उन धास्ता के धावन में बुद्धिवाद और अध्यात्मवाद, उनके व्यक्तित्व में कल्याण और प्रज्ञा समान ही रूप से मिळे हुए हैं वे अनुत्तर पुरुष-धर्म-सारथी जानकर ही साक्षात्कार कर ही उपदेश देते हैं और उनका साधन पैसा कि उनके यथ आबक सारिपुत्र ने ठीक ही कहा है, 'मनन करने के लिए अत्यन्त उत्तम है।

यह बुद्ध-वचन या समग्र बौद्ध दर्शन को हमें जार्वाकों की पंक्ति में किसी प्रकार भी नहीं बैठाना चाहिए, ऐसा हमारा निष्पक्ष प्रस्ताव है।

‘दूरमेले विपरीते विपुषी। अविद्या या च विद्यति जाति।’

अपसंहार विद्या और अविद्या की तरह, प्रकाश और अन्धकार की तरह ये दोनों मत (बौद्ध और जार्वाक मत) आपस में निम्न प्रयोजन वाले हैं ऐसा हमें समझना चाहिए।

(१) अतत्त्वप्रतिष्ठं ते जगदादुरनोरधरे । अपरस्परतन्मूर्ते किमम्यत काव हेतुकम् ॥ एतां दृष्टिबद्धम्य मध्यममनोऽस्य बुद्धयः । प्रजबन्तपुण्डरीकः क्षयाय अगतोऽर्हितः ॥ काममाश्रित्य दुष्पूरं धम्ममालमदान्वितः । मोहाद् गृहीतवाग्निबुद्ध्यान् प्रजन्ततेऽमुचिप्रतः ॥ प्रवृत्ति च निवर्त्ति च जना न विदुस्तानुतः । न शीघ्रं नापि आचारो न सत्यं तेव विद्यते ॥ क्षिप्तामपरिमयी च प्रतयान्तामुपाश्रिता । कानोपयोगपरमा एतावदिति निश्चिता ॥ जाता पाप्मातेर्बद्धाः । आदि आदि । गीता अध्याय १६

(२) पुरुषाद क्यबीपुर् भीतिवासाचार्यं तो कदाचिन् इम लोकायतिर्षो के प्रति कष्ट और अधिक उदारता भी दिखाना चाहेंगे ‘वज्रायनवर्धन-

ई—बीछ और जैन बर्षन

आधुनिक गणेशन के प्रकाश में बीछ और जैन तत्त्व-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है। यहाँ हम ऐतिहासिक और ठात्विक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर केवल कुछ संक्षिप्त विचार ही उपस्थित कर सकेंगे।

जैन धर्म की परम्परा पचीस धर्मों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। कुछ के मतानुसार जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। समय-संस्कृति का आदि प्रसर्तक धर्म वस्तुतः जैन धर्म ही है। मोहनजोदड़ो जैन धर्म अस्तित्व में प्राप्त ध्यातव्य तन्म योगियों की मूर्तियों के परम्परा का जन्म आचार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि सिन्धु नदी के उपत्यका की संस्था के काल में जैन धर्म विद्यमान था। ऋग्वेद और बर्षन वेद में ज्ञातों का उल्लेख है। उन्हें उगतपरादि वैदिक संस्कारों से विहीन समय-ज्ञानियों की परम्परा का पूर्व रूप माना जा सकता है। ऋग्वेद के कोटी-सूक्त (१।१६६) में प्राचीन समय योगियों के जीवन की एक मूर्त मिलती है ऐसा भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में वर्णित 'पयियों' को समय साधकों की परम्परा से मिलाने का प्रयत्न किया गया है। कुछ भी हो ज्ञात काल से हमें भारतीय इतिहास में दो प्रकार की विन्तावाचक मिलती हैं। एक यह है जो परम्परामुक्त है, ज्ञान के संरक्षित स्वरूप के अनुगमन पर जो जोर देती है और जिसके बिना सत्य का अन्तिम निरूपण वैदिक साहित्य के रूप में हो चुका है। यह ज्ञातव्य है ज्ञातव्यवादी परम्परा है। दूसरी परम्परा यह है जिसे प्रवृत्तिशील कहा जा सकता है जो ज्ञान को विकासशील मानती है, यह के स्थान पर आचरण को प्रमुखता देती है। वेद-यजन के ऊपर अनुष्मत्त्व को बिठाने

प्रकरण के लोकायतध्यातव्यप्रतीकः विज्ञातः तस्मिन्नाद्यने इतरध्यातव्यप्रतीकः तदुपमुनिता इति विज्ञाप्यते लोकामयिक मुक्तीवच' इत्यादिनिर्वाचनः। तस्मात्तदपि बर्षन पुरा बहुस्यतिगन्वा बुद्धिमत्प्रवचनेन किमचिद्विजुषा रागा-त्वापाय प्रवर्तितं प्रचयं पतपत्तीवित्यवधार्यते'। बर्षनोदय, उपोद्घात पृष्ठ ५। तन्मय है चार्वाक-मत का भी कुछ उद्देश्य 'राम त्याग' रहा हो और बाद में उसके विरोधी सिद्धान्तों ने उसे विनष्ट रूप में रखा हो।

का प्रयत्न करती है और परम निश्चेयस की प्राप्ति के लिये मानवीय पुरुषार्थ पर निर्भर्य और देती है। यह है आत्म्य या समर्थों की परम्परा। दोनों परम्पराओं में काफी आदान-प्रदान भी हुआ है जो भारतीय साधना के इतिहास का एक सुखद अध्ययन-योग्य विषय है। इन दोनों परम्पराओं के सामंजस्य से सम्पूर्ण राष्ट्र की बौद्धिक एकता की स्थापना में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग मिला है। मोटे तौर पर और अत्यन्त व्यावहारिक रूप में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणवादी परम्परा का जन्म और विकास पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हुआ जब कि समग्र-परम्परा का विद्योत्पन्न आसाम बंगाल बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में। साथ में यह मौखिक विमर्श मिट गया और दोनों की पारस्परिक समन्वय-साधना ने एक समग्र एवं अखण्ड भारतीय साधना को जन्म दिया जिसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानव-कल्याण पर आधारित जीवन-विधि के रूप में प्रस्तुति हुई है। आत्म्य की परम्परा को जन्म देने का श्रेय आदिम जैन साधकों को ही है।

जैन धर्म का विकास सहृद्यावधि पंथास्थियों में उन ब्राह्मी महात्माओं के द्वारा किया गया है जिन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। 'तीर्थंकर' शब्द का प्रवर्तन करने वाले बीतराय महात्माओं का नाम है।

जैन धर्म की विशालता 'तीर्थ' शब्द का अर्थ है बहुनिमित्त जिससे भव-सागर तरा जाता है। 'उत्पत्ति संसारमहार्णव' यत्न 'नमित्तेन तत्तीर्थमिति'। धर्मरूपी तौर्य का निर्माण जिन

अखिल मानदण्डों मुनियों ने किया है वे तीर्थंकर कहलाते हैं। जैन धर्म की परम्परा के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों ने जैन धर्म का उपदेष्टा दिया है जिनमें अन्तिम भगवान् महावीर हैं। आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव हैं, जिनका उल्लेख सम्भवतः ऋग्वेद की एक ऋचा (१।१६६।१) में हुआ है। अथर्ववेद (११।५।२४-२६) और गीता ब्राह्मण (पूर्व २।८) में स्वयम्भू वादराय का उल्लेख है जिन्हें भगवान् ऋषभदेव से विष्णु का प्रयत्न किया गया है। यजुर्वेद में कहा गया है कि "युग्म धर्मप्रवर्तकों में भूष्यते।" यह आदि जैन तौर्यद्वार का प्रयोग हासना है। धीमद्विगण (५।२८) में तो और भी स्पष्ट भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख है। आदि तौर्यंकर भगवान् ऋषभदेव के अन्तर्गत अतिरिक्त जो आदिम तीर्थंकर माने गये हैं,

वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। ऋ १।१७।१ और १।१८।१ में वर्णित अरिष्टनमि को जैन तीर्थंकर से मिलाया गया है। इसी प्रकार यमुवर्ष में अजितनाथ का जो दूसरे तीर्थंकर हैं वर्धन मिलता है। जैसा हम अभी देखेंगे अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर बुद्ध के समकालिक थे। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से जिनका समय भगवान् महावीर से प्रायः २५ वर्ष पूर्व माना जाता है। पार्श्वनाथ निश्चयतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। वे मौक्तिक आध्यात्मिक अनुभूति के महापुरुष थे। जैन साधना के बाहर भी उन्होंने भारतीय विचारकों को कितना प्रभावित किया है यह इस बात से विरहित है कि पौराणिक परम्परा के अनुसार भगवान् के बीबीस अवतारों में उनकी गणना है। मध्ययुग के भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् पार्श्वनाथ की ईश्वर के अवतार के रूप में स्तुति की है।^१ भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के अलावा अन्य तीर्थंकर भी निश्चयतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं परन्तु उनकी इतिहासवत्ता पूर्वतः निश्चित आधार पर विवृत नहीं की जा सकी है। जैन पुराणों में जैसा कि वैदिक परम्परा के पुराणों में और बौद्ध बंध-ग्रन्थों में सत्य के साथ सारी कल्पना मिली हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐतिहासिक आधार पर निष्पन्न परीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सत्य के कर्मों को अतिरंजनामयी पौराणिक छड़ी से निकाला जाय और जैन धर्म के अध्ययन को स्थिर ऐतिहासिक आधार प्रदान किया जाय जैसा कि कुछ हद तक वैदिक परम्परा के पुराणों के सम्बन्ध में डा. पार्सिटर और आससबास जैसे विद्वानों द्वारा और पाकि-बंद ग्रन्थों के सम्बन्ध में जर्मन विद्वान डा. पाप्कर द्वारा किया जा चुका है।

भारतीय धार्मिक इतिहास का यह एक अत्यन्त विस्मयकारी तथ्य है कि अमर-धर्म के प्रचारक ये दोनों धर्म किस प्रकार सताशियों से अपनी पृथक् सत्ता बनाये हुए हैं और उनमें से एक बौद्ध और जैन (बौद्ध धर्म) जब कि इस देश से प्रायः लुप्त हो होमों अमर्य धर्म हैं चुका है दूसरे (जैन धर्म) की परम्परा आज भी जीवित रूप में विद्यमान है। बौद्ध धर्म

(१) बिद्धि नाथ पारसत कुछ पंक्तियाँ चित्त चरवन जात ।

रिधि तिद्धि कयला अचिर राखित भक्त तुलसीदास ॥

और जैन धर्म की अनेक ऐतिहासिक समानताएँ और असमानताएँ हैं और एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों का एक अटूट ऐतिहासिक सम्बन्ध है जिसके प्रकाश में हम दोनों के बारे में वाक़ी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। 'आर्य' या जैन प्राकृत में लिखित प्राचीन जैन शास्त्रों और पाणिनिपिटक में मापा और खेरी सम्बन्धी कितनी आधारभूत समानताएँ हैं वह दिखाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। देव और कास की परिस्थितियों में इतनी भारी समानता है दोनों धर्मों के वातावरण और सामाजिक पुष्ठभूमि में इतनी एकक्यता है कि एक के परिपूष और सम्पन्न अध्ययन के लिये दूसरे का अध्ययन प्रायः अनिवार्य ही है। यह खेब की बात है कि पूर्वकालीन बीड़ और जैन साहित्यों का अभी विविधत् तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है। जब तक यह महत्वपूर्ण कार्य पूरा नहीं होता दोनों दर्शन-शास्त्रज्ञों की तुलनात्मक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त नहीं कहा जा सकता।

जैसा हम पहले कह चुके हैं जैन धर्म समन धर्म है और वही बात बीड़ धर्म के सम्बन्ध में भी है। भगवान् बुद्ध के समय में बीड़ भिद्य अपना परिचय पूछा जाने पर अपने को 'समन' कहने से^१। जबवा अधिक स्पष्टता के लिये 'साधयुत्रीय' शब्द उसके पहले और जोड़ देने से^२ जिसने अन्य समन सम्प्रदायों में उनका विमर्श ही सके। बड़-कास में काग साधारणतः बीड़ भिक्षुओं की 'समन' कह कर ही पुकारते थे।^३ भगवान् बुद्ध को तो अनेक बार 'महासमन' (महाममनो) 'पाणि-निपिटक' में कहा ही गया है।^४ इत

(१) एव ३) "भिक्षुओ ! 'समन' समन' कह कर लोग तुम्हें पुकारते हैं। तुम लोग भी 'तुम लोग हो ? पूछने पर 'हम समन हैं उत्तर दैते हो। इस नाम वाले तुम्हें यह सीखना चाहिये—ओ वह समन को सार्पक करने वाला जार्ग है उस पर हम आकड़ होंगे।" महासमनपुर-मुत्तम (मग्गिम १।४।९) 'वैजिय बल-अस्तपुर-मुत्तम (मग्गिम १।४।९) भी।

(२) वैजिये विनय-पिटक—असावण स्वबिर भोग्ग और उनके साधियों ने लंका-नरेश राजा वेजान पिप निरम को अपना परिचय देने हुए कहा था 'समनो मयं महाराज धम्मराजस्स सावका । महारंय

(४) वैजिये विनय-पिटक—महासमन

बुद्ध-पाप (पाप रहित) होते हैं। बुद्ध-काल में निगण्ठों के मुख्य केन्द्र बैसाही और माळन्दा थे जहाँ थे अत्यधिक प्रभावशाली थे और राजकुल काळचिन्ता इसिपिणि पर्वत पर भी उनके निवास-स्थान थे। बुद्ध-काल में निर्धन्य साधुओं के अनुयायियों में उस समय के अनेक महापुरुष थे। बैसाही का सिंह सेनापति निगण्ठों का भक्त था और इसी प्रकार माळन्दा का उपाधि गृहपति भी। अतिबन्धकपुत्र और अमय राजकुमार निगण्ठों के शिष्य थे। स्वर्ण बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु में बण्ण नामक शाक्य जो मगधान् का राजा (बुल पिता) था निगण्ठों का अनुयायी था। बुद्धकालीन निर्धन्य साधुओं में बीष उपस्सी (बीर्ष उपस्वी) और सज्जक के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। निर्धन्य परिवर्द्ध जिकाओं में सज्जा लोहा अवधारका सिवावतिका और पटवारा के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। मज्झिम निकाय के अनुसार निगण्ठों के गृहस्थ शिष्य स्वेत वस्त्र पहनते थे। स्वेतवस्त्रधारी यमभी (सेतसमभी) का भी एक जगह उल्लेख है। मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में कहा गया है कि निर्धन्य लोनों का बाबा था कि वे सब प्रत्तिवों से विमुक्त हो चुके हैं, इसलिये उनका यह नाम है। उनका कहना था "हमारे अन्दर प्रत्ति स्वी स्नेह बाबास्वी स्नेह नहीं है। हम स्नेह-प्रत्ति रहित हैं। इसलिये हमारा 'निगण्ठ' नाम है।" निगण्ठ नाटपुत (निर्धन्य शत्रुपुत्र—मगधान् महावीर) ने पापा में निर्वाण प्राप्त किया था इसका उल्लेख पाणि ग्रन्थों में है और यही वह भी कहा गया है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके अनेक शिष्यों में

होता है जैन धर्मन की मान्यता के अनुसार उसका ठीक वर्णन नहीं है। देखिये जज्ञा-द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्तिक स्त्रीच' में श्री कामताप्रसाद जैन का लेख 'महावीर एव बुद्ध' शीर्षक, पृष्ठ ८८। मगधान् बुद्ध द्वारा उपरिष्ठ अनुमार्जन-संस्कार के वर्णन के लिये देखिये उदुम्बरिक तीहनाम-सूत (वीथ ३।२)

- (१) देखिये अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा, जिसमें दूसरी पृष्ठ ५५९ (पाणि रैनसुद् संज्ञापनी का संस्करण)
- (२) देखिये कुलास-वाक्य, जहाँ सज्जवासी नामक यमभी का उल्लेख है जिसे 'सेतसमभी' कहा गया है।
- (३) अम्वार्क जन्मनकिसेती पत्तिबुज्जककिसेती मत्ति किसेसवधिरहित नय हि एवं वादिताय लज्जामावसेन। निगण्ठा। मज्झिम निकाय-अट्ठकथा जिसमें पृथ्वी पृष्ठ ४२६

विद्वान्नों के सम्बन्ध में विचार उठ खड़ा हुआ प^१। अतः बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर भगवान् महावीर ने बुद्ध-परिनिर्वाण से पूर्व घटीर छोड़ दिया था जो त्राय ऐतिहासिक सत्य माना जाता है। अटिक्कुत्त (संपुत्त ३।१।१) में निर्दम्ब ज्ञानपुत्र का बुद्ध गयाचार्य तीर्थंकर के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। निर्दम्ब ज्ञानपुत्र के कुछ विद्वान्नों का वर्णन हमें बेवदह-मुत्त (मग्गिम ३।१।१) में भी उपलब्ध होता है। एक विशेष बात जो तीर्थंकर भगवान् के सम्बन्ध में पालि तिकाओं में कही गई है वह उनकी सर्वज्ञता या निश्चित-ज्ञानवर्धनसम्पन्नता के सम्बन्ध में है। निपण्ठ गाटपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी है, निश्चित ज्ञान-वर्धन को जानते हैं, बल्ले सड़ें होते सोठे जागते सवा उन्हें ज्ञान-वर्धन उपस्थित रहता है ऐसा अनेक सुत्तों में कहा गया है^२। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपनी सर्वज्ञता का प्रतिपाद किया था। यदि उन्हें कोई सर्वज्ञ कहता था तो इसे वे असत्य के द्वारा अपनी निम्ना मानते थे ऐसा उन्होंने कई बार स्पष्ट कर दिया था। वे किसी प्राणी का सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करते थे। अतः भगवान् महावीर के बारे में भी उनकी क्या दृष्टि हो सकती थी इसे हम आमाजी से समझ सकते हैं। बुद्ध-धर्म्य आनन्द में सर्वज्ञता का दावा करने वाले पास्ताओं की ओर ध्वंश करते हुए कहा था "यहाँ एक पास्ता सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं वरन् सुने परों में भी मिथा के लिये जाने हैं। मिथा तो पाते नहीं उल्टे कनकरीयें से घटीर की गुचबाने हैं। वे स्त्री-पुरुषों के नाम-गोत्र पूछते हैं नाब-जपर का नाम पूछने हैं अपना पास्ता पूछने हैं^३। कुछ विद्वान्नों का कहना है कि आनन्द का सत्य निर्दम्ब साधुओं की ओर था। जो बुद्ध-जाल की परिस्थितियों को जानते हैं वह जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' होने का दावा उस युग में पीठय और बर्द्धमान का ही नहीं था बल्कि अनेक 'बुद्ध' और 'जिन' उत्पन्न हो रहे थे वे वहाँ निर्दम्बों की ओर विशेष श्रद्धा नहीं मान सकते। फिर भी सर्वज्ञता के सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टि को तो आनन्द ने ध्यान कर ही दिया

(१) हेतिये सामयाम-मुत्तका (मग्गिम ३।१।४); सगीति-वरिपाय-मुत्त (दीप ३।१)

(२) हेतिये विदेवत-बुल बुद्धवत्तम्प-मुत्तका (मग्गिम ३।१।४) तथा अल लल्लुवादि-मुत्तका (मग्गिम २।३।९)

(३) सम्यक-मुत्तका (मग्गिम ३।३।६)

प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध और महावीर के काल में बौद्ध और जैन दो अमन-संघ उपस्थित थे और उनका वापस में वीथित सम्बन्ध था। जैन अमन-संघ काट्टी पहले से चला आ रहा था और इस परम्परा के सामुझों को पाणि साहित्य में 'जिगच्छ' या 'जिगच्छ' नाम से पुकारा गया है। 'जिगच्छ' शब्द आज भी पहले की तरह धम्म-विमुक्त जैन साधकों के छिन्ने जैन साहित्य में प्रयुक्त होता है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यह जानना कुछ आश्चर्यजनक न जान पड़ेगा कि 'जिन' और 'वीर' शब्द जो मौलिक रूप में भगवान् महावीर या अन्य पूर्वकालीन जैन महात्माओं के छिन्ने सम्बन्धित प्रयोग किये जाते थे पाणि साहित्य में भगवान् बुद्ध के विशेषण बन गये हैं। बोधि प्राप्त करने के बाद जब भगवान् बुद्ध-मया से वाराणसी की ओर जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें एक नामक एक वासी बक साधु (जिनके मुखिया मन्त्राधि बोसाध थे) मिला था। उसने भगवान् बुद्ध के मुख से उनकी ज्ञान-माप्ति की बात सुनकर उनसे कहा था "आयुष्मन् ! तुम जैसा दावा करते हो उससे तो तुम अनन्त जिन हो सकते हो। इसके उत्तर में भगवान् ने कहा था "मैंने पाप कर्मों को जीत लिया है इसलिये हे एक ! मैं जिन हूँ"। इससे स्पष्ट प्रकर होता है कि 'जिन' शब्द उस समय निर्द्वन्द्व और आजीवनक सामुझों की परम्परा में प्रचलित था और उसे एक अपना नवा अर्थ देकर भगवान् बुद्ध ने अपने छिन्ने भी ग्रहण किया था जैसा कि उन्होंने ब्राह्मणों के 'जैमिष' (जैमिष) 'वेद' (वेद) 'ब्राह्मण' और 'स्नातक' (महातक) जैसे अनेक शब्दों के सम्बन्ध में किया था। जब भगवान् बुद्ध ने मिलु का उल्लेख करते हुए कहा कि 'धम्म मज्झ भी कहा जाता है ब्राह्मण भी स्नातक भी वेद' (वेद) भी शीतिर भी आर्य भी और महर्ष भी" तो उन्होंने स्पष्टतम शब्दों में यह कह दिया कि मनुष्यत्व के उत्तमत्व कहने के सम्बन्ध में ब्राह्मण बौद्ध और जैन साधनाओं में कोई अन्तर नहीं है। 'वीर' शब्द का प्रयोग अनेक बार भगवान् बुद्ध के छिन्ने हुआ है। महाप्रज्वाली पौत्तमी ने भगवान् बुद्ध की स्तुति की है उसमें उन्होंने उन्हें 'वीर' कह कर पुकारा है। 'बुद्ध वीर नमोस्तु'। हे बुद्ध वीर ! तुम्हें नमस्कार हो। भगवान् बुद्ध वीर

(१) जिगच्छ-पिडक—महाज्ज; अरिय परिवेत्तन-सुत्त (मज्झिम १।३।६)

(२) महाप्रज्वाली-सुत्त (मज्झिम १।३।९)

(३) वेरी पाच, पाचा १५७

महावीर दोनों महापुरुषों का समागम रूप से 'जिन' और 'बीर' नाम धारण करना बीर और जैन दर्शन के तुलनात्मक अध्ययनों के लिये एक बड़े आश्वासन और महत्व की बात है^१।

जैन धर्म के अनुयायियों का उल्लेख बीर पाणि पाणि साहित्य में 'निगच्छ' (निर्यन्त) नाम से हुआ है। ये निगच्छ नाट्यपुस्त (निर्यन्त नाट्यपुस्त)

क अनुयायी बताये गये हैं। 'निगच्छ नाट्यपुस्त' पाणि साहित्य निगच्छ नाट्यपुस्त में भगवान् महावीर का नाम है। उनकी मरणा उस समय के प्रसिद्ध छह व्याख्याओं में की गई है। निर्यन्तों का संघटन बुद्ध-पूर्वकाल से बना जा रहा था। पाणि बपनों के अनुसार निगच्छ सामु एक वस्त्र धारण करते थे जबकि अथर्वक विद्यमान रूप रखते थे। रत्नकर्मों में भी जीवितत्व विद्यमान है ऐसा निगच्छों का विश्वास था^२। निगच्छों के मुख्य सिद्धान्त जिनका उल्लेख पाणि साहित्य में हुआ है। ज्ञानार्थम संवर का नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञानार्थम संवर चार प्रकार के संवम का नाम था जिसका विवरण पाणि ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार है (१) जीव हिता के भय से निर्यन्त जल के व्यवहार का संवम करते हैं (२) सभी पापों का वारण करते हैं (३) सभी पापों के वारण करने में छोड़े रहते हैं (४) पापों के वारण करने के कारण वह छटा

(१) अमरकोश १।१।८ में बुद्ध और जिन को समानार्थवाची शब्द बताया गया है। "सर्वत्र सुपत्तो बुद्धो जर्मपन्नस्तथागतः। समन्तमग्नौ भगवान् मारजिस्मोद्धतिभिन्नः"। आश्चर्य नहीं कि इसी प्रकार के व्यापारों पर मातृमय विद्या के अध्ययन के प्रारम्भिक युग में यूरोपीय विद्वान् कार्य ने बुद्ध और महावीर को एक ही व्यक्ति समझ लिया था। वैदिये उनका 'वि रित्तिज्ज्ञानं श्री इन्द्रिया बुद्ध १४८ १५' मिलाइये राजा-हन्तः इन्द्रियन क्रिस्तोसकी जित्वा पहली बुद्ध २९१ का बिन्दु निर्य ने हमें बताया है कि काफ़ी देर तक यूरोप में बुद्ध और जैन धर्म को विद्वान् एक ही धर्म समझते रहे। वैदिये उनका इन्द्रियन सिद्धरेवर जित्वा दूसरी बुद्ध

(२) यम्पपद्मकवा जित्वा तीसरी, बुद्ध ४८९ (पाणि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) साम्प्रदायिक-मुक्त (बीध १।९) ; वैदिये उपाधि-मुक्त (यम्पप २।१।६) भी। ज्ञानार्थम संवर का यह धर्म जो पाणि निगच्छों में उपलब्ध

बुद्ध-नाम (पाप-रहित) होते हैं^१। बुद्ध-काल में निगच्छों के मुख्य केन्द्र वैशाखी और मात्तन्दा ये जहाँ वे भौतिक प्रभावशाली थे और राजकुल, कालक्षिप्पा इतिगिकि पर्वत पर भी उनके निवास-स्थान थे। बुद्ध-काल में निर्दम्ब साधुओं के अनुयायियों में उस समय के अनेक महापुरुष थे। वैशाखी का सिंह सेनापति निगच्छों का भक्त था और इसी प्रकार मात्तन्दा का उपाधि पुरुषपति भी। अश्विबन्धकपुत्र और अमय राजकुमार निगच्छों के शिष्य थे। स्वर्ग बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु में बन्धु मामक शाक्य जो मगधान् का राजा (बृहत् पिता) था निगच्छों का अनुयायी था^२। बुद्धकालीन निगच्छ साधुओं में दीव तपस्वी (दीर्घ तपस्वी) और सन्धक के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। निर्दम्ब परिव्रजिकाओं में सन्धा छोहा अवधारका सिवावतिका और पट्याण्य के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। मज्झिम निकाय के अनुसार निगच्छों के पुरुष शिष्य श्वेत वस्त्र पहनते थे। श्वेतवस्त्रधारी भगवी (श्वेतसमवी) का भी एक अवलोकन है^३। मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में कहा गया है कि निर्दम्ब लोगों का राजा था कि वे सब श्रमियों से विमुक्त हो चुके हैं, इसलिये उनका यह नाम है। उनका कहना था 'हमारे अन्तर प्रसन्न सभी क्लेश बाधाकरी क्लेश नहीं हैं। हम क्लेश-प्रसन्न रहित हैं। इसलिये हमारा 'निगच्छ' नाम है^४। निगच्छ मात्तपुत्त (निर्दम्ब अस्तुपुत्र-मगधान् महावीर) ने पावा में निर्वाण प्राप्त किया था इसका उल्लेख पालि ग्रन्थों में है और वहीं यह भी कहा गया है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके अनेक शिष्यों में

होता है जैन धर्मन की मान्यता के अनुसार उसका ठीक धर्मन नहीं है।
वेदिये काण्ड-द्वारा सम्पादित 'बुद्धिचिन्तक स्तवीय' में भी कमताप्रधान
जैन का लेख 'महामौर एव बुद्ध' धीर्बक, पृष्ठ ८८ । मगधान् बुद्ध द्वारा
उपदिष्ट आनुयामि-संवर के धर्मन के लिये वेदिये अनुम्बरिक तीर्हान-वृत्त
(बीज ३।२)

- (१) वेदिये अनुत्तर-निकाय की अट्ठकथा जिसके दूसरी पृष्ठ ५५९ (पालि ईश्वर लोसायडी का संस्करण)
- (२) वेदिये कुत्ताल-अस्तक जहाँ सन्धपावी नामक भगवी का उल्लेख है, जिसे 'श्वेतसमवी' कहा गया है ।
- (३) अन्धार्क एवमनकिसेतो पत्तिवुरन्धनकिसेतो नत्ति किसेसागठिरहित मयं हि एवं वासिताय कज्जनामवतेन । निगच्छा । मज्झिम निकाय-अट्ठकथा जिसके पहली पृष्ठ ४२३

छिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवाद उठ नड़ा हुआ प^१। अतः बीठ ग्रन्थों के आधार पर भगवान् महावीर ने बुद्ध-परिनिर्वाण से पूर्व शरीर छोड़ दिया था, जो प्रायः ऐतिहासिक सत्य माना जाता है। बटिकमुत्त (संस्कृत ३।१।१) में निर्घन्त्य ज्ञानपुत्र का बुद्ध यथाचार्य तीर्थंकर के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। निर्घन्त्य ज्ञानपुत्र के कुछ छिद्धान्तों का वर्णन हमें देवबद्ध-मुत्त (मग्गिम ३।१।१) में भी उपलब्ध होता है। एक विरोध बात जो तीर्थंकर भगवान् के सम्बन्ध में पालि ग्रन्थों में कही गई है वह उनकी सर्वज्ञता या निश्चित-ज्ञानवर्धनसम्पन्नता के सम्बन्ध में है। त्रिपिट नाटपुत्त सत्रज सर्वदर्शी है निश्चित ज्ञान-वर्धन को जानते हैं जन्मते नष्ट होते सोते जागते सदा उन्हें ज्ञान-वर्धन उपस्थित रहता है ऐसा बनेक सुत्तों में कहा गया है^२। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपनी सर्वज्ञता का प्रतिपाद किया था। यदि उन्हें कोई सर्वज्ञ कहता था तो इने ने असत्य के द्वारा अपनी निम्नता मानते थे ऐसा उन्होंने कई बार स्पष्ट कर दिया था। वे किसी प्राणी का सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करते थे। अतः भगवान् महावीर के बारे में भी उनकी क्या दृष्टि हो सकती थी इने हम जानती से समझ सकते हैं। बुद्ध-परिण्य भगवान् ने सर्वज्ञता का दावा करने वाले शास्त्राचार्यों की ओर ध्वंग्य करते हुए कहा था "यही एक शास्त्रा सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं परन्तु मुने वरों में भी मिथ्या के किये जाते हैं। मिथ्या तो पाते नहीं उस्टे कण्ठों में शरीर को नुचवाने हैं। वे स्त्री-पुरुषों के नाम-गोत्र पूछने हैं बाह-जयर का नाम पूछने हैं अपना पत्नी पूछने हैं^३। कुछ विद्वानों का कहना है कि भगवान् का लक्ष्य निर्घन्त्य साधुओं की ओर था। जो बुद्ध-आत्म की परिस्थितिमें को जानते हैं यह जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' होने का दावा उस युग में गौतम और बर्द्धमान का ही नहीं था बल्कि अनन्त 'बुद्ध' और 'जिन' उत्पन्न हो रहे थे व महा निर्घन्तों की ओर विद्यमान सबत नहीं मान सकते। फिर भी सर्वज्ञता से सम्बन्ध में बीठ दृष्टि को तो भगवान् ने स्पष्ट कर ही दिया

(१) हेसिये साधपाम-मुत्तन्त (मग्गिम ३।१।४) सवीट्टि-परिवाय-जत्त (दीप ३।१)

(२) देघिये विरोधत बुत्त बुत्तवज्जन्त-मुत्तन्त (मग्गिम ३।१।४) तथा बुत्त सत्तवज्जि-सत्तन्त (मग्गिम ३।१।९)

(३) सत्तवज्ज-जत्तन्त (मग्गिम ३।१।९)

बा। सर्वज्ञतावाचक की साम्यता जिस धर्म में हो उसे स्वयं भगवान् बुद्ध ने अनास्थाधिक ब्रह्मधर्म' या आराधनहीन धर्म : कहा था^१। मुसपर (एक साध) कोई मनुष्य तीनों काल के और तीनों लोकों के पदार्थों को जानेवा ऐसा भगवान् बुद्ध नहीं मानते थे। इसीकिये उन्होंने न वैदिक ऋषियों को सर्वज्ञ माना था और न स्वयं अपने को। जैन दर्शन में इस विषय सम्बन्धी वस्तुतः एक परिपूर्ण समाधान है जिसकी शोधपक्षिक अभिव्यक्ति प्रबचनसार' की इस भाषा में की गई है "जो एक ही साध तीनों कालों के और तीनों लोकों के पदार्थों को नहीं जानता उसो पर्यायसहित एक ब्रह्म ब्रह्मता भी शक्य नहीं है^२। इसका अर्थ यह है कि जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस धार्मिक विचार में भगवान् बुद्ध ने कोई भाग नहीं किया है और सम्भवतः यह उनके मुख में उत्पन्न भी नहीं हुआ था। निर्गन्ध ज्ञानपुत्र के सिद्धान्तों को संक्षेप रूप में पाणि निकायों में इस प्रकार रखा गया है "जो कुछ भी यह पुरुष पृथक् बुद्ध या असुख-अ-बुद्ध अनुभव करता है वह सब पहले किये हुए हेतु से। इस प्रकार पुराने कर्मों का तत्पश्चात् अन्त करने से नये कर्मों को न करने से अविध्य में परिणाम रहित होता है। परिणामरहित होने से कर्म-क्षय कर्म क्षय से दुःखक्षय बुद्ध-क्षय से वेदना-क्षय वेदना-क्षय से सब दुःख भीर्य होते हैं^३। सैदान्तिक दृष्टि से एक अव्यक्त महत्त्वपूर्ण बात जो हमें निर्गन्ध ज्ञानपुत्र के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पाणि निकायों में उपलब्ध होती है वह है उनके द्वारा मानसिक कर्म (मनोकम्म) और शारीरिक कर्म (कम्म-कम्म) के पारस्परिक अनिष्ट सम्बन्ध पर जोर देना। 'चित्तं धर्मं कामो होति कार्यं कर्त्तुं चित्तं होति'^४ अर्थात् चित्त पर आचारित कामा है और कामा पर आचारित चित्त है। यह जैन साधकों का बुद्ध-काल में प्रसिद्ध आदर्श-वाक्य था। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बहुत मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त जिसका मौखिक रूप से प्रतिपादन निर्गन्ध साधुओं की परम्परा में किया गया उनकी जीवनदृष्टि के सहारे नैतिक अभिव्यञ्जन को व्यक्त करता है और इस सिद्धान्त को

(१) ईश्वर्ये ब्रह्मधर्मो पुच्छ १६१

(२) भाषा ४८

(३) ईश्वर्य-मुत्त (मन्त्रिम १।१।१)

(४) महावक्क-मुत्तान्त (मन्त्रिम १।४।६)

निर्धकोष रूप से बौद्ध साधना में ग्रहण किया गया जब कि भगवान् बुद्ध ने कहा 'चेतना (चित्त) की मैं कर्म कहता हूँ।' 'एक गांठि कइ फेरे।'

अगर हमने भगवान् महावीर (निर्ग्रन्थ शाक्यपुत्र) के जीवन और उनके उपदेशों के सम्बन्ध में जैसे कि वे पालि ग्रन्थों में वर्णित हैं कुछ वर्णन किया है। हमें याद रखना चाहिये कि यह चित्र बहुत कुछ अपूर्ण कहीं-कहीं बिगड़ और टोड़-भरोड़ कर भी रक्खा हुआ है। उसके आधार पर जैन दर्शन या उसकी धर्म साधना के सम्बन्ध में कोई मठ निर्धारित कर लेना उसके साथ अन्याय होगा। जैसे कल सूखी मूर्तियाँ हुई पत्थियों को देखकर हम किसी मानासुससत्ता समन्वित पत्रपुष्पादि की समृद्धि से मुक्त विद्यालय उपवन का अनुमान नहीं लगा सकते वही 'हास बौद्ध पालि ग्रन्थों में प्राप्त जैन धर्म या दर्शन सम्बन्धी वर्णनों का है। जैन दर्शन-परम्परा विद्यालय और मठों है और उसका प्रवृत्त अध्ययन उसके स्वतन्त्र मौखिक ग्रन्थों के आधार पर ही होना चाहिये। हमें यह कमी न भूकना चाहिये कि बौद्ध और जैन संघ दोनों समय-संघ होते हुए भी विधेयता विषय-आधि के लिये बुद्ध-काल में प्रतिस्पर्धा में रत थे। अतः एक ने दूसरे के साथ कुछ ऐसा अस्य अन्याय भी किया है जिसे हम आज अधिक सहानुभूति के साथ समझ सकते हैं। स्वयं बौद्ध संघ की विभिन्न शाखाओं ने एक दूसरे के साथ और इसी प्रकार जैन संघ की शाखाओं ने एक दूसरे के साथ इस प्रकार का अस्य अन्याय किया है जिसकी सामान्य मानवीय निर्दोषता समझकर हम आज आसानी से भुला सकते हैं। बौद्ध धर्म के वर्णनों के आधार पर जैन धर्म के सिद्धांतों के सम्बन्ध में और जैन धर्म के वर्णनों के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धांतों के सम्बन्ध में हमें निम्ना धारणाएँ नहीं बना लेनी चाहिये। शिष्य-आधि के लिये इनमें काफ़ी होड़ चल रही थी और इसकी प्रतिष्ठाया इनके वर्णनों पर भी पड़ी है। पालि वर्णनों के ही अनुसार निर्ग्रन्थ लोग बुद्ध को 'अधियावारी' कहते थे^१ जो वह वास्तव में नहीं थे और इसी प्रकार बद्ध-शिष्य चित्त यहूतों के साथ निर्ग्रन्थ शाक्यपुत्र के साथ संघर्ष के सम्बन्ध में तथा बाबा वासुदेव में जिस

(१) देविये तीहमुत्त (अपलर ८।१।२।११) निपण्ड नाकपुत्त के शिष्य अमय राजकमार के द्वारा बुद्ध की निम्ना के लिये देविये अमय राजकमार-मुत्तम्त (अग्निदम २।१।८)

(२) ओ मयिद्विज्जसत्त में हुआ था, देविये संवुत्त-निकाय त्रिस्त्र पाँचवीं, पृष्ठ १९८ (पालि ईसुद्द तोतापदी का संस्करण)

प्रकार निर्धन साधकों को उपस्थित किया गया है वे बाँटे बीड साहित्य को गौरव देने वाली नहीं करती। यहाँ सन्तोष की बात यही है कि भगवान् बुद्ध का इससे कुछ सम्बन्ध न था। भगवान् बुद्ध इस बात से बड़ सतर्क थे कि निर्धनों के जो शिष्य उनके भक्त को स्वीकार भी करें तो उसके बाद भी वे अपने निर्धन युद्धों का उसी प्रकार शानमानादि से उत्कार करते रहें जैसा वे कि पहले करते थे। उपाधि गृहपति को स्पष्टतः उन्होंने ऐसा आदेश दिया था^१। निर्धन साधकों के प्रति बिना सम्मान की भावना रखते हुए इस प्रकार का आदेश नहीं दिया जा सकता था। यहाँ बीड साहित्य के गौरव को बढ़ाने वाली एक बात को भी बताना अनुचित न होगा जिसका जैन धर्म के एक ऐसे गौरवमय साध्य की ओर संकेत किया है जिसका पता स्वयं जैन धर्म को भी नहीं है। अशोक के पुत्र और पुत्री महेन्द्र और श्वशुरिणा जब लंका में धर्मप्रचारार्थ गये तो वहाँ उन्होंने अपने से पूर्व स्थापित निर्धन-संघ को देखा।^२ लंका के प्राचीन नगर अनुराधपुर की (जो थाव लखनूर के रूप में पड़ा है) जब स्थापना की गई तो वहाँ 'महार्थ' के कथनानुसार उत्कालीन राजा ने निर्धनों के लिये भी आश्रम बनवाये। इतना ही नहीं पाकि धर्मों का साध्य है कि लंका में बीड धर्म की स्थापना होने के बाद भी ४४ ईसवी पूर्व तक निर्धनों के आश्रम लंका में विद्यमान थे जिसे ऐतिहासिक उध्य के रूप में 'पाकि डिक्कनरी जॉन प्रोवर नेम्स' के सपादक प्रसिद्ध सिन्धुजी बीड विद्वान् मल्लसेकर ने भी स्वीकार किया है^३। जैन विद्वानों को अपने प्राचीन विदेशी-प्रचार कार्य की ओर करनी चाहिये। बुद्ध-काल में आजीवकों का एक सम्प्रदाय था और उनके प्रति भगवान् बुद्ध की दृष्टि अच्छी नहीं थी। वे उन्हें अक्रियावादी मानते थे और सुमति के अनधिकारी^४। आजीवकों को जैनों का एक सम्प्रदाय मानना गलती होना। डा. वैष्णोदास बाबुजा जैसे विद्वान् ने इस प्रकार की गलती की है। जैनधर्म का आजीवक सम्प्रदाय से क्या सम्बन्ध है इसका जम्बोह हम 'आजीवकाजीन भारतीय बर्चन की

(१) देखिये ज्वालि-मुत्त (मज्झिम निकाय)

(२) देखिये महावर्ध १।१७

(३) देखिये पाकि डिक्कनरी जॉन प्रोवर नेम्स में 'निपत्त' शब्द का विवरण।

(४) देखिये वैविज्जवच्छगीत-मुत्त (मज्झिम १।१।१)

अवस्था' के विवरण के समय बार चुके हैं। स्वयं पाकि निकायों में आजीवकों के सम्बन्ध में कहा गया है 'ये आजीवक तीन को अपना मार्ग दर्शक बतलाते हैं—नन्द आत्मा कुछ संकल्प और मन्त्रमि गोसाळ।' अतः आजीवकों को निर्देशों में सम्मिलित करना ठीक नहीं है। वा बेंबी-मावव बाहुबा ने आजीवकों के साथ उम्बोवतच्छरीरवादी नास्तिकवादी विनयवादी बादि सम्प्रदायों को जैन सम्प्रदायों के रूप में वर्णित किया है^१ जो ठीक नहीं मान पड़ा।

यहाँ एक बीड़ और जैन दर्शनों का वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है हम स्वामी ब्रह्मन्म के दर्शनों में कह सकते हैं 'जैनबीड़मोरैक्यम्'^२। वेद-ग्रामाध्य को इन दोनों में से कोई नहीं मानता। वैदिक यज्ञ यागादि की बार दोनों में से किसी की सङ्गानुमति नहीं है। परन्तु दूसरी ओर जब हम देखते हैं तो काफी सेव भी है। जैन दर्शन पूर्वत आत्मवादी यचन है और बीड़ दर्शन के नाम के साथ तो 'अनात्मवाद' अनिवार्य रूप से बुझा हुआ है उसके उत्तरकात्मिक पुद्गलभूम्यता और बमभूम्यता की तो कोई बात ही नहीं। बीड़ और जैन दोनों महिसावादी धर्म हैं परन्तु महिसा की स्वीकृति जैन धर्म में बीड़धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर है। तबस्या के स्वरूप को लेकर कुछ भद है। बुड़ ने ज्ञान प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार की कायकसेवमको तपस्याएँ की। परन्तु उन्हें बाधि के लिये उपयोगी नहीं पाया। लहू धर्म की कड़ी तपस्या के बाद जब बुड़ ने कहा 'मुझे उससे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई' तो यह उस समय की धार्मिक शाकता के लिये एक बड़ी अन्तिमारी बाणी थी। तपस्या के सम्बन्ध में हम बुड़ के मन्त्रम्य को अत्यन्त ध्यान कर चुके हैं इसलिये उसका पुनर्दर्शन करना यहाँ आवश्यक न होगा। यदि तपस्या करने शरीर को कष्ट देने दिनी के बिलम्ब दूर होने हैं और उसके कष्टकर्मों की मृडि होती है तो उसके लिये इस प्रकार की तपस्या को बाय-मनेन की बुड़ विहित और आवश्यक बगल है उससे विपरीत को निषिद्ध और अनाव

(१) लम्बक-मुत्तम (मज्झिम २।१।६)

(२) वैदिये उनकी श्री अद्विष्टिक इन्डियन रिजोतापी बळ २८२, २९५

३ २ ३ ६ ११८ एवं ११९

(१) तत्पार्थ प्रकम (इराता लक्ष्मणास)

सक ।^१ जिस और शरीर के कर्मों के समिष्ट सम्बन्ध का प्रस्थापन करने वाले तीन साधक क्रमिक तपस्या पर ही जोर देते हैं। ऐसा कहना उनके मतभेद को विवक्षित करना होना। फिर भी तपस्या तीन साधना का अधिक आवश्यक अंग है अपेक्षाकृत बौद्ध साधना के यद्यपि बौद्ध साधना में भी उसके महत्त्व की स्वीकृति है। बुद्ध के विचार का प्राण है उसका मध्यममार्गी स्वल्प जो उसकी अपनी विशेषता है।

तीन दर्शन और बौद्ध दर्शन दोनों ही एक भावि स्थिर चैतन्य कर्ता की सहा में विरभास नहीं करते। जैसा अभी कहा गया दोनों का प्रामाण्य दोनों को ही स्वीकार्य नहीं है। दोनों ही बहिष्ता पर अधिक जोर देने वाले हैं यद्यपि तीन दर्शन दो कुछ अत्यधिक भी। अब हम क्रमशः व्यवहार-यस तत्त्व-यस और प्रमाण-यस को लेकर इन दोनों दर्शनों के सम्बन्ध पर आते हैं।

व्यवहार-यस या नीति-यस में तीन बार्हनिकों ने सम्बन्धित सम्म-ज्ञान और सम्म-चारिभ्य को मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है^२। अतः बौद्ध दर्शन के साथ उसकी पूरी समानता है। हम जानती हैं कि व्यवहार-दर्शन इस साधन-विपुटी को बौद्ध आर्य अष्टाधिक मार्ग का क्षेत्र में संक्षेप कह सकते हैं या इसका विस्तार आर्य अष्टाधिक मार्ग को मान सकते हैं बिना एक दूसरे पर किसी के श्रेष्ठ की स्थापना करते हुए। आर्य अष्टाधिक मार्ग के प्रत्येक अंग के भावि में 'सम्म' बुद्धि हुआ है और यही बात जैन-साधना की संप्रयुक्त विपुटी में है। यह अत्यन्त सार्वक है। वस्तुतः सम्म-यस बौद्ध और तीन दोनों दर्शन-साधनाओं का एक समिष्ट अंग है, यद्यपि केवल सम्म-यस को लेकर बौद्ध दर्शन की अपेक्षा तीन दर्शन में अधिक विचार है। तीन योग का यदि हम दर्शन करने करें तो वह क्रमशः जैसा ही होता जैसा उपनिषदों का महर्षि पर्ववर्ग का अथवा बुद्ध का। यही श्रुत्यापारों में ध्यान करने का उपदेश^३ यही हिंसा अक्षय्य चोरी भावि है

(१) देविये देवण्ड-सुत्तान्त (सन्धि-म ३।१।१)

(२) सम्म-वर्धन-ज्ञान-चारि-भावि मीक्षमार्गः । तत्त्वार्थ सूत्र १।१

(३) श्रुत्यापारेण विरिगुह्यस्त्रीदराविनु आवासः । तत्त्वार्थ सूत्र ७।६; मित्त-हये बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति 'विमुक्तो ! श्रुत्यापारों से आकर ध्यान की बुद्धि करो' । विरि-गुह्य, पुमान्-पुन और वृत्त-भूत में ध्यान करने का उपदेश भी अथवान् बुद्ध ने दिया है।

विरति^१ बही सत्य अस्तेय अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावनाएँ^२ बही कर्मों का विभाजन और उस कर्म से मुक्ति प्राप्ति रूपी बही जीवन का उद्देश्य। कर्मों का निःशेष किए बिना जैन दर्शन में भी मुक्ति सम्भव नहीं है। उस कर्म का स्वरूप यहाँ पुद्गल रूप अवश्य है जबकि बौद्ध दर्शन में चेतना रूप। बौद्ध दर्शन के 'अवशस' कर्म ही यहाँ ज्ञानावरणीय कर्म दर्शनावरणीय कर्म बोधनीय कर्म और मोहनीय कर्म इन चार 'पातीय कर्मों' के रूप में प्रकाशान्तर से रहने हुए हैं अपने विशेष दशान का एक आवरण पहने हुए। फिर जैन दर्शन में जिन्हें 'अमरार्य' कर्म कहा गया है वे बौद्ध विचार के तीन सम्प्रतों ब्रह्मा पाँच नीवरणों से कितनी समानता रखते हैं इसकी भी बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ^३ इस कम नियम सम्बन्धी निष्ठा को दिखाने की भी क्या आवश्यकता? योग दर्शन के तो वे जिसका अमरार्य और विशेष अशुभ^४ के रूपान्तर ही है इसके बताने में भी यहाँ परिश्रम करना नहीं होया। जैन साधना की अशुचि भावना को जो बहाँ ब्रह्मण प्राचीन कास से प्रपञ्चित है बौद्ध कर्म 'ने अशुभ भावना' के रूप में से लिया है, हा इन्द्रियाल के इन सम्बन्धी मत से^५ जिसमें जहाँ बौद्ध-कर्म पर जैन कर्म के अध्य को स्वीकार लिया है सहमत होने में हमें विशेष बटिनाई नहीं। बौद्धों ने ब्रह्म विहार स्वरूप मैत्री करुणा महिता और उपेक्षा की भावनाएँ जैन साधना में भी विद्यमान हैं^६। जैन दर्शन के अनुसार कर्म-पुद्गल ही जीव और अजीव का सम्बन्ध कराना है और जीव और कर्म परमाणुओं की गति को ही जैन दर्शन में भासव कहा जाता है जो भव का कारण है। जीव और कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध ही जैन दर्शन में 'वश्य' या बन्धन कहलाता है। जिन

(१) हिसम्मृतस्तोयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिवतम् । तत्त्वार्थ-सूत्र ७।७

(२) वैदियं तत्त्वार्थ-सूत्र ७।४ ७

(३) शुभ-पुद्गलानुक्तः चापस्य । तत्त्वार्थ-सूत्र ६।१

(४) वैदियं आर्ये बौद्ध दर्शन और योग-वर्तन के सम्बन्ध का विवेचन ।

(५) वैदियं हि बोधिसत्त्व बोधिवृत्ति इति बुद्धिस्तु संस्तुत लिटरेचर पृष्ठ ९५; जितानुये तत्त्वार्थ सूत्र ७।१२

(६) मैत्रीप्रमोदकादयमाप्यस्त्वानि च तत्त्वमुपाधिपरित्यज्यमानाविशेषेण । तत्त्वार्थ-सूत्र ७।११

कर्मों के करने से जीव का स्वामानसिक प्रकाशमय स्वस्व बाष्पाकारित हो जाता है उन्हें पाप कर्म कहते हैं। जब जीव को धर्मिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो गभीर कर्म का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है मरवा जैन धार्मिक भाषा में कहना चाहिए कि कर्म-मुक्तक का जीव की ओर पतिसील होना बन्द हो जाता है और यही 'संवर' कहा जाता है। 'बल्लुना संवरों साधु' का प्रयोग तो बुद्ध के उपदेशों में भी हमें उपलब्ध होते जिनके समान कहीं-कहीं जैन-साम्प्रदाय भी की गई है, किन्तु संवर की तात्त्विक व्याख्या तो जैन दर्शन की अपनी बात है। संवर (संयम) का अभ्यास करते-करते जब जीव कर्म परमाणुओं से छूटने लगता है तो यही 'निर्वरा' की अवस्था होती है। इस निर्वरा की अवस्था प्राप्त होने पर जो परिपूर्णतम संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, जीव मुक्त हो जाता है और उस दशा में वह अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान और अनन्त नीरव का भागी होता है। इसी उद्देश्य की ओर जैन साम्प्रदाय जीव को के जाने की कोशिश करती है और इस अर्थ में न केवल वह बीज दर्शन से ही बल्कि प्रायः सभी भारतीय अन्य दर्शनों से भी भली प्रकार संयत है। यदि निश्चय ही और सब बातों को गीत स्वीकार कर जैन दर्शन ने धर्म के हेतु का निदान आत्मन के रूप में ही दिया है और संवर या संयम को ही मोक्ष मार्ग ठहराया है तो हम कह सकते हैं कि उसका वह निदान और यह धैर्य-विधान अतुल्य सत्यों के वास्ता जत 'उत्तम निवर्क' तथागत के जीव-विज्ञान से कुछ विभिन्न प्रकार का नहीं है किन्तु समान ही

- (१) भिक्षाद्वये 'बल्लुना संवरों साधु साधु सोतेन संवरों । बाधेन संवरों साधु साधु विह्वल्य संवरों ॥ कायेन संवरों साधु साधु वाचाय संवरों मनसा संवरों साधु साधु सम्बल्य संवरों ॥ सम्बल्य संवृतो भिक्षु सम्बल्य पमुञ्चति । अन्तपद, भिक्षुवर्णो २५।१-२; वैश्वे कायेन संवरों साधु, साधु वाचाय संवरों । मनसा संवरों साधु साधु सम्बल्य संवरों ॥ सम्बल्य संवृतो कञ्ची रक्षितोति पमुञ्चतीति' संयुत निकाय । जैन दर्शन में 'संवर' की इस रूप में व्याख्या के लिये वैश्वे आत्मनिरोध संवरः । तत्त्वार्थ-सूत्र १।१
- (२) आत्मनो नबहेतु स्यात् संवरों पीडाकारणम् । इतीयमर्हती बुद्धिः अन्य-वत्या प्रपञ्चनम् ॥ सर्व दर्शन संग्रह में उद्धृत ।

मन्त्रम्य का व्यवहृत्तन करने वाला है। बौद्ध साधना में जिस प्रकार लोक को अनित्य और अक्षर्य कहा गया है, वही बात जैन साधना के सम्बन्ध में है^१। बर्जास्तिकाय^२, प्रत्येकबुद्ध^३ और बुद्ध के प्रवेश क्षेत्र^४ की कल्पनाएँ स्पष्टतः बौद्ध धर्म से ली हुई जान पड़ती हैं।

तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में आते ही हमें बौद्ध और जैन चिन्तन-धाराओं की परस्पर विभिन्न प्रवृत्तियों और रुचियों का पता चलने लगता है। यहाँ विज्ञानवाद या शून्यवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्वदर्शन के स्वरूपा और विनाश दोनों ही प्रत्येक वस्तु में रहते हैं। क्षेत्र में कोई भी वस्तु एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य नहीं है। सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की हैं।

‘न मयो संबन्धिहीनो संघो वा जाल्पि संभव विहीनो।

उत्पादो वि य संघो न विना योऽर्थेव जलैव ॥

जर्वात् ‘उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उत्पत्ति और नाश दोनों का आशय कोई पदार्थ होना चाहिए। एकान्त नित्य पदार्थ में परिवर्तन सम्भव नहीं है और यदि पदार्थों को लक्षिक माना जाय तो ‘परिवर्तित नोन होता है? यह भी बताया नहीं जा सकता। अतः जीव जैन दर्शन के अनुसार एकान्त नित्य नहीं है। परमाणुओं के संघात से ही संसार के सारे पदार्थ बने हैं यह जैन दर्शन का एक मौलिक विचार है। परमाणुओं के पुनः को ‘स्कन्ध कहा जाता है। मौलिक अवयव अपने समष्टि रूप में ‘महास्कन्ध’ कहा जाता है। जैन दर्शन में परमाणु आदि-अन्त-हीन और नित्य है। परमाणु अमूर्त हैं। पृथ्वी जल वायु आदि एक ही प्रकार के परमाणुओं के रूपान्तर हैं। मुक्त जीव परमाणुओं का प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परमाणुवादी हैं और जीवों की अनेकता मानने के कारण अनेक-जीववादी भी किन्तु जीव को वे व्यापक नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान जीव का गुण नहीं है किन्तु जीव

(१) वेदिये तत्त्वार्थ-सूत्र १।७

(२) वेदिये तत्त्वार्थ-सूत्र १।८

(३) वेदिये तत्त्वार्थ-सूत्र १।१९

(४) " तत्त्वार्थ-सूत्र १।१९

ज्ञान स्वरूप ही है। कर्म-मुक्त्यर्थ से उसके वास्तविक ज्ञान पर आश्रय पड़ा रहता है। किन्तु जब मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है जीव अनन्त बुद्धि और अनन्त दर्शन बाधा हो जाता है। यही मुक्त जीव 'सिद्ध' कहलाता है। अब जैन दर्शन 'सिद्ध' अवस्था के रूप में जीव-मुक्ति को स्वीकार करता है जो बौद्ध दर्शन के साथ साथ अन्य भारतीय दर्शनों की भी एक प्रायः सामान्य प्रवृत्ति ही है। जीव अजीव आश्रय बन्ध संहर, निर्बन्ध मोक्ष (जीवाजीवव्यसंहरनिर्बन्धरामोक्षास्तत्त्वम्) तथापाप और पुण्य इन तीनों विभागों में ही निश्चय के सारे पदार्थों को बाँटने वाले जैनो को ईश्वर की उपस्थिति कहीं नहीं हुई। अब उत्तरकाशीन बौद्ध आचार्यों के समान वे भी अनीश्वरवादी हैं। अतः का कोई कर्ता उन्हें नहीं मिला। यदि ईश्वर के कर्तृत्व सम्बन्धी विश्वास को आचार्य जर्मकौटिलि केवल अनुष्णों की बुद्धि की जड़ता का बिन्दु मान समझते हैं तो संस्कृतेन उस प्रकार के विश्वास से बचने के लिए अपने अनुशासक के प्रतिवृत्तता प्रकाशित किए बिना नहीं रहते 'कर्तास्ति दक्षिण्यवयव' स चैक स सर्वय स स्वयय स नियय' इमा कुहेवाक विदम्बना सु' तेषा न येयाम् अनुशासकस्त्वम्'। जैन आचार्यों के लक्ष्य ही ईश्वरकर्तृत्वात् के बिना प्रायः वैसे ही हैं वैसे बौद्ध आचार्यों के। असरीरी कर्ता की अवगति बड़ा ईश्वर के पास सृष्टि निर्माण के लिए किसी भी उद्देश्य की अविद्यमानता ईश्वर की कारुणिकता और जगत् की दुःखमयता में पारस्परिक असंगति बाधित बातें ऐसी हैं जो ईश्वर-कर्तृत्वात् को जमाने नहीं देती। जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शन के समान ही फल प्राप्त कराने के लिये कर्म मान को ही पर्याप्त समझता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर दोनों के ही विरोधी होने के कारण जैन और बौद्ध दर्शन 'वास्तविकवादी' लोगों के द्वारा एक ही कोटि में बांध दिए गए हैं और अन्य बातों में उनके पारस्परिक विमर्श की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया। अब हम जैन दर्शन के स्वरूप पर आते हैं।

जैन ध्याय-परम्परा अत्यन्त विशाल और विस्तृत है। मध्ययुगीन ध्याय के इतिहास में जैनो का एक विशेष भाग है। अकालका राजवाटिक, स्वामी

(१) स्पष्टावमञ्जरी।

(२) ईश्वरदास के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए हरिमल का पददर्शन-समुच्चय और अंत पर मुद्रण की वृत्ति।

विद्यानन्द का दण्डोक्तवातिक और समस्त भद्र की उत्तरकालीन (अर्थात् ज्ञान मोमांसा' प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी समय रचे मध्ययुगीन) बौद्ध और ए। हरिमित्र सूरि के 'पद्मसंन समुच्चय' मस्तिष्कन जैन न्याय-परम्पराएँ की 'स्याद्वाद मंत्री' भी अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं

त्रिनमें नैयायिक दृष्टि से जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है^१। जैन नैयायिकों ने बौद्ध धर्ममर्यादा का जो निराकरण किया है उसका विवरण पीछे हम 'धर्मिकवाद' का विवेचन करते समय देखेंगे। जैन न्याय की सबसे बड़ी देन भारतीय नैयायिक विचार को उनका 'स्याद्वाद' सम्बन्धी सिद्धान्त है। उसमें सच्चिदकल्प मानसोप ज्ञान की अस्पष्टता की अनुमति बूट-कूट कर भरी है। साथ ही समन्वयवाद की भी। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कहते हैं और यह एक प्रकार से जैन दशन का दूसरा नाम ही है। अब इस सिद्धान्त का जैन दशन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'स्याद्वाद को 'स्याद्वादमन्त्री' में संश्लेषित इन प्रकार परिभाषित किया गया है 'स्याद्वादोऽनेकान्तवादा नित्यानित्यादमनेव धर्मसाधनेवस्तुभ्युपगम इति' अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते हैं, त्रिनके अनुसार एक ही वस्तु में निरपेक्षा अनित्यता आदि अनन्त धर्मों की उपस्थिति मानी जाती है और प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक मानी जाती है। इस प्रकार जैन दर्शन का विचार है कि एक ही वस्तु को दशन की अनेक दृष्टियों से देखनी है किन्तु सम्पूर्ण साथ क्या है इसको दशन के लिये सब दृष्टियों का मर्यादित आवरण है। यही तात्पर्य अनेकान्तवाद को 'सम्पूर्ण आदेश' या 'सर्वत्र आदेश' कहने का है। सब कुछ महा जगत् में 'विकल्प' ही विकल्प आदेश है सच्चिदकल्प जगत्-जगत् है। 'मवक्त' आदेश यही सब दृष्टियों को मिलाने पर बनता है त्रिनका 'अनेकान्त' प्रतीक है। किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता के विषय में हम कबल यही कह सकते हैं (१) गायब है (२) गायब नहीं है। (३) गायब है और नहीं है (४) गायब अवश्य है (५) गायब है और अवश्य है (६) गायब नहीं है और अवश्य है तथा (७) गायब है नहीं है और अवश्य है। एनी को सप्तप्रती

(१) किन्तु नैयायिक दृष्टिकोण से ज्ञान मर्यादित है। महादृष्टि 'जगत् सर्वत्रानित्यमिति' निश्चित दिशाकर हुए 'स्यादापवाद' नाशित्व जगत् है 'वरीणात्मन भूत' हैदुरित्त 'प्रमत्ततत्त्वान्तर' आदि ।

मय^१ भी कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इस मय की संवेहवादी व्याख्या की है, जिससे सहमत होना कठिन है। अध्येय ज्ञान को सिखाने वाले छात्रों को संवेह को सिखाने में यह सम्भव नहीं। अध्येय के कठिणपुत्र के विचारों की मजबूत सत्यता मय में देखना ठीक नहीं है। हमारी समझ में अध्येय ज्ञान केवल ज्ञान, को सिखाने का प्रयत्न इस सिद्धांत में किया गया है। वह दृष्टि में किसी मत-वाद में एकाग्र-निष्ठा सेवक न के लिए है जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने भी दिया था। भगवान् बुद्ध ने 'हूँ' और 'नहीं' की कोटियों का परिवर्तन करके तत्त्व को अध्या-कृत कर दिया था मध्यम मार्ग को स्वीकार किया था। उदारता और अविचार-धर्म की उसी दृष्टि की अभिव्यक्ति अनेकान्त के रूप में हुई है, ऐसी हमारी निरन्तर चारणा है।

औपनिषद् भारतीय-विज्ञान का मानव-दृष्टि के अपने वाले मनीषी का रामादृष्टान्त ने जैन दर्शन के अनेकान्तवादी मयार्थवाद को बीच मार्ग में पड़ाव काटना ठहरा दिया है^२। आचार्य संकर ने भी इसी कारण जैन दर्शन को 'असंभव' कहा था^३। पर हमारे पास वैसा पैमाना नहीं है। वह वैसी बात हम नहीं कह सकते। मानवतावादी जैन दर्शन जब आत्मवाद के अन्तर्गत में पड़ा तो उसे बीच पड़ाव में ठहरने पर ही संतोष करना पड़ेगा। या वेदान्त में भिन्न कर अपनी पथक सत्ता को देनी पड़ेगी। दूसरी कोई राह नहीं है। अमल धर्म अपने मौखिक रूप में साधना-मार्ग ही था सम्प्रकाश का धर्म ही था। भगवान् महावीर ने जब 'स्वास्ति स्यात्तास्ति' कहा था तो पूर्व सत्य के प्रस्थापन में यह उनके द्वारा दूसरे मतों को जनेछा देने के परिणाम स्वल्प ही था। 'नहीं सत्य है' (इदमेव सत्यं-सूर-सूत) इस विचार की शान्ति का वह एक

(१) स्वास्ति स्यात्तास्ति, स्वास्तितास्ति स्वास्तिवत्तव्यः स्वास्ति च वस्तव्यः, स्यात्तास्ति वास्तव्यः स्वास्ति च वास्ति वास्तव्यः।

(२) मिलाद्वये One thing, however is clear, that it is only by stopping short at a halfway house that Jainism is able to set forth a pluralistic realism
राधाकृष्णन् : इन्द्रियव विज्ञासकी, विज्ञा पहली पृष्ठ ३४

(३) अस्तपतमिदमर्हति मतम् । ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।२।३; ब्राह्मसूत्र-भाष्य २।२।३६

उपाय ही था। एक ही वस्तु में दो विरोधी स्वभाव एक साथ नहीं रह सकते यह कह कर संकर ने 'सप्तमंगी नय' की समालोचना की है।^१ पर यह समालोचना तो ज्ञान की व्यवहार्यता की है। संकर भूल जात है कि 'सप्तमंगीनय' 'सकसादस्य को देने का प्रयत्न है। अपरिच्छेद ज्ञान को दिखाने का प्रयत्न है वह निश्चय नय है। उसे सहजानुमतिपूर्वक समझने का प्रयत्न न कर ने उसकी अनिश्चयकारी व्याख्या कर देत है^२ और उसके अनुकरण पर प्रायः सभी वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा करत आए हैं। 'अनेकान्त' परिनिष्पन्न सत्य है परमार्थ सत्य है और इस रूप में विरोधी भाषा का प्रयोग स्वयं वैदिक दर्शन में भी है। 'असंख्य सत्त्व'^३। पर समझ-साधना अपनी अन्य मान्यताओं के साथ व्याप करत हुए यहाँ नहीं जा सकती थी। बीड दर्शन ने तो आत्मवाद से ही पीछा छड़ा किन्ता परन्तु प्रकाशान्तर से अज्ञेय सत्य की सिद्धि उसने भी की। 'निर्गुण' से भी अधिक बलवान् और वरिष्ठ 'गुण्य' उसने बड़ा कर दिया। अतः 'सर्वप्रमाणविप्रतिपिद्ध' भले ही उसके संबंध में प्रामाण्यक बहू दिया गया हो बीच के पड़ाव जैसी कोई बात उतने संबंध में कभी नहीं लगी जा सकती थी। बल्लुठ जैन दर्शन भी बीच का पड़ाव नहीं है। वह तो पूर्ण सत्य का केवल ज्ञान का पवनी है। और उसकी आज करत हुए वह भी उस अश्वेद निष्ठा पर पहुँचा है जो सम्पूर्ण बदलाओं का अर्थ है। आत्मा की आचारमूर्त एवता ही नमयसार का विषय है। अतः डा. राधाटण्डन् के मत से हम सर्वांग में सहमत नहीं हैं। फिर क्या जीव-क्या के आत्यन्तिक उपदेश के द्वारा जन दर्शन में आत्मा की अभिन्नता और एवता की प्रकाशान्तर से सिद्धि नहीं की है? जैन दर्शन-साधना का केन्द्रीय विचार है बल्लुठ जीवरागता। सम्पूर्ण जीवरागता जैन-दर्शन का अर्थ है। अहिंसा और अनेकान्त उसके बाध-माध सिद्ध है। यह विविध साधना मानवता के तेज को निगारत बानी है। 'मानुसत' भवे मूल मनुष्यता ही मूल बल्लु है यह जो कहा गया है यही बल्लु जैन दर्शन की प्रकृत गिनति है उसका आत्मवाद नहीं। और यही पर बीड ज्ञान और जैन दर्शन का निमित्त है। होना का सत्य मानव है वह मानव जो पूर्ण निमुक्त है बबली है अर्हन् है।

(१) वैदिक ब्रह्मसूत्र टीकाकार भाष्य २।२।३३ ३४

(२) अनिर्णीतितत्त्वं ज्ञानं संक्षेपज्ञानवदप्रधानमेव स्यात्। ब्रह्मसूत्र-टीकाकार भाष्य २।२।३३

(३) अ. १।५।७ विज्ञाद्वये। तत्त्वज्ञानम्। वैदिक तत्त्व १।१।४

जिसके वासन क्षय हो गए हैं। कपस्यों से जिसने विमुक्ति प्राप्त की है। आसन-निरोध रूप संवर के द्वारा जिसने निर्जरा की प्राप्ति की है। मोह का उच्छेदन कर ज्ञान-वर्धन के आवरणों को हटा कर जिसने केवल परिपूर्ण अवस्था की प्राप्ति किया है। यही मुक्त पुरुष अर्हत् बौद्ध और जैन दोनों वर्धनों का कस्य है। जत बौद्ध और जैन दोनों 'आर्हती' दृष्टिवा हैं। मानुषत्व की साधना दोनों की अपनी मौक्तिक पदक मोक्षर-भूमि है, वहाँ से दूर जाने में भय है। जैन साधक का मौक्तिक विषय बौद्ध साधक के समान वह साधना करना था कि मुझे मोह की सेना को किस प्रकार जीतना चाहिए। उसकी मूल साधना भी यह अनुभूति करना कि 'मै स्वयं साक्षात् धर्म हूँ'। यही आत्मव्य का मूल उद्देश्य था तथा और शक्तों का विवेचन नहीं आत्मा के सिद्धान्तों का प्रख्यापन नहीं। राग के प्रहसन और संयम प्राप्ति के लिए सम्य साधना का प्रवर्तन हुआ था जो बुद्धसम का एकमात्र मार्ग है। भयवान् बुद्ध ने राग द्वेष और मोह को अकृतक मूल कहा था और इनके आत्यन्तिक क्षय की निर्वाण। वीर-रागता का इसके अलावा और विशेष क्या है? भगवान् बुद्ध ने कहा था कि क्या बेबना संज्ञा संस्कार और विज्ञान में अपने को मग सोचो वहाँ अपना नहीं मिलेगा वह पर वस्तु है उसे छोड़ दो और यही बात प्रकारान्तर से जैन साधना के 'स्व' और 'पर' के भेद-विज्ञान में है। जब यह लेखक प्रवचन-सार की इन भाषाओं को पढ़ता है तो उसे भान ही नहीं रहता कि वह आत्म की भाषना कर रहा है या जैन वर्धन के भव-विज्ञान की।

पाहू देखो मग। न जैन बाणी न कारव तेषि । कत्ता न पा कारविश अनुमत्ता नैव कर्त्त वाम् ॥ पाहू होमि परेषि य मे परे नत्थि मग्गमिह किमि हति निच्छिदो जिहिरु वासो वणवावस्सधरो । इनका शिष्यो अनुवाद है

(१) ऐश्वर्ये तत्पार्च-सूत्र १।१

(२) तत्पार्च-सूत्र ८।१

(३) तत्पार्च-वृत्ति १।४

(४) तत्पार्च-सूत्र १।१; बौद्ध वर्धन के अनुसार 'अर्हत्' के कलकों के लिये ऐश्वर्ये पीछे वृत्ति १।७-१।८

(५) ऐश्वर्ये प्रवचन सार, गाथा ८

(६) ऐश्वर्ये प्रवचन सार, गाथा १२

(७) आपार्ण संख्या १६०-१६१

“मैं न देखूँ न भवूँ न जाँची हूँ न उनका कारण हूँ। मैं करने वाला नहीं हूँ, न कराने वाला और न कर्ता का अनुमोदक। मैं दूसरों का नहीं हूँ दूसरे मेरे नहीं हूँ। इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चयवान् धितेन्द्रिय पुरुष सत्य के मूलभूत स्वरूप को धारण करने वाला होता है।”

बौद्ध और जैन दर्शन के मिलन की सर्वोत्तम भूमिका भी यही है।

उ-बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक

भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन के दो स्वरूप हम देखते हैं एक तो वह स्वरूप जो गौतम के न्याय सूत्र और के उस पर वात्स्यायन भाष्य को लेकर उसी की परम्परा में प्रवृत्त होता है और प्रवृत्त 'न्याय उपाधिपात दर्शन' की महा पाठा है। नव्य न्याय को हम इसी परम्परा में मंजिबिष्ट मानते हैं। दूसरा नव न्याय का वह है जिसमें प्रत्येक भारतीय दर्शन सम्प्रदाय अपनी-अपनी एक एक न्याय-परम्परा रखता है और इसी अर्थ में हम बौद्ध न्याय 'जैन न्याय' आदि जैसी बातें कहते हैं। भारतीय न्याय धारण का ऐतिहासिक अध्ययन प्रायः तीन नवमिक यनों में किया जाता है महा प्राचीन न्याय मध्ययुगीन न्याय और नव्य न्याय। इन में से बौद्ध न्याय उस यग की देन है जिसे हम मध्ययुगीन न्याय कहते हैं। यहाँ अब हम बौद्ध दर्शन और न्याय—(या न्याय-वैशेषिक) दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध की बात कहने हैं तो उनका तात्पर्य एक तो बौद्ध दर्शन में न्याय के जिस स्वरूप की दृष्टि किया गया है उसके प्रस्थापन से है और हमारे गौतमीय न्याय की परम्परा के साथ उसका जो संपर्क और सम्पर्क गताधिक्यो तद्ग जगता रहा उसके किञ्चित् विस्तार से भी है।

न्याय और वैशेषिक दो ज्ञान न होकर एक ही दर्शन हैं। न्याय का प्रस्तावित विषय यद्यपि अममल विमृष्ट है। किन्तु विवेचन प्रमाण-परीक्षा को ही उमने अपना विषय बनाया है। वैशेषिक का न्याय-वैशेषिक द्वायन विषय 'मेवेय वस्तु का ज्ञान सम्पादन करता है। ज्ञान (अथवा दर्शनों) पर ज्ञान ही द्वायन विचारण और ममीणा के साधनों के सन्तित्र विचार और ज्ञान ज्ञान जगत् के ज्ञान को प्राप्त करने के तरीकों ज्ञानों का बौद्ध दर्शन एवं अन्य उस ज्ञान पर विचार करने है। न्याय-दर्शन का ऐतिहासिक और वा उद्यम ज्ञान में ज्ञान ज्ञान अथवा न्याय-जुनों का तात्त्विक सम्बन्ध ज्ञान ज्ञान है या विषय पूर्ण ज्ञान में विविध अर्थी (१) वैशिष्टे न्यायानुस १।१।१

नहीं हो पाया है। किन्तु यह निश्चित है कि उपनिषदों के काल से पहले ही बनेक प्रकार के संवाचों की परम्परा भारत में चली आ रही थी जिनमें नैयामिक ढंग से वैदिक ग्रंथों के निर्णय करने का प्रयत्न किया जाता था। इसी संवाचों के युग में न्याय का प्राचीनतम साहित्य लिखा गया। किन्तु फिर जब ब्राह्मण की इस दर्शन ने वैशेषिक दर्शन के साथ एकारमकता इसका ठीक निर्णय हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में नहीं किया जा सकता। किन्तु यह निश्चित है कि बनेक उत्तरकालीन ग्रन्थ यथा केचन मिथ रचित एवं भाषा विवादिग्रन्थ सप्तपदावी एवं विश्वनाथ द्वय भाषा परिच्छद आदि दोनों दर्शनों को एक ही दर्शन मानते हैं। उत्तर-दर्शन में 'पीछपाक' बनाम 'पिठर पाक' जैसे विषय को लेकर एवं प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र न्याय के द्वारा चार प्रमाणों और वैशेषिक के द्वारा केवल दो प्रमाणों की स्वीकृति के रूप में कुछ छोटे-मोटे विषयों के अतिरिक्त मूळभूत बातों में दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतः अपने विषय के प्रसंग में हम इन दोनों दर्शनों को एक ही दर्शन के अंतर्भूत मानकर प्रवृत्त होंगे।

न्याय-दर्शन का इतिहास डाक्टर विद्याभूषण ने तीन भागों में विभक्त किया है यथा प्राचीन न्याय (१५ ई पू से १ ईस्वी तक) मध्य युगीन न्याय (१ ई से १२ ई तक) तथा नव्य न्याय (१ ईस्वी) कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से हमारे प्रयोजन के लिए केवल प्राचीन न्याय और मध्ययुगीन न्याय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि गौतम या अस्त-पाद के न्याय सूत्रों के बाद दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ न्याय-साहित्य में वात्स्यायन का न्याय भाष्य है जिसके बाद से ऐतिहासिक रूप से बीड न्याय और पीठ पीथ न्याय में संघर्ष प्रारम्भ होने लगा है। वात्स्यायन ने अपने न्याय भाष्य में 'उपाय कौशल्य' और 'विद्वद् व्यावर्तनी' ग्रन्थों के रचयिता नापार्जन के मतों का सम्मेलन किया था। हम जानते हैं कि न्याय सूत्र ४।२।२९ में विज्ञानवाद का सम्मेलन उपलब्ध है और न्याय सूत्र ४।१।४ ४।१।४८ और ४।१।४४ ४५ सूत्रवाद का प्रयासमान करते हैं अतः एक प्रकार से तो न्याय-सूत्रों से ही बीड दर्शन के साथ नैयामिकों के संघर्ष का मूलपात हो जाता है। किन्तु इस विषय में एक परम्परा का प्रवर्तन तो वात्स्यायन ने ही किया। वात्स्यायन ने जब नापार्जन के मतों का सम्मेलन किया और विज्ञानवाद और सूत्रवाद को अपनी समालोचना का विषय बनाया तो बीड आचार्य विश्वनाथ ने वात्स्यायन के सम्मेलनों का तीव्र उत्तर अपने 'प्रमाणसमुच्चय' 'न्याय-प्रवेश' 'हितुषक हसन'

‘आत्मजन परीक्षा’ और ‘प्रमाण सास्त्र प्रवेश’ जैसे ग्रन्थों में दिया जिसका फिर प्रत्याख्यान गौतमीय न्याय की परम्परा में उद्योतकर ने अपने ‘न्याय-वार्तिक’ में वास्तव्यवन की स्थिति का समर्पण करते हुए किया। किन्तु उद्योतकर भी बिना आक्रमण किए हुए नहीं रह सके। विद्वानों को अपना एक समर्थक मिला। बौद्ध आचार्य वर्मकीर्ति ने अपने ‘न्यायविम्वु’ में उद्योतकर के मतों का खण्डन कर विद्वानों की स्थिति का समर्पण किया। वहीं यताय्दी में बौद्ध आचार्य वर्मोत्तर ने ‘न्यायविम्वु-टीका’ लिख कर एक और नया प्रत्याक्रमण नैयायिकों पर किया। इससे भी प्रतिरोध करने वाले ‘सर्वे सन्ध स्वतन्त्र’ मनीषी आचस्पति मिश्र जैसे गम्भीर पण्डित और विचारक आए जिन्होंने अपनी ‘न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका’ में बौद्ध आचार्यों के मन्त्रियों का निराकरण किया और बौद्धों के ‘हुस्तर’ ‘कनिक्क’ स्त्री पंक्त में फँसी उद्योतकर की वाणीस्त्री नार्यों के उद्धार के द्वारा पुण्य-संघ का बाबा किया।^१ वर्मकीर्ति आदि बौद्ध विचारकों के मतों का खण्डन करने के लिए इसी यताय्दी में उद्यम ने अपने ‘आत्मतत्त्व विवेक’ की रचना की जिसमें प्रमाण-तत्त्व बौद्ध नैरात्म्यवाद का खण्डन किया गया। उनकी ‘कममाञ्जलि’ में तो निश्चय ही ईश्वर की सिद्धि करने में नैयायिक साहित्य में अत्यन्त क्याति पाई। इसके बाद भी न्याय पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे किन्तु प्याछ्सी यताय्दी के बाद बौद्ध आचार्यों की परम्परा ही बिलम्ब न रह गई अतः दोनों तरफ से एक दूसरे के प्रति स्पष्ट लक्ष्य किया हुआ हम साहित्य नहीं पाते यद्यपि नैयायिक ग्रन्थ जो इसके बाद भी लिखे जाते रहे उनमें भी परम्परा के अनुसार बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन होता ही रहा किन्तु ऐतिहासिक सम्बन्ध तो इन दो वर्तनों का प्रायः उद्यम के काल से ही समाप्त हो जाता है। जिन दो वर्तनों का इतना मजबूतीसे पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्ध हो उनके सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध की समझना बड़ा सरल काम नहीं है। फिर ‘न्याय-त्राय’ और ‘न्यायवार्तिक’ जैसे ग्रन्थों की दुम्ह धीमी और विचार-विलम्बता या वर्मज के साधारण विद्वानों की भय दिलाने वाली है जिस प्रकार पाणिनि को जाने बिना जैसे कसूत जानने की

(१) मनीषी आचार्य ब्रह्मावर्क आदिशरों में बहने हैं। “यदलम्बि
जिबि बुधं हुस्तरकनिक्कपंचमज्जानाम् । उद्योतकरपदीनाम्
अजिक्कलीनां समुत्तरणम् ॥ न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।१

विदम्बना करना व्यर्थ है उसी प्रकार यदि कोई यह कह दे कि वात्स्यायन को जाने बिना भारतीय दर्शन के विषय में जानकारी की विदम्बना व्यर्थ है तो निश्चय ही बहुतांश का धर्म टूट जायगा। फिर बौद्ध आचार्यों के विषय में तो कहना ही क्या जिनके सूक्ष्म प्रतिवादों की कोई उपमा ही नहीं है।

न्याय दर्शन इतना प्रमाणवादी दर्शन है कि हम चाहे अन्य किसी भारतीय दर्शन को बौद्ध रंग से उपरकृत कर सकें किन्तु यह दर्शन तो एक क्षण भी अपने मस्तक को नीचा करना नहीं चाहता ताकि एक छोटा सा टीका भी बौद्ध धर्म का हम इसके मस्तक पर धमा सके। चाहे इसके सिद्धान्तों में मके ही वैशाल्य की-सी आध्यात्मिकता न हो सांख्य की सी दार्शनिक सम्मी-रता न हो और मके ही अनेक स्थानों में अविवाद रूप से बौद्धों या अन्य विरो-धियों के द्वारा इसे निगूहीत हो जाना पड़ा हो किन्तु पराजय किसे कहते हैं यह तो इस उत्पन्न-विन्ता ने कभी जाना ही नहीं। ऊँच विद्वत्ता अन्य और निग्रहस्थान ऐसे धर्म भी तो निकाल रखते हैं जिनसे पराजय कभी शायद कब ही नहीं सकती। परन्तु इसीकिये इस दर्शन की सत्य निष्ठा भी पूरी हय तक नहीं जा सकी है। हम बेशक चुके हैं कि किस प्रकार भयवान् बड़ ने एक दार्शनिक से संलाप करने से पूर्व उसे सत्य निष्ठा रखने के लिये आधाह कर दिया था।

बल्लुत न्याय-दर्शन अपने ही बनाये तर्क-बालों में मकड़ी की तरह फँस जाता है। न्याय को जब तक बाहरी सत्यनिष्ठा और आध्यात्मिक दृष्टि का का आश्रय न होगा वह अपना उद्देश्य पूरा न कर सकेगा। वह 'कठक' बन जायगा जिसकी ओर आचार्य खँकर ने भी कई बार अपने माथों में संकेत किया है। 'नैयायिक' नाम लेते ही आज भी एक तीव्र तर्कशील प्रतिवादि मरफकर व्यक्तित्व हमारी दृष्टि के सामने आ जाता है। वही राज-मोजन से पुष्ट पहलवान की उपमा।^१ जब जिन-जिन विषयों को लेकर नैयायिकों और बौद्ध आचार्यों में बाद-परम्पराएँ लगी उनका कुछ निदर्शन नही करना चाहिए।

सबसे पहले हम प्रमाण मीमांसा पर बातें हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं प्रमाण-मीमांसा ही न्याय-शास्त्र का केन्द्रीय विषय है। प्रमाण के अतीत

(१) ऐच्छिय पीछे पृष्ठ १३६

(२) ऐच्छिय पीछे पृष्ठ २३६

ही प्रमेय की सिद्धि है। मानाभीता मयसिद्धि'। अतः प्रमाण मीमांसा किसी भी 'विषय' या सिद्धान्त की सिद्धि के लिए सब से पहले तो प्रमाण विषयक परीक्षा ही आवश्यक होती है। न्याय दर्शन ने प्रमाणादि सोरह पराधों के 'तत्त्वज्ञान' से निष्प्रेषण की सिद्धि सम्मिलित मानी है और चौथे नैयायिक धर्मकीर्ति ने भी कहा है 'सम्यग्ज्ञानपरिविका सर्वपुरुषार्थसिद्धि'। जब यह 'तत्त्वज्ञान' या 'सम्यक् ज्ञान' इतनी आवश्यक वस्तु है तो फिर हम पहले यही क्यों न देखें कि 'सम्यक् ज्ञान' या 'तत्त्वज्ञान' है क्या? उसका स्वरूप क्या है? और उसके उपकरण कौन-से हैं? कैसे वह उत्पन्न होता है और कैसे उसकी परीक्षा होती है? इन प्रश्नों के उठाए जाने के परिणाम स्वरूप ही प्रमाण विज्ञान का आविर्भाव होता है। प्रमाण अर्थात् प्रमा का कारण। किन्तु यह प्रमा क्या है और कारण क्या है इस पर भी विचार का अन्त नहीं। किन्तु इनमें अभी न पहुँचकर हमें सिर्फ यही जानना चाहिए कि न्याय ने केवल चार प्रमाण माने हैं यथा प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द^१। 'इन्द्रिय और अर्थ या विषय के संनिर्घर्ष से उत्पन्न ज्ञान को जिसमें सन्देह न हो और जो व्यक्तिगतात्मीय न हो प्रत्यक्ष कहते हैं'^२। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है निर्विशिष्टक और विशिष्टक। प्रत्यक्ष ज्ञान के 'करण' को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। करण अर्थात् असाधारण कारण। बहुत शीघ्र प्राप्त जित्वा और त्वक एवं मन^३ इन्द्रिया प्रत्यक्ष ज्ञान की हेतु हैं। इन्द्रिय और अर्थ के संनिर्घर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। जब आत्मा का मन से मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ या विषय से संबंध होगा तो तब प्रत्यक्ष अनुभव होता है। प्रथम जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो उसके रूप आकार आदि की ही प्रतीति हम होती है। केवल बहुत आदि इन्द्रियों से बद्धि के द्वारा त्रिया प्रारम्भ करने से पहले जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'निर्विशिष्टक' (ब्रह्मरूपेण) प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष में पदार्थ के जाति गुण आदि का अलग-अलग अनुभव नहीं होता। किन्तु उसके केवल स्वरूपमान का ही ज्ञान होता है। विशिष्टक ज्ञान में वस्तुविशेष की या नाम का

(१) न्यायसूत्र १।१।३

(२) न्यायसूत्र १।१।४

(३) ब्राह्मणायन 'मन' को एक इन्द्रिय ही मानते हैं देखिए न्यायभाष्य १।१।१६

है इसका भी प्रत्यक्ष होता है। इसी को व्यवसायार्थिक' भी कहा है। नैया-
यिकों के इस दृष्टिकोण पर बीछ आचार्यों के उनसे बहु-दूर-गामी विशेष धु-
हो जाते हैं। बीछ आचार्य कहते हैं कि सविकल्प ज्ञान 'कल्पनापोड' होता
है और केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही 'कल्पना' से विमुक्त होता है। 'कल्पना'
अर्थात् विचार की वह प्रकृति जिससे किसी पदार्थ को नाम दिया जाता है।
यह एक प्रतीति है जो अभिजाप या धर्मों के साथ संयोग की योग्यता रखती
है 'अभिजाप संसर्ग योग्य प्रतिमास प्रतीति' कल्पना'। जयन्त ने अपनी 'व्यास-
सम्बन्ध' में इसी बात को यह कह कर अच्छी तरह समझाया है कि किसी
पदार्थ को उसके जाति गुण किया नाम और इन्द्रिय से संबन्धित करना ही
'कल्पना' है। प्रत्येक सविकल्पक ज्ञान जिसमें पदार्थ के जाति गुण नाम आदि
का भी अनुभव होता ही है बीछ आचार्यों के मत में केवल 'कल्पना' का सेव
है। इसमें उनके विज्ञानवाद की स्पष्ट झलक है। बीछ आचार्य कहते हैं कि
व्यक्ति और जाति में विशेष और सामान्य में और इन्द्रिय और गुण में कोई
विशेष नहीं है और जो कुछ भी मेव हम करते हैं वह केवल बुद्धि कल्पित होता
है, वास्तविक नहीं। 'याम' से व्यतिरिक्त उसकी 'जाति' को हम नहीं देखते
और न ही उससे व्यतिरिक्त उसके गुणों की ही सत्ता। 'गमन' 'यन्त्र' से विविध
स्तु नहीं है। जब हम किसी वस्तु को 'नाम' दे बैठे हैं तो उसी समय जो
वस्तुएँ समान नहीं उनमें भी समानता का आरोप कर बैठे हैं। जब हम कहते
हैं कि 'यह नील है' तो 'यह' तो पदार्थ की और निर्दिष्ट करता है और 'नील'
एक नाम है। हम बच्ची से दोनों को मिला बैठे हैं। ये बातें बीछ आचार्यों
के मतानुसार केवल कल्पनापोड' हैं। वास्तविक प्रत्यक्षज्ञान तो बीछ आचार्यों के
मतानुसार निर्विकल्पक या अव्ययवैश्य ही है, क्योंकि उसमें इन्द्रिय गुण धर्म

- (१) यह प्रत्यक्ष का द्विविध विभाज्य पीतम छत नहीं, वे तो सभी प्रत्यक्ष ज्ञान
की सविकल्पक जालने के ही पक्षपाती हैं। वास्तव्यात्मन और
उद्योतकर भी इस विभाज्य का निरूपण नहीं करते। वाचस्पति मिश्र ने
इसके उद्भावक अपने गुण विलोचन की बताया है। उत्तरकालीन
विचारकों तथा केचनमित्र अज्ञानों आदि ने इस विभाज्य की स्वीकार
किया है। देखिए न्यायवातिकताप्रत्यर्पणीका १।१।१४ एवं वा अथ के इस
विषय में विचार न्यायसूत्र-प्रवेशी अनुवाद, पृष्ठ २

- (२) यह मत धर्मकीर्ति का है।

नाम बाह्य की योजना नहीं रहती किन्तु केवल 'स्वत्मान' पदार्थ का ही ज्ञान होता है केवल उससे स्वरूप मान का ही अनुभव होता है और पदार्थ के सवातीय विवातीय की कोई भावना नहीं रहती। 'सवातीयविवातीय परावृत्तम् स्वत्मानम्'। जैसे ही हम किसी पदार्थ के नाम गुण बाह्य का ज्ञान करने लगते हैं, जैसे ही बर्मकीर्ति के अनुसार, हम मानसिक कल्पना में प्रवृत्त होने लगते हैं। जिस पदार्थ का हम प्रत्यक्ष करते हैं, वह तो 'स्व कक्षण' ही होता है 'सामान्य कक्षण' तो केवल बुद्धि के द्वारा उत्पादित है, वह विवक्ष्यमान और बलीक है 'विवक्ष्याकारमानं सामान्यम् बलीकं वा'। हिन्दू नाम के अनुसार सभी द्रव्य गुण और कर्म विषयक ज्ञान भिन्ना है। सभी बाह्य पदार्थ अविक है फिर उनका ज्ञान कैसे हो सकता है? अथवा ज्ञानेन प्रापयिषुम् असक्यत्वात्। भूत और भविष्य के बारे में अनुमान कल्पना ही हमें साधक पदार्थों में स्थिरता की बुद्धि कराती है। वास्तविक परमार्थ वस्तु तो केवल 'विज्ञान' है और सभी ज्ञान केवल मानसिक है। इस प्रकार बौद्ध नैयायिक विज्ञानवाद का आशय है कि अविकल्पक प्रत्यक्ष को तो मानते ही नहीं किसी स्थिर प्रमेय वस्तु की उत्पत्ति का भी निगम नहीं कर पाते। विज्ञान तो इस विषय में बड़े ही उग्र हैं यद्यपि बर्मकीर्ति अपनी मौनान्तिक प्रवृत्ति के कारण बाह्य पदार्थों की प्रमेयता को अनुमान वा विषय मान भी लेते हैं किन्तु उनकी दायिकता के कारण उनके ज्ञान को ठीक से भी सम्भव नहीं मानते। नैयायिकों ने बीजों के इस दृष्टिकोण का तीव्र कण्ठ दिया है। उद्योतकर का कथन है कि 'विज्ञान' नाम और गुण बाह्य के सम्मिश्रण के प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक असम्भवता है^१। बीजों वा यह सिद्धान्त कि सभी 'सामान्य' केवल विवक्ष्यमान और बलीक है, नैयायिकों के द्वारा यह कह कर कण्ठन वा विषय बनाया गया है कि 'विषय' में ही तो 'सामान्य' सम्भाव सम्बन्ध से अस्तित्वित रहता है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अनुमान से जाना जा सकता है। इस प्रकार बौद्ध नैयायिकों और पौंडरीय परम्परा के नैयायिकों में प्रत्यक्ष प्रमाण को लेकर भारी बाद परमाग बनी। बीजों के अनुसार सब कुछ गुण ही गुणक है केवल किसी वस्तु के विषय में हम यह कह सकते हैं उससे नाम गुण बाह्य की योजना

करना हमारी अपनी कल्पना का काम होगा। किन्तु नैयायिकों के अनुसार पदार्थ अपने नाम गुण आदि के साथ ही विभाजित होता है विशेषण-विशेष्य मात्र साथ रहता है और सामान्य की भी स्थिति है क्योंकि जो कुछ सद है, वह अजित नहीं है किन्तु उसमें एक में अनेकता की और अनेक में एकता की सतत अनुभूति होती है। इस विषय को लेकर नैयायिकों ने वास्तव में बीड आचार्यों की यही मूर्खों को धुंधारा है, उसी प्रकार जैसे कि बीडों के बहुत से मतों से उन्होंने स्वयं लाभ उठाया है। अब हम प्रत्यक्ष प्रमाण के एक दूसरे दृष्टिकोण पर आते हैं। जसा कि हमने पहले कहा प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए नैयायिकों के अनुसार आत्मा का मन से मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से संनिकर्ष होना जरूरी है। इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है किन्तु यदि मन कही दूसरी जगह ही तब देखते और सुनते हुए भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उपर्युक्त विविध संनिकर्ष अवश्य आवश्यक है। बीड नैयायिकों का कहना है कि अक्षु और अज्ञ इन्द्रिया अपने विषयों के प्रत्यक्ष संनिकर्ष में नहीं आती किन्तु दूर से ही वे उनकी अनुभूति करती हैं। नैयायिक इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार देते हैं कि अक्षु यदि इन्द्रियों से तात्पर्य स्वरूप इन्द्रियों से नहीं किन्तु उनके 'अधिष्ठान' से है जो 'तत्त्व' रूप होता है जिससे ही प्रकाश का कर पदार्थ के सम्पर्क में आता है और इसीलिए हमें बिना दूरी और स्थिति का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। बीड आचार्यों ने नैयायिकों के इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष को इन आपत्तियों का विषय बनाया है (१) जिस इन्द्रिय से हम देखते हैं वह तो आंख की पुतली है फिर यह पुतली किस प्रकार एक पदार्थ के साथ संनिकर्ष में आ सकती है जो दूर स्थित है (२) अक्षु इन्द्रिय तो पर्वत जैसे बड़े पदार्थ का भी साक्षात् करती है। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष आवश्यक हो तो एक छोटी सी आंख की पुतली के लिए इतने बड़े पर्वत के सम्पर्क में आना किस प्रकार सम्भव है? (३) अक्षु इन्द्रिय को अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्पादन करने एवं एक पद की ओटी को देखने में समान समान समता है यदि इन्द्रिय का अर्थ से संनिकर्ष में आना आवश्यक हो तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है? (४) यदि इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है तो हम यीस के उस तरफ की ओर को भी क्यों देखते? बिना और दूरी का देखना भी तो प्रत्यक्ष न होकर केवल अनुमान से ही ज्ञेय है।

नैयायिकों ने बीजों के इन आधेपों का उत्तर इस प्रकार दिया है (१) जो कुछ भी एक पदार्थ की दिसाता बजबा उसका ज्ञान करता है उसे उसके सम्पर्क में आना ही चाहिए, मर इन्द्रियो 'प्राप्यकारी' अर्थात् अपने विषयों के सम्पर्क में आने वाली होनी ही चाहिए। बीजक उसी वस्तु की उद्भासित करता है जिसके सम्पर्क में वह आता है। इसी प्रकार वस्तु इन्द्रिय जो 'तेज' स्वरूप होती है बाँस की पुतली से पदार्थ की ओर सम्पर्क प्राप्त करने के लिए जाती है (२) बाँस की पुतली से निकला हुआ प्रकाश कैस कर पदार्थ को बाँझा दित कर भेठा है? (३) दूर और समीप के पदार्थों के देखने में समय की भी अधिकता और अल्पता होती है, यद्यपि इसका अनुभव हमें नहीं होता (४) छोटा बाँस पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके बीच में होकर देखा जा सकता है (है) मर वे वस्तु के प्रकाश को नहीं रोक्ते। 'ग्याय कन्दलीकार' का कथन है कि यदि बिना इन्द्रियार्थ संनिर्णय हुए हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर पात तब तो बीजास के उस तरफ की वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए या किन्तु ऐसा नहीं होता। उद्योतवर का कथन है कि इन्द्रियार्थ संनिर्णय से तात्पर्य सम्पर्क से नहीं किन्तु विषय और इन्द्रियों के केवल एक निश्चित सम्बन्ध में स्थित होने से है। इसी प्रसंग में एक अन्य महत्वपूर्ण बात हमें अवश्य देन केनी चाहिए। इन्द्रियार्थ-संनिर्णय नैयायिकों ने छः प्रकार का बताया है यथा संयोज संयुक्त समवाय संयुक्त-समवेतसमवाय समवाय समवेत समवाय और विधेयमता। यहाँ हमें अन्तिम से ही प्रयोजन है। नैयायिकों का कहना है कि जब हम घड़े का अभाव देखते हैं तब हम उस घड़ों का प्रत्यक्ष करते हैं जिसमें घड़े के अभाव की विधेयमता संनिर्दिष्ट है अर्थात् घड़े का अभाव वाली कार्य की विधेयता दिखाता है और इस प्रकार विनिष्ट घड़ों का हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। मूलतः तो विधेय है जो भटाभाव से विनिष्ट है मर विधेय के सम्बन्ध से हमें विनिष्ट का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ बीज आचार्यों का यह कहना है कि यदि इन्द्रिय और अर्थ के संनिर्णय होने पर ही हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने हूँ तो फिर वस्तुओं के अभाव के साथ इन्द्रियों का संनिर्णय कैसे हो सकता है? यही समस्या स्वभावतः हमें बीज आचार्यों और नैयायिकों के अभाव सम्बन्धी सिद्धान्त की ओर ले जाती है जो नास्तीय वार्तन

में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। अभाव का नैयामिकों के अनुसार स्वरूप क्या है और बीड आचार्य उससे क्या समझते हैं यह विषय बहुत विस्तृत और गूढ़ है, किन्तु हमें यहाँ केवल निर्देश मात्र करना है क्योंकि यदि बीड आचार्यों और नैयामिकों की परस्पर बाह्यविचार सम्बन्धी समस्याओं की एक सूची भी बनाई जाय तो वह भी एक पुस्तक के आकार में होगी। कोई ऐसा विषय नहीं उस सूक्ष्म विषय का प्रवेश नहीं जिसमें नैयामिकों और बीडों में परस्पर विमेल नहीं हो और फिर दोनों में ही सूक्ष्म विस्तेषण मनो-वैज्ञानिक समस्याओं के साथ उनको मिठाकर उनके कठिन प्रज्ञापन और स्वयं अपने-अपने आचार्यों के मतों में भी कहीं-कहीं अनेक मतों की उपलब्धि बाह्य बातों ऐसी ह जो एक सामान्य और स्पष्ट विवरण को असम्भव बना देती है। लुप्त में रहत क्यों दिखावाई पड़ता है? शून्यवादी कहते हैं कि असत् से सत् की स्वाति होती है अतः वे असत्स्वातिवादी हैं। विज्ञानवादी विमर्श के लिए विज्ञान या विचारों को छोड़ और किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं 'वास्तव्यवाति' वादी हैं। नैयामिक 'अन्वया स्वाति' वादी हैं। उनके अनुसार गुण और पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध रहता है। दोनों को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। इसलिए पहले देखी हुई रहत के प्रत्यक्ष के इस समवयन में छदय हो जाने के कारण शून्य के ठमर उन पृथ्वी का आरोप कर दिया जाता है। अन्वया स्वाति की आलोचना करते हुए बीड विचारक कहते हैं कि इस प्रकार यदि बौद्धिक प्रत्यक्ष मात्र किन्ना जायगा तब तो प्रत्यक्ष अनुभव ही सर्वत्र ही जायगा और उसे हर समय हम पदार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा, जैसा कि वास्तव में नहीं है। अब हम प्रत्यक्ष की छोड़ अनुमान प्रमाण सम्बन्धी दोनों के विचारों पर आते हैं। अनुमान प्रमाण का बड़ा पेचीदा सवाल है। अनेक नैयामिकों के द्वारा ही निर्दिष्ट उसके स्वरूप की समझना अत्यन्त कठिन बात है फिर बीड विचारकों के सम्बन्ध में उसका तुलनात्मक अध्ययन करना तो निश्चय ही मस्तिष्क की एक बड़ा भार देता है। किन्तु हमें तो केवल मोटी ही बातें देखनी हैं और वह भी जहाँ दोनों में विमेल है वहीं। अनुमति का कारण अनुमान प्रमाण है। यह अनुमान प्रमाण दो प्रकार का होता है स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान अपने लिए होता है और परार्थानुमान दूसरों की समझने के लिए। परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य की अपेक्षा होती है यथा प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण उपनय और निगमन। यह भाव का पञ्चावयव वाक्य

है जिसका निष्कर्ष करना हमारा उद्देश्य नहीं। हमारा यही इतना ही सात्वय्य है कि नायार्जुन ने अपने 'उपाय कौशल्य सूत्र' में केवल तीन ही अवयव माने हैं और अष्टम वी की आवश्यकता नहीं समझी है। दिङ्नाय ने भी अपने 'न्याय-अनेक' में ऐसा ही किया है और धर्मकीर्ति ने 'तृतीय अवयव की भी आवश्यकता नहीं समझी है क्योंकि उनके अनुसार इतना ही कहना पर्याप्त है कि पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि उसमें जूँझा है। अतः व प्रतिज्ञा और हेतु से ही सब काम निकाल लेना चाहते हैं। आत्स्यायन और उद्योतकर इस प्रकार से अवयवों की संख्या घटाने के विरोधी हैं। यह ती इसी से स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि बीड़ों ने उनकी संख्या घटाने का प्रयत्न किया है। किसी भी बात में वे मनीषी साध-साध मिळकर चलना नहीं चाहते। जब कि पम्भायव्य वाक्यों की संख्या को घटाने के वे पलायनी हैं, उदाहरण सम्बन्धी हेत्वाभासों की संख्या दिङ्नाय दत्त तक बढ़ाना चाहेंगे। इसी सम्बन्ध में हमें यह भी देख लेना चाहिए कि दिङ्नाय ने अनुमित वस्तु के ज्ञान के स्वरूप में प्रयत्न रखा है। नैयायिकों के अनुसार हम 'अग्नि' का अनुमान करते हैं। किन्तु दिङ्नाय के मतानुसार हम जूँ से अग्नि का नियमन नहीं करते क्योंकि यह नवीन ज्ञान का कार्य नहीं है ('तृतीय ज्ञान' रूप 'लक्षण परामर्श' को ही अनुमान कहते हैं) क्योंकि हम पहले से ही जानते हैं कि जूँ अग्नि से सम्बन्धित है। फिर हम अग्नि और पर्वत के सम्बन्ध की भी अनुमान का विषय बनाते हुए नहीं गृह्ये वा सकते क्योंकि इस सम्बन्ध का कार्य ही है कि वही दो वस्तुएँ हैं, किन्तु वास्तव में तो वही केवल पर्वत ही होता है और अग्नि का तो प्रत्यक्ष ही नहीं जाना। अतः वास्तव में अनुमित वस्तु न तो पर्वत होता है और न अग्नि किन्तु केवल 'अग्निवाला पर्वत' और यह केवल एक विचार है। इनके विरुद्ध नैयायिक दृष्टिकोण 'व्याप्ति' के सम्बन्ध में यह है कि सामान्य भा वास्तव में वस्तुमूल है (सामान्यस्य वस्तुभूतत्वात्) और उसके सम्बन्ध का पदार्थ है (स्वाभाविकवस्तु सम्बन्धी व्याप्ति)। समार में सभी वस्तुएँ प्रवेय हैं अर्थात् प्रभाषो लं जानने योग्य हैं और समिपय है अर्थात् वर्णन करने योग्य है। किन्तु इनके विरुद्ध दिङ्नाय का मत है कि ज्ञान प्रवेयत्व के वास्तविक सम्बन्धों को नहीं दिखाता। वाचस्पति मित्र दिङ्नाय के इस

सम्बन्धी मरका उद्धरण करते हुए कहते हैं सर्वोऽयम् अनुमानानुमेयमात्रो
बुद्ध्यास्तेन धर्मधर्मिभावेन न बहिःसत्त्वम अपेक्षते^१ अर्थात् सभी यह
अनमान-अनुमेय-मात्र बुद्धि से ही आस्क है और बहिः सत्त्व की अपेक्षा नहीं
रखता। इस प्रकार हम देखते हैं कि फिर फिर कर बीज आचार्य अपने
विज्ञानबाध पर आ जाते हैं और न्याय दर्शन को कि सभी वस्तुओं को प्रमेय
और अभिधेय मानता है बीज विज्ञानबाध का खण्डन उपस्थित करता है। बीजों
ने भी नैयायिकों के सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त को खण्डन करने में कोई
कसर नहीं छोड़ा रखी है। अब हम अनुमान प्रमाण से उपमान पर आते
हैं। चूंकि उपमान प्रमाण में प्रत्यक्ष के सादृश्य का एक बड़ा भाग होता
है, इसलिए विज्ञान्य इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। नैयायिक तो इसे
एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते ही हैं ऐसा हम पहले कह चुके हैं। शब्द
प्रमाण के विषय में हमें यहाँ इतना ही जानना चाहिए शब्द और धर्म
के सम्बन्ध को लेकर नैयायिकों ने एक महान् विचारपरम्परा प्रवर्तित कर दी
है और बीज विचारकों का इसमें यही धान है कि उनके अनुसार शब्द वस्तु-
मूढ पदार्थों का निदर्शन नहीं करते बल्कि उनके अभाव का निदर्शन करते हैं
ताकि वास्तविक अनुमित वस्तु का ज्ञान हो सके। इस प्रकार उनके अनुसार
अब हम पाय कहते हैं तो यह केवल उन वस्तुओं का अभाव (अपेक्ष)
ही दिखाता है जो गर्भ नहीं है और इस तरह हम यह निश्चय करते हैं
कि शब्द 'गाम' वस्तु 'गाम' की ओर ही संकेत करता है।^२ प्रत्येक
वस्तु में बीजों के कहने का एक विपरीत डंभ ही है! शब्द प्रमाण
'आप्तोपशेष' के रूप में परिभाषित किया गया है^३ और न्यायशास्त्र
कार न यह अत्यन्त उदात्तापूर्वक कहा है कि 'आप्त' अम केवल एक
शब्द और धर्म ही नहीं बल्कि श्लेष भी हो सकता है।^४ नैयायिक वेदों
की मीमांसकों के समान साक्षर और निराल नहीं मानते वे तो 'इह सर्वमनुब्रत
अथो यद्वृत्ति' ऐसे वाक्यों पर ही अधिक धोर बैठे हैं यद्यपि वास्तविक

(१) न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।५ में पद्युत।

(२) विशेष विस्तार के लिए देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन डिमोन्स्ट्री, डिस्ट्र
ट्रसरी, पृष्ठ १८

(३) न्यायसूत्र १।१।७ मिताक्षरे वीरोचिक सूत्र १।२।९

(४) न्यायशास्त्र १।१।७

ने इन बातों में समन्वय बिज्ञान करने की भी चेष्टा की है^१। किन्तु इस सबसे बीड़ों को कोई प्रयोजन नहीं। बेद या किसी भी अन्य ग्रन्थ में स्वयं प्रामाण्यबद्धि करना बर्मेकीर्ति के लिए तो मनुष्यों की बुद्धि की पड़ता का एक अक्षय है ही बिदनाम भी ग्रन्थ को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने को प्रस्तुत नहीं। वे तो प्रत्यक्ष में या अनुमान में ही हमका अन्तर्भाव सम्भव मानते हैं। बीड़ों ने असत्यता परस्पर विरुद्धता और पुनरुक्ति के बाप-बेहों पर लगाए हैं जिसका उत्तर विस्तारपूर्वक म्यायभाष्यकार ने दिया है^२। यह कहना ही होया कि बिदनाम और अन्य बीड़ आचार्यों ने भी बुद्ध-वचनों को बेद के प्रमाण के समान ही स्वीकार किया है^३। इस प्रकार बीड़ और नैयायिकों की प्रमाण-सीमामा के क्षेत्र में हम सप्रिय कब से देखते हैं कि नैयायिकों का एक प्रधान व्यवसाय उस प्रकृति का खण्डन करना है जो ज्ञान के परस्पर विरुद्धता के स्वरूप पर धार देती है और जिसके अनुसार विचार की सम्भवता ही प्रमाणित नहीं की जा सकती। हम जानते हैं कि इस प्रकार का मत माध्यमिकों के नाम से अधिक सम्बद्ध है किन्तु चूँकि जैसा कि हम पहले भा कह चुके हैं, म्याय मूल और म्याय भाष्य में भी सर्ववैताधिक मत का खण्डन उपलब्ध होता है, अतः हमने हम या तो यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि म्याय के वे पूर्वतम ग्रन्थ नागार्जुन के मतों का निराकरण न कर केवल एक परम्परा में चली आई हुई सूत्रवाद की परम्परा का अध्वन करते हैं (जैसा कि महाभक्ति का रचना-दृष्टान्त का मत है^४ और जिसकी और महामहोपाध्याय पं. गौरीनाथ कविराज ने भी प्रवचना दिलाई है^५ या फिर हम यही कह सकते हैं कि ये दोनों ग्रन्थ न केवल बीड़ आचार्य नागार्जुन के बाद की ही रचनाएँ हैं बल्कि सम्भवतः विज्ञानकारी आचार्य अनङ्ग और समुद्रव्य के बाद की भी (बाधस्यति निधे जैतं म्याय के 'तात्पर्य' जानने वाले के छाव्य पर उनमें बीड़ विज्ञानवाद

(१) म्यायभाष्य २।१।६८

(२) हेतिये म्यायभाष्य २।१।५७-६८

(३) हेतिये आगे पृष्ठमीमांसा दर्शन का विवेचन।

(४) हेतिए उनही इतिहास दिमांतकी मित्र बुनरी, पृष्ठ ३६

(५) हेतिए उनही बुनरी का संमानाथ भ्य के म्यायमन्त्र-मभाष्य-संग्रही अन्वहार में।

सम्भव नहीं हो सकते थे। स्वप्नों की विविधता जारनों की विविधता से ही हो सकती है^१। इसी प्रकार यदि यह जगत् सत्य न होता तो सत्य और असत्य का ज्ञान ही न होता।^२ प्रमाण का अर्थ ही 'प्रमा' करने वाला मान है। 'प्रमा' तो यथार्थ ज्ञान ही होता है।^३ जब वस्तुएँ ही यथार्थ नहीं हैं तो उनका ज्ञान कहाँ से यथार्थ होगा? अतः प्रमाण का मानना ही वस्तुओं के यथार्थ रूप को स्वीकार करना है। 'प्रमाणस्य सकल-पक्षाय व्यवस्थापकत्वम्'^४। इस प्रकार अनेक मुक्तिपथों से विज्ञानवाद और न्यायवाद का लक्ष्य नैयायिकों के द्वारा अपनी समग्र परम्परा में किया गया है जिसकी कड़ मक्कड़ ही हम ऊपर से सकते हैं। जब हम प्रमाण यीमाता के शत्रु को छोड़कर ईश्वरकटुवाद, कारणवाद, क्षयिकवाद, आत्मवाद, नैयायिकवाद आदि समस्तार्थों को छोड़कर बीछ और न्याय दर्शनों के तुल्यनात्मक अध्ययन पर आते हैं।

न्याय के पूर्वतम स्वरूप के ईश्वरवादी होन में जर्म और म्यूर जैसे पश्चिमी विद्वानों ने छन्दह प्रकट किया है।^५ सम्भवतः महर्षि गौतम ने इस विषय की ओर अधिक ईश्वरकटुवाद कारण प्रवृत्ति इसीलिए नहीं दिखाई कि उनका मुख्य वाद अद्वैतवाद उद्देश्य प्रमाण-परीक्षण ही था और ईश्वर के प्रत्यक्ष आत्मवाद, नैयायिकवाद में पड़ने पर वे व्यापारिक पक्ष में अधिक लक्ष्य आदि पर बीछ और आते। अतः बिना प्रकार हम पूर्वगीमाता के नैयायिक दृष्टि से 'वृत्तिकार'को बह्य या अन्तर्मा विषयक विज्ञाना की विचार वेदान्तियों के धिए छोड़ते देखते हैं^६। इसी प्रकार सम्भवतः अवि गौतम ने भी अपनी सीमा को

(१) हेन्रिए ग्यायनाध्य ४।२।१३ १४ १७

(२) हेन्रिए ग्यायनाध्य ४।२।२६-३७

(३) हेन्रिए ग्यायनाध्य ४।२।२९

(४) ग्यायनाध्य वृत्ति १।१।१

(५) हेन्रिए गार्ड : किलासडी ऑड एन्सिप्लो इन्डिया पृष्ठ २३; म्यूर : ऑरीजिनल सफ़्ट टैकस्ट, डिम्ब तीतररी, पृष्ठ १३३; रायनाध्य : इन्डियन किलासडी डिम्ब ब्रुसरी पृष्ठ १३५ में उद्धृत

(६) हेन्रिए सांकर भाष्य १।१।५ तथा किलासडी ब्रुसरी भांकर भाष्य ३।३।५ ३। हेन्रिए गार्ड गीमाता दर्शन का विवेचन की।

समझकर इस विषय को स्पष्ट नहीं किया था। अन्त्यवा ब्रह्मसूत्र २।१।११ १३
 नैयायिक ङग से ईश्वर की सिद्धि पर क्यों अपनी अतृप्त्यति दिखाते ?
 कुछ भी हो उत्तरकाशीन नैयायिकों ने ईश्वर की सिद्धि में बड़ा उत्साह
 दिखाया है और उससे भी अधिक उत्साह दिखाया है बीड़ों ने उससे निरा
 करण करने में। उद्यम की 'कमुमाञ्जलि' तो इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध
 हो गई है किन्तु बीड़ों के द्वारा पूरी तरह से खण्डित कर दिए जाने पर
 उससे ठीक का भारतीय दृष्टान्त में आज कोई मूल्य रह गया हो ऐसा हम
 नहीं कह सकते। 'कमुमाञ्जलि' की भी हुई ईश्वर की सिद्धि विषयक
 आठ मुक्तियां जो इस श्लोक में दी हुई हैं 'कार्यायोजन भूत्याद्य' पञ्चावस्थाय-
 मुने। वाक्यान् संस्मादिशेषाच्च साध्या विश्वविद्वद्भ्यः' प्रत्येक भारतीय
 दर्शन के विद्यार्थी की जानी हुई चीजें हैं और उनका विरलेपण करना
 हमारा यही काम नहीं। बीड़ों के इस विषयक प्रत्याख्यान के निरूपण में भी
 हमारी कोई हितचत्सी नहीं क्योंकि जिस प्रकार तर्क के द्वारा ईश्वर की
 सिद्धि करना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका निराकरण करना भी उससे अधिक
 व्यर्थ है। हमें ग्याय के धेन में रहते हुए दूध और निरक्त अणु में ही रहना
 चाहिये। ससीम उपकरणों को लेकर हम अयोग की गहराई नहीं नाप सकते।
 अतः हम समझते हैं कि इस विषय को लेकर दोनों ही बीड़ और नैयायिक
 आचार्य मोह को प्राप्त हुए। वास्तविक दृष्टिकोण तो कुछ था ही था
 जो मौन रहे या जीपनिषद् ऋषियों का था जिन्होंने 'उपमांतात्ममात्मा'
 कहा था फिर ब्रह्मन्त दर्शन ने ही इस पर ठीक तरह से विचार बिना
 जितने तर्क को अप्रमाण रखकर अनुभूति का ही प्रधान उपकरण
 स्वीकार किया। बीड़ आचार्यों और नैयायिकों का सम्मेलन यह व्यापार
 नहीं होना चाहिए था क्योंकि वे विरोध तर्कवाद के द्वारा ही सत्य को
 गीजन का प्रयत्न करने थे जो सम्मेलन बड़ा प्राप्त नहीं हो सकता।
 अब हम दोनों दर्शन के कारणवाद सम्बन्धी विचार पर आते हैं। ग्याय
 दर्शन में जैसा कि हमने देखा कारणवाद की समस्या 'प्रमाण' पर विचार
 करने ही आशानी है। कारणवाद के सम्बन्ध में ग्याय का मत 'अप्रामाण्य'
 था कहा जाता है जिसका अन्तर में अविश्रय यह है कि कार्य की उत्पत्ति
 में वह उसका अभाव रहता है अर्थात् वह जब तक बन कर तैयार नहीं

का अध्ययन उपलब्ध होने से ।) । किन्तु यदि हम पहले मठ को स्वीकार करते हैं (बैसा कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के प्रकाश में अधिकतर विद्वान् करना चाहेंगे) तो फिर धर्मशास्त्रियों या विज्ञानशास्त्रियों के मतों का बिना निराकरण न्यायसूत्र और न्यायभाष्य में लिखा है। हम नागार्जुन असद्वय और वसुबन्धु व आर्यभट्ट किस प्रकार कर सकते हैं? हमें एक विचार में तो निष्पक्ष दृष्टिकोण बरतना पड़ेगा। हम दोनों ही तरफ से बीड भाषाओं पर आक्रमण नहीं कर सकते। राधाकृष्णन् वासुदेव पं गोपीनाथ कविराज और स्वर्गीय डाक्टर गंगानाथ भट्ट ने सभी विद्वान् न्यायसूत्र और न्यायभाष्य को अपनी वास्तविक प्राचीनता देने के पक्षपाती हैं, जो ठीक ही हैं। किन्तु साथ ही वे सभी विद्वान् फिर अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं (नैपथ्यिक प्रयोग) को मूल कर यह कैसे मान बैठने लगते हैं कि अमुक प्रकार से न्यायसूत्र और न्यायभाष्य नागार्जुन असद्वय और वसुबन्धु के सिद्धान्तों का अथवा सामान्य रूप से बीड दर्शन का अध्ययन करते हैं। यह तो इन बीड भाषाओं के प्रति एक बड़ा आश्चर्य है। साथ ही समग्र बीड विचार के प्रति भी। बीड विचारकों के मतों की यदि हमें न्यायपूर्वक समीक्षा करनी है या यदि न्याय परम्परा अथवा अन्य वास्तविक दर्शनों की परम्पराओं के उद्भावकों या भाषाओं को करनी भी तो इसका केवल एकमात्र न्याय्य उपाय यही था और है कि उनके विचारों को उनके मौलिक रूप में प्रस्तुत कर समालोचना की जाय। अतः वास्तविक परम्परा के दर्शनकार या विचारक बीड युग के बाद हुए उन्होंने प्रामाण्य ऐसा ही किया है और वह भारतीय दर्शन की उत्पत्तिगत बात है कि यहाँ के विचारकों ने किसी मठ के बिना अपने मठ को स्थापित करते हुए पहले पूर्वपक्ष के रूप में उस मठ को उसके मौलिक रूप में और उसी के दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित कर दिया है। जो 'बीधाय' को फँसे से इस कथन की उत्पत्ति प्रमाणित करेंगे। इसी प्रकार ब्रह्मकार और वाचस्पति ने जिस स्पष्टता के साथ बीड सम्प्रदायों के मतों का निर्वर्णन किया है, वे अतः निष्पक्ष और स्पष्ट हैं यह भी हम आगे पचास्वान दिखाएंगे (वेदान्त दर्शन के विवेचन में)। यहाँ हमें यह कहना अपेक्षित है कि जो दर्शनकार स्वयं बीड भाषाओं से पहले आए (बैसा कि न्यायसूत्रकार के विषय में जानते हैं) तो उनके द्वारा उल्लिखित सिद्धान्तों की एकात्मता हम बीड भाषाओं के मठों के साथ कैसे स्थापित कर सकते हैं? यह तो उनके

प्रति निन्दा का प्रचार ही होया जो सर्वथा मिथ्या और निर्मूल होगा।
 व्यापसूत्रों में सर्ववैनासिकों का खण्डन बेशक कर हम अधिक-से-अधिक यही
 तो कह सकते हैं कि सर्ववैनासिक या अभाववादी मत का खण्डन व्यापसूत्रों
 में किया गया है हम अनबिह्वल रूप से व्यापसूत्रों में लिखित अमानवाद
 का आरोप नामार्जुन पर तो नहीं कर सकते।^१ और निश्चय ही
 ऐसा ही हुआ है। यही कारण है कि सत्य होते हुए भी नामार्जुन के
 मत को सच स्वल्प में मानने के लिए, जिसका निर्वर्ण हम अनुरूप प्रकरण
 में कर आए हैं भारतीय मस्तिष्क तैयार नहीं होता। इस विषय में अधिक
 कहना यहाँ अप्रासङ्गिक होगा। हम कुछ अपने मूल विषय से दूर जाने
 गए, फिर उधरी पर लौटते हैं। हाँ तो व्यापभाष्यकार कहते हैं (और यह ठीक
 सनका बाद के विचारकों ने भी कई बार बूझाया है—सबने ही बौद्धों पर
 उसका आरोप कर) कि यदि माध्यमिक इस बात को निश्चय ही मानता
 है कि कुछ नहीं सत्य है तो फिर कम-से-कम इस सिद्धान्त की सत्यता
 की तो वह लिखित मानता ही है तो फिर क्या इतना ही स्वीकार करने से
 सनका सर्ववैनासिक स्वल्प गलत नहीं हो जाता और क्या वह स्वयं अपने
 ही बिन्दु नहीं जाता जाता। फिर माध्यमिकों का यह कहना भी (वात्स्यायन
 के अनुसार) कि वस्तुओं के स्वभाव का ज्ञान नहीं हो सकता गलत है क्योंकि
 वस्तुओं के विस्लेषण को तो विचार के द्वारा वे स्वयं (माध्यमिक) सम्भव
 मानते हैं। इस प्रकार की युक्तियों से व्यापभाष्य और व्यापवातिक में माध्य
 विक मत का खण्डन किया गया है।^२ विज्ञानवाद के विरोध में वात्स्यायन
 का मुख्य तर्क यह है कि यदि वास्तव पदार्थ वस्तुसत् न होने तो स्वप्न ही

(१) हाँ अब तक सि हम वास्तव विद्याभूषण के ही परब्रह्मों का अनुसरण
 कर व्यापसूत्र ४।१।३९ ४।१।४८ २।१।१ १९ ४।२।३९; २।१।३७;
 ४।१।३६ १।२।११ (जिनमें कि माध्यमिक सूत्र और संकावतार सूत्र
 के सिद्धान्तों की ओर संकेत है) प्रतिपत्त ब्रज करार न दें। वह सभी
 कठिनाइयों से बचने का एक बड़ा अवरोध उपाय है। इनके प्रतिपत्त होने
 से बड़ा प्रमाण है निश्चय इसके कि हम कहते हैं ही मान लें कि व्याप-
 सूत्र नामार्जुन से पूर्व के है जो तथ्य स्वयं अस्तित्व है (गलत हम नहीं
 कहते ।) । जो कुछ भी हो, इसलिए वा विद्याभूषण की 'हिन्दी भाषा
 इण्डियन कॉलेज भुवनेश्वर, पृष्ठ १

(२) इसलिए व्याप भाष्य ४।१।३७ पर व्याप-वातिक

सम्भव नहीं हो सकते थे। स्वप्नों की विभिन्नता कारणों की विविधता से ही हो सकती है^१। इसी प्रकार यदि यह जगत् सत्य न होता तो सत्य और असत्य का ज्ञान ही न होता।^२ प्रमाण का अर्थ ही 'प्रमा' करने वाला ज्ञान है। 'प्रमा' तो यथार्थ ज्ञान ही होता है।^३ जब वस्तुएँ ही यथार्थ नहीं हैं तो उनका ज्ञान कहाँ से यथार्थ होगा? अतः प्रमाण का मानना ही वस्तुओं के यथार्थ रूप को स्वीकार करना है। 'प्रमाणस्य सकल-पदार्थ व्यवस्थापकत्वम्'^४। इस प्रकार अनेक मुक्तिपथों से विज्ञानवाद और कृपावाद का सम्मेलन नैयायिकों के द्वारा अपनी समस्त परम्परा में किया गया है जिसकी कुछ झलक ही हम ऊपर देख सकते हैं। जब हम प्रमाण भीमांसा के क्षेत्र को छोड़कर ईश्वरकृपावाद कारणवाद धर्मिकवाद, आत्मवाद, नैराश्रम्यवाद आदि समस्याओं को लेकर बौद्ध और म्याय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन पर आते हैं।

म्याय के पूर्वोक्त स्वरूप के ईश्वरवादी होने में शार्व और म्यूर जैसे पश्चिमी विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है।^५ सम्भवतः

महर्षि गौतम ने इस विषय की ओर अधिक ईश्वरकृपावाद कारणा- प्रवृत्ति रखीरूपे नहीं दिखाई कि उनका मुख्य भाव अखिण्णवाद उद्देश्य प्रमाण-परीक्षण ही था और ईश्वर के प्रत्यक्ष आत्मवाद, नैराश्रम्यवाद से पड़ने पर वे व्यापारिक पक्ष में अधिक चले आदि पर बौद्ध और आते। अतः जिस प्रकार हम पूर्वभीमांसा के नैयायिक दृष्टि से 'वृत्तिकार'की ब्रह्म या आत्मा विषयक विज्ञाना की विचार वेदान्तिकों के लिए छोड़ते देखते हैं,^६ उसी प्रकार सम्भवतः महर्षि गौतम ने भी अपनी सीमा को

(१) वेजिए ग्यायमाध्य ४।२।३३ ३४ ३७

(२) वेजिए ग्यायमाध्य ४।२।२६ ३७

(३) वेजिए ग्यायसूत्र ४।२।२९

(४) ग्यायसूत्र वृत्ति १।१।१

(५) वेजिए पात्रो : क्लिप्तसंती शॉक एन्सियन्ट इण्डिया, पृष्ठ २३; म्यूर : ओरीजिनल संस्कृत ईकतृप्त जिन्य तीसरी पृष्ठ १३३; रायाहम्बन् : इन्डियन क्लिप्तसंती जिन्य दूसरी पृष्ठ १६५ में उद्धृत

(६) वेजिए शॉकर माध्य १।१।५ तथा मिलाइए बहसूत्र शॉकर माध्य ३।३।५; वेजिए आये भीमांसा दर्शन का विवेचन भी।

समझकर इस विषय को स्पर्श नहीं किया था। अग्यवा ब्रह्मसूत्र २।१।१ १३ नैयायिक ढंग से ईश्वर की सिद्धि पर क्यों अपनी अग्रहमति दिखाते ? कुछ भी हो उत्तरकाशीन नैयायिकों ने ईश्वर की सिद्धि में बड़ा उत्साह दिखाया है और उससे भी अधिक उत्साह दिखाया है बौद्धों ने उसके निराकरण करने में। उदयन की 'कृमुमाञ्जलि' तो इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध हो गई है किन्तु बौद्धों के द्वारा पूरी तरह से खण्डित कर दिए जाने पर उसके ठकों का भारतीय ब्रह्मण में आज कोई मूसम रह गया हो ऐसा हम नहीं कह सकते। 'कृमुमाञ्जलि' की ही हुई ईश्वर की सिद्धि विषयक आठ युक्तियाँ जो इस स्तोक में दी हुई हैं 'कार्वाक्योजन भूत्याह पदात्यत्ययत्त' मुने। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विरचनिरव्ययः' प्रत्येक भारतीय ब्रह्मण के विद्यार्थी की जानी हुई चीजें हैं और उनका विस्तारण करना हमारा यहाँ काम नहीं। बौद्धों के इस विषयक प्रत्याख्यान के निकषण में जो हमारी कोई विवक्षणी नहीं क्योंकि जिस प्रकार तर्क के द्वारा ईश्वर की सिद्धि करना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका निराकरण करना भी उससे अधिक व्यर्थ है। हमें स्वयं के धेन में रहन हुए दृश्य और निरक्षय जगत् में ही रहना चाहिये। सहीम उपकरणों को लेकर हम असीम की गहराई नहीं जाप सकते। अतः हम समझते हैं कि इस विषय को ऊँकर दोनों ही बौद्ध और नैयायिक आचार्य मोड़ को प्राप्त हुए। वास्तविक दृष्टिकोण तो बुद्ध का ही था जो मीन रहे या औपनिषद ऋषियों का या जिन्होंने 'अपगतोऽयमात्मा' कहा या फिर वेदान्त दर्शन ने हो इस पर ठीक तरह से विचार किया जितने तर्क की अप्रमाण रखकर अनुमूर्ति को ही प्रमाण उपकरण स्वीकार दिया। बौद्ध आचार्यों और नैयायिकों का सम्भवतः यह ध्यानात्मक नहीं होना चाहिए या क्योंकि वे विद्यवत् तर्कवाद के द्वारा ही सत्य को शोधन का प्रयत्न करने से या सम्भवतः बड़ा प्राप्त नहीं हो सकता। अब हम दोनों दर्शनों के बारम्बार सम्बन्धी विचार पर आते हैं। स्वयं दर्शन में जाना कि हमने देखा, बारम्बार की समस्या 'प्रमाण' पर विचार करने ही आशानी है। बारम्बार के सम्बन्ध में स्वयं का अतः 'अमलार्थ' बाद' कहा जाता है जिसका मध्य में अभिप्राय यह है कि कार्य की उत्पत्ति में पहले उसका अभाव रहता है अर्थात् पद अब तक बन कर तैयार नहीं

आत्मा ही है। किन्तु चैतन्य तब आत्मा का एक गुण ही है जो कि मन के साथ उसके संघर्ष होने के कारण उत्पन्न हो जाता है। अतः चैतन्य तब आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता किन्तु आत्मा अवश्यम्भावी रूप से चैतन्य स्वयम् नहीं है^१। इस प्रकार नैतिकों का आत्मा कुछ-कुछ जड़वाद के समीप चला जाता है और फिर वापिस लौट जाता है। नैतिकों कहते हैं कि आत्मा प्रति-शरीर मिल है^२ और भिन्न है। एकात्मवाद को साधारणतः न्याय ने स्वीकार नहीं किया है। उसने आत्मा को शरीर से इन्द्रियों से मन से और बुद्धि से सभी से व्यतिरिक्त बतलाया है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध अन्त के अवसर पर ही होता है^३। आत्मा इन्द्रियों नहीं किन्तु वह उनका नियामक है और उनके कार्यों का संस्मरण करने वाला है^४। मन आत्मा इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि एक तो वह अथ रूप है और फिर आत्मा की चैतन्य प्रवृत्ति का वह स्वयं एक साधन है^५ और यदि बुद्धि को आत्मा मान लें तो योगियों को जो एक ही साथ अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है उसकी संगति नहीं कर सकती^६। अतः आत्मा इन सबसे व्यतिरिक्त है। क्योंकि वही केवल एक विषयी है जबकि अन्य उत्पन्न सब विषयभूत हैं^७। एक बात न्यायवाध्याकार ने बड़े मार्क के कही है जिसके प्रकाश में हमें 'मौलिन्य' बीड वर्जन के अनात्मवाद को समझने की कोशिश करनी चाहिए। न्याय वाध्याकार का कहना है कि यदि शरीर से व्यतिरिक्त आत्मतत्त्व को मानना नहीं है तो नैतिक तत्त्व की भी कुछ उन्नतता नहीं रहती। हम जानते हैं कि मयवाण् बुद्ध ने अद्वितीय नैतिक आदर्शवाद की स्थापना की है और परम तत्त्व के विषय में उनका मौन है। तो फिर इससे हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? नैतिक तत्त्व तो उनका प्रत्यक्ष सत्य है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता फिर यदि मयवाण्

(१) इच्छन् न्याय नाय्य १।१।१

(२) बैलिए न्यायवातिक तत्त्वस्य बीका १।१।१ एवं न्यायवाध्या १।१।१४

(३) ४५, ५) बैलिए कजस न्यायसूत्र ४।१।१ ; न्यायवाध्या १।१।१ ; न्याय-नाय्य १।२।२९

(४) बैलिए न्यायवातिक १।२।१९

(८) इच्छन् न्यायनाय्य १।१।४

वास्तविकता की विद्या को ही लेकर हम विचार करें तो सम्भवतः इस निष्कर्ष से दूर नहीं पहुँच सकते जिसको हम चतुर्थ प्रकरण में प्रकट कर चुके हैं, अर्थात् यह कि बौद्ध नैतिक भावधारा का साम्यात्मिक आधार सुनिश्चित है। अब हम वैज्ञानिक परमाणुवाद और बौद्ध विज्ञानवाद के सम्बन्ध पर आते हैं।

परमाणुवाद वैज्ञानिक का सिद्धान्त है किन्तु इस सिद्धान्त का निरूपण करना वही हमारा उद्देश्य नहीं। यही केवल इतना ही कहना इष्ट है कि पारिभाषिक्य का मोल के आकार वाले परमाणुओं के

बौद्ध विज्ञानवाद अदृष्ट के द्वारा पृथिवीय हो जाने पर, जड़ चैतन्यमय और वैज्ञानिक दृष्टि का उद्भावन मानने वाले नैय्यायिक और वैज्ञानिक बौद्ध परमाणुवाद विज्ञानवाद के विरुद्ध एक कठिन और अभय युग बनाते हैं

किन्तु इसकी रक्षा करना वैज्ञानिकों का काम नहीं उनको तो स्वयं इस युग में बिठना कर अनेक प्रतिवादितमकर स्थापना ने ही इसकी रक्षा की है। इस विषय में उनके विरोधी प्रायः बौद्ध विज्ञानवादी ही रहे हैं जिनके लिए विनाश विस्तार के और कोई सत्य नहीं। तीर्थात्मिक और वैज्ञानिक तो वैज्ञानिक परमाणुवाद को स्वीकार भी करते हैं। वैज्ञानिक सूत्रों के रचयिता ने ६ पदार्थ माने थे उनके अनुयायियों ने एक और मिलाकर उनकी संख्या ७ कर दी जो हम प्रचार है, इष्ट गुण वर्म सामान्य समवाय और अबाध। इनमें 'सामान्य' को लेकर नैय्यायिकों और बौद्धों में कितना संघर्ष चला इसकी कुछ झलक हम अभी देखते हैं और पूर्वमीमांसकों से भी इस विषय में उनसे क्या-क्या संघर्ष हुए, इसका वर्णन हम उक्त वर्णन के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करन समय करेंगे। स्याय ने जिसे ईश्वर या शक्ति कहा है उस ही वैज्ञानिक ने 'अदृष्ट' कहा है। अब इस विषय में दोनों में बिजेर नहीं है 'इश्वर-विषये श्रेष्ठो नास्ति नैय्यायिके-सम्प्रदाय'। बसुवाद के स्थिर आधार पर स्याय-वैज्ञानिक ने परमाणुवाद की स्थापना की है और वह बौद्ध विज्ञानवादियों के प्रति उनका तीव्र उत्तर है।

(१) देखिए डॉ० वैज्ञानिक दृष्टिस्तोत्री, पृष्ठ २६-२८; देखिए आगे वाचस्पति प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और अज्ञान' के प्रसंग में संस्कार के द्वारा सर्वात्मिकवादियों के परमाणुवाद सम्बन्धी सिद्धान्त का अन्वेषण भी।

(२) देखिए वैज्ञानिक-सूत्र २।१।१८ १९ ५।१।१५; ५।१।३।१३; ५।२।३

हो जाता तब तक उसके पहले वह किसी भी रूप में उपस्थित नहीं रहा और उस बट रूप कार्य के पहले जो नियम रूप से उपस्थित रहा है और बन्धना सिद्ध नहीं होता (जिसकी व्याख्या में हम यहाँ नहीं जा सकते) वह कारण होता है। उन से ही असत् की उत्पत्ति होती है। यही न्याय का असत्कार्यवाद है। इसके विपरीत बौद्ध मानते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है।^१ बौद्ध विचारक समवायि असमवायि या निमित्त कारणों के विभेद को नहीं मानते और कबल क्षणिकवाद की चिरन्तन प्रतिष्ठा पर बड़े होकर अपने प्रतिद्विष्टियों के सिद्धान्तों को काटते ही हैं। वे कहते हैं कि न तो कार्य को अपनी उत्पत्ति से पहले कहा जा सकता है सत् और न असत् और न सत्-असत्। एक ही साँस में वे नैयायिक (असत्कार्यवादी) सांख्य (सत्कार्यवादी) और वेदाद्वी (विभर्तवादी) इन तीनों को काटते हैं और स्वभावतः उनके द्वारा काटे जाने के लिए तैयार भी रहते हैं, जिससे बचने के लिए उनके पास अभाववादीक तर्क के समोच अस्त्र सदा विद्यमान हैं। बौद्ध आचार्य अपने क्षणिकवाद की स्थापना में बैठा कि हमने पहले कहा बार-बार जाते हैं। न्यायभाष्यकार का कथन है कि यहाँ क्षणिकवाद का ज्ञान हमें होता है यहाँ तो उसका मानना ठीक है किन्तु पापाप जाति में तो वह नहीं पाया जाता^२ अतः यहाँ वह नहीं है। अगर हर एक वस्तु असत् ही होती तो वस्तुओं का संघात ही कैसे हो सकता है? वस्तुओं की संवेद्यता भी तो सिद्ध नहीं की जा सकती? सब वस्तुओं की अस्तित्वता भी तो प्रमाणित नहीं की जा सकती क्योंकि आकाशादि कुछ वस्तुएँ नित्य भी तो हैं? यह कहना कि केवल वर्तमान ही काल है मृत और मविष्य

- (१) भारतीय दर्शन में कारणवाद के प्रश्न को लेकर 'सर्वदशन संप्रह' कार की यह ध्वनि सदा स्मरण रखने योग्य है 'इह कार्यकारणभावे वस्तुर्वा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। अततः सज्जायते इति सोमताः संविरन्ते। नैयायिकावयस्तु सतीप्रसज्जायत इति। वेदान्तिकः सती विवर्तः, कार्य-वर्त न तु वस्तुविति। सांख्यः पुनः सतः सज्जायत इति'।

(२) न्याय भाष्य ३।२।११ ३।२।१२-१३

(३) न्याय भाष्य ४।१।३७-४ ; ४।२।२६-२७ ३१ ३३

(४) इष्यम् न्याय भाष्य ४।१।४

(५) इष्यम् न्याय भाष्य ४।१।२५ २८

कास नहीं है बिल्कुल गलत है क्योंकि बिना भूत और भविष्यत् को छोड़ वर्तमान कास का बर्ण ही क्या है ?^१ अवयवी अवयवों के समूह को छोड़ और कुछ नहीं इस बौद्ध सिद्धान्त का भी निराकरण न्याय भाष्य ने किया है और कारणवाद का निषेध करना तो समग्र अनुभूति का उद्देश्य उच्छेदन करना ही बताया है।^२ अनुमान प्रमाण में 'व्याप्ति' के को लेकर भी नैयायिकों ने शक्तिवाद की अनुपयुक्तता दिखाई है। इस वाक्य में कि 'अम्य अनित्य है क्योंकि यह उत्पाद्य है, घट के समान' घट द्रष्टान्त या उदाहरण है। अब इस घट में 'अनित्यता' और 'उत्पाद्यता' होनी चाहिए। किन्तु यदि घट शक्ति हो तो उसमें ये दोनों चीजें 'अनित्यता' और 'उत्पाद्यता' एक साथ कैसे सम्भव हो सकती है ?^३ दूसरा शेष नैयायिकों ने बौद्ध शक्तिवादमें 'अनवस्था' का दिखाया है जिसके निरूपण में हम यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकते। अम्य इस विषयक अरुण नैयायिकों ने प्रायः उसी प्रकार किए हैं जिस प्रकार अम्य भारतीय दर्शनों के विचारकों ने और चूँकि उन पर हम प्रकाश जन्य प्रकरण में बाल आए हैं अतः ही यहाँ सिट् पंथन करना उचित नहीं समझते। न्याय दर्शन ने आत्मवाद की स्थापना की है किन्तु उसने आत्मा को उसकी प्रथम भूमिका में ही नापा है, ऐसा हम कह सकते हैं। न्याय के अनुसार आत्मा के गुण इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान हैं और वह प्रमेय वस्तुओं की मयी में ही आता है।^४ न्याय ने विरोधता अनुमान से ही आत्मा की सिद्धि की है यद्यपि गौण रूप से भूति का भी इसके लिए आह्वान किया है।^५ वैमर्षिक दर्शन ने बोध में ही उसके दर्शन की सम्भावना मानी है।^६ नैयायिकों के द्वारा प्रतिपादित 'आत्मा' के स्वरूप में जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह है चैतन्य के साथ उसका सम्बन्ध। उनके अनुसार 'म' के विचार का विषय ही 'आत्मा' है। इन्द्रियों और शरीर में चैतन्य सम्पादन करने वाला

(१) इच्छा न्याय भाष्य १।१।१९; २।१।४३; ३।१।४

(२) वैजय न्यायभाष्य ४।१।२२-२४

(३) वैजय न्यायवार्तिक १।१।३७ तथा ३।१।२४

(४) न्यायसूत्र १।१।९

(५) न्यायसूत्र १।१।१

(६) वैशेषिक सूत्र १।१।१

(७) न्यायवार्तिक १।१।१

आत्मा ही है। किन्तु चैतन्य तत्त्व आत्मा का एक घुन ही है जो कि मन के साथ उसके ससर्ग होने के कारण उत्पन्न हो जाता है। अतः चैतन्य छन आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता किन्तु आत्मा अवश्यम्भावी रूप से चैतन्य स्वरूप नहीं है^१। इस प्रकार नैयायिकों का आत्मा कुछ-कुछ बड़बड़ के समीप चला जाता है और फिर वापिस सीट आता है। नैयायिक कहते हैं कि आत्मा प्रति-शरीर मिश्र है^२ और नित्य है। एकात्मवाद को साधारणतः म्याम ने स्वीकार नहीं किया है। उसने आत्मा को शरीर से इन्द्रियों से मन से और बुद्धि से सभी से व्यतिरिक्त बतलाया है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध धन्य के बचसर पर ही होता है^३। आत्मा इन्द्रियाँ नहीं किन्तु वह उनका नियामक है और उनके कार्यों का संस्थेयक करने वाला है^४। मन आत्मा इसकिए नहीं हो सकता क्योंकि एक तो वह स्वयं रूप है और फिर आत्मा की चैतन्य प्रकृति का वह स्वयं एक साधन है^५ और यदि बुद्धि को आत्मा मान लें तो मोक्षियों को जो एक ही साधन अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है उसकी संकति नहीं लग सकती^६। अतः आत्मा इन सबसे व्यतिरिक्त है। क्योंकि वही केवल एक विषयी है जबकि अन्य उपर्युक्त सब विषयमय हैं। एक बात न्यायशास्त्रकार ने बड़े मार्के की कही है जिसके प्रकाश में हमें 'मौलिन्य' बौद्ध दर्शन के 'अनात्मवाद' को समझने की कोशिस करनी चाहिए। न्याय शास्त्रकार का कहना है कि यदि शरीर से व्यतिरिक्त आत्मतत्त्व को जानना नहीं है तो नैतिक तत्त्व की भी कुछ रचवृत्ता नहीं रहती। हम जानते हैं कि मगवान् बुद्ध ने अद्वितीय नैतिक आदर्शवाद की स्थापना की है और परम तत्त्व के विषय में उनका यौन है। तो फिर इससे हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? नैतिक तत्त्व तो इनका प्रत्यक्ष सत्य है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता फिर यदि मगवान्

(१) इन्द्रिय न्याय भाष्य १।१।१

(२) वैजिए न्यायशास्त्रिक तात्पर्य टीका १।१।१ एवं न्यायभाष्य १।१।१४

(३) वैजिए कमन्ट्री न्यायसूत्र ४।१।१ ; न्यायभाष्य १।१।११; न्याय-भाष्य ३।२।२९

(४) वैजिए न्यायशास्त्रिक ३।२।२९

(५) इन्द्रिय न्यायभाष्य १।१।४

वास्तविकता की विद्या को ही लेकर हम विचार करें तो सम्भवतः उस निष्कर्ष से दूर नहीं पहुँच सकते जिसको हम चतुर्थ प्रकरण में प्रकट कर चुके हैं, बल्कि यह कि बौद्ध नैतिक आदर्शवाद वा साम्यात्मिक आधार मूलवैशेष्य है। अब हम वैज्ञानिक परमाणुवाद और बौद्ध विज्ञानवाद के सम्बन्ध पर बातें करेंगे।

परमाणुवाद वैज्ञानिक का सिद्धान्त है किन्तु इस सिद्धान्त का निरूपण करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं। यहाँ केवल इतना ही कहना इष्ट है

कि पारिभाषिकत्व या शब्दों के आकार वाले परमाणुवादों के बौद्ध विज्ञानवाद बहुष्ट के द्वारा पतिघील हो जाने पर, पञ्च भूतमय और वैज्ञानिक सृष्टि का अनुमान मानन वाले नैयायिक और वैज्ञानिक बौद्ध परमाणुवाद विज्ञानवाद के विरुद्ध एक गठित और जमेस बुरा बनाए है

किन्तु हमकी रक्षा करना वैज्ञानिकों का काम नहीं उनको तो स्वयं इस दुग्न में बिठसा कर अजय प्रतिवादिसमूहकर ग्याय न ही हमकी रक्षा की है। इस विषय में उनके विरोधी प्रायः बौद्ध विज्ञानवादी ही रहे हैं जिनके लिए सिद्धांत चित्त के बीर कोई उत्पन्न नहीं। सीमा त्तिक और वैज्ञानिक तो वैज्ञानिक परमाणुवाद को स्वीकार भी करने हैं^१। वैज्ञानिक सृष्टि के रचयिता ने ६ पदार्थ माने थे उनके अनुपातियों में एक और मिलाकर उनकी संख्या ७ कर दी जा इस प्रकार है द्रव्य गुण कर्म सामान्य समवाय और समाव। इनमें 'सामान्य' को लेकर नैयायिकों और बौद्धों में चिन्ता संपर्प जका इसकी कुछ भ्रमक हम अभी देखेंगे हैं और पूर्वमीमांसकों से भी इस विषय में उनके क्या-क्या संपर्प हुए, इनका वयन हम उन शांति के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करन समर्थ करते। ग्याय ने जिन ईश्वर या कर्ता कहा है उन ही वैज्ञानिक न 'अवृष्ट' कहा है^२ अतः इस विषय में दोनों में बिभेद नहीं है 'देवता विषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समन्'। अनुवाद के स्थिर आधार पर ग्याय-वैज्ञानिक ने परमाणुवाद की स्थापना की है और यह बौद्ध विज्ञानवादियों के प्रति उनका सीधे उत्तर है।

(१) देखिए उई : वैज्ञानिक प्रज्ञातज्ञी, पृष्ठ २६-२८ देखिए आगे बाँधने प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वैज्ञानिक' के प्रयोग में संस्कार के द्वारा तर्क सिद्धांतियों के परमाणुवाद साम्यायी सिद्धान्त का समर्थन भी।

(२) देखिए वैज्ञानिक-जग २११।१८१ ; २११।१५ २११।११३; भाग ७

इस प्रकार बीड़ दर्शन और न्याय-नैवेदिक दर्शन की बाह-परम्पराओं और विधिमताओं को एक अत्यन्त संक्षिप्त और परिमित रूप में हमने देखा।

निश्चय ही इन दर्शनों की विधुतियों का यह दर्शन अपसंहार रहेगा ही हुआ है। जिस प्रकार अन्य सभी भारतीय

दर्शनों ने उसी प्रकार न्याय-नैवेदिक दर्शन ने भी इस बात को बहुत अच्छी तरह समझा है कि ज्ञान केवल बौद्धिक प्रयास का परिणाम नहीं है बल्कि उसके लिए समग्र व्यक्तित्व की साधना की आवश्यकता है, फिर चाहे नीतिक बगल और तत्त्वज्ञान की परीक्षण और विरलेयन हो उसका प्रथम विज्ञास्य विषय क्यों न रहा हो। विमोह की अपरिभाष्य भारतीय दर्शनों ने विमोह को स्वीकार किया है किन्तु जीवन का विच्छेद उन्होंने नहीं किया है। न्याय दर्शन पुण्यकार को बुरा व्यवहार होता ही है^१ दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को परम पुण्यार्थ मानता ही है, संसार को दुःख का कलन मानता ही है और उस दुःख के अत्यन्त विमोह को ही यह कहता है अपरार्थ भी^२। न्याय-शास्त्र का रूप चाहे हेतु-विद्या का प्रधानतः क्यों न रहा हो, उसका मौलिक रूप में प्रज्ञापन साधित के लिये ही किया गया था। जैसा उद्योतकर ने कहा है अक्षपाद नीलम ने इस शास्त्र का उपरध सम के लिये साधित के लिये ही दिया था^३। 'बाह बिबाह विषाद बड़ाह के जाती पराई बी जापनी बाएँ' की बात जिसकी ओर तुलसीदास जी ने संकेत किया था वह तो न्याय-शास्त्र के इतिहास में लागेबलकर हुई। उसका मौलिक प्रयोजन सम के लिए (समाप्त) था और इस रूप के समारम्भ बर्म (बीड़ बर्म) से उसकी कितनी समानता है यह बताने की आवश्यकता नहीं। अपर-निश्चय और पर-निश्चय के रूप में कमस-जीवन्मुक्ति और विवेक मुक्ति को अथवा बीड़ पारिभाषिक अर्थों में निर्वाण और परिनिर्वाण (मौलिक बीड़ दर्शन के अर्थों में) को स्वीकार करता ही है। फिर उसका यह कहना भी कि यदि दुःख को हटाना है तो जन्म को हटाना होगा यदि जन्म को हटाना है तो प्रवृत्ति को हटाना होगा यदि प्रवृत्ति को हटाना है तो बोध को हटाना होगा और यदि बोध को हटाना है तो

(१) वैशिष्ट्य न्याय भाष्य ४।१।१९ २१

(२) तदत्यन्तविमोहोऽपर्ययः । न्यायसूत्र १।१।२२

(३) परब्रह्मणः प्रवर्तते सुनीलां शताय शास्त्रं अपती अबाह । न्यायवार्तिक १।१।१

मिथ्याज्ञान को हटाना हाया ? भगवान् बुद्ध के द्वारा उपरिष्ठ 'प्रतीत्य समुत्पत्ति' से कितनी समानता रखता है इसको भी सभी विमल मन्तव्य वाले सत्य के सर्वेपक सरलता से समझ सकते हैं। 'प्रवृत्ति' को न्याय ने राम द्वेय और मोह से सम्मिश्र माना है और ('भौतिक्य बौद्ध दृष्टन में') 'अकृतक चित्तों का भी तात्पर्य अन्ततः क्या है ? न्याय और सुब कर्मों को सम्पादन करने की अनुज्ञा क्या न्यायमाप्यकार ने भी नहीं दी ? क्या उन्होंने भी तप स्वाभ्यास और योग की आवश्यक नहीं बताया ? क्या वैशेषिक दर्शन ने भी अम्बुद्वय के साथ ही-साय नि-भेयस को भी अपना गणेशजीय विषय नहीं बनाया क्या भट्टा महिषा भूतहितत्व सत्यवचन अस्त्येय ब्रह्मचर्य मासपुत्रि कोष वर्जन और अप्रमाद का उपदेश वैशेषिक के उपदेष्टा ने भी नहीं दिया ? * बहुत से क्या हम सभी मनीषी बौद्ध नैयायिकों का आह्वान करते हैं 'भारतीय नाष्ट' धर्मकीर्ति का आचार्य बिद्गाम का अग्रक्रम और वसुवन्धु का भी आचार्यवाद मागार्जुन का भी तथा अन्य अनेक बौद्ध आचार्यों का भी उसी प्रकार हम आह्वान करते हैं भगवान् वात्स्यायन से लेकर (भगवान् बलपाद को तो बुद्ध की तरह छोड़ना ही होया—हमें आचार्यों से ही यही विशेष सम्मान है श्रवियों से नहीं) उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र और उदयन आदि मनीषियों को भी। तो फिर गौतमीय न्याय-परम्परा के आचार्यों के प्रति भट्टास्वरूप हम उन्हें अपित करते हैं भगवान् बुद्ध के से वो अनुत्तर उपदेश जो उन्होंने एक बार बालाओं को और एक अन्य बार प्रजापती गौतमी को दिये थे ? और मनीषी बौद्ध आचार्यों की सेवा

- (१) बुद्धजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामलरोत्तरापाये तदन्तराभावात्
अपवागः । न्यायतु १।१।९
- (२) न्यायभाष्य ४।२।३८, ४९
- (३) न्यायभाष्य ४।२।४७ ४।२।४६
- (४) ऐच्छिक् वैशेषिक सूत्र ४।२।३
- (५) कालाओं से भगवान् ने यही कहा था कि उन्हें प्रत्येक ज्ञान को अपनी बुद्धि की कत्तीटी पर बल कर ही उसे स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिये। इसके बाद भगवान् ने उनसे पूछा था कि क्या राम, द्वेय और मोह का उत्पन्न होना अनुप्य के लक्ष और कस्याच के लिये होता है ? जब कालाओं ने इसका उत्तर 'न' दिया तो भगवान् ने उपदेश दिया

में अर्पित करते हैं हम भगवान् व्यासभाष्यकार के ये शब्द जिनमें सत्त्व के अविरोधी शास्ता के मूलतम सिद्धान्त किन्तु स्पष्टता के साथ प्रस्तुति हुई है 'उपदेशपादुपेय्यामामात्मोभाविभि' शेषे प्रयुक्त शरीरेण हिंसास्तेवप्रति विदमैवुनाम्यावति । बाष्पाज्जुतपश्चसूचताम्रम्बुजानि । मनसा पश्येत् पर-
ब्रह्माभीष्टा नास्तिक्यञ्चेति । सर्वं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय । अथ भूमा । शरीरेण बानं परिचानं परिचरन् च । बाष्पा सर्वं हितं प्रियं स्वाध्यायञ्चेति । मनसा इयामस्पृहा भ्रष्टाञ्चेति । सर्वं धर्माय^१ ॥ जिन दो बुद्ध-संभवों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उनका नैयामिक संस्करण (यदि ऐसा हम कह सकें) निम्नलिखित उपर्युक्त व्यासभाष्यकार के शब्दों में रक्ता है और हम कह सकते हैं कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है इस सम्बन्ध में दोनों में भेद नहीं है । उनके तर्कों सम्बन्धी विभिन्नताओं को जब हम प्रस्थापित करते हैं तो इस एकता की सुझ और मौलिक चट्टान पर बड़े होकर ही हमें ऐसा करना चाहिए । अन्यथा हमारे पक्ष-भ्रष्ट हो जाने का भय है वैसे कि न होना चाहिए । सत् को सत् और असत् को असत् करके विज्ञाना व्यास-दर्शन का तात्पर्य है^२ । उही को विमग्न व्याकरण करके 'विमग्नवादी' बुद्ध ने दिखाया है, जहाँ हमें भी निबेकसीध होकर उनके मूल मन्तव्यों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए, तर्क के कांटों पर तो नहीं गिरना चाहिए । अनात्मा में अनात्म पदार्थों में आत्मग्रह करना मैं हूँ ऐसी बुद्धि करना व्यास-दर्शन के अनुसार भी मोड़ है अहंकार है मिथ्याज्ञान है^३ । इसकी निवृत्ति से ही वह वास्तविक उत्पन्नान से निश्चयस की भाषा रखता है और यदि

कि तो फिर इन्हें छोड़ देना चाहिये । महाप्रजापती योगिनी से भगवान् ने कहा था कि जो भी धर्म अज्ञान, विराग और द्वांष्टि के लिये है वे शास्ता के शासन हैं और आचरणीय हैं और उनके विपरीत अनाचरणीय ।

(१) व्यासभाष्य १.१.१९

(२) कि पुनस्तत्त्वम् । सतश्च तद्वाचोऽस्ततश्च अस्तुभावाः । व्यासभाष्य उपो-
द्घात । 'विमग्नवादी' बुद्ध के लिये देखिए चतुर्थ प्रकरण ।

(३) कि पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम्—अनात्मग्रहप्रमण्ड अहमस्मीति मोहः—अहं
इकारश्च । व्यास भाष्य ४.१.१९ चित्तादय इति बुद्ध द्वारा उपरिष्ठ
'अनात्मवाद' से चित्तका विवरण चतुर्थ प्रकरण में दिया जा चुका है ।

इसी 'मैं' हूँ की बुद्धि के अनात्मा में अनात्म पदार्थों में करने से आत्म-उपादान करने से आत्माभिनिवेश करने से यदि बुद्ध ने बुद्ध का उद्भव बताया है उसे अधिष्ठा कह कर पूकारा है और उसके ही निरोध से बुद्ध के आत्यन्तिक निरोध की सम्भावना दिखाई है तो फिर बुद्ध-शासन और मौखिक श्वास की साधनाओं में क्या विमर्श है? भगुप्स जिम वस्तुओं से बनता है और जिमसे मुक्त होता है उनके विषय में विमर्श कहाँ है?

ऊ-बौद्ध ब्रह्मण और सांख्य-योग

बौद्ध और सांख्य दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या भारतीय दर्शन का एक अत्यन्त मनोज्ञ और महत्वपूर्ण विषय है। कपिल के समान सृष्टि के तत्त्वों का विवेचन और विचारक यदि इस जगत् में नहीं उपाधुमात देखा तो घासवमुनि के समान जीवन का शास्ता और मानव की समस्याओं का निदानज्ञ 'उत्तम मित्र' भी इस संसार में आधिर्भूत नहीं हुआ। सांख्य और योग अपना सांख्य-योग दघन बौद्ध ब्रह्मण से अनेक बातों में समानता रखते हैं जिम पर सांख्य-योग दघन पर कुछ परिचयात्मक कहने के बाद हम अभी प्रकाश डालेंगे।

सांख्य और योग दर्शन दो मिश्र-मिश्र दर्शन नहीं बल्कि एक ही दर्शन हैं। 'सांख्ययोगी पृथग्दाला प्रवदन्ति न पण्डिता। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'। यह गीताकार की एक अन्य अर्थ में सांख्य-योग दर्शन बरी हुई बाणी इन दोनों व्यक्तित्व दर्शन प्रणामियों के पर शास्त्रिक दृष्टि विषय में बिलगुल ठीक है। वैसा कि भगवान् पञ्चशिख ने से साक्षित विचार अपने मूल में कहा है 'दर्शन एक ही है व्याप्ति ही दघन है'। इस मूल के प्रकाश में हम मगध भारतीय दर्शन परम्परा को ही व्याख्या कर सकते हैं किन्तु सांख्य और योग इन दो दर्शनों के लिए तो यह प्रवृत्ति-मुरख-विचर करी व्याप्ति निश्चय ही प्राप्तरूप्य है। प्रवृत्ति और पुरुष की अन्धता का ज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होनी है ऐसा मिश्रान्त मास्य ने समय ज्ञानमित्र और जीवित जगत् का अध्ययन कर प्रतिपादित किया है। यह प्रवृत्ति-मुरख विचरक प्राप्त करने हो जिम पर निश्चयन

(१) 'तथा च सूत्रम्। एकमेव दर्शनम् दयानिरोध दानम्' योगसूत्र-व्याख्यान १।४ में उक्त।

आश्रित है इसी का मार्ग बताना योग का काम है। योग अपनी शारीरिक परिस्थिति के लिए सांख्य पर आश्रित है और सांख्य अपने समग्र ज्ञान का उद्घाटन करके भी उससे मुक्ति कभी फल को प्राप्त करने के लिए एक साधना विधेय की अपेक्षा रखता है जो अपने समग्र रूप में योग-दर्शन में निहित है यद्यपि उसका कुछ प्रारम्भिक रूप स्वयं सांख्य सूत्रों में भी प्रतिबिम्बित हो गया है। अतः दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं। एक यदि विबुद्ध ज्ञान 'पद' को छोड़कर श्रम की अपेक्षा में प्रवृत्त होता है तो वृत्त उसकी शोक से लाभ उठाकर उसका एक व्यावहारिक स्वस्व उस ज्ञान को साम्राज्य करने के लिए मार्ग के रूप में रख देता है। फिर एक बात और है। सांख्य दर्शन ने कम-से-कम उसके 'भौतिक' स्वस्व ने प्रकृति और पुरुष से ही सब काम निकाल कर ईश्वर के सिद्ध करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं समझी है किन्तु बाद में चल कर सांख्य दर्शन ने अपनी सामान्यता में 'ईश्वरप्रतिष्ठा' को एक महत्वपूर्ण स्थान देकर इस कमी को पूरा कर दिया। इसलिये इस दर्शन को 'सेस्वर सांख्य' की संज्ञा मिली। वही योगदर्शन है। यह उभय इन दोनों के एक ही दर्शन होने की अवस्था आपस में अत्यन्त व्यापक भाव से मिले रहने की सूचना देता है।

जैसा कि हमने अभी कहा बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन के पारस्परिक तार्किक सम्बन्ध का प्रश्न भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सांख्य दर्शन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः सांख्य और बौद्ध उपनिषदों की पद्यार्चवादी प्रवृत्तियों को छोड़कर उसका दर्शन के ऐतिहासिक जन्म हुआ अतः अपने मूल रूप में वह निपचर है और तार्किक भावबोधकालीन है। बौद्ध बातक कहानियाँ कथित के सम्बन्ध की समस्या नाम का निर्देश करती हैं। बुद्ध की जन्मभूमि 'कपिल-वस्तु' कपिल अधिपति का आश्रम-स्थान पर ही बसाई गई थी (सौन्दरानन्द १।५७)। स्वयं 'किंकुसल्यवैसी' शाक्यकुमार प्रथम बार जिन आचार्य के पास साधना के लिए गए वे वे सांख्यदर्शन के समान ही उपदेश करते थे। 'बुद्धचरित' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्ध के पूर्व बुद्ध 'ब्रह्म' (पालि भाषा का नाम) सांख्यवादी ही थे। यद्यपि कुछ ईश्वरवादी

वस्तु' कपिल अधिपति का आश्रम-स्थान पर ही बसाई गई थी (सौन्दरानन्द १।५७)। स्वयं 'किंकुसल्यवैसी' शाक्यकुमार प्रथम बार जिन आचार्य के पास साधना के लिए गए वे वे सांख्यदर्शन के समान ही उपदेश करते थे। 'बुद्धचरित' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्ध के पूर्व बुद्ध 'ब्रह्म' (पालि भाषा का नाम) सांख्यवादी ही थे। यद्यपि कुछ ईश्वरवादी

(१) जिनके सिद्धान्तों का कुछ दर्शन है कि 'धृष्टान्तमयस्वा' सिद्धांत श्रुतता पर। यथा मयति संसारो यथा चैव निवर्तते ॥ प्रकृतिवत्

के रूप में। कपिल-सम्प्रदाय के साख्यीपुत्र (सारिपुत्र-उपतिष्य) नामक संन्यासी का वर्णन ब्रह्मचर्य ने बुद्धचरित (१७१४) में किया है। यही बाद में चलकर बुद्ध के बरणी दिये हुए। श्रीम प्रकरण में 'प्राम्बोद्धकालीन वर्णन व्यवस्था' के प्रसंग में १२ मिथ्या दृष्टियों का विस्मयेन उपस्थित करते हुए हम उसमें एक विचार-मन्थाली का 'घातवतवाद' के रूप में वर्णन कर चुके हैं जिसके सिद्धे आनन्दसंन्याय सूत्र (मणिमम निपाय) भी दृष्टव्य है। यह सिद्धांत सांख्य के अनुकूल है और बुद्ध के आधिर्मात्र के समय प्रचलित था।

विकारश्च जन्म मृत्युर्जरेण च । तत्तावत्तत्त्वमित्युक्तं स्थिरतत्त्व परेहि तत् ॥ तत्र तु प्रकृति नाम विद्धि प्रकृतिकोविद । पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥ विकार इति बुद्धयस्तत्र विषयानिन्द्रियाणि च । पाणिपार्श्वं च बाह्वं च पाम्पुसत्वं तथा जगः ॥ अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात् क्षेत्रज्ञ इति संति च । क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्मयात्मविस्तकः ॥ तद्विषयः कवित्-वेह प्रतिबुद्धिरिति स्मृतः ॥ चाप्यते धीर्यते चैव चाप्यते म्रियते च यत् । तद् व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययात्

अज्ञानं कर्म तृष्णा च क्रोधाः संसारोत्पत्तः ॥ अविरोधं विरोधञ्च प्रतिबुद्धाप्रतिबुद्धयोः । प्रकृतीनां च यो वेद तोर्जविरोध इति स्मृतः ॥ नमस्कारवद्दकारोः ॥ अनुपाय इति प्राज्ञैरुपायञ्च प्रवेदितः

अनयाविद्यया बालः संमुक्तः पञ्चवर्षया । संसारे बुद्धभूयिष्ठे जन्मश्च-
भित्तिविध्यते । इहैभिर्हेतुनिर्भीतान् जन्ममोतः प्रवर्तते । इस प्रकार अरवचरित-रचित 'बुद्धचरित' के अनुसार शाक्यकुमार की अराह ने उपवेश दिया था। इस विषय में बुद्धचरित का बाह्यार्थ तर्क 'अराहदणो नाम' अत्यन्त पठनीय है (जोहमस्टन का संस्करण बन्ध १२८ १४४) । हम जानते हैं कि अराह (बालि आलार कालाव) की शिक्षार्थों ने बुद्ध को सम्मुख नहीं किया था, यद्यपि वे बाहर उनका ज्ञान तक करते रहे। श्रीमती रायच डेविड्स लिखती हैं—

"He is by some today in accordance with certain records reckoned to have been of the Sankhyan School. He knew of its teachings but he did not teach them. He was a devotee of the very opposite practice to the clear systematic thinking taught in that school—the practice of rapt muning called in the books 'आर'—गीतच वि दैन बुद्ध १५

किन्तु एक बात यह है कि सांख्य दर्शन का जो व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध है वह बुद्ध के जन्म से काफी पीछे का है। ग्याम वैशेषिक और मीमांसा की तरह सांख्य ने भी बीड विज्ञानवाद का जून सञ्चन किया है। सांख्य दर्शन की भारत में एक बड़ी जम्बी ऐतिहासिक परम्परा है। सांख्य के आदि ब्रह्मा पुरातन कविः महर्षि^१ तो निश्चित इतिहास के विषय में ही नहीं उनकी दर्शन प्रणाली का भी स्वल्प बहुत सताब्दियों तक प्रामाण्य व्यक्त ही रहा। उपनिषदों में प्रामाण्य हम सांख्य के समग्र रूप के दर्शन करते हैं किन्तु वही यह एक व्यवस्थित विचार प्रणाली नहीं है। सांख्य के प्रथम बीड तो हम ऋग्वेद में ही पाते हैं।^२ स्वेतास्तर उपनिषद् तो सांख्य के प्रामाण्य सभी मूलभूत सिद्धान्तों का जलज विचार रूप से दर्शन करती ही है।^३ बृहदारण्यक आदि प्राचीनतम उपनिषदों में भी सांख्यमतानुकूल पुनर्जन्मवाद, बुद्धिवाद और 'पुरुष' के विचार मिलते हैं।^४ कठोपनिषद् भी अव्यक्त से 'महान् ब्रह्मा' आदि का उद्गम दिखाकर सांख्य विकासवाद के मार्ग को प्रसरित करती है।^५ और प्रसोपनिषद् में भी सांख्योक्त मनोविज्ञान के बीड वर्तमान हैं।^६ यद्यपि 'उपनिषदमयत्व' सांख्य का निश्चय है किन्तु यही निश्चित है कि इसकी मौलिक माय्यता स्वल्प प्रकृति और पुरुष के द्वैत का एवं 'पुरुषबहुत्व' का औपनिषद ज्ञान के साथ जो अधिकार में ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान पर प्रतिष्ठित है कदा सम्भव नहीं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं उपनिषदों की यथार्थकारी प्रकृतियों को लेकर ही सांख्यदर्शन का उदय हुआ। बुद्ध के समय में तो हम वैदिक

(१) सांख्यस्य ब्रह्मा कविः परमर्षिः पुरातनः । हिरण्यपर्वो योगस्य ब्रह्मा नाम्ना पुरातनः । महाभारत ।

(२) वेदेषु ऋ १।८२।५५

(३) वेदेषु १।५। ४।५; १।१२ ; ४।१२ ; ४।१२ ४।१२ ; ५।१३ आदि

(४) बृहदारण्यक २।४।२४; २।४।२५; ४।४।२५ मुख्यतः २।१।१

(५) २।१०-११; २।१०-११ मित्तादये छान्दोग्य ५।१।६; ५।१५।२

(६) प्रश्न ४; ज्ञानसत ने इस विषय को अपनी 'जिज्ञासुता' और वि उपनिषद् में 'औरीक्षण और वि इवोत्पन्नानरी सौरीण' (विकास की योजनाओं का उद्गम) और्यक से विवेचन करते हुये बड़े विद्वत्तामय ढंग से दिखाया है जो अनुसृतपितृ पाठकों के द्वारा बड़ा उद्गम्य है ।

न होता ।^१ यह उक्ति जैसे तो सभी भारतीय दर्शनों के लिए ठीक है, विशेष प्रयोजनवदी तो यह सांख्य दर्शन और जिसने चार आर्य सत्तों का उपवेश दिया उसी के दर्शन के लिए है। फिर यह बुद्ध का निरोध आत्मनिक ही होना चाहिए। यदि किन्हीं प्रकार के बुद्धों की निवृत्ति होकर किन्हीं अन्य की नहीं हुई जवना को बुद्ध एक बार निवृत्त हो गए, उनकी फिर उत्पत्ति हो गई, तब तो दर्शन का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। मर बुद्ध की निवृत्ति ऐकान्तिक और आत्मनिक होनी चाहिए। सांख्यकार का बिचार है कि इस प्रकार की बुद्ध की निवृत्ति 'बुद्ध' पदार्थों के द्वारा सम्भव नहीं है।^२ इनसे तो बुद्धों का ताता क्या ही रहेगा। यदि एक बार इनसे बुद्ध हट भी जाएँगे तो फिर उनकी अनुवृत्ति होना आवश्यक है।^३ बुद्ध का सम्यक् निरोध तो सभी हो सकता है जब अविद्या के बीज दण्ड कर दिए जायँ जिससे कि उनमें से बुद्ध के कृच्छ्रे फिर उपज ही न सके।^४ सांख्याचार्यों का एक अस्तिकापी उद्बोध यह भी है कि 'बुद्ध' से तो बुद्ध की आत्मनिक निवृत्ति ही ही नहीं सकती वह 'आनुपमिक' से भी होनी असम्भव है^५। वैदिक कर्मकाण्ड हमें नहीं बता सकता। वह तो स्वयं 'अविबुद्धि' अयं और 'अविद्यम' से मुक्त है।^६ उस वैदिक कर्मकाण्ड का विपरीत मार्ग ही श्रेयान् है^७। कौन विपरीत

(१) 'एवं हि आत्मविषयो न विज्ञास्येत यदि बुद्धं नाम जवति न स्यात्'।

कारिका १ पर तत्त्वकीमुदी ।

(२) बुद्धे साध्यार्वा चोर्ध्वकान्तात्पन्ततोऽभावत् । सांख्यकारिका १

(३) न बुद्ध्यातस्तित्तिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति र्दर्शनात् । सांख्यसूत्र १।२

(४) सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्ध एक 'पुरुष' है जिसका विनाश नहीं किया जा सकता। हाँ इस अंश से उसका आत्मनिक और ऐकान्तिक निरोध किया जा सकता है।

(५) बुद्धवद्वानुपमिकः । सांख्यकारिका २

(६) त ह्यविबुद्धिः कयात्रिषायमुक्तः ।

(७) तद्विपरीता श्रेयान् । सांख्यकारिका २; जिज्ञास्ये विवकान्निश्रेय बुद्ध-निवृत्ती ह्यतद्व्यक्ता नेतराश्रेयरात् । सांख्य प्रबचन सूत्र ३।८४

‘मार्ग’? नहीं जो ‘व्यक्त’ (महामूढ) ‘अव्यक्त’ (प्रधान प्रकृति) और ‘म’ (पुरुष) के ज्ञान से निष्पन्न होता है। वैदिक कर्मकाण्ड का यह निरूपण ही अत्यन्त तीव्र प्रतिवाद है। इतनी दूर तो सम्भवतः बुद्ध भी नहीं गए। ‘श्वेयान्’ शब्द को लेकर आचार्य मैत्रसमुत्तर ने यह विस्तारने का प्रयत्न किया है कि यहाँ वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा में ही प्रकृति-पुरुष-विषयक विज्ञान की श्रेष्ठता दिखाई गई है अतः ‘तद्विपरीत श्वेयान्’ कहने का तात्पर्य यह है कि उसके विपरीत जो है वह अधिक अच्छा है और वैसे वैदिक कर्मकाण्ड भी अच्छा है^१। यदि सांख्यार्थ को इतना समन्वय ही अपेक्षित होता तो वह वैदिक कर्मकाण्ड को ‘अविद्युद्धि’ ‘अय’ और ‘अविद्यय’ से मुक्त क्यों नहीं बतलाने। फिर भी सांख्य दर्शन की सत्य के ज्ञापन के रूप में बेह में बढ़ा है। यहाँ सांख्यकार की एक विरुद्ध स्थिति अवश्य दिखाई पड़ती है किन्तु निरूपण ही इस विषय में एक समन्वयात्मक दृष्टि कोण लिया जा सकता है। सांख्य को तीन प्रमाण अमिमेत है, यथा द्रष्टुं अनुमान और आप्तवचन क्योंकि उसके विचार में अन्य दृष्टान्तों में प्रतिपादित और सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव इन तीनों में प्राप्य हो जाता है^२। प्रमेय की सिद्धि बिना प्रमाण के नहीं होती। इस प्रकार कौन-कौन से प्रमाण उपर्युक्त तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भावित जाने है इसको सांख्यमूल और सांख्यकारिका के विभिन्न व्याख्याकारों ने विभिन्न-विभिन्न प्रकार से दिया है। श्री बिष्णु ब्रह्मसोबनी महोदय की टीका की हुई यह शक्तिना^३ यहाँ उपयुक्ती सिद्ध होगी —

(१) वैजयि लोबनी: ‘ए किटीकल सट्टी बोंड रि सांख्य तिसरन’
पृष्ठ १५

(२) द्रष्टुमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धित्वान् त्रिविधं प्रमाणमिदं प्रमेयनिष्ठि प्रमाणादि ॥ सांख्यकारिका ४

(३) ए किटीकल सट्टी बोंड रि सांख्य तिसरन पृष्ठ १७; बीता रि इन शक्तिका से ज्ञान होगा कभी-कभी एक ही व्याख्याकार ने अनेक प्रकार से एक प्रमाण की व्याख्या किया है और अनेक प्रकारों से ही कभी कभी अन्य प्रमाणों का किसी एक में अन्तर्भाव दिया है।

न होता ।^१ यह उक्ति वैसे तो सभी भारतीय दर्शनों के लिए ठीक है, विशेष प्रयोजनवादी तो यह सांख्य दर्शन और जिसने चार आर्ज्य शक्तों का उपदेश दिया उसी के दर्शन के लिए है। फिर यह बुद्ध का निरोध वास्तविक ही होना चाहिए। यदि किसी प्रकार के बुद्धों की निवृत्ति होकर किसी अन्य की नहीं हुई अथवा जो बुद्ध एक बार निवृत्त हो गए, उनकी फिर उत्पत्ति हो गई, तब तो दर्शन का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः बुद्ध की निवृत्ति ऐकान्तिक और वास्तविक होनी चाहिए। सांख्यकार का विचार है कि इस प्रकार की बुद्ध की निवृत्ति 'दृष्ट' पदार्थों के द्वारा सम्भव नहीं है।^२ इनसे तो बुद्धों का ताता समा ही खेया। यदि एक बार इनसे बुद्ध हट भी जाएँ तो फिर उनकी अनुवृत्ति होना आवश्यक है।^३ बुद्ध का सम्यक निरोध तो सभी हो सकता है जब अविद्या के बीज दण्ड कर दिए जायँ जिससे कि उनमें से बुद्ध के रूप में फिर उत्पन्न ही न सकें।^४ सांख्याचार्यों का एक कमलिकारी उद्बोध यह भी है कि 'दृष्ट' से तो बुद्ध की वास्तविक निवृत्ति हो ही नहीं सकती वह 'अनुभविक' से भी होगी असम्भव है।^५ वैदिक कर्मकाण्ड हमें नहीं बचा सकता। वह तो स्वयं 'अविमुक्ति' अथ 'अविश्रम' से मुक्त है।^६ उस वैदिक कर्मकाण्ड का विपरीत मार्ग ही 'श्वेदान्' है।^७ कौन विपरीत

(१) 'एवं हि धातुविक्रयो न विज्ञास्येत यदि बुद्धं नाम अवति त स्यात्'। कारिका १ पर तत्त्वकौमुदी ।

(२) दृष्टे साध्यार्था बोधैकान्ततत्पन्ततोऽप्राप्तात् । सांख्यकारिका १

(३) न बुद्धात्तत्तिष्ठिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति र्वातात् । सांख्यसूत्र १।२

(४) सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्ध एक 'गुण' है, जिसका विनाश नहीं किया जा सकता। हट, इस शब्द से उसका अश्रयान्तिक और ऐकान्तिक निरोध किया जा सकता है।

(५) बुद्धवशानुभविकः । सांख्यकारिका २

(६) त ह्यविमुक्तिकयातिशयमुक्तः ।

(७) तद्विपरीतः श्वेदान् । सांख्यकारिका २; विज्ञास्ये विवेकान्निरोध बुद्ध निवृत्ती कृतकृत्यता नेतराप्रैतरात् । सांख्य प्रवचन सूत्र ३।८४

‘मार्ग’? वही जो ‘व्यस्त’ (महामृत) अव्यस्त’ (प्रमाण प्रकृति) और ‘अ’ (शुद्ध) के ज्ञान से निष्पन्न होता है। वैदिक कर्मकाण्ड का यह निश्चय ही अत्यन्त तीव्र प्रतिपाद है। इतनी दूर तो सम्भवतः कुछ भी नहीं गए। ‘शेयान्’ शब्द को लेकर आचार्य मैत्रसमुत्तर ने यह विस्तारने का प्रयत्न किया है कि यहाँ वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा में ही प्रकृति-पुरुष-विषयक विज्ञान की ओर उल्टा दिखाई गई है अतः ‘उत्तिपरीत’ शेयान्’ कहने का तात्पर्य यह है कि उसके विपरीत जो है वह अधिक अच्छा है और जैसे वैदिक कर्मकाण्ड भी अच्छा है^१। यदि सांख्यकार्य को इतना समन्वय ही अपेक्षित होता तो वेद वैदिक कर्मकाण्ड को अधिकुष्टि ‘अय’ और अतिशय से मुक्त कभी नहीं बतलाते। फिर भी सांख्य दर्शन की सत्य के ज्ञापक के रूप में वेद में अन्तर्भाव है। यहाँ सांख्यकार की एक विशिष्ट स्थिति अवश्य दिखाई पड़ती है, किन्तु निश्चय ही इस विषय में एक समन्वयात्मक दृष्टि कोन किया जा सकता है। सांख्य को तीन प्रमाण अभिप्रेत है, यथा दृष्ट अनुमान और आप्तवचन क्योंकि उसके विचार में अन्य दर्शनों में प्रतिपादित और सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव इन तीनों में प्रायः हो जाता है^२। प्रमेय की सिद्धि बिना प्रमाण के नहीं होती। इस प्रकार कौन-कौन से प्रमाण उपर्युक्त तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भावित जाते हैं इसको सांख्यसूत्र और सांख्यकारिका के विभिन्न व्याख्याकारों ने विभिन्न-विभिन्न प्रकार से दिखाया है। भी किन्तु बेकटेछ सोवनी महाशय की तैयार की हुई यह तात्त्विका^३ यहाँ उपयोगी सिद्ध होगी —

(१) वैदिक सोवनी : ‘ए किटीकल सखी जौं हि सांख्य तिसख्य’
पृष्ठ १५

(२) बुद्धमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् विविधं प्रमाणनिर्द्धं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्वि ॥ सांख्यकारिका ४

(३) ए किटीकल सखी जौं हि सांख्य तिसख्य पृष्ठ १७; जैसा कि इस तात्त्विका से ज्ञात होगा कभी-कभी एक ही व्याख्याकार ने अनेक प्रकार से एक प्रमाण को व्याख्यात किया है और अनेक प्रकारों से ही कभी-कभी अन्य प्रमाणों का किसी एक में अन्तर्भाव किया है।

प्रमाण को अनुसृत होते हैं	दृष्ट या प्रत्यक्ष में	अनुमान में	श्रुत या आप्त वचन में	अन्य के अनुसार व प्रमाण नहीं है
उपमान	वाचस्पति	वाचस्पति माठर अयमंगला विज्ञान मिश्र	गौडपाद वाचस्पति अयमंगला	
अवर्णित		गौडपाद वाचस्पति अयमंगला		
अभाव	वाचस्पति विज्ञानमिश्र अयमंगला	माठर	गौडपाद	अत्रिका
सम्भव		वाचस्पति माठर अयमंगला	गौडपाद अत्रिका	वाचस्पति
ऐतिह्य		माठर	गौडपाद अत्रिका विज्ञानमिश्र	
प्रतिभा	अयमंगला	अयमंगला अत्रिका	अयमंगला गौडपाद	अयमंगला

इस तालिका से बीछ आचार्यों और नैयायिकों के द्वारा प्रमाण बीमाका के क्षेत्र में किए गए महान् विचार की तुलना पर हम दोनों की परिस्थिति को समझ सकते हैं। हाँ अभी साक्ष्य परिभाषाओं की कुछ निश्चित करना और आवश्यक होगा। साक्ष्य दर्शन के अनुसार 'प्रतिबिम्ब-प्राप्तताय' ही दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण है। बुद्धि के अन्वयकार के अति श्रुत हो जान पर भी सत्य-समूहक होता है। यह साक्ष्य दर्शन में 'अप्राप्तताय' कहा जाता है। यही 'बुद्धि' और 'ज्ञान' भी कहलाता है। यही प्रमाण है। यहाँ साक्ष्य दर्शन के अनुसार ही यह कहा जा सकता है कि बुद्धितत्व

(१) प्रतिबिम्बप्राप्तताय ही दृष्ट है। कारिका ५

(२) अज्ञातमोक्षितव्य इति यः साक्ष्यमुक्तः सौम्यवसाय इति अतिरति ज्ञान-मिति ज्ञानायाम्ने। एवं साक्ष्यमायम्। तात्पर्यकारिका ५ वर तत्प हीमुही।

तो प्राकृत है अतः अचेतन है तो फिर उसका अय्यब्रह्म भी क्या ब्रह्मादि को तरह अचेतन ही नहीं होगा? क्या बुद्धितत्त्व के सुखादि परिणाम भी अचेतन नहीं होंगे? किन्तु ऐसा नहीं है। ‘पुरुष’ यद्यपि सुखादि में अनुपपन्न नहीं रहने वाला है किन्तु वह चेतन है। वह ‘पुरुष’ ही बुद्धितत्त्ववर्ती सुखादि से और उसमें प्रतिबिम्बित होकर उसकी छाया से स्वयं ही ज्ञान-सुख-मादि-वास-सा हो जाता है। इसलिए चेतन महत्त्व तत्त्व की छायापति से अचेतन बुद्धि भी और उसका अचेतन अय्यब्रह्म भी चेतन के समान हो जाता है^१। सांख्य के इस तर्क को हमें प्रकृति प्रकार समझ लेना चाहिए। क्योंकि इसी पर उसके विकासवाद का समस्त सिद्धान्त और इसी पर उसके मोक्ष-सम्बन्धी सिद्धान्त दोनों आश्रित हैं। अनुमान की व्याख्या इस ब्रह्म ने तीन विभागों में की है जो कि विकल्पात्त वैसे ही हैं वैसे व्यास के यहाँ ‘पूर्ववत्’ ‘शेषवत्’ और ‘सामान्यतो दृष्ट’। सांख्य वर्णन ने इन तीन प्रमाणों का नाम से निर्देश नहीं किया है (सांख्य कारिका में) अतः व्याख्याकारों ने अपनी अपनी अलग व्याख्या की है। ‘अष्टमुक्ति’ को सांख्य वर्णन में ‘आप्तवचन’ (या शब्द) कहा गया है^२।

सांख्य विचारकों के कहना है कि सामान्यतः तो दृष्ट या प्रत्यक्ष प्रमाण से स्पष्ट पदार्थों का ज्ञान हो जाता है और जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उनकी छिछि हम अनुमान से कर सकते हैं किन्तु जो परोक्ष वस्तु इन दोनों से भी छिछि नहीं होती किन्तु जो होती है वह फिर ‘आप्तवचन’ या आप्त-

- (१) मिताक्षये बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वावचेतनम् इति तदीयोऽय्यब्रह्मापोऽय्य चेतनो, ब्रह्मादिब्रह्म । एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखाद्यपोऽपि परिणाममेवावचेतनम् । पुरुषस्तु सुखाद्यननुपपत्तौ चेतनः । तदीयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञान-सुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तत्प्रत्यक्षमात्रया ज्ञानसुखादिमानिब्रह्म ब्रह्मतीति चेतनोऽनुपपद्यते । प्रतिबिम्बितमात्रत्वावचेतनापि बुद्धिस्तदय्यब्रह्मापोऽय्यचेतनवचेतनवद्भवतीति । तदर्थं कारिका ५ पर तत्त्वकीमुदी । मिताक्षये, तस्मात्तत्त्वयोगावचेतनं चेतनवदिव त्वम् । अनुपपत्तृत्वेऽपि तथा कतव्यं त्वं त्वुदासीनः । सांख्य कारिका २

- (२) प्रतिबिम्बमनुमानमाख्यातं तस्मिन्निगिपूर्वकम् । आप्तप्रतिपाद्यवचनं च । कारिका ५ ‘तस्मिन्निगिपूर्वकम्’ पर व्याख्याकारों ने बड़ा विवेक है ।

‘अव्यक्त’ का अन्वय वैश्वम् और साक्षम् बिनासे हुए फिर तीन गुणों अर्थात् सत्त्व रजस् और तमस का स्वल्प-निर्देश किया है^१। तदनन्तर ‘कारणमस्त्यव्यक्तम्’ ऐसा कहकर बनेक कारणों से यह दर्शन प्रधानकारणवाद की स्थापना करता है^२ जो उसका एक अत्यन्त मौलिक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और जिसका निराकरण करने से किए भयवान् लेकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में निश्चय ही बड़ा कष्ट उठाया है। ‘पुरुषोऽस्ति’ इस प्रकार ‘पुरुष’ के अस्तित्व में भी बनेक प्रमाण लेकर साक्ष्य बनेक प्रमाणों के आधार पर ‘पुरुष बहुत्व’ को भी प्रस्थापित करता है और विज्ञाने का प्रयत्न करता है उसके ‘साक्षित्व’, ‘कैवल्य’, ‘माध्यस्थ्य’, ‘द्रष्टृत्व’ और ‘अकर्तृ भाव’ को भी^३। फिर ‘प्रकृति’ और ‘पुरुष’ का साक्ष्य वर्तन अपूर्व संयोग करता है, जो दार्शनिकों के विमर्श को उत्तम और परेशानी में डालने वाली एक चीज है।^४ वेदान्त को तो साक्ष्य ने अकर्ता बना दिया और कर्ता को बना दिया अनैतन्य और फिर दोनों का अन्त और पंथ के समान संयोग कराते न केवल विद्या ही पुरुष के द्वारा प्रकृति को देखने एवं इस प्रकार अपनी कैवल्य स्थिति सम्पादन करने की सम्भावना ही किन्तु समस्त सर्ग क्रम का व्यवस्थित उपक्रम भी। यह सर्ग क्रम साक्ष्य-कारिका में बाईसवीं कारिका से लेकर बीसवीं कारिका तक बड़े विस्तार रूप से वर्णित है जिसमें पूर्वोक्त तत्त्वों के लक्षण उत्पत्ति-क्रम आदि स्पष्ट रूप से व्याख्यात किए गए हैं। यह सर्ग-क्रम और इसका विस्तृत वर्णन साक्ष्य वर्णन में तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है किन्तु हमें तो बीज दृष्टिकोण से ही सब बातों को महत्वपूर्ण और अमहत्वपूर्ण यहाँ समझना है और चूंकि बीज दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति

(१) कारिकाएँ १०-१४

(२) कारिकाएँ १५-१६

(३) कारिकाएँ १७-१९

(४) निताड्ये ‘न हि प्रधानस्यावैतन्यस्वीतुत्पत्त्यं सम्भवति । न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यैतुत्पत्त्यम् । ब्रह्मसूत्र टीकाकार नाट्य १।१।६ तथा प्रधानस्यावैतन्यमात् पुरुषस्य बीजातीत्यातुतीत्यस्य च तयोः सम्बन्धमिदु रनादानं सम्बन्धानुपपत्तिः । ब्रह्मसूत्र टीकाकारनाट्य २।१।७

के विषय की लेकर अविकार में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए सांख्य के विकासवाद के सिद्धान्त को हम यहाँ पूर्वस्थ से निरूपित करना आवश्यक नहीं समझते केवल यह तालिका^१ देकर ही संतोष करते हैं

१-मूल

२ प्रकृति (अव्यक्त)

३-बुद्धि या महान्

१-मन

११ १५ पञ्च बुद्धीन्द्रियां ('बसु-
भोजप्रावरसनस्पृशनकानि')

४-अहंकार

१६-२ पञ्च कर्मेन्द्रियां ('वाक्पानि
पादपामुपस्थान्')

५ ९ पञ्चतन्मात्रायां

२१ २५ पञ्च महामूढ (पृथिवी अन्न
तेज वायु, आकाश)

(रास्व स्पर्श रूप रस गन्ध)

अभी आगे न चल कर जिसकी भूमि हम चल आए हैं उसी के संबंध को बीड़ वर्णन की दृष्टि को कुछ निरूपित करें। सबसे पहले इस विकास की श्रेणी में हम देखते हैं कि 'प्रज्ञान' रूप मूल प्रकृति है जिसका फिर और कोई मूल नहीं। इस दृष्टिकोण से देखने पर निश्चय ही यह प्रकीर्णन हो सकता है कि यह 'मूलप्रकृति' नहीं उस बीड़ 'अविद्या' से तो संबंध या समानता नहीं रखती जो 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सबसे पहले प्रत्यय के रूप में स्मरण की जाती है और जिसके मागे प्राप्ति के पूर्वकौटि का पता (स्वयं उत्पाद के पक्षों में ही) नहीं चलता। हम पहले यह चुके हैं कि 'प्रतीत्य समुत्पाद' का उपदेय उत्पाद के द्वारा कारणवाद की समस्या को हल करने के लिए नहीं दिया गया था^२। यद्यपि उस रूप में उसकी समानता भी किसी अन्य सिद्धांत से नहीं की जा सकती। बीड़ 'अविद्या' को हमें साक्षात्कारों के

(१) यह तालिका सांख्य-योग सिद्धान्तों के अनुकूल है; जैसे 'सांख्यकारिका' के अनुसार सर्ग-क्रम इस प्रकार चलता है—पुरुष—प्रकृति—उत्तसे महान्—महान् से अहंकार—अहंकार से तन्मात्र का वर्ण (प्यारह इन्द्रिय और पञ्च तन्मात्रायां)—पांच तन्मात्रायां से पांच महामूढ = २५: प्रहतेमहास्ततोऽर्च्यारस्तस्माद्वनमथ बीड़घर^३।

तस्मादपि बीड़प्रकृतं पञ्चम्यं पञ्च भूतानि । आरिका १२

(२) हेनिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का निरूपण।

‘प्रज्ञान’ से कमी मिछाने के विग्रह में नहीं पड़ना चाहिए इसके लिए ह
माचार्य बुद्धगोप ने बहुत पहले ही आगाह कर दिया है। उन
‘विबुद्धिमन्त्र’ एवं में इन ‘अष्टकभाषरिच’ ने सांख्य योग के प्रकृति और
पुरुष के द्वैतवाद का प्रत्याख्यान किया है और प्रकृतिवादिओं में
‘मूलप्रकृति’ से ‘अविद्या’ की समानता दिखाने का कड़ा विरोध किया
है।^१ किन्तु जो ‘परिणामित्यत्व’ का भाव सांख्य ब्रिंकाद्यनाथ में मिल
है वही नित्य समुत्पन्न और नित्य निरुद्ध होने वाले बौद्ध ‘धर्मों’ में भी है, जो
जैसा कि हम अभी जाने देखने वालों में ही उनके प्रति ‘अनात्मभाव करने’
ही कस्माय का मार्ग माना गया है बौद्ध दर्शन में तो प्रतीत्य समुत्पन्न
पञ्चस्कन्धों से और सांख्य दर्शन में ‘परिणामित्यत्व’ प्रकृति के विकारों से
कर्त्तृ ने जो बौद्ध ‘अविद्या’ की समता सांख्य ‘प्रज्ञान’ से संस्कारों की समता बुद्धि से
विज्ञान की समता अहंकार से नाम-रूप की समता तन्मात्राओं से ब्रह्मण
की समता इन्द्रियों से और समग्र ‘प्रतीत्य समुत्पाद’ की ही समता सांख्यो
‘प्रत्ययसंघ’ से दिखाने का प्रस्ताव किया है।^२ उसे हम अधिक ठीक नहीं समझते
क्यों तक हम यह न देखें कि सांख्य दर्शन में ‘बुद्धि’ ‘अहंकार’ ‘तन्मात्रा’ और
‘इन्द्रिया’ किन अर्थों में प्रयुक्त की गई है वह तक हम यह नहीं कह सकते कि
कमसे बौद्ध दर्शन में निरूपित ‘संस्कार’ ‘विज्ञान’ ‘नामरूप’ और ‘पञ्चावयवों’

(१) देखिए पीछे स्वविरचारी सत्यदर्शन के प्रसंग में प्रतीत्य समुत्पन्न का
विशेषण।

(२) देखिए उनका मीनभक्त और इन्द्रियन बुद्धिगम, पृष्ठ ४७ परवर्तित ६
और ७वीं ने भी इसी प्रकार समता दिखाने का प्रयत्न किया है। उन
अनुसार सांख्य के ‘पुन’ बौद्ध दर्शन के ‘धर्म’ के अनुक्रम है, तथा जो
समता इस प्रकार है—

अविद्या—सांख्य दर्शन की प्रकृति के समान।

संस्कार—महत् के समान।

विज्ञान—बुद्धि ” ”

नामरूप—अहंकार ” ”

पञ्चावयव—पञ्चेन्द्रियवयव + तन्मात्रा

स्पष्ट—कदाचित् कर्मत्रिप ? २ देखिये तत्पर : न

बुके है कि यह प्रकृति सबसे पहले महाभारत में ही शुरू हो गई थी जहाँ कि सांख्य अपने 'मौलिक्य' निरीस्वरवाद के स्वरूप को छोड़ कर ईस्वरवाद की ओर प्रवृत्त हो गया है। मौलिक्य सांख्य वर्शन स्पष्टरूप से निरीस्वरवादी है। यह महाशक्ति भूतों को केवल प्रकृति के द्वारा किया हुआ मानता है। यह उन्हें ईश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं मानता ब्रह्म को उनका उपादान कारण नहीं मानता और नहीं यह यह मानता है कि ये अकारण उत्पन्न हो गए हैं। यह उन्हें केवल प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुआ मानता है।^१ यह तो सांख्य निरीस्वरवाद के लिए केवल एक कारिका का सांख्य है एक अन्य खोई हुई कारिका का भी साध्य द्रष्टव्य है, जिसे सोकमास्य तिलक ने इस प्रकार लोख निकाला है—'कारणमीश्वरमेके बुबुते कामपरेस्वमात्रं वा। प्रजा कर्मनिर्बुधतो व्यस्त' कामस्वभावश्च।^२ हाँ सांख्य प्रवचन सूत्र के 'ईश्वरसिद्धे'^३ को लेकर यह मसी प्रकार कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने 'ईश्वरसिद्धे' ही कहा है 'ईश्वरमात्रा' नहीं बत सम्भवतः यह ईश्वरवादी रहे हों किन्तु जिस दृष्टि क्रोध से वे ज्ञान के अनुसंधान में प्रवृत्त हुए हैं उसने प्रति सच्चे रह्य हुए वे सम्भवतः ईश्वर कतु बाद की सिद्धि में प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। कछ-कुछ कुमारिल के ही दृष्टिकोण से सांख्यप्रवचन सूत्र में ईश्वर के कर्तृत्व का निषेध किया गया है। निषेध ही सृष्टि के सृजन करने से ईश्वर की आप्तकामता में अन्तर आता है और वो इच्छा कर सकता है वह पूर्ण कैसे हो सकता है? अपूर्ण को ईश्वर कैसे मानें? आप्तकाम को किसी इच्छा से उन्नेहित हुआ कैसे मानें! निषेध ही यह समस्या भारतीय वर्शन में जिस प्रकार भयवान् सात्याचार्य को उगी प्रकार आचार्य कुमारिल जैसे भीमांसक को^४ और आचार्य

(१) 'महदाविज्ञान-प्रकृत्यैव कृतो मेवदरेण न बह्मोपादानो, नाप्यकारण'। अकारणत्वे ह्यप्यन्तामाशेष्यन्तमाशो वा स्यात्। न बह्मोपादान-चित्तिद्रव्यैरपरिचामात्। मेवदराविधिद्विप्रकृतिद्वितो निर्ध्यापारयाधिष्यन्तुवातम्भवत् इत्यादि। सारवकारिका ५६ पर तत्त्वकौमुदी।

(२) देखिए बाल मंगापर तिलक : पीता रहस्य पृष्ठ १९३

(३) सांख्य सूत्र १।९।९ सांख्य प्रकृतिवाद और इनके खंडन के लिये देखिये लीम्वरमन्व १६।१७ ब्रह्मवर्ति तर्ग १८

(४) भुरगब्रह्मोत्पत्तितरानावाप्त तत्तिद्धि। सांख्य प्रवचन सूत्र १।९।३; धर्म-साप्पतत्करतन्त्र। वहीं १।९।४

(५) देखिए जाने इती प्रकरण में 'बीड वर्शन और भीमांता वर्शन' पर विचार।

गौडपाद^१ जैसे बौद्ध ब्रह्माप्ती को भी उल्लेखित करती है। कदापि की भावना से प्रभूत होकर रचना असम्भव है, यह तर्क सांख्यप्रबचनसूत्रकार, कुमारिल और बुद्ध तीनों का ही समान है^२। बुद्ध की तरह सांख्यार्थ भी कर्म को ही इसके लिए पर्याप्त मानने का प्रस्ताव रखते हैं।^३ प्रमाण सास्त्र से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा भी सांख्य का मत है।^४ जितने भी ईश्वर के पुत्रों का वर्णन है उन्हें सांख्य वर्णन केवल मुक्त आत्माओं के ही पुत्र मानता है^५। कुछ-कुछ उसी भावना में जिस प्रकार मीमांसक उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण करने वाली श्रुतियों को केवल अनुष्ठानकृतियों की प्रशंसा करने वाली मानते हैं^६। पिछ बिष्णु कादि वेदों में भी सांख्य की कुछ विशेष झूठा नहीं है। उनको आचार्य सांकर की तरह वह भी एक निम्न कोटि में डाल देता है^७। उत्तरकालीन आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रश्रुतियों के अनुसार सांख्य वर्णन के अनीश्वरवाद को लेकर उस पर बड़ी जीपापोती की है और कुछ हाथों में उसकी कमियों को पृथ भी किया है। वाचस्पति मिश्र विज्ञानमिश्र और नायेस ने प्रायः इस प्रकार की प्रश्रुतियों में विशेष ध्यान दिया है। पुराण के अक्षय की आवश्यकता के लिए प्रकृति अपने आप किस प्रकार कार्य में प्रभूत हो सकती है इस कठिनाता को देख वाचस्पति मिश्र ने इसके लिए ईश्वर के

- (१) देखिए भाषे इसी प्रकार में 'बौद्ध वर्णन और ब्रह्मांत वर्णन' पर विचार।
- (२) कुमारिल के मत के विषय में भाषे देखिए 'बौद्ध वर्णन और पूर्वमीमांसा' का विवेचन बुद्ध के दृष्टिकोण के लिए मिलाइये पीछे 'क्या सम्यक सम्बुद्ध अनीश्वरवादी हैं ?' पर विचार; देखिये बह्वर्णित १८।२०-२९
- (३) देखिए सांख्यप्रबचन सूत्र ५।१ 'नेश्वराविच्छित्ते फलविप्यति' कर्मवा तत्तिष्ठे । यह मत बौद्ध वर्णन के अनुकूल है।
- (४) प्रमाणाभावात् तत्तिष्ठति । सांख्य प्रबचन सूत्र ५।१२
- (५) मुक्तात्मनः प्रधत्ता उपात्ता तिष्ठस्य वा । सांख्यप्रबचन सूत्र १।९५। मिलाइये वहीं ३।५४-५६ भी।
- (६) देखिए भाषे 'बौद्ध वर्णन और पूर्वमीमांसा' का वर्णन विवेचन।
- (७) देखिए सांख्य प्रबचन सूत्र ३।५७; सांकर का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होया 'मायामात्रमेतत् सत् परमात्मनोऽत्र त्वात्रमात्मना ब्रह्मात्मनः । बह्वसुख सांकर भाष्य २।१११

अभिप्रेतन तत्त्व को स्वीकार कर लिया है। जो सांख्य की मूल भावना के विपरीत है। विज्ञानमिश्र ने सांख्य अनीश्वरवाद की अपने मतानुसार व्याख्या करत एवं उसकी संघति कमाने में एक प्रकार से हड़ ही कर भी है। कभी तो वे कहते हैं कि सांख्य अनीश्वरवाद केवल एक उग्र 'प्रीतिवाद' है, यह विज्ञान के लिए कि यह दर्शन बिना ईश्वर के भी ठहर सकता है। कभी वे कहते हैं कि यह उन लोगों के लिए, जो ईश्वर में भ्रम नहीं जमा सकते हैं, केवल मात्वासन के लिए एक 'अभ्युपगमवाद' है अर्थात् वास्तविक उपदेश का उनकी सहूलियत और शांति के लिए कल मीचा करता है। कभी वे यह भी कहते हैं कि सांख्य दर्शन का प्रवर्तन केवल मूढ़बुद्धियों के विमोहन के लिए हुआ है पापियों के ज्ञान में प्रतिबन्ध डालने के लिए है। कभी वह सांख्य सिद्धांतों की बेबाल से एकारमता भी दिखाते हैं और कभी बरते हैं 'पुरुष बहुत्व' को 'एक ब्रह्म' की कोटि में लाने का प्रयत्न भी। इस प्रकार भारतीय दर्शन में हम एक अशुभ बाध देखते हैं। न केवल वाचस्पति मिश्र विज्ञानमिश्र आदि न ही किन्तु अन्य अनेक आचार्यों ने निश्चित रूप से निरीश्वरवादी सांख्य (जैसा कि वह सांख्यकारिका में विशेषतः उपलब्ध है) को तो लाने की कोशिश की है मिस्र उपान्यों से ईश्वरवादी की कोटि में और सम्यक सम्बुद्ध जिनके विषय में कभी कोई निष्पक्ष विचार करने पर यह कहने का शाना नहीं कर सकता कि वे अनीश्वरवादी हैं उनको सदा डालने का प्रयत्न किया है न केवल 'नास्तिक' की ही किन्तु अनीश्वरवादी की कोटि में भी। इसका रहस्य क्या है? हमारी समझ में इसका रहस्य संक्षेप के इन शब्दों में विद्यमान है—'आप्तमुतिप्राप्तवचनं हि'। सांख्यकारिका ने जब एक बार वेद के प्रामाण्य को स्वीकार कर लिया तो हिन्दू-जनता निश्चित हो गई, फिर वह उनके उपदेशों में किसी-न-किसी प्रकार समन्वय-समाधान कर ली। वेद के लिए वह ईश्वर को छोड़ सकती है क्योंकि वेद रहेगा तो ईश्वर की सिद्धि तो किसी-न-किसी प्रकार कर ही ली जायगी किन्तु वेद के बड़े जाने पर तो ईश्वर सदा के लिए हो जमा जाता है। अस्तीति बुक्तोऽयमत्र कथं तदुपलभ्यते। उत्तरकाशीन बीड आचार्यों ने ईश्वरवाद का कड़ा प्रत्याख्यान कर उसे अवधान् बुद्ध पर

- (१) ईश्वरस्यापि अर्वाभिप्रेतानां प्रतिबन्धापनय एव व्यापारः। शायानुपानुः
दृष्टिमान् किर्तातादी, निरुद्ध बुद्धी, गुण ३१९, पर संकेत १ में प्रयुक्त।
(२) ईश्वर सांख्य प्रवचन भाष्य १।६९; ३।६६ ३।५०; ५।१९

भी आरोपित कर दिया जो सम्भवतः ठीक नहीं था। कुछ भी हो, यदि सांख्य दर्शन में अनीश्वरवादियों के लिए आस्थाघन है जैसा कि भिन्नान्-भिन्नु ने हमें ठीक ही बताया है तो हम कह सकते हैं कि उस आस्थाघन की मात्रा बुद्ध के विचार में कुछ कम नहीं है और उसे हमें लेना चाहिए। अब हम दोनों दर्शनों के संसार, पुनर्जन्म मोक्ष और व्यापारतत्त्व सम्बन्धी विचारों पर आते हैं। संसार और बुद्ध की भावनाओं सांख्य दर्शन में बौद्ध दर्शन की तरह ही व्यापक हैं। 'अरामरव-कृत बुद्ध को चेतनः पुरुष पाठा है जब तक कि उसके किमि सरीर की निवृत्ति नहीं हो जाती। इसलिये स्वभाव से ही बुद्ध है'। 'न कृतापि कोऽपि सुखीति' संसार तो नित्य क्या ही हुआ है फिर सुख कहाँ से हो? किन्तु संसार में यह वास्तव में बड़ा प्राणी का ही हो तब तो उसकी निवृत्ति ही असंभव है। 'न स्वभावतो ब्रह्म मोक्षसाधनोपदेश विधिः'। जो स्वभाव से ही ब्रह्म है उसके लिए मोक्षसाधन के उपदेश की विधि व्यर्थ है। अतः संसार तो वास्तव में पुरुष नहीं करता प्रकृति करती है^१ और पुरुष उसके व्यापारों में बिनकी प्रतिष्ठावा बद्धि में पड़ती है 'बद्धि' के रूप में ग्रहण कर लेता है और वही उसके जन्म का कारण होता है। यदि पुरुष बुद्धि में पड़े प्रकृति के प्रतिबिम्ब को देख सके कि यह व्यापार प्रकृति का है तो उसका वास्तविक अ-अर्थभाव स्फुरण होने लगता है और उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है।

सांख्य न इस अपने मन्त्रम को बड़ी अच्छी तरह से बिनासा है। प्रेरकत्व होकर जब पुरुष प्रकृति को देखता है और साक्षात्कार करता है कि किस प्रकार इसके व्यापारों का उपचार मुझ हो रहा है तो प्रकृति सहम जाती है और सदा के लिए निवृत्त हो जाती है। प्रकृति और पुरुष के संबंध का^२ (जो पुरुष के ही विमोक्षार्थ था^३) सदा के लिए खस हो जाता है फिर कृतकृत्यता सम्पादित

(१) तत्र अरामरवकृतं बुद्धं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः । तित्यस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् बुद्धोऽन्व स्वभावेन । सांख्य कारिका ५५

(२) सांख्य सूत्र ११७

(३) सांख्य सूत्र ११७

(४) तस्मात्त बध्यतेऽहं न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् । संसरति बध्यते मुच्यते च तन्नामया प्रकृतिः ॥ सांख्य कारिका ६२

(५) पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्व्यवस्थाम् । कारिका ५८; विनाशये पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिं प्रयत्नस्य । कारिका ५७

हो जाती है। सांस्कारिकाकार ने प्रकृति को एक सुकमार कृत्स्नबु के समान माना है जो पर-पुरुष को देखते ही सहम कर छिप जाती है कि नहीं यह छिप मुझे न देख ले^१। यद्यपि यह एक नर्तकी है जो रंगमंच पर अपना नृत्य दिखाकर बास बली जाती है^२। 'देख ली मैंने' इस प्रकार एक (पुरुष) उपपन्न हो जाता है और 'देख ली मैंने' इस प्रकार दूसरी (प्रकृति) विरमय कर जाती है संयोग यदि दोनों में बाह में बना भी रहे तो जो फिर सर्ग का प्रयोजन नहीं रहता^३। जिसको प्रकृति और पुरुष की विभिन्नता की व्याप्ति (ज्ञान) हो गई उसको साक्षात् मोम बन्धन में नहीं बाध सकते क्योंकि उसमें जो पुनर्जन्म के बीज रूप 'मे' और 'मेरा' वे वे तो दण्ड कर दिए गए, फिर पुनः सर्ग का प्रयोजन क्या रहा? यही केवल विपुल ज्ञान है। सांस्कारिका के मामिक धर्मों में इस ज्ञान की उत्पत्ति का यह उपाय है—'एवं तत्त्वाम्नाद्यामास्मि न मे नाहम् इत्यपरिधेयम्। अविपर्ययादिषु च केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।' वे सच्च भारतीय तत्त्वचिन्तन में अत्यन्त स्मरणीय एवं बीज मन्त्र की सांस्कारिकता के साथ तुलना करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जब सांस्कारिक मत्वानुसार तत्त्वाम्नास किया जाय तो इस प्रकार की बुद्धि का स्वरूप होता है 'नास्मि न मे नाहम्'। 'नास्मि' का अर्थ है कि पुरुष सदा इस प्रकार अनुभव करे कि मेरे अन्दर कोई भी बाह्य या आध्यात्मिक व्यापार नहीं है। 'नास्मि' इत्यारम्भ निमित्तमात्र निवेक्षति (तत्त्वकीमयी)। 'न मे' का अर्थ है कि मेरे अन्दर स्वाध्याय नहीं है। अर्थात् का निवेक्ष ही 'नाहम्' का रहस्य है।^४ इसके जानने से सम्पूर्ण ज्ञान हो

(१) प्रकृतेः सुकमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्नवतिः। या बुद्ध्याप्रसीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य। कारिका ६१

(२) 'रंगस्य वर्धयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यत्। पुरुषस्य तत्त्वाम्नासं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः। कारिका ५९

(३) बुद्ध्या नयेत्युपेक्षक एको बुद्ध्याद्भूतिरिति विरक्तपत्न्या। सति सर्वोपेक्षेति तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्वस्य। कारिका ६६

(४) कारिका ६४

(५) यह व्याख्या बाधत्पत्ति सिद्ध की सांस्कारिक तत्त्व कीमती के अनुसार है। अन्य व्याख्याओं के लिए देखिए डा. झा और धर्म का सांस्कारिक कीमती का संस्करण, ओबिनी भाग (नोट्स इस कारिका पर)।

जाता है। यही 'अपरिणय' ज्ञान है संशय और विपर्यय से रहित अतः सदा विमुक्त। 'नास्मि न मे नाहम्' य शब्द कितनी गहराई से भारतीय अध्यात्म-साधना में छिने पड़ है और विभिन्न प्रकारों से उसकी प्रतिष्ठा को कायम करते हैं यह अध्ययन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। निश्चय ही गीता भी कहती है कि 'नाहं किञ्चित् करोमि' इस प्रकार की भावना करो। इस पर और उसके समस्त अनासक्तिवाद पर हम 'बौद्ध दर्शन और गीता' के प्रयोग में आर्येंगे। योम भी कहता है 'इण्डुरूपयो योमो हेवहेतु' (८१७) ॥^१ महर्षि गार्ग्ययन भी कहते हैं 'अहमेतत् न' और वेदान्ती भी कहते हैं 'नाहं हेतु'। अतः प्रकृति और पुरुष के विच्छेद को अपन-अपने प्रकारों से प्रायः सभी कस्याम का मार्ग समझते हैं। भक्त भी तो पोस्वामी तुलसीदास भी को प्रतिनिधि बना कर विद्यावापुर्वक यही भाव दिखात है 'बड़ चेतनाहि प्रणि पड़ि यई। जबहि मृपा छूटत कठिनई'। इतना ही नहीं भारतीय विचारों से प्रभावित मुसलमान साधक भी 'हो हो करत सब मति छोई' इस प्रकार इस मस्तीर शार्ङ्गिक सिद्धांत का प्रस्थापन करने लगते हैं। अस्तु, शास्त्र जब कहता है कि प्रकृति के बलों को पुरुष को अपने में आरोपित नहीं करना चाहिए, बल्कि उनमें नास्मि, न मे नाहं की भावना करनी चाहिए और जब भगवान् बुद्ध कहते हैं 'मिञ्जुओ ! जितना भी रूप है जितनी भी वेदना है जितनी भी धम्मा है, जितने भी संस्कार हैं जितना भी विज्ञान है चाहे भूतकाय का हो, चाहे वतमान का चाहे भविष्यत् का चाहे अपने अन्दर का हो चाहे बाहर का चाहे सूक्ष्म हो जबका सूक्ष्म चाहे बुरा हो चाहे भला चाहे दूर हो जबका समीप—यह 'न मेघ है न वह मे है न वह मघ आत्मा है'^२ तो इनमें साधना का विवेक क्या है यह समझ में नहीं आता। रूप बदना बाहि पंचस्थाय भी तो एक प्रकार से प्रकृति के ही व्यापारों का विभागीकरण है दोनों सूक्ष्म और सूक्ष्म का। शास्त्र अपने पञ्चीस तत्त्वों में यदि 'नास्मि न मे नाहं' का तत्त्वाम्यास करने का आदेश देकर पुरुष की विमुक्ति का मार्ग देखाता है तो तत्प्राप्य हमें पञ्चस्कन्धों में 'न मे मेर है, न मे मे

(१) जित्ताइये विवेकस्यातिरिक्तत्वा हानोपायः २।२६ तथा विद्येवर्द्धिन आत्मवादभावनाविनिवृत्तिः ४।२५ भी ।

(२) संसृत २१।५ देखिए अतुल्य प्रकार में अनात्मवाद का विवेचन ।

हैं न मेरे आत्मा है इस प्रकार आत्मा-अनात्मा की विवेक-स्थापि के द्वारा ही तो निर्वाण का उपदेश करते हैं? इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा। बौद्ध दर्शन में जिस प्रकार निर्वाण और परिनिर्वाण का विभाजन है और अन्य भारतीय दर्शनों में (मीमांसा को छोड़कर) जिस प्रकार बीजभूमि और बिबेह भूमि का विभाजन है उसी प्रकार सांख्य भी बीते बी मीमुक्त पुरुष की कल्पना करता है। तन्मय ज्ञान प्राप्त होने पर भी यदि संस्कारवश शरीर बचता रहे तो उसके कर्मावशप्रचय भी फिर फल छाने के योग्य नहीं रहते क्योंकि उनके बीज तो पहले ही बल किए हुए रहते हैं। अतः शरीर केवल एक एक पहले और से बचाए गए चाक के समान बचता है जब तक कि उसके पहले के कर्म बिनाक शान्त न पड़ जायें और उनके शान्त होने पर तो (जीपनिषद् मठस्थ के अनुसार ही^१) शरीर के उच्छेद हो जाने पर 'व्यक्ताव्यक्तद्विविज्ञानात्' पुरुष ऐकान्तिक और आत्मन्तिक कैवल्य को ही प्राप्त होता है^२ और इसीको योग ने 'स्वल्प प्रतिष्ठा'^३ भी कहा है। इस प्रकार हमने सांख्य के कैवल्य या मोक्ष के रूप को देखा। कैवल्य को 'स्वल्प प्रतिष्ठा' कह कर 'योग उसे कुछ अधिक निश्चितता प्रदान करता है और कदाचित् बेबान्त की विद्या में उसे के जाने का कुछ उपक्रम भी। सांख्य के लिए तो को कुछ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है वह है केवल प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध की उच्छिष्टि ही और वही उसके लिए पुरुषार्थ है^४ किन्तु योगदर्शन प्रकृति से उसकी उच्छिष्टि सम्पन्न

(१) तन्मयज्ञानाविवमाला कर्मावीनामकारणप्रत्ययैः । तिष्ठति संस्कारवशात् अकल्पमिव च तत्तरीरः । कारिका ११

(२) वैशिष्ट्यं तस्य तावदेव चिरं यावत् विमोक्षयेज्व तन्मयस्यै । ज्ञानयोग्य १।१४।२

(३) प्राप्ते शरीरमेवे अटितार्थत्वात् प्रबलविविधसूती ।
ऐकान्तिकव्यस्तपन्तिकनुमयं कैवल्यमाप्नोति ॥ कारिका १७

(४) पुरुषार्थसूत्रानां सुखानां प्रतिप्रसन्नं कैवल्यं स्वल्पप्रतिष्ठा वा विदित-
सक्तिरिति । योगसूत्र ४।३४

(५) ब्रह्म तदा तदुच्छिष्टिः पुरुषार्थस्तदुच्छिष्टिः पुरुषार्थः । सांख्यसूत्र १।७
(अन्तिम सूत्र)

करके भी फिर परमात्मा से 'योग' करने के लिए भी अत्यन्त साक्षात्पिठ है। वह वियोग का उपरेश होता हुआ भी 'बोयी' है यही उसकी सांख्य और वेदान्त दर्शन के बीच मध्यस्थता और साधिमात्र भी है। इस प्रकार हम योगदर्शन पर आते हैं किन्तु यही सांख्यदर्शन और बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में ही एक बात और कहें। सांख्य-सूत्रों में यद्यपि साधना मार्ग का भी वर्णन है (इतक बिना यह अपूर्ण दर्शन ही होता वैसे कि कम-से-कम आचार तत्व के नियम में कोई भारतीय दर्शन नहीं है) किन्तु यह अत्यन्त अल्प है और इसी के लिए सांख्य के पुरक दर्शन योग का आधिर्भाव भी हुआ है। सांख्य सूत्र अपने साधना-मार्ग में उत्तम उद्यम का^१ अनुकूल से बचने का^२ आचार्य न होने का^३ और संसार के मोषों में कुछ योगानुदर्शन करने^४ का उपदेश देते हैं जो सर्वथा बृह-मन्तव्य के अनुकूल ही है। परम तत्व की प्राप्ति में वेद और काल आदि का नियम उनके अनुसार नहीं है^५ और भगवान् बुद्ध ने जो कुछ बोधिसत्वकुमार से कहा था उसका यह मत अनुकूल ही है^६। मन्त्रिण चित्त में उपदेश के बीच का प्ररोह भगवान् सांख्यसूत्रकार भी नहीं मानते और भगवान् तत्पाठ ने जो इस तत्त्व पर बहुत

- (१) अत्युत्तिरतङ्गुपदेशात् । सांख्यसूत्र ४।३ नोपदेशा भवचेर्ग्रि हृतहृत्यता वरामर्शो विरोचनवत् । नहीं ४।१७
- (२) असाधनानुधितान् बन्धाय भरतवत् । सांख्य सूत्र ४।८ विरस्तस्य ह्येव ज्ञानमुपादेयोपादानं हंतस्तीरवत् । वहीं ४।२३
- (३) निराशः सुखी विमलावत् । वहीं ४।११
- (४) योगदर्शनानुबन्धोः । वहीं ४।२८; मिलाइए न भीषाङ्गपाठिः मुनिवत् । वहीं ४।२७ वीराण्यादभ्यासाच्च । वहीं ३।३६
- (५) न कालनियमो वामदेववत् । सांख्य सूत्र ४।२ ; तीव्रसंवेधानामाश्रमः । योगसूत्र १।२१ अधिकारिर्बिषम्याश्रम नियमः । सांख्य सूत्र ६।२२; न स्थाननियमविशेष प्रसादात् । सांख्यसूत्र ६।३१ अतिनिरीपात् तस्तिष्ठिः । वहीं ३।३१ मिलाइए परीकाप्रता तत्राविरोधात् । अहमसूत्र ४।१।११ तथा वैकिण्य वहीं ४।१।११ ३५
- (६) वैकिण्य बोधिसत्वकुमार सुत (मग्गिम-निकाय) मिलाइये बद्धचरित १६।५
- (७) न मन्त्रिणचेतस्युपदेशादीज प्ररोहीयवत् । सांख्य सूत्र ४।२९ नाभात मात्रमपि मन्त्रिण्यवत् । वहीं ४।३

जोर दिया ही है। भुक्ति के सम्बन्ध में सांख्यसूत्रकार एक स्थान पर कहते हैं कि भुक्ति का विरोध रागियों के किए वैराग्य का कारण नहीं होता^(१) और भुक्ति के विरोध से कठकी को आत्मताम नहीं होता^(२) किन्तु दूसरी जगह 'नानुभविकावपि तत्तिष्ठति'^(३) ऐसा भी कहते हैं। ये सब बातें अत्यन्त विचारणीय हैं। सांख्यसूत्रों में अपने पाचवें अध्याय में 'न सर्वोच्छिष्टिः' 'एवं शून्यमपि'^(४) आदि रूप से शून्यवाद या 'ब्रह्म'वाद का तथा अन्य अनेक सिद्धान्तों का खण्डन किया है जो उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। चूंकि सभी 'वास्तविकवादी' दर्शनों के इस विषयक ठीक-ठाक प्रामा-एक से ही हैं और 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' के पारस्परिक सम्बन्ध विज्ञान के प्रसंग में हम शंकर के द्वारा किए गए बौद्ध सम्प्रदायों के प्रत्यास्मानों पर आप्रैने ही बात यहाँ इनकारात्मक न कर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सांख्य एक यथार्थवादी और जगत् की वास्तविकता में विश्वास करने वाला दर्शन है जब उस विज्ञानवादियों अथवा वेदान्तवादियों से इसका बहुत बंध है जो भौतिक पदार्थों को वेदना की धार में ही परिणत करने के पक्षपाती हैं। इस प्रकार हमने बौद्ध दर्शन के साथ सांख्य दर्शन का कुछ अध्ययन किया ऐतिहासिक रूप में भी और तात्विक रूप में भी। जबकि उनके विचारों में एक पक्षी समानता है उनके कुछ पारस्परिक विरोध भी हैं जिन पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। मगवान् उभागत जब कि जीवन की गम्भीर समस्याओं को लेकर जीवन के एक छास्ता के रूप में हमारे सामने आते हैं तो सांख्यकार अधिकतर प्रकृति-मुख्य यथेचना ही करते हैं जिसमें ज्ञान और विचार तो उपलब्ध होता है किन्तु हृष्य नहीं मित्रता मानवता की अनुभूतियों के साथ एकात्मता नहीं मिलती और वह दर्शन की एक बड़ी आवश्यकता है। कपिल मुक्त्यर्थ सृष्टि के

(१) न भुक्तिविरोधो रागिणा वैराग्याय तत्तिष्ठति । सांख्यसूत्र १।५१

(२) भुक्ति विरोधात् कृत्कर्तृपक्षव्यत्यक्तमाम् । सांख्यसूत्र १।५४

(३) नानुभविकावपि तत्तिष्ठति साप्पत्वेनानुभूतियोगाद्युत्थार्यवम् । सांख्यसूत्र १।८२

(४) न सर्वोच्छिष्टिरप्युत्थार्यत्वाविरोधम् । सांख्यसूत्र १।७८

(५) सांख्य सूत्र १।७९

विचारक है और बुद्ध मानव-बीज के। वैसे इन दोनों के वर्णों ने मनुष्य के स्वभाव विचार को बड़ा प्रोत्साहन दिया है बुद्ध के समान कपिल के सिद्धान्त में मानवीय मस्तिष्क की स्वतंत्र सक्ति की अनुमति है और इस दृष्टि से दोनों ही वर्सन भारतीय वर्सन में अद्वितीय स्थान प्राप्त करते हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अब हम योग वर्सन पर आते हैं।

योग वर्सन साधना का वर्सन है। अतः यह एक 'मार्ग' है और इस अर्थ में यह बुद्ध के मार्ग से एक बड़ी समानता रखता है। किन्तु फिर भी उसकी तात्त्विक परिस्थिति बीड वर्सन के समान न होकर बीड वर्सन और सांख्य वर्सन की ही है अथवा बीसा कि हम पहले योग सूत्र कह चुके हैं यह उसका एक उत्तर भाग ही है। विभिन्न तात्त्विक परिस्थितियों के होते हुए भी वो वर्सन अपने साधना-मार्ग में अपने समान हो सकते हैं इसका एक अनुत्तर उदाहरण हम बीड वर्सन और योग वर्सन में पाते हैं। यहाँ हमें साधना का वो मार्ग ब्रह्म के उपदेशों में निहित है उसकी तुलना पातञ्जल योग में निहित साधना से करनी है वो 'राजयोग' भी कहलाती है और जिससे अतिरिक्त मन्त्रयोग कर्मयोग और हठयोग में तीन विभाग योग के और उपलब्ध होते हैं^१ जिनके बिना जग में हम यहाँ सम्मग्न नहीं जा सकेंगे किन्तु चतुर्थ अध्याय में मन्त्रयोग और ब्रह्मयोग आदि बीड वर्न के जिन सम्प्रदायों का वर्सन हम कर आए हैं उनकी प्रवृत्तियाँ ही योग के इन तीन विभागों का उपलक्षण करती हैं इतना ही इनके लिए यहाँ कहना पर्याप्त होगा।

'योग' शब्द 'युज्' बालु से व्युत्पन्न है अतः इसका अर्थ होता है 'युक्त करना'। इस अर्थ में यह शब्द आम्बेब तथा अनेक उपनिषदों में उपलब्ध होता है^२ आम्बेब में हम मुनियों को उपस्था करते देखते हैं^३ और 'उपयु' की

(१) यह योग का चतुर्विध विभाग योऽस्तत्त्व उपनिषद् में उपलब्ध होता है।

योग के एक छः प्रकार के विभाग के लिए देखिए मैत्रायणी उप १।१८

(२) अ. १।१४।९ ७।१७-८ ३।२७।११ १।३।११ १।११।१९ ७।२७।४ १।५।३; १।३।७ अतपस आश्रम १।४७।१।११ मैत्रायणी १।१; देखिए राधाकृष्णन् इण्डियन डिजासली बिस्व बुकरी पब्ल १२९ 'योग' के 'साधन' के अर्थ में क्या को हृदयगत करने के लिए देखिए योता ३३३

(३) देखिए अ. १।१११

ही चतुर्मुह क्यों न हो? कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध दर्शन और योग-दर्शन ने इस तत्व को यही प्रकार समझा है और इस प्रकार दोनों ने समान रूप से एक ही सामान्य भारतीय परम्परा का प्रवर्तन किया है। फिर भी चार आर्य सत्त्वों का सिद्धान्त मुख्यतः बुद्ध धर्म की रीति है और सभी भारतीय दर्शनों के बिना किसी अपवाद के उसे स्वीकार किया है। ऐसा भी कहा जा सकता है। 'महितीय विषय' (अनुसरो विषयको) की पक्षी चूंकि समग्र भारतीय धारणा में केवल बुद्ध ने ही चारों की अथ विविधताओं की चतुर्मुहता जैसे उनके चार आर्य सत्त्वों पर बैठती है जैसे पाँचवें दर्शन पर नहीं। अथ कुछ न कुछ बौद्ध धर्म तो योग-सूत्रों पर मानना ही पड़ेगा फिर चाहे आयुर्वेद की चतुर्मुहता बुद्ध-पूर्व युग की ही क्यों न हो। अस्तु, बुद्ध की स्थापना पर दोनों दर्शन अत्यधिक जोर देते हैं। योग-दर्शन 'बुद्धमेव सर्व विवेकिनः' कह कर प्रथम आर्य-सत्त्व की कुछ कम बन्धीर व्याख्या नहीं करता किन्तु उसकी निवृत्ति के उपाय को लेकर धारणा-मार्ग में जब कि वह बुद्ध के अनकूट मार्ग पर ही चलाता है अपने तात्त्विक पक्ष में वह सांख्य-सम्मत 'वासवतवाद' को ही सम्यक् दर्शन और मुक्ति का मार्ग समझता है। जिसके समर्थन में जबका अध्ययन में बुद्ध का कोई प्रबोधन नहीं। बुद्ध न तो वास्तववादी है और न अवास्तववादी ही क्योंकि उन्होंने इन दोनों मतों को छोड़ कर 'मध्यमा प्रतिपत्ति' का मार्ग निकाला है जो वास्तववाद की सिद्धि होने पर भी जबका न होने पर भी कामचल रह सकता है। यहाँ हम पहले धारणा-मार्ग को छेँ जो दोनों दर्शनों की एक प्रकार से आत्मा है।

एवमिदमपि आत्मं चतुर्मुहमेव । तद्यथा संसारः संसारहेतुः मौक्षी मौक्षोपाय एवेति । व्यासभाष्य २।१५

- (१) शारीरिक मानसिक दोषों के विविधता होते हैं इस विचार के लिए देखिए पीछे पृ. १४३ १४४
- (२) देखिये चित्वाल्की हि कन्तेप्यान आँव बुद्धिस्त विर्वाच पृष्ठ ५४-५५ (निमित्तवाक्य १९२७)
- (३) परिणामतापस्तकारनुन्नीर्नवृत्तिविरोधाच्च बुद्धमेव सर्व विवेकिनः । योगसूत्र २।१५
- (४) तत्र हस्तु स्वकर्ममुपादेयं वा हेतुं वा न भवितुमर्हतीति । हाने तस्योपदेय-वाद्यप्रत्ययः । उपादाने च हेतुवाक्यः । कर्मप्रत्ययत्वात् तत्र वास्तववाद्य इत्ये तत्तत्प्रत्ययानम् । व्यासभाष्य २।१५

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है^१ । किन्तु चित्त क्या है और उसकी वृत्तियाँ क्या हैं और उनके निरोध से क्या सात्त्विक है इन बातों पर भी तो आवश्यक रूप से विचार करना ही ठहरा यदि योग को अपनी सात्त्विक स्थिति रखनी है । और यह कार्य योगदर्शन ने किया भी है । किन्तु उसने ध्यान या समाधि के रूप में ही इस समस्या पर विचार किया है, जब कि 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में जैसा कि हमने पहले देखा उसकी 'कृच्छल' 'अकृच्छल' और 'अभ्याकृच्छल' कर्ममयी व्याख्या की गई है । योगदर्शन के अनुसार चित्त की पाँच भूमियाँ हैं, क्षिप्त, मुह, विक्षिप्त, एकाग्र और निश्चल । शास्त्रों ने जिसे 'महत्' कहा है, उसे ही योग 'चित्त' कह कर पुकारता है । अतः वाचस्पति मिश्र के साध्य पर इसमें अन्तःकरण भी स्वतः उपलब्धित है ही^२ । बौद्ध मनोविज्ञान में चित्त का क्या स्वरूप है इसके लिए तो चतुर्न प्रकारन ही द्रष्टव्य है । प्रकाश (प्रक्या) प्रवृत्ति और स्थिति युक्त होने से चित्त निरुपात्यक है^३ । चित्त के समष्टि और व्यष्टि स्वरूपों को लेकर द्विविध विभाग भी है यथा 'कारण चित्त' और 'कार्य चित्त' । राजस् और तमस् के निरोध के द्वारा चित्त को उसके 'कारण चित्त' स्वरूप में अनुग्रहेण कर देना ही योग का लक्ष्य है । चित्त के द्वारा ही हम बाह्य पदार्थों के संघर्ष में आते हैं^४ अतः चित्त और बाह्य पदार्थों की हम एक ही साथ अनुभूति नहीं कर सकते^५ और न को विचार साथ ही उत्पत्ति में आ सकते हैं^६ । चित्त के व्यापारों के कारण ही यह सब चक्र निरन्तर आवर्तन हुआ जाता या रहा करता है । इसी के कारण कामनाएँ, अहंकार आदि उत्पन्न होते हैं और पुरप बन्धन में पड़ता है । अतः चित्त की वृत्तियों का निरोध अत्यन्त आवश्यक है । चित्त की वृत्तियाँ पाँच हैं यथा प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति । ये पुनः दो स्वरूपों वाली होती हैं यथा क्लिष्ट और अक्लिष्ट । क्लिष्ट वे हैं जो क्लेश

(१) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । योगसूत्र १।२

(२) चित्तं दृष्ट्वेन अन्तःकरणं बद्धिम् उपलभ्यते ।

(३) चित्तं हि प्रक्याप्रवृत्तिस्थितिप्रौक्तत्वात् त्रिगुणम् । व्यासभाष्य १।२

(४) द्रष्टव्य योगसूत्र २।६, १७२

(५) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।२ व्यास भाष्य-सहित ।

(६) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।१९ व्यास भाष्य-सहित ।

(७) वृत्तयः चञ्चलतम्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । योगसूत्र १।५; प्रमाण-विपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतयः । योगसूत्र १।६

बारा करते जैसे और साब ही बुद्ध या बीड मन्त्रम्य के साब उसकी समता और असमता दिखाते जैसे । हाँ बिना लक्ष्यों पर संग्रहात्मक दृष्टि से विचार करना होया उन पर तो यह कम-बस्य करके भी उसी तरह विचार करना ही होया ।

सर्व प्रथम तो इस प्रसंग में हमें यह कह देना चाहिए कि जिस प्रकार समग्र ब्रह्म-शासन बार मार्ग सर्वों पर प्रतिष्ठित है^१ उसी प्रकार योग-मार्ग भी कुछ समुच्चय निरोध और निरोध-मार्ग इस चतुर्विध समस्या के विभाजन को लेकर ही प्रवृत्त होता है । उसका मन्त्रम्य है कि यह संसार कुछ-बहुत है अतः हेय है, फिर यह कहता है कि प्रबान-मुक्त का संयोग ही हेय का हेतु है अतः उस संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही हान है और सम्मर्पण ही हानोपाय है^२ । अतः न केवल बिचारे हुए सिद्धान्तों में ही ब्रह्म-मार्ग और योग-मार्ग की समा गता है बल्कि अपनी मूलभूत बातों में भी दोनों वर्णन मिलते हैं । यहाँ यदि हम पातञ्जल योग के अंग को बुद्ध पर आरोपित कर कुछ-कुछ कुमारिक की भाषा में ऐसा कहने को कामावित हों कि बीडों ने तो सब हमसे ही लिया हुआ है^३ तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर वर्तमान योग-सूत्र (और उसके ऊपर व्यास भाष्य का तो कहना ही क्या) ब्रह्म के बाप के युग की रचना है और यदि बीड प्रमाण को ही हम योग वर्णन पर अस्ति करना चाहें तो हमें यह भी नहीं मूखना चाहिए कि योग वर्णन तो एक 'अनु-शासन' मात्र है अतः पूर्व से भी उसकी परम्परा बची जा सकती है । जो बात निश्चित रूप से नहीं जा सकती है और जो एक तुलनात्मक रूप से अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को रचती भी है, यह यह है कि समग्र भारतीय साधना में अनन्त काळ से जो विचार-मारा प्रसरण करती जा रही है उसी का एक रूप बुद्ध के विचार के रूप में प्रकटित हुआ है और उसी का अन्य रूप योग-वर्णन में भी है । आश्चर्य कि उसी के एक रूप को भारतीय चिकित्सा शास्त्र ने भी प्रकट किया है^४ । वर्णन-विद्या भी तो एक प्रकार का अनुस्तर चिकित्सा-शास्त्र ही है । यह बीमान के रोगों का लाज करता है^५ । अब फिर यह भी चिकित्सा-शास्त्र के समान

(१) देखिए चतुर्विध प्रकरण में 'ब्रह्म वर्म, संय' का विवरण ।

(२) कुछ-बहुत संतारी हेय प्रबानपुरुषयो संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्या-स्तित्वो निवृत्तिः हानम् हानोपायः सम्मर्पणम् । व्यासभाष्य २।१५

(३) देखिए आवे 'बीड वर्णन और पूर्व पीमाता' ।

(४५) यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम् । दीपो रोषेनुरादीष्य प्रवर्णनिति ।

ही अनुस्यूह क्यों न हो ? कहने की आवश्यकता नहीं कि बीड दर्शन और योग-दर्शन ने इस तरह को भली प्रकार समझा है और इस प्रकार दोनों ने समान रूप से एक ही सामान्य भारतीय परम्परा का प्रवर्तन किया है। फिर भी चार आर्य सत्तों का सिद्धान्त मूलतः बुद्ध धर्म की देन है, और सभी भारतीय दर्शनों के बिना किसी अपवाद के इसे स्वीकार किया है^१ ऐसा भी कहा जा सकता है। अद्वितीय भिषक^२ (अनुत्तरो भिषको) की परकी चूँकि समग्र भारतीय साधना में केवल बुद्ध ने ही धारम की अतः निश्चितता प्राप्त की अनुस्यूहता जैसे उनके चार आर्य सत्तों पर घटी है वैसे पार्श्वक दर्शन पर नहीं। तथा कुछ न कुछ बीड दर्शन तो योग-सूत्रों पर मानना ही पड़ा फिर चाहे सामुहिक की अनुस्यूहता बुद्ध-पूर्व युग की ही क्यों न हो। अस्तु, बुद्ध की व्यापकता पर दोनों दर्शन अत्यधिक चार बैठे हैं। योग-दर्शन 'बुद्धमेव सर्वं विवेकिनः'^३ कह कर प्रथम आर्य-सत्य की कुछ कम सम्मीर व्याख्या नहीं करता किन्तु उसकी निवृत्ति के उपाय को छोड़कर साधना-मार्ग में जब कि वह बुद्ध के अनन्य मार्ग पर ही चलता है अपने तात्त्विक पक्ष में वह सांख्य-सम्मत 'शास्त्रतया'^४ की ही सम्यक् दर्शन और मुक्ति का मार्ग समझता है^५ अतः समर्थन में जबवा अख्यन में बुद्ध का कोई प्रयोजन नहीं। बुद्ध न तो धारमवादी है और न अधारमवादी ही क्योंकि उन्होंने इन दोनों अर्थों को छोड़ कर 'मध्यमा प्रतिपद्' का मार्ग निकाला है, जो शास्त्रतया की धिड़ होने पर भी अपवाद न होने पर भी कामय रह सकता है। यहाँ हम पहले साधना-मार्ग को छेड़ो दोनों दर्शनों की एक प्रकार से आरम्भ है।

एवमिदमपि शास्त्रं अनुस्यूहमेव । तद्यथा संताः संताःस्योः बीडो
बीडोपाय एवेति । व्यासनाथ्य २।१५

- (१) दार्शनिक मानसिक रोगों के निश्चितक होते हैं इस विचार के लिए देखिए पीछे पृ. १४३-१४४
- (२) देखिये वैराग्यकी वि कन्तेप्यन मोक्ष बुद्धिस्त निर्वाण पृष्ठ ५४-५५ (केनिगप्राड १९२७)
- (३) परिणामस्तत्पक्षकारण-अनुस्यूहपुनर्विनिर्वाण बुद्धमेव सर्वं विवेकिनः । योगसूत्र २।१५
- (४) तत्र इत्युः स्वकपमुपायेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति । हाने तस्योच्छेद-बाधप्रसंगः । उपादाने च हेतुबाधः । जनयप्रत्याख्यानं शास्त्रतया इत्ये तत्तन्मध्यदर्शनम् । व्यासनाथ्य २।१५

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है^१ । किन्तु चित्त क्या है और उसकी वृत्तियाँ क्या हैं और उनके निरोध से क्या साध्य है इन बातों पर भी तो आवश्यक रूप से विचार करना ही ठहरा यदि योग को अपनी सात्विक स्थिति रखनी है । और यह कार्य योगदर्शन ने किया भी है । किन्तु उसने ध्यान या समाधि के रूप में ही इस समस्या पर विचार किया है जब कि 'मौलिन्य' बीड़ दर्शन में वीसा कि हमने पहले देखा उसकी 'कृष्ण' 'अकृष्ण' और 'अध्याहृत' कर्ममयी व्याख्या की गई है । योगदर्शन के अनुसार चित्त की पाँच भूमियाँ हैं, क्षिप्त भूय विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध । सांख्यों ने जिसे 'महत्' कहा है उसे ही योग 'चित्त' कह कर पुकारता है । अतः वाचस्पति मिश्र के साध्य पर इसमें अन्तःकरण भी स्वतः उपलब्धित है ही^२ । बीड़ मनोविज्ञान में चित्त का क्या स्वरूप है इसके लिए दो चतुर्न प्रकरण ही द्रष्टव्य है । प्रकाश (प्रकाश) प्रवृत्ति और स्थिति युक्त होने से चित्त त्रिगुणारमक है^३ । चित्त के समष्टि और व्यष्टि स्वरूपों को लेकर द्विविध विभाग भी है यथा 'कारण चित्त' और 'कार्य चित्त' । रजस् और तमस् के निरोध के द्वारा चित्त को उसके 'कारण चित्त' स्वरूप में अनुप्रवेश कर देना ही योग का कथ्य है । चित्त के द्वारा ही हम बाह्य पदार्थों के संसर्ग में आते हैं^४ । अतः चित्त और बाह्य पदार्थों की हम एक ही साथ अनुभूति नहीं कर सकते^५ और न वो विचार साथ ही उत्पत्ति में आ सकते हैं^६ । चित्त के व्यापारों के कारण ही यह सब चक्र निरन्तर आवर्तन हुआ जाता जा रहा करता है । इसी के कारण कामनाएँ, महंकार आदि उत्पन्न होते हैं और पुण्य बन्धन में पड़ता है । अतः चित्त की वृत्तियों का निरोध अत्यन्त आवश्यक है । चित्त की वृत्तियाँ पाँच हैं यथा प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति । ये पुनः दो स्वरूपों वाली होती हैं यथा विक्षिप्त और अविक्षिप्त । विक्षिप्त में हैं जो स्तेय

(१) योगविजितवृत्तिनिरोधः । योगसूत्र १।२

(२) चित्तं शब्देन अन्तःकरणं बुद्धिम् उपलक्षयति ।

(३) चित्तं हि प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिघोस्तत्वात् त्रिगुणम् । व्यासभाष्य १।२

(४) द्रष्टव्य योगसूत्र २।६, १७२

(५) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।९ व्यास भाष्य-सहित ।

(६) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।१९ व्यास भाष्य-सहित ।

(७) वृत्तयः पञ्चतत्त्वयः क्लिष्टाक्लिष्टाः । योगसूत्र १।५। प्रमाण-विपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः । योगसूत्र १।६

की कारण है और कर्माध्य प्रथम में जो बोधीमूत हो गई है इनके अतिरिक्त जो ज्ञान की कारण तथा क्लेश करने वाली नहीं है वे वृत्तियाँ अविच्छेद हैं^१। इस विभाग की कुछ समानता हम 'कुण्ड' और 'अकुण्ड' चित्तों से कर सकते हैं किन्तु इस समानता को हमें अधिक बढ़ाना नहीं चाहिए। अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश ही पाँच क्लेश हैं^२। अनित्य बहुविध दुःख और अनारम पदार्थों में क्रमशः नित्य शुचि सुख और आत्मा की स्थापि मगना प्राप्ति करना ही अविद्या है^३। कहने की आवश्यकता नहीं कि चतुर्थां सत्त्व सम्बन्धी अज्ञान जो 'मीक्षित्य' बौद्ध दर्शन में अविद्या का पर्यायवाची है^४ इस बोध की 'अविद्या' की परिभाषा से बहुत कुछ सम्बन्ध रखता है। यह कहना कि दुःख को जो सुख करके माने दुःख के समुदय को जो सुख का समुदय माने दुःख के निरोध को जो उसके विपरीत माने और दुःख निरोध वाली मार्ग को जो न माने बिल्कुल उल्टी तरह कहता है जैसे कि अनित्य को नित्य बहुविध को शुचि दुःख को सुख और अनारम को आरम मानना। पञ्चस्कन्ध अर्थात् रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान सभी क्लेश रूप ही हैं, फिर समस्त सुख की कल्पना उन अनारम पदार्थों में 'आत्मा' की कल्पना उन अनित्य पदार्थों में नित्य की कल्पना करना यह भी तो अविद्या स्वयम् ही सब मगनान् ने बताया था 'इसे कहते हैं भिक्षुओ! मत्तवाह में था पड़ना यह सब अविद्या ही अविद्या है' ऐसा कह कर^५। अतः जिस नैतिक जर्ब में अर्थात् अनित्य बहुविध दुःख और अनारम पदार्थों से उनके विपरीत पदार्थों के पुनः करने की भावना में योग्य दर्शन 'अविद्या' का जर्ब छेता है उस जर्ब में यह 'मीक्षित्य' बौद्ध दर्शन में निहित अविद्या (जहाँ कारणवार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं) के कुछ समान ही है क्योंकि मगना अविद्या से संस्कारों बाहिर के

- (१) भित्ताइने क्लेशोत्तुङ्गः कर्माध्यप्रचये बोधीमूतः विच्छेदः। स्थापि-
विच्छेदा गुणाधिकारविरोधिन्योऽविच्छेदः। अष्टासमाध्या १।५
- (२) अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगसूत्र २।३
- (३) अनित्याशुचिदुःखान्तरात् नित्याशुचिसुखान्तरात् स्थापिरविद्या। योगसूत्र २।५
- (४) देखिए चतुर्थ अकरण में 'मूर्तिप्रत्यक्षमुत्पाद' विवेचन; देखिए स्वजिर
अलाहिस्तेक के 'पाइव वू रि अविद्यम्म पिट्ठ के ज्ञात में 'परिक्ख-
समुत्पाद' का विवेचन भी।
- (५) देखिए चतुर्थ अकरण में 'अनारमवार' का विवेचन।

बीज में होते हुए जन्म मरण दुःख मानसिक उद्वेग आदि का ‘मौलिक्य’ बीज वर्तन प्रस्थापन करता है उसी प्रकार योग-वर्तन की भी यह अप्रतिहत आभास है ‘अविद्या लोभमुत्तरेण प्रसृप्ततनुविच्छिन्नोदाशायाम्’^१ अर्थात् अविद्या ही इन उपर्युक्त अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश रूप बन्धनों की प्रसन्नभूमि है और ये अस्मिता आदि भी चार प्रकार से कल्पित हो सकते हैं, यथा प्रसृप्त तनु, विच्छिन्न और उदाश । इस विषय को बिना आगे बढ़ाए (यह बहुत आगे बढ़ाया जा सकता है बीज मनोविज्ञान के सहारे) हम आगे चलते हैं । दूक और वर्तन की दक्षिणों की एकात्मता ही अस्मिता है^२ । बीज वर्तन में ‘अहं’ भाव की उत्पत्ति पञ्चवक्त्रों से कैसे उठ खड़ी होती है यह अनुर्य प्रकरण में ही द्रष्टव्य है^३ । यहाँ पर हम बीज वर्तन की विशेष समामता योग वर्तन से नहीं देख सकते । बीज वर्तन नियेवात्मक विद्या में अभिच पन बढ़ाए चला जाता है जब कि योग का सभी प्रमल एक स्थिर तत्व की स्थापना करने के लिए ही है । सुख या उसके साधन से मर्द तुल्य या शोभ रखना ही योग के अनुसार राग है^४ और दुःख या उसके साधन में प्रतिष मन्ध विचांसा या श्रेय रखना ही द्वेष है^५ । ऐसा कभी न हो कि मैं कभी न होऊँ मैंतो सदा होऊँ ही’ इस प्रकार जो स्वभावतः ही सब प्राणियों का अभिनिवेश है, (बीज आत्मोपादान की कितनी समानता है—दूक उत्तरकाशीन बीज भाष्य ठो इसको ‘आत्माभिनिवेश’ कहते भी हैं^६) वही ‘अभिनिवेश’ कहलाता

(१) योगसूत्र २।४

(२) बुधधनसक्तमोकात्मस्तिबास्मिता । योगसूत्र २।६, निष्ठाइये पुक्वो बुकधनितबुद्धिं वर्धनसक्तिरिरयेतपीरेकस्वव्यापतिरिबास्मिता कसिमा उच्यते । उक्त पर व्यास भाष्य ।

(३) ‘अनन्यभाव’ के विवेचन में ।

(४) सुखानुसयी रागः । योगसूत्र २।७ सुखे तत्साधने वा यो र्प्यस्तुल्यो लोभः स रागः । उक्त पर व्यासभाष्य ।

(५) दुःखानुसयी द्वेषः । योगसूत्र २।८ दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिषो मर्त्युविचांसा शोकः स द्वेषः । उक्त पर व्यासभाष्य ।

(६) ‘आत्मभाव’ ‘सत्त्वाय बुद्धि’ ‘आत्मग्रह’ ‘अत्मबुद्धि’ ‘आत्माभिनिवेश’ ये सब बीज वर्तन में पर्यायवाची शब्द हैं देखिये वं विबुद्धेकर भट्टाचार्यः हि सैमुक्त कर्त्तव्यधन ज्ञांक बुद्धिग्रह, पृष्ठ ७८, वस्तुतः ३
बी ५८

होता है और जिसमें प्रीति तथा सुख रहते हैं । 'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो उपेक्षावान् बन बिचरता है । वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से सुख का अनुभव करता है । वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पण्डितजन उपेक्षावान् स्मृतिवान् सुखपूर्वक विहार करने बाधा कहते हैं । 'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु सुख और दुःख दोनों के प्रहाण से शीमनस्य और शीमनस्य दोनों के पहले से अस्त हुए रहने से चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करता है जिसमें न दुःख होता है न सुख और केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिपुष्टि ही होती है' १ । यदि एक एक हो और साधन एक हों तो दूर-दूर नहीं जा सकते । फिर असंप्रज्ञात समाधि^२ के लिए भी जिन पांच साधनों का अज्ञात और स्मृति समाधि और प्रज्ञा का विधान योग दर्शन में किया गया है^३ वे बिच्छुक्त जैसे-जैसे ही तो बुद्ध के उपदेशों पांच इन्द्रियों के रूप में निहित हैं । इतना ही नहीं जिन के प्रसादन के लिए जिन चार भावनाओं का भी मंत्री कहना मुश्किल और उपेक्षा की भावनाओं का उपदेश बोध-दर्शन में दिया गया है^४ वे भी बिच्छुक्त उसी रूप में 'चार बड़ा बिछुरों' के रूप में बुद्ध के उपदेशों में रखी हुई हैं, जिनके विषय में यहाँ कुछ बताने की जरूरत नहीं है । इसी प्रकार यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, चारणा ध्यान और समाधि रूप को योग के आठ अंग हैं इनमें से भी अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप को बन हैं जो आतिथेयकाकसमयावच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं, शीघ्र संज्ञोप तथा स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (इसको तो छोड़कर) रूप को नियम हैं^५ वे भी सब बोधिपक्षीय जनों में तो क्या केवल आर्य अष्टाधिक मार्ग में ही निहित हैं, ऐसा समझ बन जान सकते हैं । इनके फलों का भी जो

- (१) ब्रुहस्पतिवर्षीयसुत (मज्झिम निकाय) महावेदससुत (मज्झिम निकाय) भगवान् बुद्ध ने सम्बोधित नाम करते हुए किस प्रकार इन चारों ध्यानों की प्राप्ति की थी, इसके लिए देखिये ब्रह्मसुत वेरञ्जक सुत (अनुत्तर ८:१:२:१) तथा जीव प्रकरण में देखिये 'बुद्ध-अर्थ-संग' भी ।
- (२) जिसका स्वरूप इस प्रकार है 'विरागप्राप्यचान्प्राप्तपूर्वः संस्कारो बोध्यः । बोधसूत्र १:१८
- (३) अज्ञात और स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेवाम् । योगसूत्र १:२
- (४) मंत्रीकत्वानुष्ठितोपेक्षायां सुख दुःख दुष्प्राप्य विषयानां भावनाप्रतिषेध-प्रसादनम् । योगसूत्र १:३३
- (५) इतिष्ट योगसूत्र २:२९ ३२

वर्जन है^१ वह भी योग वर्जन का जैसा ही मार्ग बुद्ध के द्वारा वर्णित हुआ है और विशेष बात यह है कि बौद्धों इसी जन्म में सामात्करणीय वस्तुओं को लेकर चकते हैं यथा योग में 'बहिष्ता प्रतिष्ठायो तत्तद्विधौ वैरत्यागः'^२ उसी प्रकार भगवान् तथागत के द्वारा भी 'मिभुजो ! वो कोही भिभु इन चार स्मृति प्रस्थानों की सात वर्ष तक भावना करे उसे वो फलों में से एक फल की प्राप्ति अवश्य होगी छ वर्ष पाँच वर्ष सप्ताह भर भी भावना करे. इत्यादि'^३

भगवान् बुद्ध ने ज्ञानापाय-सति के रूप में प्राणायाम का उपदेश दिया ही था^४ यद्यपि साधारण पुरुषों के लिए उनका सील और अप्रमाद का ही उपदेश था। भगवान् पतञ्जलि ने भी समनियमादि के बार ही इस प्रसंग को उठाया है और फिर अत्यन्त साधारण रूप में ही इस पर अपने सूत्रों में विचार किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध साधना मार्ग और पातञ्जल मार्ग में व्यावहारिक रूप से बिभेद नहीं है। जो व्याधि स्थान संशय प्रमाद आलस्य अविच्छिन्न शान्ति वर्जन-जलज्वर नृमिकरत्न जनवस्तिवत्त और चित्तविज्ञेय कपी जलपय एवं इनके साध होने वाले कुछ बीर्मनस्य बंधमैजयत्त इवास प्रस्थास और विशेष^५ कपी बिभु एक पातञ्जल योगी के लिए है उसी प्रकार वे बौद्ध मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए भी है भेद केवल इतना ही है कि वह (बौद्ध) उन्हें या तो पाच मीवरण यथा कामच्छन्द व्यापाद स्थानमुद्ध औद्यत्य-कौटुत्य और बिचिकित्सा कह कर पुकारता है या इस संयोजन यथा सत्कायदुष्टि बिचिकित्सा सील वृत्त परामर्श कामराप व्यापाद, कप-राग अकप-राग ज्ञान सद्वृत्ता और अविद्या के रूप में देखकर उनसे बचने का प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी मार्ग उस साधना के लिए अवशिष्ट है वहाँ से जाता हुआ मनुष्य पातञ्जल सूत्रों की भाषा में ही वह सबके 'तत् परमावरोन्निपाया'^६ वह मार्ग भगवान् पतञ्जलि समान के भगवान् बुद्ध को भी सम्मत है। एक विशेष बात जो योग सूत्रों में मिलती है वह है ईश्वर प्रणिधान का वैकल्पिक महत्व। 'ईश्वरप्रणिधान' को भगवान् पतञ्जलि ने

(१) वैजिए योगसूत्र २।३५ अ०

(२) योगसूत्र २।३५

(३) महासति पट्टान सुत्त (दीप निकाय)

(४) वैजिए ज्ञानापाय सति सुत्त (मग्गिमन निकाय)

(५) वैजिए योगसूत्र १।३०-३१

(६) योगसूत्र २।५५

है^१। यहाँ तक तो दोनों समान हैं किन्तु बागे दोनों अलग-अलग रास्ता ले लेते हैं। बुद्ध कहते हैं कि जब 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ इन बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों में मिलता ही नहीं तो 'अभिनिवेश' किसके लिए बढ़ता, जब 'ई' वास्तव में है ही नहीं तो शोक किसके लिये करना सच्ची समाधि तो कयनी है। इसके व्यतिरिक्त योग कहता है कि जब वास्तविक स्वरूप धारण, स्वच्छ आत्म स्वरूप और सृष्ट स्वरूप है तो फिर अनित्य असृष्टि अनन्त और बुद्ध पदार्थों में अभिनिवेश क्यों करना? यहाँ भी तो समाधि लगनी ही है। 'एक नाठि कई फेरे'। जब हम वृत्तियों पर लौटते हैं। प्रमाण को मोपसूत्र से एक वृत्ति के रूप में किया है और उसके तीन प्रकार किए हैं यथा प्रत्यक्ष अनुमान और आत्म^२। अन्य वृत्तियों में मिथ्याज्ञान ही संश्लेषण विपर्यय^३ वस्तुसून्यत्व होने पर भी धर्मज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन मात्र व्यवहार ही विकल्प^४ समाधप्रत्ययमात्मना वृत्ति ही मित्रा^५ और अनुमृत विपर्ययों का ग्रहण ही स्मृति है^६। इन सब उपर्युक्त वृत्तियों के निरोध के द्वारा ही सम्प्रज्ञात और बाह्य में असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है जो योग दर्शन का मुख्य कथ्य है। किन्तु इस पर जाने से पूर्व हम साधन को देखें जो भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हम जानते हैं कि बुद्ध के समय में अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। बुद्ध ने भी उरबेला में अनेक प्रकार की उपस्थाएँ की थीं जिनका वर्णन हम अनुसंग प्रकरण में कर चुके हैं। बुद्ध योगी थे। योग बौद्ध और पातञ्जल स्वयं आचार्य लेकर ने उन्हें अपने एक श्लोक में 'योगिना चक्रवर्ती' कहा है। बुद्ध-दर्शन की व्याख्या

(१) स्वरसबाही विबुवोऽपि तथा कडोऽभिनिवेशः । योगसूत्र २।९
सर्वस्य प्राणिन इयमस्माधीर्निस्तया भवति मलमूर्धं नृपासमिति यथा
आयमत्यस्तमूडेयु बुध्यते स्तेयस्तथा विबुवोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य
कठः । कस्मात् समाना हि तयोः कुसलाकुसलयो मरणादुन्नामुपवादिष्य
वातना । उक्त पर व्याप्तमाश्रय ।

- (२) इष्टस्य मोपसूत्र १।७
(३) इष्टस्य मोपसूत्र १।८
(४) इष्टस्य मोपसूत्र १।९
(५) इष्टस्य मोपसूत्र १।११
(६) इष्टस्य मोपसूत्र १।१२

योग 'एक धावा के रूप में सभी प्रकार की वा लक्ष्मी है। उनके मार्ग की पाठ्यक्रम योग के क्या समानता है यही अब हमें देखना है। योगदर्शन जम्मात और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध सम्भव मानता है^१ और हम देख चुके हैं कि बुद्ध ने निर्बोध के प्राप्ति कराने के लिए ही अनारमबाध का उपदेश दिया था। फिर सम्मत् सम्बुद्ध 'सम्पन्न प्रमाण' वाली ने इस पर भी यही जोर देने की जरूरत नहीं। जम्मात बुद्ध-धर्म का धार है और उसी पर वह प्रतिष्ठित है। योग दर्शन का मत है कि दीर्घकाल तक तप ब्रह्मचर्य विद्या और यथा ये सेवन किया हुआ जम्मात और सभी विषयों में सभी प्रकार संज्ञा रूप वैराग्य^२ ही संप्रज्ञात समाधि के कारण होते हैं। वह जम्मात जबका सामान्य समाधि चार क्षेत्रों में विभाजित की गई है, यथा (१) एविकर्ष (२) विचर्षविकल्प एविचार, (३) विचारविकल्प एतन्म एता (४) आत्म-विकल्प केवल अस्मिता मात्र^३। देखिए इस चतुर्विध संप्रज्ञात समाधि की बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट इन चार ध्यानीय व कितनी समानता है 'बिभुओ ! मित्तु चित्त के उपलक्ष्य प्रज्ञा को सुबल करने वाले पांच ध्यानियों को छोड़ काय विचर्ष से रहित हो बुरे विचारों से रहित हो प्रथम ध्यान को प्राप्त कर बिचरता है, जिसमें विचर्ष और विचार है तथा जो एकान्त बाध से उत्पन्न होता है और जिसमें प्रीति और मुक्त रहते हैं। बिभुओ ! प्रथम ध्यान में विचर्ष रहता है विचार रहता है, प्रीति रहती है, मय रहता है और रहती है चित्त की एकानता^४। और फिर मित्तो ! मित्तु विचर्ष और विचारों के उपाय न जम्मात की प्रसन्नता और एकानता वाली द्वितीय ध्यान को प्राप्त होता है जिसमें न विचर्ष होते हैं न विचार, या समाधि से उत्पन्न

(१) जम्मातवैराग्याम्मा तस्मिन्नीयं । योगसूत्र १।१२

(२) जिसको ही वह ज्ञान की पराकाष्ठा और ईश्वर का ही एक प्रकार के अवर नाम कहता है 'ज्ञानस्वीक पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतदेव हि ज्ञानादीपकम् ईश्वर्यमिति' । व्यासभाष्य १।१६। जम्मात और वैराग्य की परिभाषाओं के लिए देखिए जम्मात योगसूत्र १।१३ एवं १।१५

(३) विचर्षविचारान्महास्मिताक्यानुगमनसंप्रज्ञातः । योगसूत्र १।१७। तत्र प्रथमचतुष्टयानुवर्तः समाधिः सविचर्षः द्वितीयो विचर्षविचरः सविचारस्तृतीयो विचारविकल्पः सार्वभ्यः चतुर्वर्तविकल्पोऽस्मितामात्र इति । सर्व एते सातम्भनः समाधयः । उपर्युक्त व्यासभाष्य ।

होता है और जिसमें प्रीति तथा सुख रहते हैं। और फिर मिश्रणो। मिश्र प्रीति से भी विरक्त हो अपेक्षावान् बन बिचरता है। वह स्मृतिमान् ज्ञानवान् होता है और सरीर से सुख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पञ्चदशन अपेक्षावान्, स्मृतिमान्, सुखपूर्वक विहार करने वाला कहते हैं। और फिर मिश्रणो। मिश्र सुख और दुःख दोनों के प्रहास से सौमनस्य और शौर्मनस्य दोनों के पहले से अस्त हुए रहने से चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करता है जिसमें न सुख होता है न सुख और केवल अपेक्षा तथा स्मृति की परिच्छिन्ना ही होती है^१। यदि कस्य एक हो और साधन एक हों तो दूर-दूर नहीं जा सकते। फिर अर्धप्रज्ञा समाधि^२ के लिए भी जित पाँच साधनों तथा भ्रष्टा बोध स्मृति समाधि और प्रज्ञा का विज्ञान योग दर्शन में किया गया है^३ वे विषमस्त जैसे-जैसे ही तो बुद्ध के उपदेशों पाँच दृष्टियों के रूप में निहित हैं। इतना ही नहीं जित के प्रसादन के लिए जित बार भावनाओं तथा मयी कथना मुनिता और अपेक्षा की भावनाओं का उपदेश योग-दर्शन में किया गया है^४ वे भी विषमस्त उची रूप में 'चार ब्रह्म विहारों' के रूप में बुद्ध के उपदेशों में रखी हुई हैं, जिनके विषय में नहीं कुछ बताने की जरूरत नहीं है। इसी प्रकार वम नियम आसन प्राणायाम भ्रष्टाहार, बारबा ध्यान और समाधि रूप जो योग के आठ अंग हैं इनमें से भी अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप जो वम हैं जो आतिथेयकायसमयानवच्छिन्न सार्वभौम महाशत हैं जो व सन्तोष तथा स्वाध्याय और ईश्वर प्रविधान (इसको वा छोड़कर) रूप जो नियम हैं^५ वे भी सब बोधिपक्षीय जनों में तो वना केवल कार्य अष्टांगिक मार्ग में ही निहित है, ऐसा मर्मज्ञ जन जान सकते हैं। इनके फलों का भी जो

- (१) बुद्धहस्तिपरदीपम सुत (नखिन्दन विहाय) महावेदस्तसुत (नखिन्दन निवृत्त्य); मम्मवालु बुद्ध ने सम्बोधि नाम करते हुए कित प्रकार इन चारों ध्यानों की प्राप्ति की थी, इसके लिए देखिये ब्रह्मण वेरञ्जक सुत (अनुतर ८।१।२।१) तथा नीचे प्रकरण में देखिये 'बुद्ध-अर्ध-संघ' भी।
- (२) विज्ञा स्वक्य इस प्रकार है 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व' संस्कारोद्योऽप्यः। योगसूत्र १।१८
- (३) भ्रष्टाबोध स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्। योगसूत्र १।२
- (४) मयीकथनामुचितोपेक्षानां तुच दुःख पुञ्चापुञ्च विषयाणां भावनात्तरिचत प्रसादनम्। योगसूत्र १।३३
- (५) देखिए योगसूत्र २।२९ ३२

बर्धन है। वह भी योग बर्धन का जैसा ही प्रायः बुद्ध के द्वारा वर्णित हुआ है और विशेष बात यह है कि दोनों इसी क्षम में साक्षात्करणीय वस्तुओं को लेकर चलते हैं यथा योग में 'बहिष्ठा प्रतिष्ठायी तत्त्वज्ञिभी वैरत्यागः' उसी प्रकार भयवान् पथापठ के द्वारा भी मिश्रुमो ! जो कोई मिश्रु हम चार स्मृति प्रस्तावों की साथ वर्ष तक भावना करे उसे दो फलों में से एक फल की प्राप्ति अवश्य होगी छ वर्ष पाँच वर्ष सप्ताह भर भी भावना करे, इत्यादि^१।

भगवान् बुद्ध ने आनापान-सति के रूप में प्राणायाम का उपदेश दिया ही था^२ यद्यपि साधारण पुरुषों के लिए उनका सीख और अभ्यास का ही उपदेश था। भगवान् पतञ्जलि ने भी यमनियमादि के बाद ही इस प्रसंग को उठाया है और फिर अत्यन्त साधारण रूप में ही इस पर अपने सूत्रों में विचार किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध साधना मार्ग और पातञ्जल मार्ग में व्यावहारिक रूप से विषेय नहीं हैं। जो व्याधि स्थान संशय प्रमाद, आकस्म्य अविधि भ्रान्ति दर्शन-अकम्ब-भूमिकत्व जनवम्पित्वऔर चित्तविशेष कभी अन्तराय एवं इनके साथ होने वाले कुछ बीर्मनस्य अयमेवमस्य द्वास प्रस्ताव और विशेष^३ कभी विज्ञ एक पातञ्जल योगी के लिए हैं उसी प्रकार वे बौद्ध मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए भी हैं मेरे केवल इतना ही है कि वह (बौद्ध) उन्हें या तो पाच नीवरण यथा कामच्छन्व व्यापाद सवान्मुद बीडत्य-कीकृत्य और विधिकित्ता कह कर पुकारता है या बस संयोजन यथा सत्कावदुष्टि, विधिकित्ता सीछ वत परमर्ष कामराय व्यापाद, रूप-राग धर्म-राग भाग उदयता और अविद्या के रूप में देखकर उनसे बचने का प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी मार्ग उस साधना के लिए अपेक्षित है वहाँ से जाया हुआ मनुष्य पातञ्जल सूत्रों की भाषा में ही कह सके 'तत् परमावस्तेन्द्रियाणां'^४ वह मार्ग भगवान् पतञ्जलि समान के भगवान् बुद्ध की भी सम्मत है। एक विशेष बात जो योग सूत्रों में मिलती है वह है 'ईश्वर प्रणिधान' का वैकल्पिक महत्व। 'ईश्वरप्रणिधान' को भगवान् पतञ्जलि ने

(१) वैश्विष्ट्य धोपसूत्र २।३५ ४५

(२) योगसूत्र २।३५

(३) महासति पटुल सुत (बीय निकाय)

(४) वैश्विष्ट्य मल्लपाव सति सुत (मग्गिमज्ज निकाय)

(५) वैश्विष्ट्य धोपसूत्र १।३ ३१

(६) धोपसूत्र २।५५

कहा जाता है। इसी प्रकार काश का भी अपकर्ष करते-करते जब अन्तिम स्थापना पहुँच जाती है विसर्ग परे कि उसका अपकर्ष नहीं हो सका, उसने अन्त कहते हैं। जबकि अन्त का कामात्र को हम जान कह सकते हैं किन्तु हेर में कि एक परमाणु अपने पूर्व स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर पहुँचता है।

इन अर्थों के प्रवाह का निरन्तर चक्कर रहना ही उनका क्रम है। इन बीज उनके अर्थों का वस्तुतः समाहार नहीं है बल्कि वे वस्तुओं के उत्पत्ति हार नहीं हैं। मुहूर्त बिना और उत्पत्ति केवल बुद्धि समाहार है। इस प्रकार यह काश स्वयं वस्तु-भूत होता हुआ भी केवल बुद्धिनिर्माण मात्र होता है और मन्त्रिक के केवल चक्रावर्तन के रूप में जाता हुआ भी उन वस्तुओं को किसी प्रभुतियाँ बहिर्मुख है वस्तुतः या वस्तुस्वरूप का विचार होता है। किन्तु अन्त तो सत्ताधीश वस्तु को ही अन्त में जाता है और वह क्रम का आकम्बन करने जाता है। अतस्तु वस्तुपतित क्रमावस्थायी। (व्यास भाष्य ३।५१)। यह क्रम ही अर्थों के एक के बाद एक के जाने के भाव (आत्मदर्श) पर व्यवस्थित होता है। उसी को काश कहते हैं। अन्त अन्त को वास्तव में एक सत्ताधीश वस्तु है क्रम इसको एक मात्र आचार होता है और वह आचार ही केवल बुद्धिनिर्माण है, अन्त नहीं। जो अन्त भूत है या जो भावी है, वे अन्त परिणामाभिध हैं और उस एक ही अन्त में लोक परिणाम का अनुभव करता है और अन्त एक अन्त से उपाध्य में अन्त अर्थ है। उस अन्त और अन्त के अन्त के अन्त से उनका आभास होता है और फिर अन्त विवेक का उत्पन्न होता है वित्त के द्वारा अन्त अन्त का अपनी बुद्धि से अवगमन करता है जबकि आचार अन्त आति अन्त और अन्त के अन्तों से ही पैदा करने में समर्थ होता है।^१ बीज विज्ञानवाद के विद्वत् प्रेम का प्रमाण तर्क यह है कि अन्त की विद्यमानता नहीं है और अन्त का विनाश नहीं है अन्त अन्त और अन्त वस्तु ही सत्ता रखते हैं। अन्त अन्त यह है जो अन्त में अन्त होने वाली वस्तु है और जो अनुभव वस्तु है नहीं अन्त है और जो अन्त इस अन्त उपाध्य है वह अन्तमान है। वे तीनों ही वस्तु

(१) विस्तार से इस विषय में जीव दर्शन की बुद्धि की विवेक के लिए व्याख्यान ३।५१-५२ देखें।

ज्ञान की ओर है। यदि ये वस्तुएँ वास्तव में होती ही नहीं तो ज्ञान ही कैसे उत्पन्न हो पाता? ओंसे वस्तु के ब्रमाण में ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है? अतः अतीत और अनागत भी स्वस्वतः है ही। (नर्ग चैतस्त्वु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतस्त्वस्वतः नामविषयग्रेहं निर्विषयं ज्ञानमुत्पत्त्यतः तस्मात् सीतानामतः स्वस्वतः प्रतीतिः। व्यासभाष्य ४।१२)। फिर कर्मों के फल की दृष्टि से भी योग वर्णन सत्ता के तीन भागों यथा भूय, वर्तमान और भविष्यत् की वास्तविक स्थिति को स्वीकार करता है^१। यह ब्रमाण से भी उनके उद्भवम को सम्भव नहीं मानता।^२ विज्ञानबोध के विषय योग वर्णन का सबसे तीव्र शब्द यह है 'परिणामेकत्वात् वस्तुतत्त्वम्'^३ अर्थात् प्रक्या (प्रकाश) क्रिया और स्थितिधीन गुणों का करण (इन्द्रियों) के रूप में एक ही परिणाम होता है। पृथ्वी परमाणु शब्द का परिणाम है जो मृत्ति के साथ अवस्थित है। यह तन्मात्रा का ही अवयव है। इन परमाणुओं के एक परिणाम ही पथिवी भी ब्रमाण पर्यंत जाति है। अतः कोई ऐसा बर्ष तो नहीं है जो विज्ञान के बिना हो। किन्तु ज्ञान बर्ष के बिना भी हो सकता है यथा स्वप्नावि में कस्मिन् ज्ञानः। (नास्त्यर्थो विज्ञानविज्ञानहृत्। अस्ति तु ज्ञानमर्थविज्ञानहृत् स्वप्नावि कस्मिन्। व्यासभाष्य ४।१४)। अतः विज्ञान-वाकियों की ही ओर स्पष्ट रुझ कर व्यास भाष्य में कहा गया है 'अनया यथा न वस्तुस्वस्वमपह्नुवते ज्ञानपरिष्कृत्यनामार्थं वस्तु। स्वप्नाविषयोपमं तु न परमार्थतोऽस्ति इति ये बाहुस्ते तथेति। प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कर्मप्रमाणात्मकेन दिक्स्वज्ञानबलेन वस्तुस्वस्वमुत्सृज्य तदेवापन्नमत्त-अद्वैतवचना त्मु'^४ इसी विज्ञानवाकियों की ओर रुझ कर एक अन्य स्थान में व्यासभाष्य में ही कहा गया है 'केचिदाहुः। ज्ञानसहस्ररुवाचो योग्यत्वात् सुखादिविधिः। त एतया द्वाय साधारणत्वं बाधमाणा पूर्वोत्तरजनेषु वस्तु

(१) स्थिरं धोमभाष्योपस्य बाध्यवर्षभाष्योपस्य वा कर्मस्य फलमुत्पत्त्यु परि विख्यातमिति तादृशेष तेन निमित्तेन कदाचानुष्ठान न युज्येत। तदस्य कलस्य निमित्तं वर्तमानोत्तरने समर्थं नापूर्वोपजनने सिद्धं निमित्तं नैमित्तिक-स्य विद्येवानुष्ठानं कथते नापूर्वमुत्पत्तिरस्तीति। व्यासभाष्य ४।१२

(२) वैशिष्ट्यं व्यासभाष्य ४।१२ ही।

(३) योगसूत्र ४।१४

(४) " ४।१४ ही।

समाधि की प्राप्ति में सहायक माना है और उसको एक 'पुरष विशेष' कह कर परिभाषित किया है उसमें 'निरुत्तिय सर्वज्ञ बीज' का होना बताया है पूर्वजों का भी उसे गुरु बताया है और उसके वाचक प्रत्यक्ष के रूप और उसके सर्व भावन से दिखाई है प्रत्यक्ष चेतना के अधियम एवं योग के मार्ग में सभी अन्तराश्रयों के समाधि की सम्भावना अतः उनके क्रियायोग में तपस् और स्वाध्याय के साथ ईश्वर अभिमान ने भी एक आवश्यक स्थान पाया है^१। बुद्ध ने इसके बिना ही अपना काम चला किया है। इस प्रकार हमने अस्म-अवयव बातों को लेकर बीड और पार्थक्य साधन-मार्ग की कुछ समानताओं को दिखाया है। समष्टिपथ रूप में यह समानता और भी आश्चर्यकारी है। धीक समाधि और प्रज्ञा के वर्गीकरण में बीड योग वर्गीकृत है और इसका अन्तर्भाव योग के आठ अंशों में यही प्रकार दिखाया जा सकता है, विष्णुकी उसी क्रम के साथ। योग की वैराग्य और अमित्र अशुभि और दुःख की भावनाएँ बीड विपस्सना (विरसन) के ही रूपान्तर मात्र हैं जो बीड ध्यान-योग की आन्तर-स्वरूप है। इसी प्रकार योग का समाधि का द्विविध वर्गीकरण प्रायः बीड उपचार समाधि और सर्वज्ञा समाधि के समान ही है। जयवान् पठम्बकि ने अनेक प्रकार की विभूतियों का वर्णन भी अपने सूत्रों के पुटीय पाद में किया है किन्तु आध्यात्मिक मार्ग में उन्हें वाचक स्वरूप ही माना है^२। सम्मक सम्बुद्ध ने विभूतियों की सम्भावना को स्वीकार किया था और स्वयं उनमें अनेक विभूतियों की विद्यमानता थी किन्तु उनका प्रदर्शन उन्हें सत्य न था। हम जानते हैं कि सुलक्ष्णत लिच्छविपुत्र तो उन्हें इसीलिए छोड़कर चला गया था कि समवान् कोई अद्वि-प्रतिहार्य नहीं दिखाते। इस विषय में पठम्बकि और बुद्ध एकमत हैं। भोमसूत्र में कहा गया है कि जब मनुष्य प्रवृत्ति और पुरुष के विभेद को प्राप्त कर लेता है तो उसकी इस प्रकार की सभी भावनाएँ कि 'मैं कौन था ? मैं कैसे था ? यह क्या है ? यह कैसे है ? हम क्या होंगे ? हम कैसे होंगे ? निवृत्त हो जाती है^३। इस उक्त के

(१) बेखिए योगसूत्र १।२३-२९ एवं २।१

(२) बेखिए योगसूत्र ३।३७ ३।५०-५१

(३) विशेष दर्शन अस्तम मात्र भावना मिलिबुतिः। योगसूत्र ४।२५; अत्र अस्तमभावभावना कोऽहमात्तं कथमहमात्तं किस्विद्विदं कथंस्विद्विदं के वा अविध्याम-कर्म भविष्याम इति। सा तु विद्वेदवद्विदो निवर्तते ॥ उक्त पर व्याख्यानम्।

प्रकाश में हम न केवल बुद्ध के मौन को ही किन्तु सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों को व्याख्यात कर अपने सिद्धियों को सदा मूल वस्तु का आचरण करने की आज्ञा देने को अच्छी तरह समझ सकते हैं। योगसूत्रों में कर्म को जीवन का नियामक तत्त्व स्वीकार किया गया है^१। पूर्वजन्म को भी वे मानते हैं^२। जिस उज्ज्वल मानसिक रूपा में उन्होंने क्लेश और कर्म की निवृत्ति मानी है उसी मर्षों की निवृत्ति से ज्ञान की अनन्तता मानी है और पुण्यों की समाप्ति रूप 'वर्म मेघ' समाधि की अवस्था मानी है उस सबके समान रूप भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट ध्यान मार्ग में मिल सकते हैं जिनको हम अतुल्य प्रकरण में उपनिषदों के मनोविज्ञान और अंशतः अतुल्य प्रकरण में के प्रसंग में उद्धृत कर चुके हैं। केशव के विषय में हम को कुछ धार्य-वर्णन के प्रसंग में कह चुके हैं उसे यहाँ भी समझना चाहिए। अब हम योगसूत्रों में उपलब्ध उत्तरकाशीन बौद्ध धर्म-सम्प्रदायों के सम्बन्ध पर आते हैं।

योगसूत्र ३।५२ में^३ शीघ्रान्तिकों के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है कि काल सर्वा ना एक क्म मात्र है और योगसूत्र ४।१५-१७ में^४ विज्ञानवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है।

शोनों की दार्शनिक परिस्थिति का काल विषय योगवर्णन में संयम का निरूपण करते हुए जाता है। योगवर्णनकार

का कहना है कि सग और उनके कर्मों पर संयम करने से विश्व से उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है। 'समस्तकर्मयो संयमादिवेक्यं ज्ञानम्'^५ किसी इष्ट का अपकर्ष करते-करते जब अन्त में उसका अपकर्ष नहीं हो सता ठक वह परमाणु

(१) यद्यपि क्लेशमूलः कर्माशयो बुद्ध्याबुद्धजन्मवेदनीयः । योगसूत्र २।१२
सति भूते तद्विषयो जात्यामुर्भोषः । योगसूत्र २।१३

(२) इष्टस्य योगसूत्र ४।१५

(३) जाति लज्ज नैरीरम्यतानवच्छेदात् तुल्यमोस्ततः प्रतिपत्तिः । ३।५२

(४) यथा कमलः, वस्तुताम्ये विलम्बेदात्तयोर्विवरतः कम्बाः न चैकचित्त-
ताम्यं वेदस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यात् तदुपपत्तिव्याप्यवित्तय
वस्तु ताज्जतातम् । 'वैनातिक' तत् के सम्बन्ध के लिए व्यासभाष्य ४।११
भी इष्टस्य है ।

(५) ३।५१

कहा जाता है इसी प्रकार काष्ठ का भी अपकर्ष करने-करत जब अन्तिम दशा पर पहुँच जाते हैं जिससे पते कि उसका अपकर्ष नहीं हो सकता तब उसे दान कहते हैं। अथवा उतने काष्ठमात्र को हम समय वह सकते हैं जिसकी रोर में कि एक परमाणु अपन पूर्व स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर पहुँचता है।

इन धर्मों के प्रवाह का निरन्तर चलते रहना ही उनका क्रम है। तब और उनके क्रमों का वस्तुतः समाहार नहीं है अर्थात् वे वस्तुओं के समाहार नहीं हैं। मूर्त पित और रात केवल बुद्धि समाहार है। इस प्रकार वह काष्ठ स्वयं वस्तु-भूय होता हुआ भी केवल बुद्धिनिर्माण मात्र होता हुआ भी और मस्तिष्क में केवल शब्दज्ञान के रूप में छाटा हुआ भी उन मनुष्यों को जिसकी प्रभुत्वों बहिर्मुख हैं वस्तुसत् या वस्तुस्वरूप का विचार देता है। किन्तु सब तो सत्ताहीन वस्तु की ही धेनी में आता है और वह क्रम का आत्मन करने जाता है। सबसु वस्तुपठित क्रमात्मकी। (व्यास भाष्य ३।५१)। यह क्रम ही धर्मों के एक के बाद एक के जाने के नाम (वानन्त्य) पर व्यवस्थित होता है। उसी को काष्ठ जानने वाले योगी काष्ठ कहते हैं। अतः सब तो वास्तव में एक सत्ताहीन वस्तु है, क्रम इसको एक मात्र आधार देता है और वह आधार ही केवल बुद्धिनिर्माण है, दान नहीं। जो सब भूत हैं या जो भावी हैं, वे सब परिणामाश्रित ही हैं और उस एक ही तब से लोक परिणाम का अनुभव करता है और उसी एक सब से उपास्य वे सब धर्म हैं। उस सब और उसके क्रम के संगम से उनका साक्षात्कार होता है और फिर उससे विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है जिसके द्वारा योगी जन-मेव का अपनी बुद्धि से अवगमन करता है जबकि साधारण जन जाति सम्प्रदाय और देश के विवेकों से ही पैदा करने में समर्थ होते हैं।^१ बीज विज्ञानवाद के विवेक योग का प्रधान तर्क यह है कि अणु की विद्यमानता नहीं है और सत् का विनाश नहीं है अतः अतीत और अनागत वस्तु ही सत्ता रखते हैं। भविष्य वह है जो अनागत में व्यस्त होने वाली वस्तु है और जो अनुगत वस्तु है वही अतीत है और जो व्यापार इस समय उपास्य है वह वर्तमान है। ये तीनों ही वस्तुएँ

(१) विस्तार से इस विषय में योग दर्शन की बुद्धि की रचना के लिए व्यासभाष्य ३।५१-५२ द्रष्टव्य है।

ज्ञान की ज्ञेय है। यदि ये वस्तुएं वास्तव में होती ही नहीं तो ज्ञान ही कैसे उत्पन्न हो जाता? ज्ञेय वस्तु के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है? अतः अतीत और अनागत भी स्वकथ है ही। (अथैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि नैतत्स्वकथतो नामविषयघोरे निश्चिप्य ज्ञानमुदपरत्स्य तस्मात् तीतानामतः स्वकथतोऽस्तीति। व्यासभाष्य ४।१२)। फिर कर्मों के फल की दृष्टि से भी योग दर्शन सत्ता के तीन भागों यथा भूत, वर्तमान और भविष्य की वास्तविक स्थिति को स्वीकार करता है^१। यह अभाव से भी उनके उद्बन्धन को सम्भव नहीं मानता।^२ विज्ञानवाद के विरुद्ध योग दर्शन का सबसे तीव्र उल्लेख यह है 'परिणामैकत्वात् वस्तुतत्त्वम्'^३ अर्थात् प्रकृष्टा (प्रकाश) क्रिया और स्थितिहीन गुणों का करण (इन्द्रियों) के रूप में एक ही परिणाम होता है। पृथ्वी परमाणु आदि का परिणाम है जो मृत्ति के साथ अवस्थित है। यह तन्मात्रा का ही अवयव है। इन परमाणुओं के एक परिणाम ही पृथिवी गी भूख पर्वत आदि है। अतः कोई ऐसा अर्थ तो नहीं है जो विज्ञान के बिना हो। किन्तु ज्ञान अर्थ के बिना भी हो सकता है यथा स्वप्नावि में कल्पितज्ञान। (मात्स्यर्षो विज्ञानविसहस्रः। अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहस्रं स्वप्नावी कल्पितम्। व्यासभाष्य ४।१४)। अतः विज्ञानवादियों की ही ओर स्पष्ट लक्ष्य कर व्यास भाष्य में कहा गया है 'अनया यथा य वस्तुस्वकथनपटुवत् ज्ञानपरिकल्पनाद्यर्थं वस्तु। स्वप्नविषयोपमं तु न परमार्थतोऽस्ति इति ये बाहुस्ते तथेति। प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहाभ्येन वस्तु कथमप्रमाचारमक्रेम विकल्पज्ञानवलेन वस्तुस्वकथनमुत्सृज्य उदेवापकथनं भट्टेयवचना स्तु'^४ इन्हीं विज्ञानवादियों की ओर लक्ष्य कर एक अन्य स्वप्न में व्यासभाष्य में ही कहा गया है 'केचिदाहुः। ज्ञानसहस्रपूरेणार्थो भाष्यत्वात् सृष्टाविवदिति। त एतया ज्ञाय साधारणत्वं बाधमात्रा पूर्वोत्तरमनेषु वस्तु

- (१) विज्ञान बोधनालीयस्य बाध्यवर्धमानादीयस्य वा कर्मण फलव्युत्पित्तु यदि निरूप्यास्पमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कृष्णकानुष्ठान न युज्येत। सतत्त्व फलस्य निमित्तं कर्तमानाकारणे समर्थं नापूर्वोपजनने विज्ञं निमित्तं नैमित्तिक-स्व विज्ञेयानुग्रहं कृदने नापूर्वमुत्पादयतीति। व्यासभाष्य ४।१२

(२) वैजिण्य व्यासभाष्य ४।१२ ही।

(३) योगसूत्र ४।१४

(४) " ४।१४ ही।

कहलाता है इसी प्रकार काष्ठ का भी अपकर्ष करते-करते जब अन्तिम दशा पर पहुँच जाते हैं जिससे परे कि उसका अपकर्ष नहीं हो सकता तब उसे धन कहते हैं। अथवा उतने काष्ठमात्र को हम धन कह सकते हैं जिसकी देर में कि एक परमाणु अपने पूर्ण स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर पहुँचता है।

इन क्षणों के प्रवाह का निरन्तर चलते रहना ही उनका कर्म है। जब और उनके कर्मों का वस्तुतः समाहार नहीं है अर्थात् वे वस्तुओं के समाहार नहीं हैं। मुहूर्त दिन और रात केवल बुद्धि समाहार है। इस प्रकार यह काष्ठ स्वयं वस्तु-शून्य होता हुआ भी केवल बुद्धिनिर्माण मात्र होता हुआ भी और मस्तिष्क में केवल सन्दर्भान के रूप में आता हुआ भी उन मनुष्यों को जिसकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुख हैं वस्तुसत् या वस्तुस्वरूप का विस्तार देता है। किन्तु धन तो सत्ताधीन वस्तु की ही शोभी में आता है और वह कर्म का आसम्भन करने वाला है। तदस्तु वस्तुपठित क्रमावलम्बी। (व्यास भाष्य ३।५१)। यह कर्म ही क्षणों के एक के बाद एक के जाने के भाव (आनन्दार्थ) पर अवस्थित होता है। उसी को काष्ठ जानने वाले योगी कहते हैं। अतः क्षण तो वास्तव में एक सत्ताधीन वस्तु है कर्म इसको एक मात्र आधार देता है और वह आधार ही केवल बुद्धिनिर्माण है, धन नहीं। जो क्षण भूत है या जो भावी है वे सब परिणामान्वित ही हैं और उस एक ही क्षण से लोक परिणाम का अनुभव करता है और उसी एक क्षण से उपासक से सब कर्म हैं। उस क्षण और उसके कर्म के संघर्ष से उनका साक्षात्कार होता है और फिर उससे विवेकज्ञान उत्पन्न होता है जिसके द्वारा योगी क्षण-मेव का अपनी बुद्धि से अवयमन करता है जबकि साधारण जन जाति लक्षण और रेश के विवेकों से ही बँसा करने में समर्थ होते हैं।^१ बीज विज्ञानशास्त्र के विद्वत् योग का प्रवक्तृ तर्क यह है कि वस्तु की विद्यमानता नहीं है और सत् का विनाश नहीं है अतः अतीत और अनागत वस्तुतः ही सत्ता रखते हैं। मविष्णु वह है जो अनागत में व्यक्त होने वाली वस्तु है और जो अनुभूत वस्तु है वही अतीत है और जो व्यापार इस समय उपासक है वह वर्तमान है। ये तीनों ही वस्तुएँ

(१) विस्तार से इस विषय में योग दर्शन की बुद्धि को देखने के लिए व्यासभाष्य ३।५१-५२ प्रत्यक्ष हैं।

वास्तव में योगशास्त्र के अनुसार चित्त केवल बाह्य वस्तु से उपरम्भित मात्र होता है और जिस किसी विषय के द्वारा चित्त उपरस्त हो जाता है वही विषय उसका द्वाय हो जाता है और जो ऐसा नहीं होता वह अज्ञात रहता है^१। वस्तु के साथ और अज्ञात स्वल्प होने से चित्त परिणाम शीघ्र होता है किन्तु वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता का अपकाय तो किसी प्रकार किया ही नहीं जा सकता।

इस प्रकार हमन योग-वर्धन और बीड वर्धन के सम्बन्ध को देखा। हमन साधना-पक्ष में दोनों में एक अनुभूत एकठा पाई। केवल पाठ्यमूलक योग में हमने ईश्वर-अभिधान को भी समाधि

उपसंहार

साधना की सहायताएँ एक स्थान लेते हुए पामा किन्तु यह केवल सहायताएँ ही प्रधान रूप में

कभी नहीं। सम्भवतः पदमन्त्र ने ऐसा अपने योग को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए किया हो, अथवा 'उत्सव वाचक' प्रत्यक्ष ऐसा कहना समझा अपने योग की औपनिषद ओंकार की उपासना (माण्डूक्य उपनिषद् ब्रह्म) में मिलाने के प्रयत्न स्वल्प ही सम्भव हो सका हो और 'पुरुष विधेय' कहना वे साक्ष के उत्तरवर्धन के प्रति भक्ति के कारण न छोड़ सके हों। किन्तु यह सब कल्पना भी हो सकती है। जो बात हमारे लिए यहाँ महत्वपूर्ण है वह यह है कि योग वर्धन के साधना मार्ग में जबकि ईश्वर-अभिधान का विकल्प से स्थान है तथापि ने उल्टी वास्तविकता को अनुभूत नहीं किया है। अन्य सब बातों में दोनों के मार्ग प्रायः समान हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से जो विभिन्न योग और सैद्धांतिक और योगाचार बीड वर्धन-सम्प्रदायों के दृष्टिकोण में हैं वह जो हमने देखा है। विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टियों पर भी लगे हुए वर्धन जब जीवन के एक निश्चिन्तामार्ग को जीवने के लिए प्रयुक्त होते हैं तो वे अत्यन्त दूर नहीं जा सकते इसकी एक अनुसर विमल हमें बीड और योग वर्धनों में मिलती है जो इनके तुलनात्मक अध्ययन की सम्भवतः सबसे बड़ी देन भी है।

प्रवर्तते तपोः सम्बन्धात् उपसंहारं पुनस्तस्य मोक्ष इति । व्यासवाक्य
५।१६

(१) पुरुषराशेर्भित्वाचित्तस्य वस्तु ज्ञातव्यतम् । योगसूत्र ५।१७

स्वरूप मेवापहनवत् १। ये विज्ञानवादी योग बर्णन के लिये 'अनु-
कम्पनीय' प्राणी हैं २। इन सबका उत्तर योग सूत्र और व्यासभाष्य
में इसी प्रकार दिया गया है कि बाह्य पदार्थ के एक होने पर भी चित्त
के भेद होने से उनके मान विभिन्न हो सकते हैं ३। वस्तु तो एक ही
रखती है उसके विषय में विचार चाहे बदलते रहें। किन्तु इससे यह तो नहीं
कहा जा सकता कि वह एकचित्तपरिकल्पित है अथवा अनेकचित्तपरिकल्पित
है। वह तो केवल स्वप्रतिष्ठ है ऐसा ही कहा जा सकता है। एक ही वस्तु
से किसी के चित्त में सुख पैदा है किसी के चित्त में दुःख पैदा होता है
अथवा जिन जिन वृष्टिकोशों से मनुष्य उसे देखते हैं वह वैसे ही भावनाओं
का सरोवर उनके चित्त में करती है। इस प्रकार विचारों और वस्तुओं को
तो सत्ता का पन्ना ही विभक्त-विभक्त है। 'गान्धो' सद्गुरुबन्धोऽभ्यस्तीति' (व्यास
भाष्य ४।१५) इनमें सम्मिश्रण का बंध मात्र भी नहीं है। अतः वस्तु
किसके विचार या चित्त से परिकल्पित नहीं जा सकती है? (कस्य कल्पितेन
परिकल्पितम्? व्यासभाष्य ४।१५)। यदि वस्तु एक चित्त के मनीन
होती तो उस चित्त के व्यग्र या विरक्त होने पर उस वस्तु का भी
कोई प्रमाण नहीं होता क्योंकि न वह किसी दूसरे चित्त के सम्बन्ध में
जस्ती और न उसका अनुभव होता। फिर चित्त से जिन पदार्थों का सम्पर्क
नहीं होता वे तो अस्तित्व में ही आए किसी प्रकार नहीं कहें या कहें
और योगभाष्य की मधुर व्यंग्योक्ति में 'एवं नास्ति पृच्छमित्युद्धरमपि नापु-
ह्येव' जब पीठ ही नहीं होती तो उद्धर कहाँ से ग्रहण कर किया जायगा?
अतः योगबर्णन ने विज्ञानवाद का खण्डन कर अपना यही सिद्धान्त स्थापित
किया है कि वस्तु स्वप्रतिष्ठ है और वह सर्वपुरुष-साधारण है,
चित्त भी स्वप्रतिष्ठ है और वह भी प्रतिपुद्गल प्रवर्तमान करता है। चित्त
और वस्तु के सम्बन्ध से ही उपलब्धि होती है जो पुरुष का योग है ४।

(१) व्यासभाष्य ४।१५

(२) भिन्नाहरे विज्ञानवादिषी की ओर ही उक्ति करके 'अवरे चित्तवान-
मेवेवं एवं नास्ति अनु व्यं पदार्थविर्भेदादिष्व सकारणो लोक इति ।
अनुकम्पनीयस्तु । योगभाष्य ४।२३

(३) वस्तुताम्ये चित्तनेदातृजीविनस्तः पन्थाः । योगसूत्र ४।१५

(४) तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राभि वाचिताभि प्रतिपुद्गलः

स्मरता नहीं कि इन सबके परिणामस्वरूप ही दोनों दार्शनिक परम्पराओं अर्थात् बौद्ध आचार्यों और पूर्व मीमांसकों के विचारों का संशोधन हुआ और उनका मार्ग भी बहुत कुछ प्रशस्त हुआ। मीमांसा दर्शन के स्थापकों और सघनकी महत्ता को प्रस्थापित करने वालों में आचार्य कुमारिल का नाम अमर रहेगा और बौद्धों के साथ उनकी जो अनेक मुठभेड़ हुई उससे भारतीय विचार की परम्परा निरूप्य ही बहुत कुछ विस्तृत हुई। 'कुमारिल' निरूप्य ही भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में एक बड़ा नाम है। इन मनीषी आचार्य के 'लोकवातिक' और 'उपवातिक' ग्रन्थ बौद्ध विचार की परिस्थिति के तीव्रतम सम्बन्ध और कहीं-कहीं मथन भी उपस्थित करते हैं, जिनमें महान् तार्किक और ऐतिहासिक सम्पत्ति भरी हुई पड़ी है।

पूर्व मीमांसा का उदय वैदिक काल में ही हुआ। वेद के अर्थों का निरूपण करने के लिए वाद-विवाद के रूप में प्रयत्न अत्यन्त प्राचीन काल में ही होने लगा था और उसी को एक व्यवस्थित स्वरूप पूर्व-मीमांसा में दूरी महर्षि जैमिनि ने दिया। पूर्व मीमांसा का निश्चित नत्व और बौद्ध विषय वर्म की विज्ञासा करना एवं उसके स्वरूप का विचार के साथ निरूप्य करना है। 'वर्म' का यहाँ कोई विशेष अर्थका सम्बन्ध व्यापक अर्थ नहीं है जैसा कि मौलिक्य बौद्ध दर्शन में 'वर्म' शब्द का। मीमांसा में तो वर्म से तात्पर्य केवल 'क्रिया का प्रवर्तक' 'यागादि' कर्म अथवा 'वेद प्रतिपाद्य प्रयोजनवद् वर्म' से ही है। इसके लिए इस समग्र दर्शन का प्रवर्तन हुआ है। वर्म के 'वेदप्रतिपाद्य' स्वरूप को आरम्भ से ही ग्रहण कर लेने के कारण मीमांसा दर्शन में वह का कठिना अधिक महत्व रहा इसके बचाने की जरूरत नहीं। वेद में प्रतिपादित ही वह वर्म है और वर्म की हमें गवेषणा करनी है तो सबसे पहले हमारे लिए मही

- (१) बौद्धनाम्नचोऽर्थो वर्मः । मीमांसा सूत्र १।१।९; बोधनेति प्रवर्तकशब्दो नाम । उपर्युक्त पर आधर वाच्य; मिताहमे यही 'बोधनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्' मिताहमे यागादिरेव वर्मः, तत्प्रत्यय 'वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवद् वर्म' इति । अर्थ अग्रहः क्रियाधारेजितः पूर्वः समयः प्रत्ययो विधीः । तेन प्रवर्तकं वाच्यं आरभ्येतिम् बौद्धनोच्यते । लोक-वातिक १।१।९।३

ए—बौद्ध दर्शन और पूर्व मीमांसा

पूर्व मीमांसा को भी भारतीय दर्शन का एक नया भिन्न का सीमास्थ प्राप्त हो गया यह केवल उसकी और समग्र भारतीय विचार-परम्परा की वैद-भक्ति के कारण। जैसे तो व्याकरण आदि को उपोद्घात भी दर्शन मानकर हम पाणिनि-दर्शन आदि वैसी बात कह सकते हैं (यहाँ भारतीय व्याकरण

शास्त्र के दर्शनत्व का प्रत्याख्यान करने का हमारा उद्देश्य नहीं)।^१ किन्तु यदि जीवन की महत्तम समस्याओं का तात्त्विक निरूपण करने वाली विद्या को ही 'दर्शन' कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि पूर्व मीमांसा में 'दर्शनत्व' कम है। किन्तु मीमांसा के आचार्यों के सामने ऐसी बात कहना कठमयावह है। प्राचीन परम्परा में भारतीय दर्शन के विचारकों में अलग-अलग पाण्डित्यसम्पन्न और तर्कशील आचार्य मीमांसकों में हुए हैं, उतने सम्भवतः नैयायिकों को छोड़ और किसी परम्परा में नहीं हुए, और नैयायिकों और मीमांसकों का प्राचीन सम्बन्ध भी सम्भवतः एकात्मता का ही है ऐसा कुछ विशद विचार करने का प्रस्ताव करते हैं। कुछ भी हो परन्तु जैसे महान् तात्त्विक दार्शनिक को भी सबसे पहले मीमांसकों का ही प्रत्याख्यान करना पड़ा (बहुपुत्र माध्यम्यम् सूत्री ने) और बौद्धों की भी जो प्रबलतम मुठभेड़ बल प्रतिद्वन्द्वी दर्शन सम्प्रदायों के आचार्यों के हुई उनमें नैयायिकों के बाद मीमांसकों ने ही सम्भवतः सबसे अधिक भाग लिया। अतः इस दृष्टि से मीमांसा की परम्परा भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। एक प्रकार से इसे वैदिक भग्न में निश्वास करने वालों की प्रहरीशाला ही कहना चाहिए जिसका निर्वासन करने का उत्तर कालीन बौद्ध आचार्यों ने बार-बार प्रयत्न किया किन्तु सफल नहीं हो सके यद्यपि उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इस दर्शन का कई बार पुन-निर्माण और कभी-कभी तो नव-निर्माण भी करना पड़ा। कहने की आवश्यकता

(१) अफिनु 'व्याकरण' हि प्रथम विज्ञातः सर्वधर्म्यवादिनः बालासीकुम्भ-
राजवासीन् स्तोत्रवादेन निरापन्नः तथा वेदास्तिस्रो बह्मवादेन धर्म्यवा-
दिभ्यो नाध्यमिकादीन् समीपुर्न भी निवासाचार्य विरचित 'दर्शनोद्भव
पृष्ठ १ १

सबका नहीं कि इन सबके परिणामस्वरूप ही दोनों दार्शनिक परम्पराओं अर्थात् बौद्ध आचार्यों और पूर्व मीमांसकों के विचारों का संश्लेषण हुआ और उनका मार्ग भी बहुत कुछ प्रयत्न हुआ। मीमांसा ध्यान के स्थापकों और उनकी महत्ता को प्रस्थापित करने वालों में आचार्य कुमारिल का नाम अमर रखा और बौद्धों के साथ उनकी जो जनक मूठप्येड़े हुईं उनमें भारतीय विचार की परम्परा निश्चय ही बहुत कुछ विलीन हुई। 'कुमारिल' निश्चय ही भारतीय धर्म और समय के इतिहास में एक बड़ा नाम है। इन मनीषी आचार्य के 'लोकवातिक' और 'तन्त्रवातिक' ग्रन्थ बौद्ध विचार की पौरस्विति के तीक्ष्णतम सङ्केत और बड़ी-बड़ी मज्झम की उपस्थित करने हैं जिनमें बहान् तान्त्रिक और ऐतिहासिक सम्पत्ति भरी हुई पड़ी है।

पूर्व मीमांसा का उद्भव वैदिक काल में ही हुआ। वेद के मन्त्रों का निरूपण करने के लिए बाद-विचार के रूप में प्रबल आश्रित आर्चन काल में ही होना लगा था और उमा का एक व्यवस्थित स्वरूप पूर्व-मीमांसा में दृष्टा महर्षि वैमिनि ने दिया। पूर्व मीमांसा का निश्चित नव और बौद्ध विचार वर्ष की निजाना करना एक उनक स्वरूप का विचार के साथ निरूपण करना है। 'वर्म' का यही कार्य विचार हमका सम्बन्ध व्यापक वर्ग नहीं है जैसा कि 'मोक्षिक' बौद्ध धर्म में 'वर्म' एक था। मीमांसा में तो धर्म में तान्त्रिक केवल 'विता' का प्रवर्तक 'आचार्य' वर्म कथना 'वेद' प्रतिपाद्य प्रवर्तक रूप में ही है। निम्नलिखित लिए हम समय समय का प्रवर्तक हुआ है। पत्रों के 'वैदिकप्रतिपाद्य' स्वरूप को आरम्भ में ही दृष्टम कर मन के कारण भीमाना दान में वेद का विचार अधिक बड़ा था इनके बालों की उच्चता नहीं। वेद में प्रतिपाद्य ही जब वर्म है और वर्म की हर्ष प्रवृत्ति करनी है ता नवम पर्वमें हमारे लिए पड़ी

- (१) श्रीमानसकोर्णो वर्मः। श्रीमानस मंत्र १।१।२ श्रीमानेति प्रवर्तकप्रमाणो नाम। उक्तुं न पर आह्वय नाम विनाशयेच्छी 'श्रीमानेति' विनाशयेच्छी प्रवर्तक प्रवर्तक; विनाशयेच्छी आचार्यवैदिक वर्मः, तन्त्रालम्ब 'वेद' प्रतिपाद्य प्रवर्तकप्रवर्तक वर्मः इति। वर्म कथम् विनाशयेच्छी पूर्व मीमांसकः प्रवर्तक इति। तत्र प्रवर्तक कारण आचार्यवैदिक श्रीमानेति। इत्येव वर्मः १।१।१।१।

को पत है। जैमिनि ने मीमांसा सूत्र सिद्ध और ये सम्भवतः सबसे प्राचीन सूत्र हैं। भगवान् कुमारिल का मत है कि मीमांसा सूत्रों में कुछ बौद्ध सिद्धांतों का सम्मिश्रण उपलब्ध होता है।^१ मीमांसा सूत्रों पर सबसे प्रथम उपलब्ध भाष्य घाबर का है^२ जिस पर अन्य सभी उत्तरकाशीन मीमांसा सम्प्रदायी साहित्य आधारित है। घाबर भाष्य में बौद्ध विज्ञानवाद और सून्यवाद का सम्मिश्रण मिलता है।^३ जैमिनि और घाबर के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम मीमांसा के क्षेत्र में आचार्य कुमारिल का है। इन्होंने वेद के प्रामाण्य और पौरोहित्य की खोज हुई महिमा को फिर कलने की कोशिश की। बौद्धों से निरपेक्ष ही इन्हें संघर्ष में आना ही पड़ा। बौद्धों को कुमारिल ने जितनी फटकारें बरवाई है और जिस तीव्र भाषा में उनका प्रत्याख्यान किया है उसकी दूसरी मिसाल मिलना मुश्किल है। बौद्धों के इस प्रस्ताप को कि उनके जन्म भी प्रमाण कोटि में आ सकते हैं उनके इस विचार को कि वेद का प्रामाण्य कब हो सकता है? कुमारिल ने बड़ी तीव्रता के साथ सम्मिश्रण किया है यहाँ तक कि सविम धर्म का अतिक्रमण कर बुद्ध के प्रवर्णित होकर ब्राह्मण-भूति को स्वीकार करने की वर्णमिषिद्ध प्रभुति की भी इन्होंने निन्दा की है।^४ इन्हीं कुमारिल के विषय किन्तु अपनी बुद्धि की प्रसरता के कारण स्वयं इन्हीं से 'पूर्व' नाम पाए हुए, प्रभाकर भी मीमांसा दर्शन के एक दीप्तिमान् विचारक हैं जिसका कुमारिल के समान एक सम्प्रदाय ही, अल्प है जो 'प्रभाकर' सम्प्रदाय या 'बुद्ध' मत कहा जाता है जबकि कुमारिल का मत

(१) देखिए इल्लोकवार्तिक १।१।३ ५ ६

(२) पद्यपि भर्तृमित्र नववाच, हरि और उपवर्ष के इनसे भी पूर्व बाल्य के किन्तु आज से अनुपलब्ध एवं कालक्षिप्त है।

(३) देखिए राधाकृष्णन् इण्डियन किलासट्री विन्ध इतरी पृष्ठ ३७७ परसंकेत २

(४) स्वधर्मातिरेकेण च कर्मिणेन सता प्रवृत्तत्वं प्रतिग्रही प्रतिपत्नी
बुद्धादे पुनरप्यभिवास्तिकमोर्ध्वकार बुद्धे येनैवमाह कलिकमुन
कृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु (कोक इति स नि
लोकादितां कविमर्ग-निष्कम्प ब्राह्म * प्रतिपन्न प्रति
लोकादिमत्तमर्थः ।
सम्बन्धमनापीहृत्य

'मातृ' मत कहलाता है। किन्तु हम तो यही बौद्ध दर्शन का सम्बन्ध मीमांसा दर्शन के साथ दिखाते समय जबल संरक्षणात्मक दृष्टि से ही विचार करण और कमारिक के मत का कुछ अधिक बर्णन करेंगे क्योंकि बौद्ध धर्म और दर्शन से वे ही अधिकतर मन्थ में आए हैं।

महर्षि नैमिषि को तीन प्रमाण स्वीकृत हैं प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। प्रमाकर ने उपमान और अर्थावृत्ति को भी स्वीकार किया है और कमारिक ने इन सबके ऊपर बढ़ा दिया है अनुरक्तिय को प्रामाण्यवाद इस्वर भी। ऐतिह्य और स्मृति को इस दर्शन में प्रमाण माने और नैतिक तत्व नहीं माना गया। मीमांसा के शार्ङ्गिकों के अनुसार का लेकर बौद्ध और प्रत्यक्ष बड़ि जर्न-विषयक होती है न कि बुद्धि-विषयक। पुन-मीमांसा द्वालों इसकिए प्रत्यक्ष पदार्थों का होता है न कि पदार्थों के ज्ञान का तुलनात्मक का। संविन् (ज्ञान) सबच नहीं हो सकती। संविन्

अभ्ययन की अनुमति संविन् के ही रूप में हो सकती है,

मन्थ के रूप में कभी नहीं इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान मात्र अनुमेय है ज्ञान की उपस्थिति केवल अनुमान में ही जानी जाती है ज्ञान दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करना है किन्तु अपन को नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध वैज्ञानिक इसमें विरक्त विभिन्न मिश्रण मानते हैं। उनके अनुसार विज्ञानों का प्रत्यक्ष होता है और पदार्थों का केवल अनुमान किन्तु यही तो बन्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान है और उनके ज्ञान या संविन् का केवल अनुमान। दोनों एक दूसरे के टीक विपरीत मिश्रण है। प्रमाकर के अनुसार प्रत्यक्ष की हुई बन्तुओं इष्ट भी हो सकती है, पुन भी और जाति भी। प्रत्यक्ष प्रमाण को मीमांसकों ने भी दो भागों में बांटा है यथा सविज्ञानक प्रत्यक्ष और निविज्ञानक प्रत्यक्ष। कमारिक के मतानुसार निविज्ञानक ज्ञान में बन्तु की यथा या जाति तथा विमय धर्म की प्रतीति नहीं होती। प्रमाकर के मत में दोनों का सम्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। प्रमाकर और कमारिक दोनों ही सामान्य की स्थिति को स्वीकार करते हैं और उन प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय वस्तुमान है। यह बात बौद्धों के मत के विपरीत है क्योंकि बड़ा विमय धर्म ही केवल अपनी स्थिति रखता है और सामान्य तो केवल वस्तुता की चीज है 'विज्ञानाचारमात्रं सामान्यम्'। कमारिक और सामान्यचार्य पण्डित्य दोनों ने ही बौद्धों के 'म' मत को प्रामाण्य का विषय बनाया है। मीमांसकों के अनुसार प्रत्यक्ष दोनों ही 'अनुकृत

और 'व्यावृत्त' होता है और बिना 'सामान्य' की स्थिति माने यह 'अनुवृत्त' प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है? अतः सामान्य है। फिर यदि बीज यह कहें कि सामान्य की सत्यता नहीं है क्योंकि विषय वर्म से इसकी पुनरुत्पत्ति ही मयी होती तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह केवल कहना ही कि जो कुछ है वह भिन्न अथवा अभिन्न होता ही चाहिए 'सामान्य' के वस्तुत्व को स्वीकार कर लेना है क्योंकि जो 'है' वही तो भिन्न या अभिन्न हो सकता है। 'यद् वस्तु तद् भिन्नम् अभिन्नम् वा भवति। मीमांसक 'सामान्य' को सादृश्य भी नहीं मानते। 'न च सादृश्यमेव सामान्यम्'। सामान्य और विशेष एवं अवयवी और अवयव को लेकर मीमांसकों ने बड़ा विचार किया है और कुमारिल और प्रभाकर दोनों के ही इस विषय में अक्षय-मछग महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं किन्तु उनमें हम इस समय नहीं जा सकते। मीमांसक योग के द्वारा सत्य के प्रत्यक्ष करने में विश्वास नहीं करते। उनके लिए भूत और भविष्यत् की चीजें केवल बेब से ही जानी जा सकती हैं जो उनके दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है। अनुमान प्रमाण के विषय में साबर का मत है कि जब दो वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञात हो जाय ठाकि जब हम उनमें से एक को देखें तो दूसरी का ज्ञान हो जाय तो यह ज्ञान का ज्ञान ही अनुमान है। 'ज्ञातसम्बन्धस्यैकवचनसंज्ञाद् एकदेशान्तरेऽगमि-
कृष्टेऽर्गे बुद्धिः'। साबर ने अनुमान को दो भागों में बांटा है, यथा प्रत्यक्षानुवृष्ट और सामान्यानुवृष्ट। अस्तु, अब हम सख्य प्रमाण पर आते हैं जिसको लेकर मीमांसकों ने एक अत्यन्त सहायीय और विस्तृत विचार उप-
स्थित किया है और जो हमारे दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मीमांसा का मुख्य ही वर्म अर्थात् बेब में निहित यत्र यागादि मय विधानों की व्याख्या करना है। यत्र विधानों की प्रक्रिया क्या है? किन यज्ञों को कब करना चाहिए किन प्रकार करना चाहिए और किसलिए करना चाहिए? यदि प्रश्नों के निर्णय के लिए मीमांसा दर्शन का आभियान ही हुआ अतः उसके प्रमाण को वह सर्वोपरि प्रमाणता क्यों न देता? इसीलिए तो वेब को मीमांसकों ने अपौरुषेय और निश्चय माना। अपौरुषेय अर्थात् किसी रूप ने भी नहीं बनाया ईश्वर ने भी नहीं बनाया। जिन शब्दों से वेब निर्मित है वे नित्य हैं। सख्य मात्र की नित्यता सिद्ध करने के लिए मीमांसकों की अनेक युक्तियाँ हैं। उनके अनुसार सख्य वर्षसमूह का नाम है। अत्येक वर्ष सर्वव्यापक निरवयव अतएव नित्य है। वेब में विविचिन्मयी

बिना मान्य है (और उनके अतिरिक्त भीमिनि के मतानुसार तो सबकी ही अनर्बकता है ।) उनका मिथ्यात्व कभी भी किसी भी काळ में अबका किसी भी अवस्था में निष्पन्न नहीं हो सकता । वे सभी अवस्थायों, कालों और स्थानों में स्वतन्त्र रूप से सत्य हैं^१ । बंदों का प्रामाण्य स्वतः ही है । अबैदिक बितने भी कहते हैं उनमें आन्तरिक प्रामाण्य जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती^२ । उनकी तो सिद्धि अनुमान से ही हो सकती है । बंदों के नित्य होने के कारण उनका कोई कर्ता नहीं जतः उनमें कोई दोष नहीं और उनकी अप्रामाणिकता तो ध्यान में भी नहीं सार्ई जा सकती^३ । यदि मानवीय धर्मों के भी उच्चारण करने वाले ज्ञात पुरुष हों तो कमारित की घोषणा है कि वे भी धर्म प्रमाण की बोटि में जा सकते हैं । भीमांतक यह नहीं मानते कि वेद ईश्वर की रचना है । जब वेद नित्य ही हैं तो उनके निर्माण का सवाल ही नहीं उठता । भीमांता नृचों^४ ने बंदों की नित्यता को बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादित किया है । भीमांतकों का कहना है कि ईश्वर जगदीश्वरी है जतः पश्य रचना जैसी वस्तु जतमें नहीं बन सकती । यदि कहा जाय कि वह इतके लिए सरीर धारण करता है, तो फिर वह भी उन सभी कमियों और दोषों का शिकार हो जानवा जिसके मनुष्य है और फिर उसके बचनों का प्रमाण ही क्या रहेगा ? फिर इस प्रकार की कोई परम्परा भी तो नहीं । ज्ञापियों के नाम उनमें पाए जात से बंदों को हम उनकी रचनाएँ नहीं वह सबसे क्योंकि उनके नामों का तात्पर्य केवल यही है कि उन्होंने स्वयं उनका अध्ययन और अभ्यास कराया । ऐतिहासिक नाम भी वेद में केवल प्राकृतिक शक्तियों का उल्लेख करने के लिए ही अबका सार्वभौम दर्शकों को दिखाने के लिए

- (१) देखिए छांदर ज्ञाप्य १।१।२ मित्ताइये 'शब्द ब्रह्मेति यन्वेदं शास्त्रं वेदाश्रयमुच्यते । तदप्यधिष्ठितं तद्वैवेकेन परमात्मना' । तन्त्रवार्तिक ।
- (२) प्रकरण ब्रम्हिका ५।३ अनुभाष्यजति ३।१६ मित्ताइये 'रापाहृत्पान् इन्द्रियन चित्तोत्तरी, जित्स्व दूतरी पुण्ड ३८९
- (३) इल्लोकावार्तिक २।६२ ६९
- (४) पद्या १।१।२४ ३१ भीमांतकों के इस मन से कि ईश्वर ने वेद को नहीं बनाया नैवायिक सहमान नहीं । देखिए उनके द्वारा भीमांतकों के तर्कों के प्रत्याख्यान के लिए सर्व वर्णन-संग्रह अध्याय १२

ही माए है मठ भीमांसा शास्त्र के अनुसार उनमें इतिहास नहीं है।
 बौद्धों के द्वारा इस विषय में कई प्रत्याख्यान किए जाने पर भगवान् कमारिख
 न भी निश्चय ही बड़े बड़े रूप से उत्तर दिए हैं। बौद्ध जब कुछ उपहास
 पर्यंत कमारिख से पूछते हैं कि यदि वेद अकृत्युक्त होने के कारण नृत्यदेव
 से दूषित नहीं होते हैं तो वेद के समान ही बुद्ध-वाक्यों का भी प्रमाण
 मानो क्योंकि उनमें भी अकृत्युक्त भाष का अभाव है। अकृत्युक्त या इष्टुक्त
 के रूप में ही बुद्ध ने उपदेश दिया है उनके अकृत्युक्त के रूप में नहीं। जो
 कुछ भी वेद प्रामाण्य की सिद्धि के लिए तुम कहते हो वही सब हम बुद्ध
 वाक्यों के विषय में कहते हैं तो फिर उनका भी वेद वाक्यों के समान
 प्रामाण्य क्यों नहीं है? इस पर कुमारिख तीव्र रूप से क्रोधित होकर छत्र स्वर
 में प्रतिवाचियों का निराकरण करते हुए कहते हैं 'य दास्य वैद्यपिक और अन्य
 प्रतिकूलवादी जो, भगवान् भीमांसकों के द्वारा विमिश्रित और मयामिश्र कर दिए
 गए हैं हमारे ही धर्मों को लेकर बकबाद करते हैं जैसे कि मानो छाया को
 ही वे पकड़ना चाहते हैं। वे कहते हैं कि उनके शास्त्र नित्य हैं, किन्तु वे
 मूढ़ बलि हैं और केवल द्वेष के कारण ही वे इस बात का प्रचार करते
 हैं कि वेद पुराणतम ग्रन्थ नहीं हैं। मैं कृताधिक यह भी तो बोधना करते हैं
 कि उनके कुछ सिद्धान्त जैसे सर्व-नीचीमात्र आदि (जिनको उन्होंने हमसे
 चुराया है) वेद में स उन्हीं नहीं मिले, जबकि बुद्ध के और कुछ बहुत वेद के
 स्पष्ट विरुद्ध हैं वे अपनी कठिनाई को छिपाने के लिए हमारे ही उन तर्कों का
 अनुकरण करते हैं जो हम वेद के नित्यत्व को प्रस्थापित करने के लिए

(१) अकृत्युक्तताया नापि कर्तुर्बोधेन शुभ्यति ।

वेदवद् बुद्धवाक्यादि कर्तुस्मरणवर्जनात् ॥

बुद्धवाक्यसमाख्यायि प्रवक्तृत्वनिबन्धना ।

तन्मूढत्व निमित्ता वा कण्ठकागिरसादिकत् ॥

पादबोधोन्मिष्ट किञ्चिद्बैप्रामाण्यसिद्धये ।

तत्तर्षं बुद्धवाक्यानामस्तिबोधेन पश्यते ॥ तन्मवाधिक; निजाद्वे

तुक्तो यदि परमं कविनी नेति का प्रमा ।

तानुमी यदि सर्वज्ञी मतिनेहः कथं तयोः ॥

पूर्व विवेचन के लिए, विविध सैन्यतन्त्र द्वितीय अष्टक एतद् विवेचन
 विवेचन (पाणिनि जीहित) पृष्ठ ५२

उपस्थित करते हैं। वे जानते हैं कि मीमांसकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अतीत विषयों पर मनुष्य के कोई भी बचन प्रामाण्य प्राप्त नहीं कर सकता वे यह भी जानते हैं कि वेद के प्रामाण्य का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता इसलिए कुछ भी उत्तर देने में बसमर्ब उनके युक्तिहीन बचनों के विग्रह के काट दिए जाने पर, वे उस मूल बुझने के समान हैं जो एक दुर्लभ की कामना करना हुआ जाकर कहना है 'मेरा कूल उतना ही उज्ज्वल है जितना तुम्हारा।' १ इस प्रकार उस रूप में प्रत्याख्यान करते हुए आचार्य कुमारिल ने अन्त में यह कहकर भी उन्हें फटकारा है कि तपिच पाद 'अभिज्ञावा' प्रकारने बाल बौद्धों का धारणवाक्य के विषय में बात करने का प्रयोजन ही क्या है? इसी प्रकार जब वेद के दैवतात्त्व को लेकर अहस्या और प्रजापति के जनाधार प्रसङ्ग की बात कुमारिल को याद दिलाई जाती है तो वे एक कपाल मीमांसक की तरह म्हा कहने लगते हैं कि प्रजापति नाम ई सूर्य का उनकी बम्पा है प्रथम देवी और जब यह कहा जाता है कि उन्होंने उनके साथ प्रेम किया तो इसका तात्पर्य यही है कि सूर्योदय के समय सूर्य उदय का पीछा करना हुआ होइता है। इसी प्रकार कुमारिल अहस्या और इन्द्र के प्रसंग की यह कह कर म्हास्वात करने हैं कि अहस्या अर्थात् रात्रि इन्द्र की सूर्य के द्वारा विद्यमिति और नष्ट कर दी जाती है यही वह वा तात्पर्य है अग्निधार का प्रस्थापन करना नहीं। २ भोजानर्तकों के कर्मकाण्डमय बर्ष और उनके एक ही मित्रि निम्नी निरिबन मानवीय ब्रह्म के उगकरणों में नहीं हो गवनी को

(१) तावदातिच; इत पर विप्रेव विवेचन के लिए द्विपिपू मीसतमुलट हिलुी और एगियमद संस्कृत लिटरेचर (वाचिनि मीकिन संस्करण) पृष्ठ ४३ ४४

(२) अत्रावगतितावत्रावाकवाचिवातावाचिप एवोध्यने न चारनोरय वेतावापुतनवप्रम्येति ता तदागमनारेवोपत्रावत इति तदुद्दिनत्वेन व्यवरिष्यने । तायां चारव विरचारव औत्रनिर्मेपान् रभी नुरव संयोगबहुवचाट । एवं तजल तेमः वरनोरतरवनिमितेगुपयवाच्य लविर्वाहनि औपवातनया रावेएम्पापामवाच्यायां लवावक अरव हेनुवाव्रीर्पापमाहनेन ओदिनेन औपम्पावार इत्यध्यने न वरव्री-प्यविचारान् ।

अतः सनष्टे लिए यह परम आवश्यक हो गया कि वे वेद के स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार करें। उक्त उम्होंने किया भी ऐसा ही। प्रामाण्यवाद को लेकर उम्होंने जो विचार उपस्थित किया है उसमें उनका यही स्वतः प्रामाण्यवाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। स्वतः प्रामाण्य का अर्थ यह है कि ज्ञान का प्रामाण्य बनने साध है^१। ज्ञान की यथार्थता की परीक्षा के लिए ज्ञान से अतिरिक्त किस प्रकार के व्यवहार या आवश्यकता नहीं है। ज्ञान का उत्पन्न होना और उसकी यथार्थता होना एक ही बात है। इसके विपरीत नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति से उसकी यथार्थता बिना बीड है। यथार्थ ज्ञान की परीक्षा व्यावहारिक सफलता से होती है। यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी बिना व्यवहार के उसकी यथार्थता की पहचान नहीं हो सकती। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मीमांसक भी व्यावहारिक की तरह जगत् की यथार्थता की व्याख्या करते हैं अतः वे उनकी तरह ही बीड विज्ञानवाद के अन्तर्गत में प्रवृत्त होते हैं^२। वास्तव में तो बात यह है, जैसा कि हम पहले भी निर्देश कर चुके हैं, कि उक्त^३ काशीन बीड सम्प्रदायों में से प्रायः सभी अधिकवाद का किसी न किसी मात्रा में प्रस्थापन करने वाले हैं और उसी प्रकार प्रायः सभी 'वास्तविक' दार्शनिक भाषाओं की वह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि वे सभी किसी न किसी प्रकार अधिकवाद का प्रत्याख्यान करते हैं और विज्ञानवाद और धर्मवाद के विच्छेद की अपनी आवाज उठाते हैं। पूर्वमीमांसा यह दर्शन है जिसमें बीड विज्ञानवाद का सम्भवतः तीव्रतम अन्वेषण उपलब्ध होता है। कुमारिल का कथन है कि जगत् को यथार्थ मानना उसके व्यवहार को चलाने की आवश्यकता है। अतः ही स्वतन्त्र सत्ता मान बिना कोई काम नहीं कर सकता।

(१) 'तत्र बुद्ध्या ज्ञते ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेष्वेव गृह्यते। अहम्भा मते ज्ञानम् अतीन्द्रियं ज्ञानबन्धुजातत्वात् प्रत्यक्षा तथा च ज्ञानमनुमीयते। नुपरि निर्याता ज्ञते अनुबन्धसत्त्वेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वव्यापि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते। तिर्यक्त भुततामसी वा राक्षसकृन्वान् की 'इन्द्रियेण तिर्यक्तोऽपि' निम्न दुसरों, पृष्ठ ४३ परतः १ में उद्धृत।

(२) निर्यातये 'अर्थविषया प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्धिविषया। चापर भाष्य, जीमांसा तुल्य १।१।४ पर।

विज्ञानवादियों की स्वप्न की मिथ्याक कहीं ठहरती नहीं। स्वप्न-पराबों का मिथ्यात्व जागृ-काल के पराबों की अपेक्षा से होता है। परन्तु यदि जाग्रत् अवत् ही नहीं है तो स्वप्न के पराबों को भूटा कहन से भी क्या आशय है? विज्ञान स्वयं विज्ञान को नहीं जान सकता न दूसरा विज्ञान ही एक विज्ञान को जान सकता है। विज्ञान से हम पराब का बोध कर सकते हैं किन्तु विज्ञान तो स्वयं अनुमेव ही ठहरा। सब मानसिक अवस्थाएँ भौतिक पराबों की ओर संकेत करती हैं। प्रत्येक मानसिक वस्तु का एक विषय अवश्य होना चाहिए। क्या निविषयक ज्ञान कहीं देखा या सुना गया? तो फिर विज्ञानवाद कहा ठहरता है? इस प्रकार के तर्कों से मनीषी आचार्य कुमारिक ने विज्ञान-वाद का प्रत्याख्यान किया है अपनी स्वाभाविक प्रभावशाली भाषा में जिसके बीर्यवान् प्रवाह और ठोस-न की भारतीय बर्तन में तुलना नहीं। सूक्ष्मता-वादियों का भी प्रत्याख्यान आचार्य कुमारिक ने किया है और उनके द्वारा किए हुए संवृति और परमार्थ की सत्य के द्विविध विज्ञान का खण्डन भी किया है।^१ जिस पर ही विद्येयत् आश्रित होकर बाद में आचार्य रामानुज ने स्वयं सद्यकर के 'अवधार' और 'पारमार्थिक' रूप सत्य के द्विविध विज्ञान का खण्डन किया। किन्तु इन सब खण्डन-मण्डनों से हमें अधिक निश्चित नहीं हो जाना चाहिए। कुमारिक ने एक सच्चे सत्यमेव ही परीक्षक के रूप में यह स्वीकार किया है कि विज्ञानवाद अथर्वमवाद और अनात्मवाद उपनिषदों से ही उत्पन्न हुये हैं और उनका उद्देश्य राग निवृत्ति ही है बत उन सबका प्रामाण्य है, वे सब प्रामाणिक वर्तन हैं।^२ भगवान् कुमारिक की यह उक्ति संसार के सत्य के

(१) संवृतेन तु सत्यत्वं सत्यमेव दृष्टो न्वयम् । सत्यं चेत् संवृतिः केयं भूवा चेत् सत्यता कथम् ॥ सत्यत्वं न च सामान्यं मूषार्थवरमार्थयोः । विरोधान्न तु हि मूषार्थं सामान्यं भुजतिहयोः ॥ तुभ्यार्थत्वैऽपि तेनैवा मिथ्या संवृतिः खण्डयोः । ब्रह्मवार्थं उपन्यासः काकावत्पुलकादिषु ॥ नास्ति कस्यपि ह्यार्यं संवृतिः कस्यनैति च । कस्यनापि त्वमिदमस्य नैव निर्वस्तुके भवेत् ॥ तत्त्वान्ननास्ति नास्त्येव यत्त्वस्ति परमार्थतः । तत्त्वमप्यन्यमिच्छेति न कत्वह्य कस्यना । श्लोकवार्तिक (निरात्मवाद)

(२) विज्ञानमात्रब्रह्मवर्तनैरप्यवधारणामपि उपनिषदप्रवक्तव्य विद्येयव्य-
त्पन्निके रागे विनिवर्तितुमित्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम् । तत्त्ववास्तव ।

गणेशकी और उच्चतम निष्पन्न विचारकों में उन्हें कितना ठंढा बैठे देती है इसकी कृष्ण कल्पना हम नहीं कर सकते । कुमारिक जैसे आचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन का 'उपनिषत्प्रमत्त' स्वीकार कर केना निश्चय ही एक ऐसा तथ्य है जिसकी पूरी महत्ता को समझने का हमें बल करना चाहिए । भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन और कोई नहीं हो सकता । अस्तु, अब हम पूर्व मीमांसा के ईश्वरवाद पर आते हैं ।

पूर्वमीमांसक ईश्वरवादी नहीं किन्तु 'अपूर्व'वादी हैं वेबबहुत्ववादी हैं । जैमिनि ने ईश्वर की समस्या को स्वयं नहीं किया बुद्ध की तरह ही किन्तु एक बिलकुल विभिन्न प्रयोजन को लेकर । बुद्ध ने तो इसलिये नहीं किया कि उनके नैतिक आदर्शवाद में इसकी स्वयं परिपूर्णता की किन्तु उससे जनपेक्षा यह सच है और जैमिनि ने इसलिये नहीं किया कि यज्ञयापारि विधान उनके लिए भी स्वतः परिपूर्ण वा क्योंकि एक विशेष विधि से करने पर वह स्वयं ही 'अपूर्व' के द्वारा स्वयं प्राप्ति रूप फल-प्राप्ति कर सकता वा फिर ईश्वर की मानने की क्या आवश्यकता थी ? ईश्वर को तो माना ही नहीं परन्तु मीमांसकों ने सृष्टि और प्रलय को भी नहीं माना जिसे अन्य सब 'आस्तिक' दर्शन ग्राम मानते हैं । 'यः सर्वज्ञ आदि सृष्टिर्वा भी वहाँ के अनुष्ठाताओं की प्रशंसाक्य ही मीमांसकों ने मानी बहुत वा ईश्वर के स्वयं निर्णय सम्बन्धी नहीं । जिस प्रकार बुद्ध ने समग्र दृष्टि यज्ञयापारिभय कर्म-नाश और ईश्वर से हटा कर नैतिक आदर्शवाद में समा रखी थी उसी प्रकार विपरीत प्रकार से किन्तु ईश्वर के प्रति समानता के भाव को लेकर मीमांसकों ने वेद और उसके प्रतिपाद्य यज्ञयापारि को ही लिया और उसके अतिविशेष में न केवल ईश्वर को ही किन्तु किसी परिमितवस्तु विषयक ज्ञान को भी (जा निश्चय ही स्वतन्त्र रूप से वेद में प्रतिपादित है) तथा सृष्टि और प्रलय को भी बं दिक्कल जूल गए । कुमारिक ने ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व के विरोध में जो तर्क दिए हैं वे अपने एक अंत में बिलकुल नहीं हैं जो भगवान् बद्ध ने दिए थे । भगवान् कुमारिक का कहना है कि बिना उद्देश्य के प्रवृत्ति नहीं हो सकती । फिर किस उद्देश्य से ईश्वर ने सृष्टि को बनाया ? यदि उसके पास कोई उद्देश्य वा तो फिर क्या वह अपूर्व नहीं हुना ? फिर उसने ऐसी बुद्धिमत् सृष्टि क्यों बनाई ? अब वह सर्वव्यापी मान् ही है तो क्या बुद्ध उद्दिष्ट सृष्टि की वह रचना नहीं कर सकता वा ?

कठना की प्रवृत्ति से तो उसने सृष्टि नहीं बनाई। जब प्राची पहले से ही नहीं तो ‘कर्म’ की भी संगति क्या क्येयी? इस प्रकार कुमारिक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईश्वर का सृष्टि-कृतत्व निष्पन्न नहीं होता। किन्तु यह स्थिति अधिक नहीं चल सकती थी। जब विभूत नैतिक आदर्शवाद पर आचार्य तत्वागत का मार्ग ही मनुष्य के निर्बल हृदय को स्पष्ट नहीं कर सका तो कर्मकाण्ड पर प्रतिष्ठित बनेक देवताओं को मानने वाले इन मीमांसकों के लिए ही उनके एक प्रतिष्ठापक ईश्वर को मानने की आवश्यकता क्यों न पड़ती? स्वभावतः मीमांसा का भी एक महायान संस्करण हुआ। कुमारिक ने भी सिद्ध की प्रार्थना की ‘लौगाधि मास्कर ने भी यज्ञयागविधि विधान उसी को समर्पित करने की विनती की’ और वेदान्तवेदिक ने तो मीमांसा का एक नवीन संस्करण ही निकाल दिया जिसकी विधा कुछ-कुछ कुमारिक ही प्रस्थापित कर गए थे। और जो राष्ट्रीय वर्तन में ‘ऐश्वर्य मीमांसा’ के नाम से प्रसिद्ध है। आत्मवाद के सम्बन्ध में भी हमें पूर्वमीमांसा और बौद्ध वर्तनों को देख जाना चाहिए। महर्षि वैमिनि ने आत्म-सिद्धि करने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि वह उनके दर्शन के बाहर की चीज थी। लोगों मीमांसामा के बलिकार उपवर्ष भी ऐसा ही भागते थे और सम्भवतः भाष्यकार सावर भी। आचार्य कुमारिक ने कहा है ‘इस प्रकार भाष्यकार (सावर) ने नास्तिकवाद के निराकरण की इच्छा करते हुए आत्मा

- (१) श्लोकवार्तिक, सम्बन्धातोप बहिर्हार, एवं मित्तादये चतुर्ष्व प्रकरणे में ‘यथा लभ्यक सम्बद्ध निरीन्तरवादी है ? पर विवेचन।
- (२) श्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में ‘विभूत शान वैश्या त्रिवेदीविध्यबन्धुः। श्रेयः प्राप्ति निमित्ताय नमः सोमार्थचारिणः’ ॥
- (३) लोप्यं यर्षो यदुद्दिश्य विहितं तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरापक-बुद्ध्या क्रियमाणस्तु निश्चेयतहेतुः। अर्पतपह का उपसंहार।
- (४) स्वयं अपने विषय में यह कह कर प्रायेर्षेव हि मीमांसा लोके लोकापतीकृता। तामास्तिकपथे कर्तुंमयं यत्नः कृतो मया ॥

श्लोक वार्तिक १११

- (५) वैदिय मीमांसा-सूत्र-सावरभाष्य १।१।५

के अस्तित्व को युक्ति पूर्वक प्रस्थापित किया है और वेदान्त के ब्रह्मवत्त्व से भी इसी विचार की पुष्टि होती है^१ । वस्तु, आत्मा के अस्तित्व की बात धार करने की क्योंकि उसके न रहने पर मृत्यु के उपरान्त यज्ञ-यागादि कर्मों का कुछ फल ही प्राप्त नहीं किया जा सकता, जिसके लिए पूर्व मीमांसा का समस्त उद्येय है । पूर्वमीमांसक आत्मा को धरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से भिन्न मानते हैं^२ । यही आत्मा धरीर के मरने के बाद स्वर्ग को जाता है^३ । धार के अनुसार आत्मा ही एक स्थिर आत्मा है जो अपने द्वारा ही स्वयं जानन योग्य है और जिसको न तो दूसरों के द्वारा दिखाया ही जा सकता है और न देखा ही जा सकता है । 'स्वसंवेद्यं स नवति नासावन्येन संस्पृष्टं वर्णयितुं वा । इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान के अतिरिक्त 'एक स्वामी जाता' भी है । 'ज्ञानातिरिक्त स्वामी जाता वर्तते' । यही मीमांसा का विज्ञानवाद से महत्त्व विभेद है । विज्ञानों की सन्तति को लेकर जो दर्शन (विज्ञानवाद) प्रवृत्त होता है, उसी के विरुद्ध कमालिक की यह आकाश है कि बिना एक सामान्य प्रतीक माने हुए कर्म के नियम की क्या संगति लग सकती है ? पुनर्जन्म की क्या व्याख्या होगी ? अतः किसी स्थिर तत्त्व की स्थिति तो माननी ही पड़ेगी ? बिना उसके माने कुछ दुःख इच्छा स्मृति आदि ही केवल 'आत्म विज्ञान' के सहारे किस प्रकार समझे जा सकेंगे ? इस प्रकार ज्ञान के अतिरिक्त एक स्वामी जाता तो मानना ही पड़ेगा । यही पूर्वमीमांसा विज्ञानवाद की नस पकड़ लेनी है । मीमांसक आत्माओं की अनेकता मानते हैं । बुद्धीन्द्रियधरीरेन्द्रो भिन्न आत्मा विष्णु धरा । नागामृत प्रतिबोधम् वर्णयितुं जातने^४ । प्रजापति के मतानुसार आत्मा एक है जिसमें ज्ञान कुछ कुछ आदि गुण उत्पन्न होते हैं । उनके अनुसार वह कर्ता भोक्ता और विद् भी है ।

(१) इत्याह नास्तिक्य निराकरणम् आत्मनास्तित्वा नाप्यङ्गवत् वृत्तत्वा । बुद्धत्वमेतद् विषयवत्त बोधः प्रयाति वेदान्त निवेद्येन ॥ इत्युक्तवातिक, आत्मवाद ।

(२) मीमांसा सूत्र १।१।४

(३) मीमांसा सूत्र १।१।५

(४) ऐजिये तर्क सिद्धांत सार संग्रह १।२ १; विज्ञानादये—इत्युक्तवातिक, आत्मवाद ।

'कर्ता भोक्ता बहो विभूयिष्ठ प्रामाकरा' । प्रमाकर की अपेक्षा कुमारिक के द्वारा की गई आत्मा की चारणा अधिक प्रशस्त है। ऐसा विद्वानों का अभिप्राय है। किन्तु आत्मवाद विषयक प्रभूत विचार को यहीं छोड़ (क्योंकि बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में इस विषय में जो कुछ कहना या कह तो कह ही दिया गया है) अब हम नैतिक तत्त्व पर आते हैं। यजुर्वागादि को ही सर्वोच्च मार्ग और स्वर्ग को ही सर्वोच्च गन्तव्य स्थापन मानने वाले मीमांसा शास्त्र की नैतिक भावना कुछ ऊँची नहीं मान पड़ती फिर चाहे वह मछे ही कम का मिले। काम्य और निषिद्ध के रूप में विविध विभाग करती हो। साम्य उसका बहुत ऊँचा नहीं है और साधन उसके कर्मकाण्डमय हैं। निर्वर्ण अर्थात् चर्म (कर्मकाण्ड) चर्म और काम तक ही उसकी सीमा जाती है जिसकी बुद्ध के उच्च मार्ग से तो कोई तुलना ही नहीं उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य भी ऐसे ध्येय को कभी सामने नहीं रख सकते थे। आचार्य कुमारिक की भी इससे आगे बढ़ना पड़ा यद्यपि आत्मा आदि के सिद्धान्त प्रस्थापन करने में वे मीमांसा के ग्रन्थों को बहुत कुछ मानते रहे^१। चूँकि शास्त्र-ग्रन्थों की विचार-प्रणाली के साम्य बुद्ध-मन्तव्य का तुलनात्मक विवेचन करते समय हम इस विषय पर काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं अतः यहाँ विस्तार न करेंगे। केवल इतना ही कहना इष्ट है कि बुद्ध-मत की-सी नैतिक मार्मिकता पूर्ण-मीमांसा दर्शन में उपकलित नहीं होती और चूँकि इस शास्त्र का एकमात्र विषय ही उस बौद्ध का निरूपण करना है जिसकी प्रतिबिम्बास्वरूप ब्रह्मदेव का आबिर्भाव हुआ था अतः इन दर्शनों की परम्पराओं में यदि सदा वा-विवाद होते रहे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अब दोनों दर्शनों के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों का कुछ विचार कर इस विचरण को हम समाप्त करें। जैमिनि और धावर ने मोक्ष की आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि स्वर्ग ही उनके सामने सर्वोच्च आराधना और 'यामादिजगत् स्वर्गजनकः सद्वचन पुनर्विधेयः'^२ अपूर्व ही था उनका सर्वोत्तम आराधनम्। किन्तु बाद के मीमांसकों ने उसके स्वरूप पर विचार किया है। फिर भी जैसे अन्य दर्शनो में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति अपर निःशेष और पर निःशेष तथा बौद्ध दर्शन में इन्हीं के अनुरूप निर्वाण

(१) एक वेदान्ती के रूप में कुमारिक के स्वरूप की समझने के लिए देखिए सर्व सिद्धान्त सार तपह ।

(२) मौनार्थ की अपूर्व की परिभाषा, देखिए उनका न्यायकोश ।

और परिनिर्वाण की भावनाएँ पाई जाती हैं। वैसे कोई बात मीमांसा दर्शन में उपलब्ध नहीं होती। यह उसकी एक विशेषता है। प्रजापति के मतानुसार वेद का जब आत्यन्तिक उच्छेद हो जाय और धर्म और धर्मों का निर्वेध परिहाय हो जाय तब वह मोक्ष होता है^१। यम यम ब्रह्मचर्य आदि से युक्त आत्मज्ञान से साधना करने पर सारीरिक जीवन से मुक्ति मिल जाती है। कुमारिक के मतानुसार मोक्ष परम आत्मा की प्राप्ति की अवस्था मात्र है^२ और कुमारिक का यह भी तात्पर्य है कि मोक्ष तब तक साधन नहीं हो सकता जब तक कि वह निवेद्यात्मक न हो^३। इस विरोधात्मक प्रस्थापन में हम सम्भवतः तपायत के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का स्पष्टीकरण दे सकते हैं। किन्तु ठीक भी कुमारिक मोक्ष को भाव रूप मानते हैं। परन्तु समानता अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती।

इस प्रकार पूर्वमीमांसा दर्शन को बीड़ दर्शन के सम्बन्ध में हमने देखा। दोनों के सर्वोत्तम तत्त्व ही हमने सामने रखे। अनेक बातों में दोनों की विभिन्नता पाई बल्कि मैं कहना चाहिए कि दोनों के दृष्टिकोण को ही विपरीत पाया। किन्तु किन बातों में? ज्ञान के उपकरणों और परिणामों में ही, उसके स्वरूप में नहीं। मीमांसा तो अपने बन्धन में बँधे रहने के कारण दृश्य रहते भी कुछ नहीं कह सकती क्योंकि वह 'पूर्व' की ही जो मीमांसा थी। वेमिति बाहर और उपवर्ग इन सब ने इसी परम्परा को रखा। कुमारिक बरकर कुछ-बाहर निकल आए, किन्तु ज्ञान-मार्ग में प्रवेश नहीं कर सके वे भी। उनका भी आत्मवाद बेबास्त कोटि को नहीं पहुँचा। बीड़ आचार्यों ने मीमांसा-

(१) आत्यन्तिकस्तु हेतोः उच्छेदो निर्वेधधर्माधर्मनिबन्धनपरिहायो ।

तत्त्वालोक (शास्त्रिकनाथ कृत) ।

(२) परमात्मप्राप्त्यवस्थानाम् । तथा विस्तार से श्लोकार्थिक में इस प्रकार 'ज्ञानं मोक्षनिमित्तं च पश्यते नेन्द्रियाणि । आत्मा ज्ञातव्य इत्ये तन्मीमांसार्थं न च चोदितम् ॥ तस्मात् कर्मसाधनेन हेत्वामात्रेण मुच्यते । न ह्यधमात्मार्थं मुक्त्वा मोक्षमित्यवधारणम् न च क्रियायाः कस्यचिदवधारणं फलमित्यते । तत्र ज्ञातव्यतत्त्वानां लोपात् पूर्वक्रियाश्रये ॥ उत्तर प्रकथनाभावेनो मोक्षवर्तते पुनः । तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्त्वान् लिप्यते ॥

(३) देखिए श्लोकार्थिक सम्बन्धाधोपपत्तिहार ।

सर्कों के तीव्र प्रत्याख्यान किए और उनके उत्तर में उन्हें वे ही मिले बल्कि सम्भवतः कुमारिक के हाथों तो तीव्रतर । किन्तु उनको यही आश्वासन कम न होना चाहिए कि उनके प्रतिकूल दर्शन का भी उन अप्रतिम ‘नास्तिक्य-निराकरण’ (यह उपपद कुमारिक ने घाबर के लिए प्रयुक्त किया है किन्तु उनके लिए भी यह प्रयुक्त किया जा सकता है ।) आचार्य के द्वारा ‘उपनिषत्प्रबल’ मानकर अपने ढंग से महत्व स्वीकार किया गया और उसी प्रकार मीमांसकों को भी बौद्ध आचार्यों का कुछ कम इतना न होना चाहिए जिनके सत आगाह करने के फल स्वल्प ही वे सम्भवतः यज्ञादि की फल-प्राप्ति के विमोह से अपने मन को हटाकर उसे निष्काम यज्ञ में जोड़ने वाले हुए । दोनों ने एक दूसरे का विरोध कर एक दूसरे को बान ही दिया है, जिससे दोनों का ही कल्याण और दोनों का ही मार्ग प्रशस्त हुआ है ।

ऐ-बौद्ध दर्शन और वेदान्त

‘वेदान्त’ शब्द से तात्पर्य भारतीय दर्शन में अपने पारिभाषिक अर्थों में उपनिषदों और उनके उपकारी घाटीरक सूत्र आदि शास्त्रों से है^१ । उपनिषदें प्राचीनतम वेदान्त-ग्रन्थ हैं । वे ज्ञान के चरम निष्कर्ष हैं जिन्हें ऋषीमुपासक भारतीय मनीषा ने प्राप्त किया है । उपनिषदों के दर्शन का विवादास्पद विभिन्न ऋषियों ने किया था यह हम पहले देख चुके हैं । अतः उनके प्रज्ञानों में जहाँ-तहाँ विभिन्नता भी है । सृष्टि-जन्म-विनाश को लेकर मारी मतभेद उपनिषदों के ऋषियों में था । उपनिषदों के दर्शन को एक समन्वित रूप देने का प्रयत्न सर्व प्रथम ब्रह्मसूत्र में किया गया । ब्रह्मसूत्र का ही मुख्य नाम घाटीरक-सूत्र या वेदान्त-सूत्र भी है । ‘घाटीरक’ शब्द का अर्थ है घाटीर में रहने वाले जीव का विवेचन करने वाला शास्त्र । घाटीर में उत्पन्न अर्थात् जीव । ‘घाटीरमेव घाटीरकम् । घाटीरके अर्थ घाटीरक-जीव’ । इस प्रकार ब्रह्मसूत्र जीव-शास्त्र या आत्म शास्त्र है । जीव को भी प्रायः वेदान्त-ग्रन्थ माना जाता है क्योंकि वह स्वयं उपनिषदों की यादों से उत्पन्न हुआ हुआ हुआ अमृत ही है । उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और जीव वेदान्त के ‘प्रत्यानवयव’ अर्थात् तीन प्रत्यानव कहलाते हैं । उपनिषदों और जीव वेदान्त के बीच बौद्ध दर्शन का सम्बन्ध-विवेचन हम पहले कर चुके हैं । यहाँ ब्रह्मसूत्र और

(१) वेदान्तो नामोपनिषत्प्रबलं तदुपकारीणि घाटीरकसूत्रादीनि च ।
वेदान्त-सार ।

उस पर आधारित बेदान्त-दर्शन की विकास-परम्परा को लेकर कड़ कहा दृष्ट होना ।

बेदान्त दर्शन भारतीय विचार की सर्वोत्तम उपज है । उसे हम भारत का प्रतिनिधि राष्ट्रीय दर्शन कह सकते हैं, जब कि भारतीय दर्शन के अन्तर्देशीय या विश्ववर्गीय स्वरूप की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति बीड दर्शन में ही हुई है । औपनिषद ज्ञान एक है किन्तु उस एकता में अनेकता की उपलब्धि होती है । यही कारण है कि बिना ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों के मन्तव्य के एकीकरण का प्रयत्न किया गया स्वयं उनकी अलग-अलग पाँच व्याख्याएँ कालान्तर में की गईं जो विभिन्न बेदान्त-सम्प्रदायों के रूप में बाद में विकसित हो गईं ।

महर्षि बाहरदवाज ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की । डा बासुमुख के मतानुसार ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल इसकी पूर्व द्वितीय शताब्दी है^१ । अन्य विद्वानों ने दूसरे मत भी प्रकट किये हैं^२ । इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मसूत्रों का प्रयत्न बुद्ध-काल के राष्ट्रीय विकास पर एक दिग्विगम दृष्टि

उत्तराज आचार्य रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (श्रीभाष्य) में किया है । ब्रह्मसूत्रों के उपलब्ध भाष्यों में सबसे प्राचीन आचार्य शंकर का है जिसकी रचना आठवीं शताब्दी में हुई । इस भाष्य के ऊपर एक विस्तृत उपकारी साहित्य बार की शताब्दियों में लिखा गया । शंकर और उनके अनुयायियों के द्वारा बेदान्त के निर्विशेषाद्वैत स्वरूप का समर्थन किया गया । यही शंकर का मत था । रामानुजाचार्य ने प्यारुवरी शताब्दी में ब्रह्मसूत्रों पर अपने प्रसिद्ध 'श्रीभाष्य' की रचना की । उनका मत निर्विशेषाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है । रामानुज के मत की पुष्टि में भी प्रभूत साहित्य लिखा गया । आचार्य निम्बार्क ने भी प्यारुवरी शताब्दी में ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा । उनका मत द्वैताद्वैत या वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है । आनन्दलील ने तेरुवरी शताब्दी में ब्रह्मसूत्रों पर अपना भाष्य लिखा जिसमें ब्रह्मसूत्रों की द्वैतमयी व्याख्या की गई थी । यह भाष्य ही भाष्य सम्प्रदाय का आधार है । आचार्य वस्तुन ने पन्द्रहवीं शताब्दी में

(१) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, जिस्ब दूसरी पृष्ठ ४१८

(२) वैदिके राधाकृष्णन् इण्डियन फिलॉसफी जिस्ब दूसरी पृष्ठ ४१९

अपने बुझाईत मत की पुष्टि करते हुए ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा। इस प्रकार पाँच प्रकार की विभिन्न व्याख्याएँ ब्रह्मसूत्रों की हुई। संकर के ब्रह्मवा सेव चार सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय कहलाते हैं जब कि संकर को हम शैव कह सकते हैं या सब से ज़ीत केवल भईतवादी भी। यह ध्यान रखने की बात है कि वे पाँचों आचार्य दक्षिण के ही निवासी थे। आचार्य संकर मलबार के रामानुज तमिळ के निम्बार्क तेलगू प्रदेश के और आनन्दतीर्थ और बल्लभ क्रमच कर्नाटक और तेलगू प्रदेश के।

ब्रह्मसूत्रों और वेदान्त के उपर्युक्त पाँच सम्प्रदायों के मध्य में कुछ उप-निषद्-उपकारी ग्रन्थ साहित्य भी है जो अपनी महत्ता और प्रभावशीलता के कारण वेदान्त की ही कोटि में आता है। इसमें प्रथम ग्रन्थ तो है योग बासिष्ठ जो हमारे देश में साबको को अत्यन्त प्रिय है और जिसकी-सी छर कता और निर्मात्र वेदान्त-वैद्यना जन्यन मिलनी दुर्लभ है। दूसरा ग्रन्थ जो इसी दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वह है महामनीषी आचार्य योङ्गाक की अद्वितीय शार्ङ्गिक और काव्यमय कृति 'माण्डूक्य कारिका' या 'ब्राह्मसूत्र'। इनके बाद ही वेदान्त का पंचमुखी विकास प्रारम्भ होता है। अतः अपने विवेचन में हम पहले ब्रह्मसूत्रों को छोड़ कर योग बासिष्ठ को और तदन्तर आचार्य योङ्गाक और उनकी माण्डूक्य कारिका को केकर क्रमच वेदान्त के पंचमुखी विकास पर आँगे। पहले हम ब्रह्मसूत्रों को लेते हैं।

हम पहले कह चके हैं कि ब्रह्मसूत्रों की पाँच विभिन्न व्याख्याएँ ब्रह्मन्त के आचार्यों ने की हैं। हम इनके सहारे ही ब्रह्मसूत्रों के मन्तव्यों को जानने का प्रयत्न करते हैं। इनसे व्यतिरिक्त स्वयं बाहरायन का मत क्या था यदि वह हम जानने की कोश करें, तो पाप्यों का सहाय छोड़ देना ही पड़ेगा। उस हालत में महर्षि बाहरायन के मन्तव्य का पता लगाना हमारे लिये बड़ा कठिन हो जायगा यद्यपि वह अत्यन्त आवश्यक होना। सेक्सपियर के सम्बन्ध में हमने अंग्रेजी समालोचकों को अस्तर रहने सुना है 'हम पृष्ठते-ही-मुछने रह पाते हैं किन्तु तुम स्मित करते हो और खुद रह जात हो ज्ञान का अतिश्रम करते हुए'। महर्षि बाहरायन के सम्बन्ध में यह बात सेक्सपियर से भी अधिक ठीक है। दो-दो बार बार अक्षरों के सूत्र-समूह से क्या अर्थ निकालें ? फिर भी प्रयत्न करना मानवीय बुद्धि का काम है।

(1) *We ask and ask, thou smilest and art still out topping Knowledge !*

‘ब्रह्मसूत्र’ ‘वेदान्त सूत्र’ वषषा ‘शारीरक सूत्र’ ‘ब्रह्म’ वषषा ‘शरीर’ को मुख्य विष्ठा को केकर प्रवृत्त होता है, बैसा कि उसके प्रथम सूत्र ‘ब्रह्मो ब्रह्मविज्ञासा’ (जब आने ब्रह्म की विज्ञासा) से ब्रह्मसूत्र दर्शन कीर स्पष्ट विवित है । ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय है । बौद्ध दर्शन से प्रथम अध्याय ब्रह्म के स्वल्प एवं बीर और बरर उसकी तुलना के साथ उसके सम्बन्ध का निरूपण करता है

द्वितीय अध्याय में इसी स्थिति का स्पष्टीकरण एवं इसके विरुद्ध मतों का प्रत्याख्यान है । तृतीय अध्याय में साधनतन्त्राति का वर्णन है और चतुर्थ अध्याय में ब्रह्मविद्या के फल का वर्णन है । इसीकिर इनका नामकरण भी क्रमशः समन्वयाध्याय अविरोधाध्याय साधनाध्याय और फलाध्याय है । यही इस चतुर्धाध्यायी शारीरक मीमांसा की संक्षिप्त विषय-सूची है । सब वेदान्त-शास्त्रों का ब्रह्म में ही तात्पर्य है यह तो ब्रह्म सूत्रकार ने मही प्रकार दिखाया है किन्तु उस ब्रह्म का स्वल्प स्वा है इसके विषय में उन्होंने कुछ स्पष्ट उत्तर मनुष्यों को सम्प्रवत नहीं दिया । यहि वाचरायण वेद को शास्त्र मानते हैं^१ । और शास्त्र को वेते है अत्यन्त ब्रह्म और प्रमाणवता^२ । तर्क के द्वारा परम सत्य मय्य नहीं है^३ वह उनका स्पष्ट विचार है । अतः वेद के विषय में बुद्ध का ब्रह्मसूत्रकार से विपरीत मत है किन्तु तर्क के विषय में प्रायः समान ही मत है । प्रत्यत और अनुमान वषषा यों कहिए कि धृति और स्मृति ये दो प्रमाण वाचरायण को मान्य हैं^४ । निस्सत् अवस्था में तो ब्रह्मसूत्रकार तर्क का उपयोग वाचरायण मानते हैं किन्तु अनिरस्त में शास्त्र ही उनके लिए एक मात्र प्रमाण है^५ । तथापि तो निस्सत् को छोड़ अनिरस्त में गए ही नहीं केवल उसकी एक भङ्ग ही अनुधृति से उन्होंने

(१) अतएव च निरूप्यत्वम् । १।१।२९ मीमांसकों के यह मत समान ही है ।

(२) क्योंकि ब्रह्म की तिष्ठि ही शास्त्र पर अवलम्बित है ‘शास्त्रमनित्वात्’ । १।१।३

(३) तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति विवेकमप्यविमोक्ष प्रतर्कः । १।१।११

(४) धाम्य इति वैप्रातः प्रवचनप्रत्यक्षानुमानाध्याम् । १।१।२८; अपि च संरायने प्रत्यक्षानुमानाध्याम् । १।२।२४; दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने । ४।४।२

(५) धृतेस्तु धाम्यनूनाद्याम् । १।१।२७

मनुष्यों को ही। तर्क को अनुमति से निम्न स्तरों में रखने के बादरायण भी पसपानी हैं। और संराजन ज्ञान-प्रसार और विमल-सत्य होने पर ही सत्य को देखन योग्य दृष्टि मिल सकती है। इसमें तो बादरायण के समान ही तथा पत को भी क्या आपत्ति हो सकती है। बल्कि इस साधन-सम्पत्ति की अधिक विस्तृत व्यापक और तात्त्विक व्याख्या करना तो उनका कार्य ही है। यदि साधन अच्छे हैं तो साध्य भी अच्छा होना ही चाहिए। ब्रह्म को प्रमत् का उत्पत्ति स्थिति और रूप बताना। 'स्वाप्यवात्' ब्रह्म कर उसकी सिद्धि करना प्रमाण से उसे व्यक्तिविकृत और सब गुणों का अभिप्रेत बताना। सर्व सत्य विगुह्यत्व आदि गुणों का उसमें होना बताना। प्रमत् का प्राप्त। आत्मा का प्रकाश और मनुष्य की हृदय रूप गहरा में उसे रखने वाला ठहराना। और इन सब से ऊपर उसमें निष्ठा के द्वारा ही मोक्ष का उपदेश करना। ये सब बातें बादरायण की ज्ञान-परिभाषा की लूक है किन्तु उपागत की प्रमा-वारमिता इनसे अनपेक्ष हैं। वह 'कर्म' के रूप में विरह के एक 'अस्तित्व' (ब्रह्मसूत्रकार के शब्द) की ओर संकेत तो करती है किन्तु ब्रह्मसूत्रकार

(१) बुद्धिने तु । १।१।१६ तर्कप्रतिष्ठानाद्यप्यम्यानुनेवमिति चैवेवमप्यविमोक्ष-प्रसंगः । १।१।११

(२) अपि च संरायने प्रायजानुमानाम्याम् । १।२।२४ मिताइये 'ज्ञान प्रतादेन विगुह्यतत्त्व' वापते निष्कर्षे व्याख्यानः । मुद्रक १।१।८ 'कतिच्योऽऽ प्रायमात्मानमैकान्' कठ ४।१

(३) अन्वाद्यस्य यत्नः । १।१।१२

(४) १।१।९

(५) सर्वप्रतीपपत्तेरथ । १।१।१७

(६) सर्वत्र प्रतिद्वीपदेयान् । १।२।११ विवक्षितगुणीपपत्तेरथ । १।२।२ सर्वविता च तदुपेयान् । १।१।१३

(७) अतएव प्रायः । १।१।२३; मिताइये 'प्रायस्य प्रायः' । बृहदारण्यक ४।४।१८

(८) अपोनिश्चरमाविधानान् । १।१।२४

(९) अर्धद्वीकस्तथातदुपदेयान् नति चेन्न निवाप्यादादिं प्योवकम् । १।१।७; मिताइये एव न आत्मानाहृदये । उच्यते

(१०) निष्ठास्य प्रतीपदेयान् । १।१।१७

(११) अस्तित्वप्रतीपदेयान् । १।१।९

की ही तरह उसका प्रस्थापन नहीं करती। कारण कि वह 'उपघान्तोपमाया' की ओर ही अधिक प्रवृत्त होती है। ब्रह्म को छोड़ कर ब्रह्म-मार्ग पर ही अधिक निबद्ध दृष्टि होती है। इस 'मार्ग' (मग्ग) में ही निपट्य करने से उसके महां मोक्ष के उपदेश का विधान है। 'तन्निपट्यस्य मोक्षोपदेशात्'। इसी प्रकार जगदानु सूत्रकार का जीव ब्रह्म और जगत् पर विचार करना। कारणवत् की समस्या को सुझाना आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण करना आदि बातें ऐसी हैं जिनके प्रतिकूल सिद्धान्त हमें उत्तरकाशीन बौद्ध मतानों की परम्परा में जिन्होंने नैरात्म्यवाद अपिक्वाव आदि सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया बहुत मिल सकते हैं। किन्तु सम्यक सम्बुद्ध इन सब बातों और प्रतिपादितों से परे थे। ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान दोनों ही कारण माना है^(१)। कारण और कार्य के मूल विभिन्न हुवा करे, किन्तु वे दोनों एक ही चीज होते हैं, ऐसा भी उन्होंने कहा है^(२)। ब्रह्म और जगत् को उन्होंने मनस्य और अमिन्न ही माना है। जैसे मिट्टी के बर्तन से मिट्टी को^(३)। मायावाद को कदाचित् उन्होंने नहीं माना है^(४)। उन्होंने माना है कि ब्रह्म अपनी ही श्रद्धा के लिए जगत् के रूप में प्रवेश कर जाता है और उसमें कोई विचार नहीं आता^(५)। इस प्रकार जीव जगत् और ब्रह्म के विषय को लेकर बहुत कुछ कहा है और इस दृष्टि से उत्तरकाशीन बौद्ध विचार में जो कुछ भी उनकी अपनी स्थिति के प्रतिकूल आया है उस सबका भ्रमोत्थान उन्होंने स्वयं दूसरे अध्याय के दूसरे पाद में कर दिया है जिस पर विचार इस समय न कर पाकर दर्शन पर विचार करते समय आगे करेंगे। हाँ एक बात कहना और जरूरी है। मीनि-तत्त्व ब्रह्मसूत्रकार ने स्पष्ट रूप में उपनिषदों का ही माना है^(६)। अतः जो बात बुद्ध के दर्शन की औपनिषद दर्शन के साथ तुलना करते समय हम यह बूके हैं वह पहा भी ठीक है। 'अपगूहाधिकरण' में सूत्रों के लिए कुछ भी आशयन

(१) १।१।२३ २७

(२) इन्द्रिय १।१।२४ २

(३) इन्द्रिय १।१।२४; १।१।२९

(४) आयाजार्थ तु कात्म्यमाननिष्पन्नतत्त्वपरत्वात् । १।२।३

(५) मितादये २।१।३३; १।१।२६; २।१।२७

(६) वैमिष्ट २।३।४०-४२

(७) १।३।३४ ३८

मगवान् बाहरायन ने नहीं दिया है यह उनके गौरव में एक बड़ी हानि माने जाती बात है। वेदान्त-दर्शन की सारी महत्ता यहाँ घटायी हो जाती है और बहरायन हुआ आधुनिक विद्यार्थी सोचने लगता है कि अन्ततः वेदान्त का यह सब ज्ञान-विवेचन क्या बौद्धिक ही है? सूत्र के सम्बन्ध में बाहरायन की स्थिति की जो व्याख्या हम यहाँ से रहे हैं वह यथ्य नहीं है यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रसंग में शंकर और रामानुज जैसे विरोधी आचार्य भी जैसे एक दूसरे से सूत्र का अपकाप करने में प्रतिस्पर्धा-ही करते हैं। सूत्र की मूल का अधिकार नहीं है वह संस्कार के योग्य नहीं है वह पक्का उसका बन्धित है इन बातों में बाहरायन शंकर और रामानुज में कोई अन्तर नहीं है। यही हमें मगवान् बुद्ध की 'आनुवर्णी बुद्धि' के वास्तविक महत्त्व का ध्यान होने लगता है 'अस्सत्तायन सुत्तन्त' की हमें याद आने लगती है जहाँ मगवान् ने सूत्र के अधिकार का घोषणापत्र तैयार किया था। यही हम सबसे अधिक अनुभूति कर सकते हैं कि भारतीय समाज के लिए छठी शताब्दी ईसवी पूर्व मगवान् बुद्ध ने क्या दिया था और उसका क्या महत्त्व था। समवर्णायनयन बुद्ध के केवल एक शब्द पर इन लोकोक्त अनेकवादियों के सम्पूर्ण बह्यमूक्य और भाव्य धोखावर है। वैराग्य की महिमा मगवान् मूलकार ने स्वीकार की है^१ और धर्म और ज्ञान को मिलाने का भी प्रस्ताव किया है^२। मनुष्य की निर्बलता को स्वीकार कर प्रतीक उपासना का भी निर्बंध किया है^३ और निर्बंध किया है देवों की पूजा का भी चाहे वे ब्रह्म के अधीन ही क्यों न हों^४ ? किन्तु विशेष बार तो मूलकार मगवान् ने सत्यपन पर ही दिया है जिससे वे अल्पजन्म ब्रह्म की भी अनुभूति सम्भव मानते हैं^५। फिर एक बात यह है कि बाहरायन जीवन्मक्ति में भी विश्वास करने हैं और इस प्रकार जीते जी निर्वाण के विचार से यहाँ कुछ साक्ष्य दिखाई पड़ता है किन्तु जब कि बुद्ध उसकी वैधिका स्थिति पर जोर देकर ही ऐसा उपदेश देते हैं जीवन में उसका आचरण देखना चाहते हैं बाहरायन ने केवल बौद्धिक दृष्टिकोण से ही विचार किया है^६। मनुष्य-मनुष्य में भेद

(१) ३।४।९

(२) ३।४।३२ ३५

(३) ४।१।४

(४) ३।१।३८ ४१

(५) ३।२।२३ २४

(६) तदपिपम उत्तरपूर्वायनयोःतेष्विनासी तदप्यवेदान् ४।१।१३। इतरायन-

देखने से जो विरत नहीं। ज्ञान पर जो द्विजातियों के एकाधिकार को बलगत है। बुद्ध के प्रति जिसकी निश्चयतः वृत्ता-बुद्धि है, वह जीवन्मुक्ति का क्या अनुभव करेगा कल सनत्त में नहीं आता ! साधन और साध्य की मोक्ष और उसके मार्ग की सैरी संमति बौद्ध दर्शन में है। मध्ये की सैरी निष्ठा—समाज को धिक्कारों को व्याप्त करने वाली निष्ठा—उन सम्प्रदाय 'वेदान्त' (वेदान्त) के वर्ग में है। उसकी सहाय भी ब्रह्मसूत्रों में नहीं मिलती और इसका प्रभाव है 'अपसृष्टाधिकरण'। अब हम योगवासिष्ठ के साथ बौद्ध दर्शन की कुछ तुलना करेंगे।

बौद्ध दर्शन और योगवासिष्ठ

योगवासिष्ठ को हम साधनात्मक वेदान्त का ग्रन्थ कह सकते हैं। मुमुक्षुओं के विचार के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है और उनमें लोकप्रिय भी है। राम और विवेक का तो इस ग्रन्थ को निधान ही कहना चाहिये। भित्त को धान्ति से मर देना जो ब्रह्मनिष्ठ का कसब है। इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। जीवन्मुक्ति की अनुभूतियों से यह महाग्रन्थ स्पष्टित है। योग-वासिष्ठ में वासिष्ठ मुनि ने राम के प्रति योग-वेदान्त का उपदेश दिया है। जो ज्ञान योग-वासिष्ठ में निहित है उसकी परम्परा बड़ी अत्यन्त प्राचीन बताई गई है। वासिष्ठ मुनि ने कहा है कि वह ज्ञान उन्हें ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था। 'इहमुक्तं पुनरुक्तं ब्रह्मणा परमेष्ठिना'। वासिष्ठ द्वारा राम को दिये गये इस उपदेश का महर्षि बास्मीकि ने योग-वासिष्ठ के रूप में ग्रन्थ-बद्ध किया है, ऐसी प्राचीन मान्यता है। परन्तु आज बिना रूप में योग-वासिष्ठ हमें मिलता है वह महर्षि बास्मीकि की रचना नहीं माना जा सकता। योग वासिष्ठ का प्रचलन-काल ज्येष्ठाष्टक काही अर्थात् प्राचीन है। परन्तु योग वासिष्ठ का रचयिता बाहे जो पदा हो और कुछ भी उसका काल हो वह जीवन्मुक्त अखिल-ज्ञान-दर्शी महापुरुष अवश्य वा इसमें सम्मेल नहीं।

बौद्ध दर्शन के साथ योगवासिष्ठ-दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा करने से पूर्व हमारे लिये योग वासिष्ठ के युग को जान लेना आवश्यक है। उसकी कुछ

प्येनर्तस्त्रोत्रः पठते तु । ४।१।१४ अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वं तदवधे ।

४।१।१५। भोवेन स्थिते लब्धवित्त्वा सम्पद्यते । ४।१।१६

(१) योगवासिष्ठ २।१।१५। मिलाइये वहाँ 'पूर्वमुक्तं भगवता यस्यार्थं पद्यजन्मनः । अतिरिक्त कथयाम्यहम् । २।३।१

अव्यति प्राप्त कर देने पर हम उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को अच्छी तरह देख सकेंगे जो बौद्ध धर्म और दर्शन ने योग-वासिष्ठ की रचना-व्यवृत्ति के लिये प्रस्तुत की है और जिसका प्रधान बेदांत दर्शन के विकास पर भी काफी पड़ा है। योग-वासिष्ठ के निर्वाण-अकरण में बीता के २७१ श्लोक उद्धृत हैं^१। इससे स्पष्ट है कि योग-वासिष्ठ बीता के बाद की रचना है। परन्तु इससे उसकी अर्वाचीनता का हमें कोई ठीक बोध नहीं होता। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने योग-वासिष्ठ के रचना-काल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। डा. अर्चुहर के मतानुसार योग-वासिष्ठ की रचना छेहवीं और नौहवीं शताब्दियों में हुई^२। बिन्टफिल्ट के मतानुसार योग-वासिष्ठ संकराचार्य की समकालीन रचना है अर्थात् उसका प्रणयन बाठवीं शताब्दी के अन्त या नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ जो प्रायः संकराचार्य का समय माना जाता है^३। एक अन्य विद्वान् (प्रो. चिन्मयप्रसाद बट्टाचार्य) ने इसी शताब्दी के केकर बाद छवीं शताब्दी तक का समय योग-वासिष्ठ का रचना-काल माना है^४। डा. सुरेशनाथ दासगुप्त ने साठवीं या बाठवीं शताब्दी में योग-वासिष्ठ की रचना सम्भव मानी है^५। योग-वासिष्ठ के रचना-काल की समस्या का पूर्ण समाधान हमें डा. भीष्मनारायण जी आशेय के इस सम्बन्धी अध्ययन में मिलता है, जिसे प्रायः सभी आधुनिक पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों ने स्वीकार भी कर दिया है। योग-वासिष्ठ-दर्शन का सर्वप्रथम व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करने का श्रेय डा. आशेय जी को ही है और जिस ऐतिहासिक सन्तुलन तथा निष्पत्ति समीक्षात्मक पद्धति से उन्होंने इसके प्रणयन-काल की समस्या को सृष्टमय्या है उसे हम सर्वाधिक में प्रामाणिक मान सकते हैं। डा. आशेय जी के मतानुसार योग-वासिष्ठ का रचना-काल कालिदास से पीछे और भर्तृहरि

-
- (१) शिखिये डा. भीष्मनारायण आशेय: योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ १७-१९
 - (२) एन. आर्जुन लाहल जीव सि. रिज्जीवत लिब्रेरीयर ऑन इण्डिया, पृष्ठ २९८
 - (३) हिस्ट्री ऑन इण्डियन लिब्रेरीयर, लिबर पहली, पृष्ठ ४४३-४४४। भीष्मनारायण आशेय: योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३३ में उद्धृत।
 - (४) शिखिये डा. भीष्मनारायण आशेय: योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३३
 - (५) इण्डियन आइडियलिज्म, पृष्ठ १५४

से पहले का है^१। 'मिचवूत' की कथा का संक्षिप्त विवरण योग-वासिष्ठ में है और वहीं-वहीं महाकवि के शब्दों का भी अनुवर्तन किया गया है^२। मर्तुहरि के 'वास्य पबीय' और 'बैराम्य-शतक' के अनेक श्लोकों के साथ योग-वासिष्ठ के समानार्थक श्लोकों का तुलनात्मक अध्ययन कर डा. आशेष जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योग-वासिष्ठ मर्तुहरि के उपर्युक्त शब्दों से पूर्वकालीन रचना है^३। मर्तुहरि का समय प्रायः सातवीं शताब्दी ईसवी का मध्य-भाग माना जाता है। अब यह निश्चित है कि सातवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व योग-वासिष्ठ अवश्य विद्यमान रहा होगा। सातवीं शताब्दी से पूर्व योग-वासिष्ठ की स्थिति स्वीकार कर लेने पर हमारे लिये यह मानना अवश्यम्भावी हो जाता है कि योग-वासिष्ठ संकर और गौड़पाद से पूर्व काल की रचना है। विशेषतः विवेक चूडामणि और माण्डूक्य कारिका के साथ योग-वासिष्ठ का तुलनात्मक अध्ययन कर और इन शब्दों से भाषा और भाव में समान अनेक श्लोकों का उद्धरण कर डा. आशेष जी ने विद्वत्तापूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योग-वासिष्ठ में प्रतिपादित जड़ित बेबान्त संकर और गौड़पाद से पूर्वकालीन है और इन दोनों आचार्यों ने योग-वासिष्ठ के विचारों को मौलिक परम्परा द्वारा प्राप्त किया था^४। इसका अर्थ यह है कि उपनिषदों के बाद जड़ित बेबान्त वा सर्वप्रथम निरूपण होने योग-वासिष्ठ में मिलता है, जिसका अनुसरण कुछ भाषा में आचार्य गौड़पाद और उनके शिष्य के शिष्य आचार्य संकर ने भी किया है। कुछ उत्तरकालीन उपनिषदों से भी योग-वासिष्ठ पूर्वकालीन है। योग-वासिष्ठ के अनेक श्लोक महोपनिषद् मुक्तिफोपनिषद् और मैत्रेय्युपनिषद् आदि उपनिषदों में पाये जाते हैं और डा. आशेष जी के मतानुसार ये श्लोक मूलतः योग-वासिष्ठ के हैं और इनका अलग-अलग संकलन कर उपनिषदों के रूप में अन्तर्भुक्त कर दिया गया है^५। इस सब विवेचन में हमारे लिये जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि योग-वासिष्ठ गौड़पाद संकर और मर्तुहरि से पूर्व की रचना है और पूर्वकालीन उपनिषदों के बाद जड़ितवाद का

(१) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३४

(२) उद्धरणों के लिये देखिये 'योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त' पृष्ठ ३९

(३) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३५-३७

(४) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त पृष्ठ १४-२२

(५) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ४५-५९

सर्व प्रथम ग्रन्थ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर जब हम बौद्ध वर्चन के साथ उसके ऐतिहासिक सम्बन्ध की विवेचना करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार पूर्व-संस्कारयुक्त से बहूत वंशान्तियों में बौद्ध वर्चन के साथ बहूत तत्व की एकता स्थापित करने की वैष्ट्य काम करती बनी या रही थी और किस प्रकार योग-साधना के आत्ममग्न के रूप में बुद्ध के समान ऐतिहासिक व्यक्तित्व का धर्माव उन्हें बटकर रहा या जिसकी पूर्ति उन्होंने पहले राम और कृष्ण को समझा बिष्णु के अवतार के रूप में लाकर की परन्तु उससे पूरा काम चलता न देख कर उन्होंने राम के एक दूसरे रूप की स्थापना योग-वासिष्ठ में की जो मनुष्यों के किये अधिक अनुकूल थी बिध पर हम अभी विचार करेंगे।

योग-वासिष्ठ का प्रथम अध्याय वैराग्य-प्रकरण है। उसमें राम के वैराग्य का वर्णन किया गया है जबकि वे सँसृज और यौवन की वयसन्धि में थे। तब राम का यह संसृज गौतम अर्जुन के विवाह का-सा नहीं है। यद्यपि अर्जुन के भी गान डीठे पड़ गये थे उससे शरीर में भी कंपकंपी थी याध्वीक हाव से बिध पड़ता था लड़ा भी उससे नहीं हुआ जाता था और वह सिधायन लाकर जीवन-यापन करना अपने किये अधिक योग्यकर समझने लगा था परन्तु राम के वैराग्य की रेखाएँ इनसे अधिक गहरे रंगों से अंकित हैं। योग-वासिष्ठ के ‘वैराग्य-प्रकरण’ को हम आसानी से वैराग्य का महाकाव्य कह सकते हैं। सीता के ‘अर्जुन-विवाह-योग’ की अपेक्षा उसका विषय अधिक गम्भीर और पार्थक्य है। राम को जीवन में कुछ सार दिखाई नहीं पड़ता। उसकी अनिश्चयता का चिन्तित करते-करते वे सांसारिक कामों में अपनी सारी शक्ति खो बैठते हैं। उन्हें सब कुछ बल्लता-सा दिखाई पड़ता है। राज्य का सम्पूर्ण वैभव भी उन्हें लुप्त नहीं कर सकता। उनके सेवकों ने उनकी वैराग्य-रक्षा का वर्णन इन शब्दों में राजा दशरथ के पास लाकर किया था “राजन् ! कुमार रामचन्द्र की रक्षा अत्यन्त ही शोचनीय होती जा रही है। हमारी समझ में नहीं आता कि उन्हें क्या हो गया है ? बहुत बार माद बिलाने पर वे अपने निरम्र कर्मों के करने में प्रवृत्त होते हैं और उनको किसी प्रकार का उत्साह नहीं है। सब ही बिध बदल रहते हैं। स्नान ईशार्चन शान भोजन आदि कमी करते हैं कमी नहीं करते। जरा-जरा-सी बातों पर उनकी क्रोध जा जाता है क्योंकि वो कुछ भी उन्हें करना पड़ता है, वे यस से नहीं करते। कोई भूयस उनको पसन्द नहीं आता। वो पशुधियाँ उनको प्रसन्न करने

के लिये उनके पास छोड़ी गई हैं, उनसे उनको बहुत ही मुखा होती है। जितने सुन्दर, स्वादु और मनोहर पदार्थ हैं उनको देखकर वे नाक बढ़ा केते हैं। सदा ही मीन रहते हैं। एकान्त पसन्द करते हैं। यदि कभी हम उन्हें बोझते सुनते हैं तो ऐसे शब्द हमारे कानों में पड़ते हैं—‘सम्पत्ति से क्या? विपत्ति से क्या? मर-मार से क्या? राज-रंज से क्या? सब कुछ व्यर्थ है। किसी वस्तु से परम सुख नहीं मिलता। हम नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं किन्तु नीच का ध्यान करते हैं। हम केवल यही जानते हैं कि वे प्रति दिन कुछ होते जा रहे हैं पीछे पड़ते जा रहे हैं। उनकी हास्य को देखकर उनके बीर धाई भी झुकी रहते हैं। माताओं को भी बड़ी चिन्ता लगी रही है। राजन्! हम नहीं जानते कि उनके लिये क्या किया बाम। इसलिये आपको सूचना देने हम आये हैं। पसरव ने जब राम को बुलाया तो उन्होंने वसिष्ठ और विश्वामित्र के सामने अपने मन की कथा इन शब्दों में सुनाई, “ज्यों-ज्यों मेरी वृद्धावस्था बढ़ती जाती जा रही है मेरे मन में यह विचार बृद्ध होता जा रहा है कि संसार में कोई भी सार वस्तु नहीं है। जगत् में मुझे कुछ भी वास्ता नहीं रही। मेरी समझ में नहीं आता कि राज्य करने से लोगों के पीछे बढ़ने से कर्मों का उपार्जन करने से सुन्दर स्त्रियों के संग से मनुष्य को कैसे सुख की प्राप्ति हो सकती है? रात-दिन मैं देखता हूँ कि जिनको वे सब वस्तुएँ प्राप्त हैं वे भी महा दुःखी हैं। संसार के भोगों से सुख की वाछा करता हूँ मैं मृत्युम्ना है। इन्द्रियों के भोग विषवारी सर्प के फल के समान दुःख-दायी हैं। मनुष्य को इस जीवन में कभी और कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवन के पीछे क्या होता है हम नहीं जानते। हम कहा से आते हैं, कहा जाते हैं कुछ माकूम नहीं है। वह संसार क्या है क्यों है और इसका अन्त क्या है हम कुछ नहीं जानते। मुझे तो संसार में किसी वस्तु की वाछा नहीं है। मैंने इस जीवन से प्रेम नहीं क्योंकि इसमें मुझे कुछ भी सार विचार नहीं पड़ता। मुझे आप वह मार्ग बताइए जिस पर चलने से मुझे संसार कभी बहरे में न गिरना पड़े। यदि आप मुझे ऐसा कोई उपाय न बतलायेंगे तो मैं स्वयं अपने आप ही लीज कर किसी उपाय को ढूँढ़ूंगा। और यदि मैं अपने निज के प्रयत्न से भी संसार से पार न हो सका और परमपद और सत्य की प्राप्ति न कर सका तो मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अन्न और जल का त्याग कर, एक स्थान पर बैठ कर, चिन्तन करते-करते इस शरीर का त्याग कर दूंगा। राम की इस कथा को श्रोतृका का वर्णन ‘वैराग्य-प्रकरण’ में आत्मन्त

सांमिक ढंग से किया गया है जो मनुष्यों के लिये पठनीय है। डा. वाब्रैम जी का कहना है कि जीवन की असरता का इतना भावपूर्ण वर्णन जर्मन उत्पन्न धर्मनिरास के लेखों के बतिरिक्त सायब ही कहाँ अन्यत्र मिले ? इन जानते हैं कि धर्मनिरास बीड वर्धन से अत्यन्त प्रभावित थे और वही प्रथम यूरोपीय विचारक थे जिन्होंने बीड वर्म और वर्धन को यूरोप में लोकप्रिय बनाया। यहाँ यह बताया अप्रासंगिक न होगा कि महामति धर्मनिरास सदा अपने पास एक बूढ़-भूति ध्यान के लिये रखते थे जो लिखते समय प्रायः उनकी दृष्टि के सामने ही रहती थी। अतः धर्मनिरास के लेखों में जो विरागमय प्रभाव है उसे हम समझ सकते हैं परन्तु यहाँ तो हमें यह जानकर भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि इस छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी के 'योग-वासिष्ठ' के राम-विराग्य-प्रकरण की प्रेरणा का स्रोत भी प्रायः वही बूढ़-जीवन रहा है जो धर्मनिरास के लेखों का था। यदि राम का वैराग्य एक ऐतिहासिक घटना थी तो योग-वासिष्ठ से पूर्व के किसी ग्रन्थ में उसका वर्णन क्यों नहीं है ? क्या वास्मीकि ने उसका निर्देश किया है ? 'को त्वस्मिन् सम्प्रत लोकं' से प्रारम्भ कर महर्षि वास्मीकि ने राम के दिन मुर्खों की कच्ची सूची दी है उनमें राम के इस विरागी स्वस्व की तो कहीं जग भी नहीं है। वास्मि वास्मीकि की दृष्टि तो योग-वासिष्ठ की तुलना में तो अल्प ही योग-मयान ही नहीं वा सकती है। उत्तर राजवर्ष में जो योग-वासिष्ठ से पूर्व की रचना है राम को सीता के स्वर्ण से मोहान्व होता हुआ दिखाया गया है। 'एतं पड्ठा पुनरावर्तते'। कालिदास के राम भी शूण्य के ही आराधक है। रघुओं के प्रति सामान्यतः वही जाने वाली 'भीमने विपरीविषाम्' वाली बात राम पर भी पूरी तरह लागू होती है। राम-चरित के गायक प्रायः किसी प्राचीन कवि ने राम के उस विरागी रूप को नहीं किया है जिसे योग-वासिष्ठकार ने चित्रित किया है। तो फिर योग-वासिष्ठ को राम का यह रूप कहाँ से मिला ? उसका ऐतिहासिक आधार क्या है ? यह कम आश्चर्यजनक नहीं है कि योगेश्वरी तुलसीदास भी न भी, जिन्होंने राम को अवतार और धर्म मस्थापक माना है वात्स्याय या ज्योष्ठा काण्ड में वही भी राम के उस विरागी रूप से हमारा परिचय नहीं कराया है जो योग-वासिष्ठ में विस्तार से वर्णित है। अतः हमारे लिये यह जानना और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि राम का यह रूप कहाँ से आया है ?

(१) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धांत पृष्ठ ११

राम की वैराग्य-दशा के वर्णन में जो बातें हमें अधिक महत्वपूर्ण लगती हैं उनमें प्रथम तो यह है कि वहाँ यह स्वीकार किया गया है कि बसिष्ठ के द्वारा उपदेश देने और उसके अनुकूल साधना करने से पूर्व राम ज्ञानी थे। यहाँ उनके मानव-रूप की पूर्ण स्वीकृति है। 'राम चरित-मानस' के समान विष्णु की दृष्टि ब्रह्मावस्था की है। यहाँ राम जन्म के अवसर पर ही कौटल्या को अपना विद्वान्-रूप नहीं दिखा देते बल्कि बुद्ध के समान वे पहले विचार करते हैं, व्यथित होते हैं जीवन की समस्या पर विचार करते हैं। फिर एक बड़ी बात जो ऊपर के उद्धरण में दृष्टिगोचर होती है यह है कि राम स्वयं अपने ही आप 'अपने निज के प्रयत्न से' संसार-सागर को पार होने की बात सोचते हैं। अपने निज के प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त करना यह एक ऐसी मौखिक बात है जिसे प्रथम बार विश्व के साधकों में भगवान् बुद्ध ने ही कहा है। 'जो कुछ पुरुष के उद्गम द्वारा पुरुषार्थ द्वारा कर्म है उसे बिना प्राप्त किये मेरा प्रयत्न नहीं रहेगा' ऐसी गम्भीर बाणी सर्व प्रथम भारतीय ज्ञानाकाश में भगवान् बुद्ध ने ही कही थी। यह उनके साधना-मार्ग की एक बड़ी विशेषता है। बुद्ध के जीवन की सब से बड़ी बात ही यह है कि उन्होंने अपने तीव्र प्रयत्नों से सत्य को प्राप्त कर (तीव्र प्रयत्नैरधिगम्य सत्य—बुद्ध चरित) सत्यान्वेषकों को 'आत्मवीथ बनो आत्मशरण बनो' की नीरसमयी बाणी से आश्चस्त किया था। छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी के बेह या बेहान्त परम्परा के ग्रन्थ में जब हम प्रथम बार अपने निज के प्रयत्न से मुक्ति-उपाय ढूँढने का संकल्प सुनते हैं तो हमारा विस्मित हो जाना स्वाभाविक है। यहाँ तो 'यमेवैव ज्ञानते' की ही बात थी 'तत्प्रसादान्' परम शान्ति प्राप्त करने की बात थी यह सई बात कहाँ से आ गई? इस विस्मय का रहस्योद्घाटन योग-वासिष्ठ की साधना-मार्ग पर निरिचत बौद्ध प्रमाण ही है। राम के परम्परागत भोवी रूप की मुमुक्षुओं के लिये अनुपबुद्धता और आकर्षणहीनता देखकर ही यहाँ उसे बुद्ध-जीवन के साधने में डालने का प्रयत्न किया गया है। यह काम प्रायः उसी समय (पुनः-साम्राज्य के पतन के समय) किया गया जब उससे कुछ शताब्दियों पूर्व राम और कृष्ण की उपासक के रूप में प्रतिष्ठित बुद्धदेव के स्थान पर की जा चुकी थी और मुमुक्षुओं के लिये उनकी आकर्षणहीनता दिखाई देने लगी थी। वास्मीकि-रामायण में राम का मौखिक रूप अंकित था उसी की पति-स्वरूप जनना अष्टावक्र-साधक का रूप 'योग-वासिष्ठ' में दिखाया गया और राम के जीवन की आध्यात्मिक व्याख्या प्रायः इसी समय

‘अध्यात्म रामायण’ के रूप में भी की गई। ‘योग-वासिष्ठ’ को ‘महा रामायण’ कहने में लौकिक के ऊपर आध्यात्मिक की प्रतिष्ठित ही ध्वनित है और इसे भी ऐतिहासिक यौवन देने के लिये बाष्पीक के नाम के साथ संयुक्त कर दिया गया है। लोक-मर्यादा और लोक-मयक के लिये राम का बहु मर्यादा-निरासक और ईश्वरविनाशकारी रूप जो रामायण में अंकित है और अध्यात्म साधकों के लिये योग-वासिष्ठ का विरायी रूप इस द्विविध प्रणाली से एक ही रामरूप में लोक-वर्म की स्थापना के साथ-साथ उसे बौद्ध साधना से प्राप्त विरासत से भी संयुक्त करने का प्रयत्न किया गया ऐसा हमारा विनाश अभिप्राय है। राम और बुद्ध में हमें कोई भेद-बुद्धि नहीं है। शाक्यमुनि भी सूर्यवंशी हैं और इक्ष्वाकु उनके पूर्वज हैं। राम हों चाहे बुद्ध हमारे लिये ऐश्वर्याओं की समानता समान ही है। परन्तु योग-वासिष्ठ में तो राम ने बिलकूल तथा गत-रूप ही धारण कर लिया है यदि कश्चिन्मय प्रभु ऐसा न करते तो राम यक्षों को बनायास ही बुद्ध तर्क की फल-प्राप्ति कैसे होती? सनमुख यहाँ किंवा नृत्त बुद्ध शरीर यह वयदेव की बाष्पी अक्षरसः सत्य हो गई है। राम साधकों के लिये भी आकर्षक नरें इसके लिये यह आवश्यक है कि वे अपने वन्य-भाग से छोड़कर विरायी रूप में हमारे सामने आवें। इसी तथ्य की स्वीकृति योगवासिष्ठ में विशेषतः उसके वैराग्य-अकरण में हुई है ऐसा हमारा विनाश अभिप्राय है।

सिद्धान्तों का आकलन करने पर तो योग-वासिष्ठ पर बौद्ध प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट होने लगता है। वैसे ऊपर कहा जा चुका है योग-वासिष्ठ साधनारमक भेदान्त का ग्रन्थ है गौडपाद और शंकर के समान सैद्धांतिक या तर्कालमक पद्धति नहीं है। स्वमत-मदन और परमत-व्यंजन में नहीं रक्षि नहीं बिबाई गई है। अहाँ साधना है बहा मतवाद को—बुद्धिवाद को—कभी प्रभावता नहीं मिक सकती। भगवान् बुद्ध के समान योग-वासिष्ठकार भी भी मान्यता है कि बिबाद में छेपी हुई बद्धि सत्य वा साक्षात्कार नहीं कर सकती। सत्य का साक्षात्कार ध्यात समहित चित्त में ही हो सकता है और उसके लिये बाद-विरोधि आवश्यक है। मुक्त पुरुष बिबाद में नहीं पड़ते। जिसने सत्य को जान लिया है वह दार्शनिक बाद-बिबाद में नहीं पड़ता। भगवान् बुद्ध ने ऐसे पात्रिकों की निन्दा की थी जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर बिबाद करत हैं और कहते हैं कि यही सत्य है—इदमेव सत्त्वति बिबादयन्ति। ऐसे पुरुष अपने ही मठ में घुड़ि मानने हैं दूसरे में नहीं। वे अपने मठ में आसक्त होकर उनी

के मुख गाते हैं। विवाह के इच्छुक ने परियद् में जाकर एक दूसरे को मूर्ख बताते हैं। प्रसंगा के इच्छुक ने अपने को कुछ बारी समझ कर अपने बर्म में आसक्त हो विवाह में पड़ते हैं। परन्तु मुक्त पुरुषों के पास तो विवाह स्त्री बुद्ध के लिये कोई कारण ही हो नहीं रह जाता। ज्ञानी लोक में किसी से विवाह नहीं करता। विभिन्न मतों के कारण मनुष्य विवाह करते हैं और माना सत्त्वों को बताते हैं। परन्तु वस्तुतः तो सब एक ही है। जहाँ जो पारमात्मा और मतवालों को छोड़ता है, वह विवाह में नहीं पड़ता। बुद्धिवाच सम्बन्धी कुछ बुद्ध बच्चों को योग-वासिष्ठकार के बच्चों से मिलाना उचित होगा।

भगवान् ब्रह्म कहते हैं "जो अपनी-अपनी बुद्धि में स्थिर हो विवाह में पड़कर अनेक प्रकार से अपने को कुछ बताने हैं और कहते हैं कि जो इसे जानता है वह धर्म को जानता है और जो इसकी निन्दा करता है वह पुनः ज्ञानी नहीं है।"

"कुछ लोग जिसे सत्य कहते हैं और जो उसे प्रकाश और असत्य बताते हैं। इस प्रकार वे विग्रह में पड़कर विवाह करते हैं। समझ एक ही बात क्यों नहीं बतलाते ?

"जो माना सत्त्वों को क्यों बतलाते हैं ? वे अपने को कुछ कह कर क्यों विवाह करते हैं ?"

"जिसे कारण मनुष्य दूसरे को मूर्ख बनाता है, उसी कारण अपने को कुछ बतलाता है। अपने को कुछ बताने वाला वह उसी कारण दूसरे की भजना करता है।

"बुद्धि यही है दूसरे बर्मों में बुद्धि नहीं है—इस प्रकार वे विवाह करते हैं—

"जो अपनी बुद्धि का बुद्धि प्राप्ति होकर दूसरे को मूर्ख बताता है, दूसरे बर्म को मूर्ख और मूर्ख बताने वाला वह स्वयं ब्रह्म का आह्वान करता है।

योग-वासिष्ठकार ने भी कहा है —"परमार्थ के ज्ञान के कारण भजना विरहित ज्ञान के कारण मनुष्य परस्पर विवाह करते हैं। जिस प्रकार पक्षि अपने ही मार्ग को सर्वोत्तम समझते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने-अपने सिद्धांतों को ही प्रशंसा करते हैं।"

(१) सुत निपात ।

(२) सुत निपात ।

(३) सुत-निपात ।

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भगवान् बुद्ध ने जोर देकर कहा है “सत्य एक ही है दूसरा नहीं जिसके विषय में मनुष्य मनुष्य से विवाद करे” बारम्बार ही अनेक सत्तों का निर्माण करती है। “संसार में नाना और बहुत सत्य हैं ही नहीं। वस्तुतः बारम्बार या मत-बाद ही ककह-मूक है। “किसी धारणा पर स्थित हो वह उसकी पुष्कला कर संसार में विवाद करता है। किन्तु जो सभी धारणायों को त्याग देता है वह मनुष्य संसार में ककह नहीं करता।” जीवन-सोचन सभी मतवालों से ऊपर है। इसी तथ्य को योगवासिष्ठकार ने इन शब्दों में रक्खा है—

सर्वत्र च यन्तस्य तै पदं पारमार्थिकम् ।

विभिन्न देशकालोत्पन्नाः पुरमेकमिवात्मनः ॥१॥९९॥९१॥

वित प्रकट ब्रह्म से पथिक नाना देशों से आते हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं, उसी प्रकार सब वर्तन एक ही विभिन्न परमार्थ पद को नाना देश और काल में जात मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। जीवन-सोचन के मार्ग में जो साधन हितकारी हैं वे सब योग-वासिष्ठ को मान्य हैं। “जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है उस मार्ग पर चले बिना उसकी सति घोमा नहीं देती न सुख देती और न उसके किये हित और धूम फल बांकी होती है।” योग-वासिष्ठ के काल तक विज्ञानवाद और सूक्ष्मवाद की विचार-पद्धतियों का पूर्ण विकास हो चुका था। जीपनिषद मन्त्रमय के साथ उनके सम्बन्ध की समस्या अवश्य ही प्राचीन विचारकों को काफी समय से व्यस्त कर रही थी। योगवासिष्ठकार ने इस समस्या का समाधान करते हुए स्मरणीय शब्दों में कहा है—

बन्धून्मयादिनां धूर्त्वं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम् ।

विज्ञानमार्थं विज्ञानविदां परमार्थं पदम् ॥५॥८७॥१८॥

मय्यं माम्भमिकानां च

॥५॥८७॥१९॥

इसका अर्थ यह है कि परम तत्त्व के विषय में योग-वासिष्ठकार की भाविवाद वृष्टि है। जिसे धूर्त्तवादी सूक्ष्म ब्रह्मवादी ब्रह्म विज्ञानवादी विज्ञान माध और माम्भमिक लोग मय्यम कहते हैं वह एक ही है। संकर-पूर्व बेराम्त पन्थ के किये यह कहना ऐतिहासिक वृष्टि से अत्यन्त सार्थक बात है। संकर के निर्पुण ब्रह्म और सूक्ष्मवादिनों के धूर्त्त में तथा विज्ञानवादियों की विज्ञानमात्रता में कहा गया पारस्परिक सम्बन्ध है यह समस्या भाये भायेगी। संकर इस बात को कहैये कि उनका ब्रह्म कुछ तीनों की बीजों का धूर्त्त या कपता है विज्ञानमात्रता

की अनित्यता का भी वे प्रत्याख्यान करते हैं। उस समय हमें योग-वासिष्ठकार की उपर्युक्त शक्ति की स्मरण कर लेना होगा जिसकी ओर संकेत सम्भवतः बाह्यार्थ शंकर का हो सकता है परन्तु जिससे सहमति उन्होंने नहीं दिखाई है। कृष्ण भी हमें हमारे शिष्य इतिहास का यह साक्ष्य महत्वपूर्ण है कि शंकर और पौंडरीक से पहले योगवासिष्ठकार ने शून्य ब्रह्म और विज्ञानमात्रता के एक होने की बात कही थी और एक समन्वयात्मक दृष्टि का विकास किया था। विज्ञानवाद का प्रभाव योग-वासिष्ठ में बगहूँ बगहूँ उपलब्धित है। यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ है किस आधार पर स्थित है, और कैसे इसका अन्त होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है "हे शुक ! यह संसार अपने चित्त में ही उत्पन्न होता है और चित्त के निःसंकल्प होने से शीघ्र होता है। चित्त के सकल्प में ही इसकी स्थिति है। दुःख के शिष्य जब तक चित्त में बाधता है तभी तक संसार का अनुभव होता है।" अन्धन और मोक्ष भी चित्त की अवस्थाएँ ही मानी गई हैं। इन्द्र-आलोपाख्यान में बताया गया है कि साधु बनते मन के भीतर है। परन्तु योग-वासिष्ठ का यह विज्ञानवाद बाह्यार्थवाद से भिन्न नहीं है। यहाँ भी वही समग्र दृष्टि दिखाई पड़ती है जो योग-वासिष्ठ की अपनी विशेषता है। योग-वासिष्ठकार ने गम्भीर चर्चों में कहा है "बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरस्मयैव न" अर्थात् बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद में हमको कोई भेद नहीं जान पड़ता। अतः हम कह सकते हैं कि योग-वासिष्ठ में केवल बौद्ध और वेदान्त दर्शनों का ही सम्मेलन नहीं किया गया है, बल्कि बौद्धों के बाह्यार्थवादी और विज्ञानवादी इन दो ऊपर से विभिन्न दिखाई देने वाले सम्प्रदायों को भी एक ही सत्य का प्रतिपादक माना गया है।

योग-वासिष्ठ वस्तुतः वेदान्त दर्शन का एक बृहद् ग्रन्थ है। अनेक प्रकार के विचार और दार्शनिक तथे इस महाग्रन्थ में महामारुत की तरह बरे पड़े हैं।

भावना इसकी प्रारम्भ से अन्त तक वैराग्यमयी है।

योग-वासिष्ठ और अतः बुद्ध की स्थिति रूप प्रथम आर्य सत्य की अनुभूति

बौद्ध दर्शन जो कि भारतीय दर्शन की सामान्य प्रतिपक्ष है

जिसको स्वीकार कर उसकी निवृत्ति में हमारे विचारक बने हैं, इस दृष्टि में प्राच्य के उसकी साथ वर्तमान है।^१ प्रथम प्रकरण ही

(१) 'यद्विदं बुध्यते तद्विद्वत् तत्रास्ति किमपि च वम् ।

यथा यन्मर्षनार्थं यथा चारि मरुतले ॥ योग-वासिष्ठ ।

इसका 'वैराग्य प्रकरण' से धुक् होता है। उपदेशों के प्रवाह में हम योग-वासिष्ठ में बीड़ दर्शन और विज्ञेयत विज्ञानवाद तथा कहीं-कहीं सृग्यवाद की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्तियाँ पाते हैं। वे दशमार्मिक हो हैं या बीड़ दर्शन के प्रभाव स्वरूप हैं यह कहना कठिन है। हाँ यह हमें ध्यान रखना चाहिए कि बेदाग्त दर्शन अत्यन्त व्यापक दर्शन है और जहाँ कहीं हम उसमें विज्ञानवाद और की भावनाओं को देखें तो सदा ही उन्हें बीड़ प्रभाव के परिणाम स्वरूप ही नहीं मान लेना चाहिए। कौन सा ऐसा भारतीय छात्रना का जन्म है जिसने वैराग्य का निरूपण नहीं किया है या जीवन के बुद्धों की मंकी नहीं दिखाई है? जिस बुद्धों की अनुमति नहीं हुई वह साध्यात्मिक मार्ग में जाने बड़ ही संशय सक्त है? प्रथम प्रकरण में पीठ बहन राम का वैराग्य सब इसी दृष्टिकोण से देखने योग्य है। विशुद्ध वार्त्तिक दृष्टि से देखने पर योग-वासिष्ठकार जीवन की एकता मानने वाले ही शालते हैं जैसे कि प्रायः सभी औपनिषद् ऋषि हैं। किन्तु योग-वासिष्ठकार के अद्वैत और उपनिषदों के आत्मिक विज्ञान में कुछ अन्तर है। योग-वासिष्ठकार कुछ विज्ञानवाद की ओर अधिक प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं और यह प्रवृत्ति निश्चय ही उनकी प्रवृत्ति में ही समा जाती है। योग-वासिष्ठकार 'विरक्तिमात्रता' के उपासक हैं, उनके लिए अमृत मनोमय है। इष्टा और दुःख में योगवासिष्ठकार भेद नहीं देखते। 'जो वस्तु एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है उनमें सम्बन्ध नहीं हो सकता और बिना सम्बन्ध हुए ज्ञान को ज्ञेय का अनुभव नहीं हो सकता' अतः ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि प्रकृति और पुण्य विषय और विषयी अत्यन्त भिन्न न हों क्योंकि 'सम्बन्ध एकता को तो ही जानो और जो समान नहीं है उनमें यह नहीं हो सकता'। सत्तातीय पदार्थों में ही एकता या सम्बन्ध होता है इसी से एक को दूसरे का अनुभव होता है। जब ऐसा ही है तो फिर इष्टा और दुःख दोनों ही वैतन्य है। यदि इष्टा और दुःख दोनों ही वैतन्य न होने तो इष्टा दुःख को कभी न जान सकता

(१) न सम्प्रवर्ति सम्बन्धी विषयाणी निरन्तरः । न परस्पर-सम्बन्धान् विनामुत्पन्नं विषय । ३।१२।३७

(२) ऐक्यं च विद्धि सम्बन्धं नास्त्वस्ती असमानयोः । ३।१२।४२

(३) सत्तायोः सत्तायोपैक्यतामुत्पद्यति । अत्योऽन्यानुबन्धेन भवत्येक्यं निश्चयः । ३।१५।१२

जैसे पत्थर पक्षे का स्वाद नहीं जानता^१। यही विमृष्ट चेतनाईत है। योगवासिष्ठकार को सब वस्तु ही चेतनामय दिखाई देता है, सम्भवतः उसी रूप में जैसे कि दशभूमिस्वरूप में 'चित्तमात्रं योजिनपुत्रा यत् तत् त्रैधातुकम्'। योगवासिष्ठकार कहते हैं 'यह सारा ब्रह्माण्ड बीज रूप है जैसे वायु केवल स्पर्श है और समुद्र बलमान है। ये तीनों जोक मन के मन के द्वारा ही निर्मित हैं मनोमय हैं। सुषोक्त पृथिवी वायु, आकाश परंतु नदियां विद्यामें ये सब अन्तःकरण तत्त्व के भाव ही हैं जो बाहर स्थित हैं^२। इस प्रकार सभी विषय के पदार्थ बीजमय हैं। फिर विज्ञानभाव की परम्परा के अनुकूल ही योगवासिष्ठकार वास्तु तथा और स्वप्नदशा में कोई भेद नहीं समझते^३। किन्तु इस सबका तात्पर्य यह नहीं कि कोई साधारण समूह आकर यही याद दिला सके कि 'अर्थविषया प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्धिर्विषया' जैसा कि उन्होंने विज्ञानवादियों को दिखाया। योगवासिष्ठकार एक वेदान्ती हैं और एक वेदान्ती की ही तरह वे एक आवातिरिक्त ज्ञाता में निरवास रहते हैं जो स्थिर है फिर चाहे उसके निर्देश में योगवासिष्ठकार भी उसके ही अन्य निषेधवादीतत्त्वों की तरह ही 'चतुष्कोटिबिनिर्मुक्त तत्त्व'—('धूम्य' के लिए नाभार्जुन के द्वारा प्रयुक्त शब्द) से अधिक कुछ न कह सके हों। फिर बिसे कार्यकारण का अन्त में अवलोकन करना है किन कं विज्ञानीयात् विज्ञातारमरे केन विद्यामीयात् जैसी कोई बात कहनी है नविद्याकल्पित 'वेद्यवेदितुवेदनादिभेद' का परम तत्त्व के विषय में उपनयन करना है, उसे तो फिर 'अस्ति' 'नास्ति' आदि की धाम्यविकी बाकी बार कोटियों से विनिर्मुक्त तत्त्व में अपने आप प्रवेष्ट कर जाना ही होना

- (१) इत्युदुम्ये न जघेकममविष्यन्निवात्मके । तद् बुभ्यास्वाहमजः स्यामा बुभ्ये बुद्धिबोपलः । योगवासिष्ठ ६।३८।९; मिताहये वहीं 'यदि काव्यीकलादीनां न जघेद् बीजक्यताः । तत्तद्बानुपलम्बः स्यादेतेषामस्तमितिव ॥ ६।२५।१५
- (२) सर्वं जगद्गतं दुर्गं बीजमात्रमिदं ततम् । स्वप्नमात्रं यथा वायुरेतमात्रं यथार्थकः । योगवासिष्ठ ६।२५।१७; मनोमनननिर्वाणमात्रमेतज्जगत्प्रपञ्चम् । वहीं ७।११।१३; योः कला वायुराकाशं सर्वतः तरितो विद्य । अन्तःकरणस्य तत्त्वस्य भाषा वहिरिह स्थिताः । वहीं ५।५६।१५
- (३) वास्तवव्यवस्थानेही न स्थिरतास्थिरते विना । तत्र सर्वं सर्वं समस्तोन्मूलकोन्मयो । वहीं ७।१९।११

न चैकं तद्वद्वत् द्वितीयं कृतं स्यात्
 न वा केवळत्वं न चाकेवळत्वम् ।
 न द्रव्यं न चाद्रव्यमद्वैतकत्वात्
 क्वचं सर्ववेदान्तसिद्धं त्रयीमि ॥

भगवान् योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म का निरूपण कुछ इसी प्रकार किया है

‘न चेतनो न च जडो न चैवासन्नसम्भयः ।
 नाहं नान्यो न चैवेको नानेको माप्यनेकवान् १॥
 ‘यस्य आत्माशिका संज्ञा कल्पिता न स्वभावजा २”
 ‘न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते विद्वद्वत्तया ।
 न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं धान्तमकं तदा ३”
 “न सप्तासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च
 मनोवाचाभिरणाह्यं द्रव्याण्यस्य सुखासुखम् ४”

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक उच्छ्वास में यदि योगवासिष्ठकार ‘न चेतनो न च जडो’ कहने हैं ‘न चैवासन्न सम्भय’ कहने हैं ‘न च नास्तीति चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं’ कहने हैं ‘न सप्तासन्न’ कहते हैं ‘द्रव्याण्यस्य’ कहते हैं तो इससे ही उच्छ्वास में उसे ‘विद्वत्’ कहते हैं ‘धान्तमक’ कहते हैं, ‘सुखासुखम्’ कहते हैं। निश्चय ही यह बीड़ वर्धन नहीं किन्तु वेदान्त वर्धन है—ऐसा वेदान्त जिसमें बीड़ों की कठिनाइयों की सम्पूर्ण अनुमृति है उनके साथ ब्रह्म-समृति भी है और भीषणित नन्तव्य के साथ उसको मिलाने की कस्यानमयी चेष्टा भी। योगवासिष्ठकार एक वेदास्ती हैं। ब्रह्म के विषय में योगवासिष्ठकार कहते हैं ‘सर्वसक्ति पर ब्रह्म सर्ववस्तुमयं तत्त्वं । सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वसर्वम् १’ परम तत्त्व की ‘आत्मा’ संज्ञा को कल्पित कहते हुए मनीषी योगवासिष्ठकार कहने हैं ‘आत्मैव स्वयते विरक्तं वस्तु आर्तुरिबोधितम् । तरेणकवक्त्रकोर्धेलन्ताम्ब्रान्मुयाविब २॥ समस्त वस्तु उन्हें ब्रह्ममय ब्रह्म

(१) योगवासिष्ठ ५।७२।४१

(२) वहीं ३।५।५

(३) वहीं ३।५।३।९

(४) वहीं ३।११९।८३

(५) योगवासिष्ठ ३।१४।८

(६) वहीं ५।७२।२३

की ११

मन्य की हिलोरेँ मारते हुए समुद्र की तरफ़ बिलारि पड़ता है जिसकी वह में एकत्व के रूप में सभी कुछ छिना हुआ पड़ा है। पर्वत भूध पृथ्वी और आकाश सभी ब्रह्मरूप हैं। बड़ी ब्रह्म क संकूरो में लीन होता है, बड़ी चटों में रस बन जाता है, जल की सहरों में भीड़ा करता है, घिसा के छर में मूल करता है। नेत्र बन कर बरसता है और घिसा बन कर स्थिर होता है। सब जगत् की वस्तुएं ब्रह्म हैं। 'सर्वं ब्रह्मिदं ब्रह्म'। इस प्रकार योगवासिष्ठार का उत्तरावतन ओपनिषद् ज्ञान के अनुकूल है। साधना के क्षेत्र में वे अनुभूति के बड़े पलपाठी हैं और यह बुद्ध के विचार के साथ बड़ी समानता है। बुद्ध और उपनिषद् अनुभूति की ही प्रमान, मानते हैं। पुद्गलकार की योगवासिष्ठार ने बड़ी महिमा गाई है और इस रूप में बुद्ध के मन्त्रम्य से उनका साम्य है। समाधि निरूपण में भी बहुत कुछ साम्य है। किन्तु योगवासिष्ठ का एक इतना परिपूर्ण दर्शन है और उसमें इतनी विभिन्न साधनाएं एकत्र हुई हैं कि जितना साम्य बिलाया जा सकता है उतना अनेक बाधों में असाम्य भी। समग्र रूप में बौद्ध साधकों के क्षिमे भी यह द्रष्टव्य उतना ही उपयोगी और आश्चर्यपूर्ण है जितना अन्य किसी के लिए। यदि इस महाप्रज्ञ का बीनी और आपानी भावनों में अनुबाध ही पास तो हमें विश्व है कि ज्ञान (जग) सम्प्रसाद के बीनों में इसे उससे कम भद्राक्ष और मननपीठ पाठक नहीं मिलेंगे जितने कि भारत में। अब हम गौडपाद के दर्शन पर आते हैं।

(१) परमार्थजनं क्षेत्रज्ञ परमार्थजनं हुमाः । परमार्थजनं पृथ्वी परमार्थजनं मनः ॥ क्षीयतेऽहुरकोद्येव रसीभवति पान्तये । उत्कृष्टतत्पन्मुनीचित्ते प्रगुत्पति मितीहरे ॥ प्रवर्ततपन्मुनी भूत्वा मितीभूवावतिष्ठते । ब्रह्म सर्वं जगत्तस्तु पिच्छमेकमवच्छिन्नम् । योगवासिष्ठ ।

(२) अनुभूति बिना कर्प नरमनश्चानुभूयते । सर्वथा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतिः । योगवासिष्ठ ।

(३) न तवस्ति जपकोशे शुभकर्मणुवाप्तिना । यत्पीण्येन सूत्रेण न समाहायते वर्तते । योग वासिष्ठ ३।१२।८ मिच्छाहने बुद्ध का बीज-भाषि से पूर्व का अविवक्षित लक्ष्य 'पुद्गल के उत्पन्न के द्वारा भी कुछ प्राप्त है, जते बिना पश्य मेरा बीज न बँधेगा' ।

बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद

बौद्ध दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वानों के लिए आचार्य गौडपाद और उनकी माण्डूक्यकारिका से अधिक विचारणीय बात संभवतः और कुछ नहीं है। अतः बौद्ध दर्शन और यहाँ तो कुछ विस्तार भी क्षम्य होगा। ऐसा न करना आचार्य गौडपाद तो इन प्रथम ब्रह्मण्ड के आचार्य के प्रति अवमानना भी होगी क्योंकि जिन्होंने उपनिषद् ज्ञान की प्रतिष्ठा लेकर मयावत बुद्धों को नमस्कार किया उन्हीं के सामने यह बौद्ध दर्शन की रम-यात्रा जो सभी दर्शनकारों के पास बोझी बोझी बेर ठिक कर उन्हें अपने दर्शन लेकर और उनके दर्शन लेकर के जाई जा रही है यदि कुछ अधिक बेर तक न छड़वाई जाय ताकि वे मनीषी आचार्य उसकी आरती उतार में तो क्या यह उन मनीषी की बुद्ध नहीं देखी? अतः छहुरते हैं।

बौद्ध (बगच्छ) देश के निवासी आचार्य गौडपाद अर्थात् ब्रह्मण्ड के प्रथम आचार्य हैं। भगवान् शंकर के गुरु 'गोविन्द मयवत्पूज्यपाद' के वे कदाचित् गुरु थे। इसीलिए शंकर ने माण्डूक्यकारिका भाष्य में उन्हें 'पूज्याभिरूज्य परमपुत्र' कह कर नमस्कार किया है। 'तं पूज्याभिरूज्य परमपुत्रं नतोऽस्मि'। उनका काल ईसा की आठवीं शताब्दी का प्रारम्भिक अथवा सातवीं शताब्दी का अन्तिम मान है। कुछ विद्वानों के मत में उनका काल करीब ५५ ईस्वी के करीब है।^१ जैकोबी के मतानुसार उन्होंने उत्तर गीता पर भी टीका लिखी थी। कुछ भी हो हम तो बड़ा उनकी एकमात्र प्रसिद्धतम हति 'माण्डूक्यकारिका' को ही अपने विचार का विषय बनायेंगे। 'माण्डूक्यकारिका' एक प्रकार से माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर व्याख्या के रूप में ही लिखी गई है। किन्तु इसके चार प्रकरणों में से केवल प्रथम प्रकरण ही माण्डूक्य उपनिषद् से संबन्ध रखता है और छेप तीन प्रकरण स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में हैं। आचार्य शंकर ने माण्डूक्यकारिका पर टीका लिखी है जिसे 'गोविन्द मयवत्पूज्यपाद' के शिष्य ब्रह्ममूर्खों के भाष्यवर्ता, याच' धर्मराचार्य की कृति होने के कारण आचार्य विद्युत्सेन भट्टाचार्य ने संक्षिप्त का विषय बनाया है।^२ हम स्वतंत्र रूप से ही 'माण्डूक्यकारिका' के दर्शन और

(१) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन क्लिस्तोसफी जिसमें बहली, पृष्ठ ४५९

(२) देखिए उनका इस विषय में लेख 'बिन्दु भारतीय'—(ध्याति-निवेदन)
—द्वित्रिका में भी १९९९, पृष्ठ ११ १७; आचार्यपाद करते हैं 'विटी

बीड दर्शन के संबंध को निरूपित करने का प्रयत्न करेंगे। चूंकि यह विषय बहुत विषय है और केवल एक दो स्थानों की समानताओं और असमानताओं बताना व्यवस्थामयों के आधार पर ही कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं दिया जा सकता इसलिए हम यहाँ प्रथम तो माण्डूक्यकारिका के समग्र दर्शन को उसके संभाव्य रूप में देखने का प्रयत्न करेंगे और फिर बाद में उसके ऊपर समीक्षा करने का। इसलिए पहले हम 'माण्डूक्यकारिका' की संक्षिप्त विषय-वस्तु में प्रवृत्त होते हैं।

माण्डूक्यकारिका चार प्रकरणों में विभक्त है, आगम-प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण और अकाश-शान्ति प्रकरण। गीष्पाद्याचार्य का कहना है कि उनके द्वारा उपदिष्ट अद्वैत श्रुति और युक्ति दोनों के द्वारा सिद्ध है^१। प्रथम प्रकरण में आचार्यपाद ने माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या की है। द्वितीय वैतथ्य प्रकरण में अवस्थितप्रकार को उपपन्न किया है और अद्वैत के सिद्धांत को भी सिद्धाया है। तृतीय अद्वैत प्रकरण में अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन है और अतुल्य अकाश-शान्ति प्रकरण में प्रपञ्चोपशम का मार्ग सिद्धाया गया है। अकाश कहते हैं अकाली हुई मछली की धी को जो निरन्तर घूमती हुई प्रायियों को तप्त करती है। इसी की शान्ति के लिए आचार्य ने उपाय बताया है।

बुद्ध बारणा है कि माण्डूक्य भाष्य के रचयिता सिर्फ ब्रह्मासुर के भाष्य-कार आदि-शकर से ही भिन्न नहीं हैं वे नृसिंहात्मनीय उपनिषद् के भाष्यकार से भी भिन्न हैं।^२ यहाँ पृष्ठ १४

- (१) निश्चितं युक्तियुक्तञ्च यत्तद्भवति नेतरम् । माण्डूक्य कारिका ३।२३।
इति एतौ पराक्षर भाष्य 'श्रुत्या निश्चितं यथेकमेवाद्वितीयमवबोधमिति
नित्यमुक्तं युक्त्या च सम्पन्नम्' ।
- (२) 'तत्र तत्त्वार्थोक्तानिर्णयार्थं प्रथमं प्रकरणमागमप्रमाणमप्रत्यक्षप्रति-
पत्त्युपायमूतम् । [यस्य अतःप्रपञ्चस्य उपशमोऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वाग्नि-
सर्पादिबिम्बोपशमो रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः तस्य अतस्तस्य हेतुतो वैतथ्यप्रति-
पादनाय द्वितीयं प्रकरणम् । तथा अद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसंगमाप्ती युक्ति-
तत्त्वतत्त्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम् । अद्वैतस्य तथातत्त्वप्रतिपत्तिप्रतिपत्त-
भूतानि यानि आदित्यराज्यवैदिकानि सन्ति तेषामन्योन्यविरोधित्वात्-
तत्त्वार्थत्वेन तदुपपत्तिविरोध निराकरनाय अतुल्यं प्रकरणम्' । शंकर भाष्य
का प्रारम्भ ।

जैसा कि हम आगे कह कर देखेंगे 'अज्ञात-मान्ति' उग्र आचार्य ने बीड़ों से लिया है और उन्हीं के मयों में प्रायः उसका प्रयोग किया है। यद्यपि मैत्रायणी उपनिषद् में भी यह शब्द मिलता है^१। अभी हम माण्डूक्य-कारिका की विषय वस्तु को ही कुछ अधिक विस्तार से देखें उसके समग्र रूप से अभिज्ञा प्राप्त करने के लिए।

आयम प्रकरण—यह प्रथम प्रकरण माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या के रूप में है, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं। मूल माण्डूक्य उपनिषद् का प्रारम्भ आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपायमूल ब्रह्मोपासना के माहात्म्य से प्रारम्भ होता है। ओमित्यन्तरिमिदं सर्वं तत्त्वोपव्याख्यानं मूलं भवद् भविष्यदिति सर्वं मोक्षकारमेव^२। इसके बाद आचार्यदेव माण्डूक्य उपनिषद् के व्याख्यान स्वल्प 'चतुष्पात्' आत्मा के विवरण देने में प्रवृत्त होते हैं जो इस प्रकार है (१) आत्मरितं स्थानं बहिःप्रज्ञं स्थूलभुक्तं वैश्वानर आत्मा (२) स्वप्न स्थानं सूक्ष्मप्रज्ञं प्रविशितं भुक्तं तैजस आत्मा (३) सुषुप्त स्थानं एकीभूतं प्रज्ञापनं आनन्दमयं चेतोमयं प्राज्ञं (४) न अस्तं प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं न तमयनं प्रज्ञं न प्रज्ञापनं न प्रज्ञं न अप्रज्ञं किन्तु अक्षुण्णं अव्यवहृम्यं अशाहं अक्षानं अचिन्त्यं अक्षयदेस्य एकारमत्राययसारं प्रप्रञ्चाययमं शान्तं त्रिषं अर्जुन आत्मा। यही चतुर्णं आत्मा है जिसके विषय में उपनिषदों की बानियाँ 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'स आत्मा' 'यत्मा ध्यान्वरोपाद् ब्रह्म' 'स ब्राह्मणश्चन्द्रो ह्यत्र' 'आर्यवैद सर्वे' 'ओमित्येवोपासीन्' इत्यादि रूप में प्रवृत्त होता है। फिर आ की तीनो मात्राओं अकार उकार और मकार के अर्थों का विवरण है। आत्मरितं स्थानं वैश्वानर ही ओंकार की प्रथम मात्रा है स्वप्न स्थानं सूक्ष्म ही द्वितीय मात्रा और स्वप्न स्थानं प्राज्ञ ही तृतीय मात्रा है। त्रिमात्राओं के बीचा (तुरीय) आत्मा अव्यवहार्य प्रप्रञ्च का उपाय करने वाला त्रिषं और अर्जुन है। इस प्रकार आकार आत्मा ही है। आत्मा न आत्मा में हा बड़े प्रश्न करता है जो इस प्रकार जातगा है। तुरीय ही माण्डूक्य उपनिषद् है। हमारे भाव्य स्वप्न आचार्य मोक्षानन्द ने आयम प्रकरण न २ चारित्र्यात् लिखी है। प्रथम पाठ चारित्र्यात् में आत्मा के तीन प्रवृत्तियाँ अर्थात् विषय अथवा वैश्वानर आत्मा (२) तैजस आत्मा और (३) प्राज्ञ का विवरण दिया गया है। विषय तैजस और प्राज्ञ नाम ये

अभिहित विधामृत भोक्ता वास्तव में एक ही है। एक ही तीन प्रकार से स्वरूप किया गया है।^१ ऐसा जो जानता है, वह अनुभव करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।^२ इनमें से बिम्ब वहिःप्रज्ञ स्वरूप भूक है, तीव्रतम मन्तः प्रज्ञ प्रविशित भूक है और प्राज्ञ वनप्रज्ञ मानन्द भूक है।^३ इसके बाद जगत् की सृष्टि के संबंध में विभिन्न मतों का विचार है। कुछ का मत है कि प्राज्ञ से जगत् की उत्पत्ति हुई है कुछ के अनुसार सृष्टि अपने कारण का प्रसारण मात्र (विभूति) है (विभूतिविस्तार — सादकर भाष्य) कुछ के मतानुसार सृष्टि स्वप्न और माया के समान है। कुछ कहते हैं कि सृष्टि केवल प्रभु की इच्छा मात्र है और काल के विषय में चिन्तन करने वाले कहते हैं कि काल ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। कुछ कहते हैं कि वह ईश्वर के भोगार्थ है कुछ कहते हैं कि उसके अभिवर्धन है फिर कुछ यह भी कहते हैं कि यह तो ईश्वर का स्वभाव है कि वह सृजन करता है फिर भी कोई इच्छा नहीं रखता क्योंकि वह आप्तकाम है।^४ सृष्टि-चिन्तकों के इन मतों की विवेच

- (१) एक एव विधा स्मृतः । मायकृत्य कारिका १।१
(२) विष्णु नामात् पद्मजीव्य भोक्ता पद्म प्रकीर्तितः । वेदैतदुच्यते यत्तु तं पुण्यजानी न क्षिप्यते । मायकृत्य कारिका १।५
(३) बिम्बो हि स्फुल्लमुद नित्यं तीव्रतः प्रविशितभूक । मानन्दभूक तथा प्राज्ञ स्विदा भीरु निधीयत । मायकृत्य कारिका १।३ वहिः प्रज्ञो विष्णु बिम्बो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तीव्रतः । वनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव विधा स्मृतः । मायकृत्य कारिका १।१
(४) प्रमथः सर्वजावानां सतामिति विविक्तव्यः । सर्वं जगदिति प्राग्वक्ष्येती स्मृन्मुखाः पुनश्च ॥ १।५ विभूतिं प्रत्येकं त्वम्ये यम्यते सृष्टि-विस्तारः । स्वप्नमावासाक्येति सृष्टिरन्वीक्यक्षिप्यता ॥ १।७ इच्छाभावं प्रमोः सृष्टिरिति सुखी विविक्षिताः । काकस्तु प्रसूतिं भूतानां मम्यते काक-विस्तारः १।८; भोगार्थं सृष्टिरित्यम्ये अभिवर्धनमिति चापरे । ईश्वरस्य स्वभावोऽयं जगत्कामस्य का स्मृता ॥ १।९ मिलावृत्ते, कि कारण ब्रह्म कृतं त्वं जगता जीवान् केन क्व च तं प्रतिष्ठिताः । अविच्छिन्नाः केन पुञ्जोत्पत्तेर्य कर्तुमिह ब्रह्मविद्यो व्यवस्थान् ॥ काकः स्वभावो विपत्तिर्ब्रह्मण भूतानि योनिः पुनश्च इति विस्तारः । तस्यैव एवां न त्वममयावासाक्यमप्य-भीष्टः सुखदुःखहेतोः । त्वेताभ्यन्तरं जगद्विषयं का प्रारम्भः ।

व्याख्या न कर परमार्थचिन्तक आचार्य गौडपाद आत्मा की उस चतुर्थ दशा के स्वल्प-निरूपण करने में लगते हैं जो मनुष्य अल्पब्रह्म अर्थात् असंख्य अचिन्त्य अल्पपदेस्य एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम पात सिद्ध और अद्वैत है। उभी को न परम जानने योग्य वस्तु मानते हैं। अनादि माया के द्वारा सोमा हुआ यह ससारी जीव जब जागता है तभी उसे जब सभी भावों और विकारों से वञ्चित अतिशय और अस्वप्न अद्वैत तत्त्व का बोध होता है।^१ इस जगत् की अवस्था के प्राप्त होने पर यह प्रपञ्च अर्थात् इन्द्रिय जगत् नहीं रहता ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा तो तब कहा जा सकता था जब पहले यह नहीं होता और फिर बाद में निवृत्त होता। यदि पहले होता भी तभी तो इसकी निवृत्ति भी हो सकती थी किन्तु यह सब अद्वैत तो केवल मायामात्र ही है। न तो इसकी प्रवृत्ति ही है और न निवृत्ति ही। परमार्थ तत्त्व तो केवल अद्वैत है।^२ इस प्रकार 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' 'यत्र वा अन्तरिक्षं स्यात्तन्मात्रोऽन्यत् पश्येद्व्योऽन्यद्विज्ञानीयात्' 'यत्र त्वस्य सवमारौ बामुत्केन कं पश्यन् केन कं विज्ञानीयात्' 'एनमवाशिनीयम्' आदि धृतिपदों के आधार पर 'जाने द्वैतं न विद्यते' इस प्रकार अद्वैत की स्थापना कर आचार्य गौडपाद अपनी कारिकाओं के दूसरे प्रकरण पर आते हैं जिसका नाम वैतथ्य प्रकरण है और जिसमें ३८ कारिकाएँ हैं। इस प्रकरण

वैतथ्य प्रकरण में भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि सभी बाह्य और अन्त्यात्मिक परार्थ स्वप्न ही विभव है। उनमें अन्तर केवल अन्तःपरीक्षामुत्तरक और वाक के अहीर्णत्व का है। आचार्य के प्रचलित शब्दों में जिससे वे इस प्रकरण का आरम्भ करते हैं 'वैतथ्य सर्वभाषाणां स्वप्न आहुतनीयम्'। अल्पस्थानात् भाषाणां संवृत्तत्वन हेतुना ॥ अहीर्णत्वाच्च वाकस्य मत्वा देशात् पश्यति। प्रतिबुद्धश्च न सर्वस्वस्मिन् देये न विद्यते ॥ अभावश्च रूपादीनां भूयान् म्याय पूषकम्। वैतथ्यं तु नैव प्राज्ञं स्वप्न आहुः प्रवृत्तिगम् ॥ आपन् अवस्था

(१) अनादिमापया सुप्तो यदा जीव प्रवर्धते। अत्रमनिद्रावस्थामद्वैतं वक्ष्यते तदा। भाष्यस्य कारिका १।१६

(२) प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तते न क्षायः। मायाभाषमिदं द्वैतं अद्वैत परमावतः॥ भाष्यस्य कारिका १।१७ विरक्त्यो विनिवर्तते कल्पिनी यदि केनचित्। उपवेत्ताहं बाधो जाने द्वैतं न विद्यते। अही १।१८

के अनुभवों में और स्वप्नावस्था के अनुभवों में आचार्य कोई विभेद नहीं देखते। वे दोनों को समान रूप से असत्य मानते हैं 'स्वप्नावगच्छे स्वप्ने ह्येकमाहुर्मनीषिणः'। भेदाणां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ २१५। पौंडराचार्य का ठक यह है कि जो आदि में भी नहीं है और जो अन्त में भी नहीं है वह वास्तव में वर्तमान में भी नहीं है। अतः वह विवक्षित है असत्य है। आचार्यते न यमास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। विवक्षे संवृष्टा संतोऽविवक्षिता ॥ २१६। यदि जागरित अवस्था के अनुभवों की सम्प्रयोजनता को लेकर कुछ कहा जाय तो यह भी मनीषी आचार्यों को मान्य नहीं है। 'सम्प्रयोजनता सेषा स्वप्न विप्रतिपद्यते। तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव श्रुतं ये स्मृताः २१७॥ जगती हुई अवस्था में छा-नीकर भी तो स्वप्नावस्था में मनुष्य भूत के स्वप्न देख सकता है इसी प्रकार स्वप्नावस्था में छा-नीकर भी अपने पर भूजा रह सकता है। तो फिर जागरित अवस्था की विशेषता क्या रही? सिर्फ काल के सीर्षत्व और असीर्षत्व का ही तो उच्चारण रहा। स्वप्न में दृश्यमान अन्तःस्वागत होत है और आने-जाने होत है (संवृतत्वेन) वही उनका जागरित अवस्था के दृश्य भावों से विभेद हो सकता है किन्तु दृश्यत्व और असत्यत्व तो दोनों समान ही हैं दृश्यत्वमसत्यत्वं अभिधियन्मुमयवर्ष' (शांकर भाष्य माण्डूक्य कारिका २।४ पर)। इस स्वप्न के दृष्टान्त को आचार्य पौंडराचार्य ने बहुत विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है और यदि इस विषय में हमें जमकी तुलना विचार और भाषा दोनों की दृष्टि से बीज आचार्यों के साथ करना है तो कुछ अधिक विस्तार भी यहां घम्य होना चाहिए। पौंडराचार्य ने फिर फिर कर पुनरुक्ति करते हुए प्रवाहशील भाषा में इन भावों को दिखाया है कि स्वप्न में वस्तुएं आंतरिक रूप से कल्पित होती हैं केतु बाह्य जगत् में बाह्य अनुमृति है परन्तु वास्तव में वे दोनों असत्य ही हैं। जितके द्वारा जो कुछ देखा जाता है वह उसी समय को अनुमृति होती है और वाह्य पदार्थों के अस्तित्व के वा काल होने हैं एक अनुमृति के पहले और एक अनुमृति के समय पर, किन्तु वे दोनों ही कल्पित हैं अतः स्वप्न और जागरित अवस्थाओं के अनुभवों में कोई वास्तविक भेद नहीं है 'वित्तक्रान्ता हि येऽन्तस्तु ह्यनाकारण ये हि'। बणिता एव ने सर्वे विनेतो नाग्यहेतुः २१८॥ आप्यतिष्ठ पदार्थ अमयन है और बाह्य पदार्थ एतद्, किन्तु दोनों ही समान का वे कल्पित हैं ये वेद वेद दृश्य वा है त्रिमके द्वारा इन दोनों की अनुमृति होती है अमयना एव

सत्ता की अपेक्षा में बिम्ब तो स्वप्न मात्र होगा ही ठहरे स्वप्न मात्र
यथा कृष्टे गन्धर्वनगरं यथा । तथा बिम्बमिदं दृष्टं बोधान्तविचक्षणैः । २।११।

इतनी ही इस प्रकार की संक्षिप्त विषय-वस्तु है।

अद्वैत प्रकरण तृतीय प्रकरण (अद्वैतप्रकरण) में गीष्पाशाचार्य ने
युक्तियों के सहारे अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया
है और साथ ही मायावाद का भी। आत्मा को उन्होंने आकाश के समान
कहा है सूक्ष्म निरवयव और सर्वगत । क्षेत्रज्ञ रूप घटाकाशों के समान है।
घटादि के विभीन होने पर जिस प्रकार घटाकाशादि विभीन हो जाते हैं,
उसी प्रकार जीव भी आकाश रूप आत्मा में विभीन हो जाते
हैं^१। एक प्राणी के सुख-दुःख में एकात्मा के होने पर, अन्य को भी एका
क्यों नहीं होता इसका उत्तर आकाश का उदाहरण देकर आचार्यवेद
ने दिया है^२। उनका मत है कि आत्मा में भेद करना भ्रम है।
जैसे घटाकाश आकाश का न तो विकार है और न अवयव
इसी प्रकार जीव न आत्मा का विकार है और न अवयव है^३। मूढ़ जन
जिस प्रकार मलिनता को आकाश में आक्षिप्त करते हैं उसी प्रकार आत्मा
को अनेक मल-रूप उपाधियों से मलिनिकृत करता है^४। वेदादि संघात
सभी स्वप्नवत् है और आत्मा की माया के द्वारा उत्पन्न है। परमार्थ रूप
में वे अपनी सत्ता नहीं रखते। प्राणियों की विधेयता या समता का कोई हैतु
नहीं है क्योंकि सब अविद्याकृत है और परमार्थ में वे हैं ही नहीं^५। इस
प्रकार परमार्थ सत्य की भूमि में कारणवाद रहता ही नहीं। ईतवारी आपस
में भेद ही लड़ते रहें किन्तु अद्वैत तत्त्व तो उनमें अविच्छेद है। अद्वैत ही

(१) घटादिषु प्रतीनेषु घटाकाशादयो यथा । आकाशे संप्रतीयन्ते तद्वन्जीवाः
इहात्मनि । ३।४

(२) इस प्रकार, सर्वकस्मिन् घटाकाशे एवौ धूमाविनिर्भुते । न तत्र संप्रमु-
च्यन्ते तद्वन्जीवाः सुखादिभिः । ३।५

(३) आकाशास्य घटाकाशो विकाराद्ययौ यथा । नैवात्मन सदा जीवो
विकाराद्ययौ तथा । ३।७

(४) यथा भवति आत्मनां गपनं मलिनं जलैः । तथा भवत्यज्ञानमाध्यात्मपि
मलिनो मर्तः । ३।८ ; जिलाइए बहुमुख शंकर भाष्य का उपोद्घात ।

(५) संपाताः स्वप्नवत्तत्र आत्ममायावितर्जिततः । आधिपदे सर्वताम्ये वा
नोपपत्तिर्हि विद्यते । ३।९

परमार्थ है और ईश उसका मेव है^१। कारणवाद परमार्थ सत्य पर बाहर समाप्त हो जाता है, इसे गौडपादाचार्य ने इस प्रकरण में बड़ी बख्शी तरह से दिखाया है। मायावाद को भी सिद्धि एवं 'अजातिवाद' का निरूपण इस प्रकरण के अन्य महत्वपूर्ण विषय हैं^२। समग्र चराचर जगत् को आचार्यदेव ने 'मनोभूय' कहा है और उसे ही दिखाया है ईश भाषा का मूल कारण भी^३। योग की अंतिम अवस्था को उन्होंने संज्ञा दी है 'अत्यर्घयोग' की और यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि इस 'अमय' स्थान में योगियों का भय देखना साबकाश नहीं है^४। गौडपादाचार्य ने यह भी कहा है कि सब को कुछ ही अनुस्मरण कर कामगारों से निवृत्ति लेनी चाहिए और अज' सत्य का अनुस्मरण कर 'जात' को देखना ही नहीं चाहिए, क्योंकि 'उत्तम सत्य' यही है कि 'कुछ उत्पन्न नहीं होता'। इसी से 'स्वस्य' 'सात' अकम्प्य' 'उत्तम' सुख' 'सतिबन्धि' प्राप्त होता है^५।

(१) जीवात्मनोरन्यत्वनमेवेन प्रज्ञस्वते । नामात्वं निन्दते यच्च तदेवेह सम-
ञ्जसम् । ३।१३; स्वतिष्ठान्तव्यवस्थानु ईतिनो निश्चिता बुद्धम् । परस्परं
विद्वन्मते तैर्यं न विद्वन्मते । ३।१७ अद्वैतं परमार्थं हि ईतं तद्मेव
उच्यते । तेषामुभयथा ईतं तैर्यं न विद्वन्मते । ३।१८

(२) नेह मानेति काम्नायादित्यो मायाभिरित्यपि । अजायमानो बहुमा मायया
आपते तु सः । ३।२४ स एव नेति नेतीति व्याख्यातं निहृणुते यतः । सर्व
जगद्दृष्टमादेन हेतुनात्र प्रकाशते ॥ ३।२६ ततो हि मायया जन्म पुण्यते
न तु तत्त्वतः । सत्त्वतो आपते यस्य जातं तस्य हि आपते । ३।२७ अततो
जायया जन्म तत्त्वतो नैव पुण्यते । बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि
आपते ॥ ३।२८

(३) मनोबुद्ध्यमिदं ईतं धत्किञ्चित्तत्तज्जराचरम् । मनतोऽप्रतीभावे ईतं नैवोक्त-
लभ्यते । ३।३१

(४) अत्यर्घयोगो वै नाम बुद्धिः सर्वं योगिनः । योगिनो विद्वन्नि ह्यस्मादवधे
अपर्याप्तः । ३।३९

(५) बुद्धं सन्ननुस्मृत्य कामभीमाप्रियवर्तेत् । अत्र सर्वमनुस्मृत्य ज्ञानं नैव
परयति । ३।४३ न कश्चिज्जग्यते जीवः सम्प्रबोध्य न विद्यते ।
एतत्तु तत्त्वं तत्त्वं यत्र किञ्चिन्न आपते । ३।४८

(६) स्वस्य ध्यातं तनिर्वाणकम्प्यं सुखमुत्तमम् । अत्रमयेन ज्ञेयेन सर्वतं
परितप्तम् । ३।५७

अब हम 'माण्डूक्यकारिका' के चतुर्थ प्रकरण 'अनादसाति' पर बातें करेंगे जो हमारी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महामहोपाध्याय पं विबुदेवर जी मट्टाचार्य ने इस प्रकरण का (और वैसे तो अल्लावशान्ति प्रकरण समग्र माण्डूक्य कारिका का ही) बीड दर्शन के साथ एक अनुत्तर तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए उपस्थित किया है^१ किन्तु उससे ध्यान उठाने और कुछ प्रकाश पाने के पहले हमें स्वयं इस 'अनादसाति' प्रकरण की विषय-वस्तु को ही देख जाना चाहिए। जीवपादाचार्य ने इस प्रकरण के प्रारंभ में 'अस्पर्शयोग' के उपदेशों की 'सम्बुद्ध' 'क्षिप्रा वरम्' की बन्दना की है जिसमें 'यमनोपम बमों' का उपदेश किया है और जिसके द्वारा उपरिष्ठ 'अस्पर्शयोग' विचार और विवक्षित है^२ तथा सब प्राणियों को सुख देने वाला एवं हितकारी है

'अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हित' ।

अविबाधो अविच्छेदश्च वेधितस्तं तमाम्बहम् ।

ज्ञानेनाकाशकल्पेन बर्माग्नौ यमनोपमान् ।

मेमामिन्नं सम्बुद्धस्तं बन्धे क्षिप्रा वरम् ॥

यह 'यमनोपम' बमों का शास्ता कौन है और 'अस्पर्शयोग' को किस 'सम्बुद्ध' ने सिखाया है इसके विषय में मूलमाध्यमिक कारिका और 'अकाशतारुण' जैसे प्रश्नों के विचार और उनकी भाषा से परिचित माण्डूक्य सिद्धांत विचारियों को कुछ कठिनाई नहीं हो सकती किन्तु इन कारिकाओं के माध्यकार ने तो बड़ की ओर इस स्पष्ट संकेत को उड़ाकर केवल ईश्वर, नारायण या पुरुषोत्तम की बन्दना करते हुए आचार्य को सिखाया है^३ निश्चय ही यह सत्य-निष्ठा की ओर एक पद्धति नहीं है। परन्तु अभी

(१) देखिए श्री विबुदेवर जी मट्टाचार्य का 'बीडपाद' शीर्षक लेख 'प्रवर्तनी' मासिक १९४४ देखिए इसी वर्ष का स्पेष्ट अंक भी। इन्हीं पम्मीर विद्वान् ने हमारे देश में सर्व प्रथम 'माण्डूक्य कारिका' का बीड दर्शन के साथ व्यापक और विस्तृत अध्ययन उपस्थित किया है। उनका यह अध्ययन 'दि आपनशास्त्र ओष बीडपाद' शीर्षक से अंग्रेजी में पुस्तकालय प्रकाशित भी हो चुका है।

(२) ईश्वरो यो नारायणश्च यस्तं बन्धेऽविबाधये । क्षिप्रा वरं क्षिपरोपमसितानो पुष्पाणां वरं प्रबानं पुरुषोत्तममित्त्वमिच्छामः । सांकर माध्य ।

तो हमें विवेचन विवक्षित न कर केवल मूल विषय-वस्तु पर ही अपनी दृष्टि जमाानी चाहिए। चन्दना समाप्त करके ही मौडपादाचार्य पुनः अपने विषय ‘अजातिवाद’ पर आजाते हैं। एक लम्बे ठौर से वे इसका विवेचन करते हैं। भगवान् मौडपादाचार्य की संझों के और व्याप-वैरोधिक के कारण बाद संबंधी विज्ञात (अथ मत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद) साम्य नहीं हैं उनका तो केवल ‘अजातिवाद’ ही साम्य है —

‘मृतस्य जातिमिच्छन्ति जादिनः केचिदेव हि ।

अमृतस्यापरे पीरा विवदन्त परस्परम् ॥

मूर्ध्नि न जायते द्विविदमूर्ध्नि नैव जायते ।

विवदन्तोऽप्या ह्येवमजातिं व्यापयन्ति ते ॥

किर साम्य प्रभावपासी ठकों के द्वारा आचार्य मौडपाद विरोधी विज्ञातों का रोंडन करते हुए (जिनसे हमें यहाँ विशेष संबंध नहीं है) इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि ‘बड़ों’ ने महा ‘अजाति’ वाद का ही उपदेश दिया है ‘एवं हि सर्वथा बुद्धेरजातिं परिहृयिणा’ (४।१९)। न ‘स्वतः’ ही और न ‘परतः’ कोई बन्तु उत्पन्न होती है। सर्व ‘अमर्त्’ सद्यमर्त् कोई बन्तु उत्पन्न नहीं होती। अतः ‘चित्त’ ही उत्पन्न नहीं होता और न ‘चित्तदुस्म’। उसकी उत्पत्ति को जो देखने है वे आशय में स्वान का ही देखने हैं। इस प्रकार परमार्थ में कार्य कारण प्राद का सर्वथा लीन बनकल हुए भगवान् मौडपाद कहने हैं कि यह अजातिवाद ही बड़ों का निश्चित निश्कात है जित्नु सामारम जनों को यह बात मय का कारण होता है क्योंकि ‘अस्तित्व संबंधी वे एक एकल विचार लिए हुए होते हैं। अतः बड़ों ने उनके मय को हटान के लिये नहीं-नहीं ‘जाति’ वाद का भी स्वागत किया है —

उपपन्नात् महाकारादस्तिबलुन्वजादिनाम् । जानिन्तु देहिता बुद्धेरजाते स्वमना करा । ४।४२। वास्तव में तो न चित्त और न कार्य उत्पन्न ही होते हैं क्योंकि वे अज हैं (एवं न जायत चित्तमयं कर्मा अजा स्मृता ४।४६। जाति वे भी वे नहीं है बन्तु में जो वे नहीं है अतः निश्चय ही वजमान में जो वे नहीं है। वे तो विनय पदावों के ही मनुष्य हैं क्योंकि वे जाति और अमर्त्त हैं —

(१) एको वा वरतो जाति न विच्छिद्यन्तु जायते । तदतस्तदमजाति न विच्छिद्यन्तु जायते । ४।२९

(२) तायात्र जायते चित्तं चित्तदुस्मं न जायते । ताप वदन्ति ये जाति से वे जायन्ति ते वदन् ४।२८

आशास्यो न यदास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

वितर्कं सदृशा सन्तोऽपि तत्रा इव अस्मिताः ॥

जब 'ब्रह्मादि' वाक ही परम सत्य है तो विषय-विषयि भाव से भासता क्या है ? भगवान् गीष्पाद का उत्तर है 'विज्ञान' ! अत्रुक्तभक्तिकाभासमभासस्थितिं यथा । ग्रहणग्राहकभासं विज्ञानस्थितिं तथा' (४४८) सीधे और ठीके का आभास बिना प्रकारमन्त्राल के स्पन्दन करने से होता है उसी प्रकार ग्रहण और ग्राहक अर्थात् विषयी और विषय का आभास भी विज्ञान के स्थिति होने के कारण ही होता है । अभास अर्थात् अस्मृती हुई मन्त्राल जब पकती है तो उसका आभास या प्रकाश कहीं अन्य से उत्पन्न नहीं होता और जब वह बुझ जाती है तो उसका प्रकाश कहीं अन्यत्र प्रवेश नहीं कर जाता किन्तु स्वयं में ही समा जाता है । यही हास्य स्थिति और अस्थिति विज्ञान की भी है —

अस्मृतं स्पन्दमाने न माभासा अन्यतोमुक्ता ।

न ततोऽप्यत्र निष्पन्नाभासकत्वं प्रविशन्ति ते ॥

अस्पन्दमानमभासमनामाधमजं यथा ।

अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥

न निर्मिता अकलान्ते इत्यत्राभासयोगतः ।

विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याधिपतेत् ॥

अतः निश्चय ही यह जो कुछ भी ग्राह्य-ग्राहक भाव है सब चित्त का स्पन्दन ही है । 'चित्तस्थितितमेवेष्ट ग्राह्यग्राहकवद्ब्रह्मम्' (४४९) । स्वप्नमय जीव का बीज मरणा और जीना है । मायामय जीव का बीज मरणा और जीना है, निर्मितक जीव का बीज जीना और मरणा है । बीज ही इस संसार में चारों प्राणी जीते और मरते हैं । भगवान् गीष्पादाचार्य के ही काव्यमय और प्राक्क शब्दों में

'यथा स्वप्नमयी जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥

यथा मायामयो जीवा जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥

तो क्या फिर अन्तिम सत्य उल्लेखवाक ही है ? आचार्य उत्तर देते हैं नहीं । 'संश्रुत्या आस्यते सर्वं तादृशत नास्ति तेन न । सदृशादेन ह्यत्र सर्वमुल्लेखस्तेन

नास्ति वै । 'संवृति' से यह सब उत्पन्न होता है, इसलिये धारण्य नहीं है । सम्भाव से तो अज ही है अतः उच्छेद नहीं है । यह 'संवृति' क्या है, इसको कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान् वेदान्तविद् कहते हैं कि जो संवृति से कल्पित है वह परमार्थ में नहीं है । 'भोऽस्ति कल्पित संवृत्त्या परमार्थेन नास्त्यसी । परतन्माभिसंवृत्त्या स्थाप्नास्ति परमार्थतः ॥ (४।७३) । अतः फिर आचार्य गौडपाद भूम फिर कर यही वा वाते हैं कि सब बर्म अनादि और आकाश के समान ही है और उनमें नागार्थ कही कुछ नहीं है । 'प्रकृत्याकाशवज्ज्येया' सर्वे वर्मा अनादयः । विद्यते न हि नागार्थ तेषां वज्जम किञ्चन' (४।९१) । यह 'साम्य' 'अज' और 'अद्वय' तत्त्व ही 'बुद्धों' का सदा विषय रहा है 'विषय' स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्' । यही 'अनुष्कोटि विनिर्मुक्त' तत्त्व (नागार्थ का नाक्याय अम्य हो यही समता ही इतनी अधिक है ।) परम 'अद्वय' 'आद्याय' पर है जो 'बुद्धों' के द्वारा प्रकीर्तित है और जिससे अनुत्पत्त्य की प्राप्ति होती है—

'अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।

चलस्त्रियो नमामादेरावृत्तोत्पेव बाक्षिषः ॥

कोट्यपवत्तज एतास्तु प्रहृषांसां सहायुतः ।

मन्त्राभाभिस्सुप्तो यत बुध्यः स सर्वबुद्धः ॥

प्राप्य अवज्ञां कृत्स्नां आद्याय परमद्वयम् ।

अनापभादिमभ्यान्त किमपि परमीहते ।

परैर्बन्धमवति क्षान्तिः सोऽमृताय कल्पते ॥

यही पर उपसंहार करते हुए भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि 'अद्वय' (एकवचन जैसे इस प्रकरण के आरम्भ में) का आकाशकल्प ज्ञान बर्मों में वही संक्रमित नहीं होता किन्तु यह ज्ञान बुद्ध ने कहा नहीं—'कल्पते न हि बुद्धस्य ज्ञानं बर्मेषु तायिनः । सव बर्मास्तथा ज्ञान नैतद् बुद्धेन भाषितम्' । इस श्लोक का क्या ठीक तात्पर्य है इसके विषय में बड़ी विप्रतिपत्ति हो सकती है । किन्तु एक बात यहाँ निश्चित है कि जैसे माधुक्य कारिका के माप्यकार (संकर) ने 'अनादयास्ति' प्रकरण के प्रथम श्लोको में अद्वय के एक वचन के प्रयोग को 'पूर पोतम या 'नारायण' के रूप में लिया बैठा यहाँ नहीं किया या सजता क्योंकि फिर 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' का कोई अर्थ ही नहीं रह पाता । और यदि हम सारारण 'ज्ञानी' से ही 'बुद्ध' पर वा तात्पर्य से जैसे कि माधुक्य कारिका के माप्यकार 'बुद्ध' शब्द के बहुवचन के प्रयोग से इस 'कारिका' में अनेक

बार सेते हैं (जो ठीक ही है 'बुद्ध' के एक उपपद होने के कारण किसी व्यक्ति विशेष के नाम होने के कारण नहीं—जैसे कि प्रयोग विपिठक में भी उपलब्ध है) तो भी प्रसंग के अनुसार बर्ण ठीक नहीं बैठता क्योंकि कारिकाकार जब कहता है 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' तो साधारण रूप से वह 'ज्ञानियों' को उपलक्षित नहीं करता 'क्योंकि ज्ञानियों में से बहुतों ने उसे भाषित किया है किन्तु केवल एक किसी 'ज्ञानी' को ही उपलक्षित करता हुआ कहा जा सकता है जिसके विषय में कहा जा सके 'नैतद् (जनेन) बुद्धेन भाषितम्' । यह कठिनाई निश्चय ही संकर को भी अनुमत्त हुई (जब तक भाषार्थ भी पं विभुषेणर भी भट्टाचार्य का यह मत ठीक तरह से सुनिश्चित नहीं हो जाय कि माध्वक्य कारिका पर भाष्य भाष्य संकराचार्य इष्ट नहीं है, तब तक हम उसको उन्हीं की कृति मानना वैज्ञानिक मार्ग समझते हैं) और जब तक वे जो 'बुद्ध' पदों को अन्य प्रकार से व्याख्यात करते चले जा रहे वे महा जगत में जाकर वे ऐसा नहीं कर सके । अब उन्होंने भी कहा ही 'ज्ञान-ज्ञेय ज्ञान-ज्ञेय-रहित परमार्थतत्त्वमयमेतद् बुद्धेन भाषितम्' । यद्यपि बाह्यार्थ निराकरण ज्ञानमात्र कल्पना च ब्रह्मवस्तु सामीप्यमुक्तम् । इत्थं तु परमार्थ तत्त्वमयैव वेदान्तेष्वेव विद्येयमित्यर्थः' । कहाचित् यही संकर अपने शाखापद के द्वारा तक पहुँच गए हैं । किन्तु यदि उन्होंने भी अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद को इसी 'अविरोध' (उस अध्याय का तो नाम ही 'अविरोध' अध्याय है और यही तो है ही 'अविरोधोऽविरोधश्च') की भावना से लिखा होता तो निश्चय ही हमारी समझ में जो बातें सम्भव हो जाती बुद्ध-मन्तव्य के प्रति उपनिषदों का पुरस्कार और अविरोध भाष्य संसार के अन्यतम प्रभाव-शाली धर्मों में प्रख्यापित हो जाता और दूसरे सम्भवतः वह कि वैष्णव भाषार्थों के लिए संकर 'प्रकृत बौद्ध' न होकर प्रकटित बौद्ध हो जाते । बौद्ध और वेदान्त धर्मों की समन्वय-साधना एक निश्चित और स्थिर आधार ब्रह्म कर केटी योग वासिष्ठ और पीडपात्र का काम पूरा हो जाता । कुछ भी हो हम और यमवान् संकर दोनों पर ही अपनी मोहमाया बाँधते हुए, कुछ गम्भीर दृष्टि से हमारी जिज्ञासकों की निष्कर्षताओं पर मौन मुद्रा धारण करते हुए (अपने दिव्य के दिव्य संकर के प्रति तो मुस्मास से कुछ मुहु स्मित भी करते हुए) वे मनीषी प्रथम अद्वैत 'धम्मरायसिद्' वेदान्ताचार्य अपने ब्रह्म सिद्धान्त को 'यवाचक्षित' तमस्कार करते हुए हमसे दिखाई देते हैं—

बहुत पीछे छोड़कर आचार्य गौडपाद विज्ञानवादी बौद्धों से जा मिले हैं और फिर उनको भी एक परका देकर उन्होंने सीधे माध्यमिकों से जाकर संयोग की मांड जोड़ी है किन्तु उनके भी उच्छेदवाद का समष्ट्येदन कर अन्त में संवृति और परमार्थ तत्त्व का चक्कर काटते हुए स्वयं अनिर्वचनीयत्व को प्राप्त हुए हैं। ऐसा कुछ अत्यन्त सम्भव हमें आचार्य गौडपाद की स्वयं की विचार-गति का बौद्ध दर्शन के साथ मालूम पड़ता है। स्वप्न और जाग्रित अवस्थाओं में आचार्य गौडपाद ने कुछ भेद नहीं रक्खा है। उनका सीधा कहना यह है कि जाग्रित अवस्था की नीजें सच्ची नहीं हैं क्योंकि वे दिखाई देती हैं और इस प्रकार स्वप्नावस्था की नीजों के समान हैं जो भी दिखाई देती हैं किन्तु स्वप्नावस्था की नीजें विलय हो असत्य हैं अतः निश्चय ही जाग्रित अवस्था की भी ऐसी ही हुई। समग्र 'वैतथ्य' प्रकरण की मूल भावना यही है। छकर इतने आगे विज्ञानवादियों से मिलने कभी नहीं गए। बल्कि यों कहना चाहिए कि यही तो दृष्टि है जिसका तीव्र प्रत्यास्मान उन्होंने ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२८ ३२ में किया है, जिस पर कि अभी हम कुछ देर बाद आएंगे। आचार्य गौडपाद ने भी यह स्वीकार किया है कि जाग्रित अवस्था में दिखाई देने वाले पदार्थ हम सबको सामान्य रूप से दिखाई देते हैं और स्वप्न अवस्था के केवल स्वप्न देखने वाले को। (कारिका २।१४)। फिर भी मिथ्यात्मता तो उन्हें दोनों की ही समान रूप से मालूम है। (कारिका २।४)। सब जबहु कारणवाद में उन्हें सापेक्षता ही सापेक्षता दृष्टिगोचर होती है। (कारिकाएँ ४।११ १५, २१ २३, २५) और कारणवाद सत्स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता (४।४)। इसीलिए तो उन्होंने यह असत्य बयान सपसत्य किसी भी वस्तु का किसी भी प्रकार उत्पन्न न होना मानकर 'अजातिवाद' की ही स्थापना की है (४।२२) जिसे वे बुद्धों का मार्ग समझते हैं। जब तक इस अजातिवाद की अनपुष्टि नहीं होती तभी तक कारणवाद का स्मरण है और तभी तक सांसारिक पदार्थ सत्य प्रतिभासित होते हैं (४।५५-५६ ४।४२)। सत्य और 'प्रपञ्चोपसम' पर पर पहुँचने के लिए हम सभी कारणवादों और सापेक्षताओं का अधिक्रमण करना होगा (२।३५)। किन्तु कहाँ पर्यन्त? आचार्य गौडपाद ने सभी कार्यकारण व्यवहार को 'विज्ञान स्पन्धित' ही बना दिया है 'मनोबुध्द' ही कर दिया है जिसके कारण छकर जैसे बेबान्ती आचार्य भी अपने परमबुद्ध की विज्ञानवादी दृष्टि से आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सके (कारिका

४।२।२५ २७ पर शांकर भाष्य) १ । किन्तु विज्ञानवाद का प्रतिपादन करना आचार्य गौडपाद का उद्देश्य नहीं था । विज्ञानवाद के मूखमूख सिद्धान्त को उन्होंने 'तस्मात्तन्मायते चित्तं' 'एवं न मायते चित्तं' 'एवं न चित्तत्वात्तन्मायते' आदि कह कर उड़ा दिया है और सम्भवतः उन्हें विमिश्रित न होने के लिए जागाह भी कर दिया है 'एवमेव विज्ञानस्तो न पतन्ति विपर्यये' । अतः आचार्य गौडपाद विज्ञानवादियों के अत्यन्त सामीप्य में तो है किन्तु उनसे एकारमभाव उन्होंने नहीं किया है । वे नागार्जुन की विद्या में भी प्रवृत्त हुए हैं । 'प्रपञ्चोपशमं' तत्त्व को अनुष्णोक्तिं विनिर्मुक्तं तत्त्व कहना न केवल बिष्णुध्वज आचार्य नागार्जुन का विचार ही है किन्तु उनकी भाषा भी । कारकवाद का नियम (२।३२ ४।४।७ २२ ५९) आचार्य गौडपाद और नागार्जुन का समान ही है और इस विषय में बस कि हम सभी देखेंगे दोनों की भाषा में भी बहुत कुछ साम्य है । 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' आदि रूप से परमार्थता का वर्णन करने वाले आचार्य गौडपाद भी 'अनिरोधमनुत्पादम्' तत्त्व के उपदेष्टा नागार्जुन से कहीं दूर नहीं गए हैं न भाषा में न विचार में ऐसा कहा जा सकता है । अनेक कारणों इस प्रकार साम्यमिच्छों और आचार्य गौडपाद की समान है । किन्तु यदि यही पूर्व स्थिति होती तो हम उपनिषदों के ज्ञान के व्याख्याता के रूप में गौडपादआचार्य को स्मरण नहीं कर सकते थे बुद्ध-मन्थन के साथ औपनिषद ज्ञान की एकता सिद्ध करने के रूप में तो कुछ कहना ही नहीं । आचार्य गौडपाद के अनुसार 'अस्पर्शयोग' का समुत्पन्न उपदेश सम्यक् सम्बुद्ध ने दिया है । वह 'अस्पर्शयोग' क्या है ? आचार्य वासुगुप्त हमें बताते हैं कि यह भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण है १ । ५ विजुसेखर भी महाचार्य कहते हैं कि यह संज्ञा बोधमित्ति निरोध' है २ । जो 'संज्ञाबोधमित्ति निरोध' समाधि है वही निर्वाण की अवस्था है । अतः दोनों ही विद्वानों के मत ठीक बिल्कुल पड़ते हैं । अब 'संज्ञाबोधमित्ति निरोध' अथवा निर्वाण

(१) इसी तरह तक विज्ञानवाद योगवासिष्ठ में भी पढ़ाया गया है निम्नाइए, 'आपत्स्वप्नदृष्टान्नेहो स्थिरतास्थिर्यो विना । तप्तः सर्वत्र सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽयम्' । ४।१९।११; इस सम्बन्धी समन्वय-साधना के लिये देखिए पीछे योगवासिष्ठ-वर्णन का विवेचन ।

(२) देखिए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलोसफी ब्रिस्व बहली, पृष्ठ ४२३ ४२४

(३) देखिए, प्रवासी आतिथन् १३४४

में समान् बुद्ध ने क्या सिखाया है ? यही जो सभी कामनाओं का अस्तंगमन सभी बन्धनों का उच्छेद सभी दुःखों का उपशमन । तो क्या वह आलोच्छेद है ? हम देख चुके हैं कि ऐसा नहीं है । 'मिश्रबो !' है ऐसा आपठन जहाँ न पृथ्वी है न जल है न अग्नि है न वायु है न आकाश-आयतन है न विज्ञान-आयतन है न लोक है न परलोक न चन्द्रमा न सूर्य । ऐसी वह अनिश्चित अवस्था है । यही परमावस्था है जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया है । अनात्मवाद भी इसी की ओर संकेत करता है । इस अवस्था का विधायक रूप है अत्यन्त सुख और परम शान्ति और इसका नियेयक रूप है 'ज्वाति' 'जमुत्' । 'तुल्य' आत्मा का वो प्रकार का वर्णन भी इसी प्रकार का है । वह स्वस्थ और शान्त पर भी है और बहुस्थ और अव्यवहार्य भी । एक जमुत् समानता यही वह है कि समान् बुद्ध ने निर्वाण को 'अविचार भूमि' कहा था और 'ज्वाति' तत्त्व के सम्बन्ध में गौडपाद ने कहा है 'अविचार निबोधत' (४।५) । अनात्मवाद और निर्वाण के विवेचन में चतुर्न प्रकार में हम दिखा चुके हैं कि उनके नियेयकत्व वर्णन से व्यक्त जीवों को मय और मोह की प्राप्ति होती है जिनके 'उपास परिहाराय' उपाय ने कही कही उनका विधायक वर्णन भी किया है । 'अस्पृश योग' के सम्बन्ध में गौडपाद को संबोधनों के प्रति जब यह अवीक करते हम देखते हैं 'इत मय पर मे मय देखने वाले बोधी कोन इससे मय मानते हैं (योगिनो विम्वति हवस्मादमय मयवर्धित' । ३।१९) तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि 'आचार्य' बीड निर्वाण के स्वल्प की ओर ही संकेत कर रहे हैं । यही बुद्ध का अन्त है । समान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि आत्मा की चतुर्न अवस्था भी बुद्ध का अन्त है और वह भी है न अन्तःप्रज्ञ न यहि प्रज्ञ न उभयतः प्रज्ञ न प्रज्ञावन न प्रज्ञ न अमज्ञ किन्तु बहुस्थ अव्यवहार्य अप्राप्त्य लक्ष्य अचिन्त्य अव्यपदेश्य एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम शान्त शिव जडित आत्मा जो सब नामरूपात्मक (दोनों औपनिषद और बीड अर्थों में) जगत् की प्रतिष्ठित स्वरूप है सबका अविच्छेदन है । यह उपनिषदों में निहित सत्य की परमावस्था और समान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अस्पृशयोग' (निर्वास या सज्जानेवमित निरोध) बोला आपस में अविचार और अविचर्य सिद्धांत है यही गौडपाद को कहना है । दोनों ही सब प्राणियों के सुख और हित के लिए है और दोनों ने ही 'ज्वाति' को स्थापित किया है औपनिषद प्राणियों

(बुद्धों) ने भी और तबान्त बुद्ध ने भी । ‘एवं हि सर्वथा ब्रह्मेवास्ति त्रिविधा’ (मित्राहमे अस्ति भिक्षव भगवत् चतुर्थं प्रकरण) । किन्तु कोई समावधानी ठार्किक जाकर भगवान् बीडपाव से कह सकता है ‘भयबन् ! क्यों भविष्यत् को विद्यात बताकर, अव्यक्त को व्यक्त बताकर, अनिश्चित को निश्चित बताकर, ‘व्यथाकृत’ को व्याकृत बताकर, तुम बुद्ध की निन्दा करते हो ? जब मार्कुन्ध पुत्र’ से उन्होंने स्वयं ही कुछ नहीं कहा और जब भद्रन्त नागसेन और नागार्जुन जैसे मनीषी आचार्य भी उनके मन्त्रधर्मों को निषेधात्मक विद्या में के जाते हैं, तो हे वेदान्ताचार्य ! तुम किस प्रकार यह कहने का साहस करते हो कि तुम्हारा यह ‘तुरीय’ आत्मा स्वल्प विज्ञान बिलकुल नहीं है जो कि बुद्ध का ‘ब्रह्म’ ‘अमृत’ तत्त्व जिसको तुम यहाँ ‘अस्पृशंबोध’ कहकर पुकारते हो और औपनिषद् ज्ञान के साथ जिसका ‘अविचार और अविच्छेद’ स्वरूप प्रस्थापित करते हो ? मनीषी आचार्य ! क्या यह तुम्हारे द्वारा स्वयं अपने सिद्धान्त का बुद्ध-मन्त्र पर केवल आरोप ही नहीं है ? ऐसों के किए भयवान् बीडपावाचार्य का भारतीय दर्शन में विरस्मरणीय यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्तर है जो औपनिषद् ज्ञान के सम्बन्ध को ब्रह्म-मन्त्र के साथ सम्बन्ध को जानने की इच्छा रखनेवालों के किए सदा अपने हृदय-घटल पर लिखने योग्य है—

‘कमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं वर्मेणु तामिनः ।

सर्वं वर्मास्तथा ज्ञानं नैतर् ब्रह्मेण भाषितम् ॥

अर्थात् (संकर के भाष्यानुसार ही) बाह्यार्थ का निराकरण करते-करते अविद्या कल्पित (दोनों ही बीड दर्शन और ब्रह्म वेदान्त दर्शन के अनुसार) नाम’ और कर्म’ (बीड प्रयोग) में तबान्त ने ‘आत्मा’ जैसा पदार्थ नहीं पाया । इनसे अतीत ‘ज्ञानज्ञेयज्ञातमेव रहित परमार्थ’ तत्त्व’ (सांकरभाष्य के शब्द) ‘तुरीय’ आत्मा स्वल्प सब का प्रतिष्ठापक सब का अधिकारी कोई एक अद्वय तत्त्व है इसका उन्होंने मापन नहीं किया ‘नैतर् ब्रह्मेण भाषितम्’ । इसका यदि बुद्ध ने मापन नहीं किया तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह तत्त्व उनको विदिन न था प्रत्युत भगवान् बीडपावाचार्य की भ्रष्टा है (और यह ठीक है) कि बुद्ध का ज्ञान सब अपह अग्रतिहत है नहीं उसकी गति में व्यथता नहीं है । बुद्ध अथवा प्रज्ञावान् परमार्थदर्शी हैं । उनका ज्ञान आकाश रूप है जो जमी (विषयों) में संक्रमित नहीं होता । स्वयं भाष्यकार न ‘बुद्धस्य परमार्थदर्शिनः’ कहा है । यहाँ ‘तामिनः’ शब्द भी अत्यन्त ध्यान देने योग्य

है। यह एक विशिष्ट बौद्ध प्रयोग है और भगवान् बुद्ध के सिद्धे बौद्ध संस्कृत साहित्य में गौडपाद और शंकर से काफी पूर्व इसका प्रयोग किया गया था। गौडपाद ने इसे किया है परन्तु उनकी कारिकाओं के भाष्यकार को इसका पारिभाषिक अर्थ ज्ञात नहीं है। शंकर ने 'तामिन' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है 'तामी'—जिसका तात्पर्य अर्थात् विस्तार हो उसे तामी कहते हैं। क्योंकि तामी—सन्तानवान्—निरन्तर अर्थात् आकाश सद्यस् पूजावान् अथवा प्रज्ञावान् बुद्ध-परमार्थदर्शी—तामी-बुद्ध^१। 'तामी' शब्द का बौद्ध पारिभाषिक अर्थ है अपन पुरुषार्थ से मार्ग प्राप्त करने वाले छात्रा भगवान् बुद्ध। 'बोधिचर्यावतार' में कहा गया है 'तामिनां स्वाभिमतमार्गवैसकानाम्'^२ अर्थात् 'तामी' वे उपदेश्य हैं जो अपने आप मार्ग प्राप्त करते हैं। इसी अर्थ में आचार्य बिष्णुनाथ ने 'तामी' बुद्ध को समस्कार किया है^३। जो आकाशकल्प ज्ञान वाले बुद्ध ने 'तुरीय' आत्मा स्वल्प परमार्थ तत्त्व का भाष्य नहीं किया है प्रकल्प नहीं किया है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि जिसे बुद्ध ने अग्रहण छोड़ा है, वह उपनिषदों के द्वारा प्रज्ञापनीय है जिसे बुद्ध ने अधावित किया है उसे उपनिषदों ने आवित किया है। इस प्रकार हम उपनिषदों का ब्रह्म के मन्तव्य के प्रति पुरस्त्व प्रस्तावित कर सकते हैं। आचार्य गौडपाद को उपनिषदों का बुद्ध मन्तव्य के प्रति पुरस्त्व अभिप्रेत था और भगवान् शंकर ने भी ऐसा ही शास्त्र दिया है। उनके शब्द पूर्वोक्त होने पर भी यहाँ फिर उद्धरण की अपेक्षा रहते हैं। भगवान् सकराचार्य उपर्युक्त कारिका पर व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित परमार्थ ब्रह्म तत्त्व ब्रह्म के द्वारा भाषित नहीं किया गया है। यद्यपि बाह्यार्थ निराकरण और ज्ञान भाष कल्पना ब्रह्म वस्तु के समीप ही है किन्तु परमार्थ ब्रह्म तत्त्व तो वेदान्त में ही विज्ञेय है। भगवान् तथागत के मौन की व्याख्या तो नावसेन

- (१) "बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो. तामिन तामोप्रयास्तीति तामी सन्तानवतो निरन्तरस्याकाशकल्पस्येत्यर्थः, पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा. तामिनो बुद्धस्य। उपर्युक्त कारिका (४।१९) पर आकर भाष्य।
- (२) लक्ष्मिनाथ वत्त एत्येकस्स आर्य मत्तापाल बुद्धिक्क, पृष्ठ ३ ५, पक्ष-संस्कृत ४ में उद्धृत।
- (३) प्रमाणभूताय अपद्धितैविधे प्रबन्ध आत्मे सुप्रताय तामिने। प्रमाण समु-क्वय का प्रथम श्लोक।

नागार्जुन आदि बौद्ध आचार्यों ने भी की थी। चतुर्थ प्रकरण में हम देखा आए हैं कि किस प्रकार 'मिथिल प्रस्त'कार ने यह प्रश्न उठाया है 'यदि मन्ते नामसेन भगवता भविष्यं न' 'त्वा' नन्व तथागतस्स भम्मसु अचरियमुद्वीति तेन हि वेरस्स माम्भुक्ख पुत्तस्स भवानन्तेन न व्याकृतं । यदि वेज्जानन्तेन न व्याकृतं तेन हि मत्थि तथागतस्स अचरियमुद्वी । अयं पि उभयो कोटिको पम्हो त्वानुप्पतो' और इसके उत्तर में सारांश रूप से केवल यही कहा गया है 'न तस्स दीपमाय हेतु वा कारणं वा मत्थि तस्मा सो पम्हो उपगीयो । मत्थि भगवन्तानं बुद्धानं अकारणमहेतुकं गिरमवीरणति' । इसका संक्षिप्त सारांश यही है कि तथागत ने इसके भाष्य को निष्प्रयोजन समझा । इसी प्रकार भगवान् नागार्जुन ने भी कहा है 'मीना' हि भगवन्तस्तथापता न भौने तथागते भाषितम्' और इस प्रकार अपने 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' तत्व के लिए एक अच्छा अवसर बड़ा निकाला है जो ब्रह्म को निवेष्टात्मक विद्या में ही के जाने का अधिक प्रस्ताव करता है । किन्तु हमारा विचार है कि इन बौद्ध विचारकों की अपेक्षा आचार्य गौडपाद ने बुद्ध-जीन को अधिक अच्छी तरह समझा है जो कहते हैं 'मन्ते न हि बुद्धस्य ज्ञानं भवन्नु तापिन' । सर्वे भर्मास्तथा ज्ञानं नैतत् बुद्धेन भाषितम् । विज्ञानमाह और दूम्भवाद के विचारों से बहुत ऊँचे उठकर (जिसका अर्थ यही है कि एक यूथ प्रतिपत्त को स्वीकार कर, अपना अन्य किसी बात में इन विचारका से ऊपर उठना कदाचिन् मानवीय तर्क के लिए सम्भव ही नहीं है) 'गगनोपम' वर्णों में बुराई 'भनामात्वं' पद में स्वच्छन्दतापूर्वक चर्चमय करते हुए तथागत की सम्यक सम्बोधि को आचार्य गौडपाद ने देखा है और इसलिये उनके मन्तव्य के पास वे कदाचिन् नागार्जुन आदि बौद्ध विचारकों की अपेक्षा अधिक पहुँच गए हैं । नागार्जुन आदि ने तो 'मस्ति नास्तीनि' आदि कोटियों से रहित 'गगनोपम' तत्व को 'मूय' या 'अभाव' की ओर ही के जाने का प्रस्ताव अधिक किया है किन्तु यहाँ तो गौडपादाचार्य ने उनही ही 'गगनोपम' का भाष्य लेकर उन्ही 'गगनोपम' को 'खं ब्रह्म' (अ भर्मान् माराप) की शीघ्रनिपद परिभाषा में बड़ी अच्छी तरह स्पष्ट किया है 'य यथा मप्रवादिनि (४।११) इमीस्मिं तो मनीषी वादकर भी यहाँ इस गौडपादीय 'गगनोपम' और 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' तत्व को अज्ञातमान प्रतिपेक्ष नहीं वह सबसे क्वीकि यहाँ 'ब्रह्मज्ञानमान' प्रतिपक्ष ही संबंध स्पष्ट उल्लिखित है जिसको ही आचार्य गौडपाद ने सम्यक समझ का भी मन्तव्य बताया है । विषयः स हि ब्रह्मज्ञानं

तत्साम्यमध्ययम्' । इसी 'अन्न' और 'मद्य' तथा रूप 'बनानास्य पर' को आचार्य गौडपाद समस्कार करते हैं और उसे धार्मिक शब्दों में 'दुर्बल' और 'अति यन्मीर' कहते हैं । धार्मिक दृष्टिसे कि तत्साम्य से विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त किया था उसे उन्होंने अपने मुख से 'दुर्बल' और 'यन्मीर' ही कहा था । 'यह अन्न यन्मीर और दुर्बल है' । इस प्रकार ब्रह्म के परमार्थ विषयक ज्ञान और मीन की आचार्य गौडपाद ने ब्रह्मन्त से समन्वय करते हुए व्याख्या की है और इसीलिए हम कह सकते हैं कि 'बौद्ध ब्रह्मन्त' (अर्थात् ऐसा एक शब्द हम यह कहें) के से एक आधिष्ठाता शक्ति है । औपनिषद ज्ञान की बौद्ध दृष्टि से देखा गया ब्रह्म-मन्तव्य की औपनिषद ज्ञानधर्मतत्वात्मा करना दोनों एक ही बातें हैं और इसके पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक अनुमान करना ही भगवान् गौडपादाचार्य का भारतीय दर्शन के लिए एक विशेष बात है । एक बात महा और देव की चाहिए । मनीषी डाक्टर रामानुजन् ने कहा है कि "ब्रह्म (गौडपाद) इस बात से अभिन्न ज्ञान पड़ते हैं कि उनके दर्शन की बौद्ध विचार के कुछ स्वरूपों से समानता है । इसलिए वह विरोध करते हैं और कुछ अधिक भी कि उनका दर्शन बौद्ध जने न माना जाय । अपनी पुस्तक के अन्त में वे कहते हैं 'यह ब्रह्म के द्वारा प्रभावित नहीं किया गया है' । हम जानते हैं कि आचार्य गौडपाद ने 'मूलधार्मिक मारिका' और 'लंकावतार मुद्रा' आदि की बापा और विचारों से लुप्त किया है अतः उनके इस उद्यम से अधिक होने का तो कोई संभावना ही नहीं उठता । अतः ही उन्होंने देखा होगा कि स्वयं और आगरित अवस्थानों की पूर्ण समता दिखाने हुए वे विज्ञानवादिनों की पक्ष में था रहे हैं और वह भी उन्हीं अधिकृत न रहा होगा कि अस्ति नास्तीति आदि चार कोटियों का अवलोकन कर, अस्तित्व और निरोध सभी को मायापय 'अनोदय' आदि वह कर और इनसे विचरीत को परमावस्था कह कर वे माध्यमिकों से आतिथन करने

- (१) He seems to have been conscious of the similarity of his system to some phases of Buddhist thought. He therefore protests rather over much that his view is not Buddhism. Towards the end of his book he says "This was not said by the Buddha" इति । { } तत्र इति { }

जा रहे हैं। हमने यह देखा ही है कि 'चित्त' की भी स्थिति एक बड़ी ठ 'अजाति' तत्त्व में घुसाकर और माध्यमिकों के निपेशों को भी आत्मा की 'तुरीय अवस्था में भसाकर वे किस प्रकार इन 'ब्रह्मजातों' से विभक्त हुए हैं ताकि उन्हें वास्तविक 'उत्पत्तउपनिषत्' कहा जा सके (जैसा कि राजपि अनक के लिए उपनिषदों में कहा गया है)। अतः यह ठीक ही है कि विज्ञानवाद और धर्मवाद से उनके मन्तव्य को एकात्म न मान छिमा जाय इसके विज्ञान के लिए आचार्य गौडपाद आत्मामित हैं। किन्तु इसी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर, अर्थात् केवल यह विज्ञान के लिए ही कि उन्होंने जिस मत का प्रतिपादन किया है वह बौद्ध धर्म नहीं है उन्होंने अपने ग्रन्थ (माध्यम्य कारिका) के अन्त में लिखा कि 'यह बुद्ध के द्वारा साधन नहीं किया गया' इसे हम कदापि मानने को तैयार नहीं हैं। मनीषी डा राधाकृष्णन् ने निश्चय ही यह कह कर न केवल गौडपादाचार्य के सम्पूर्ण समन्वयकारी प्रयत्न के महत्त्व को खो दिया है बल्कि समस्त माध्यम्य कारिका के पूर्वपर सम्बन्ध की बर्चस्वता को ही मल्ट कर दिया है। आचार्य गौडपाद तो जान बूझ कर ब्रह्म-मन्तव्य का औपनिषद मन्तव्य के साथ समन्वय-साधन कर रहे हैं, फिर इस प्रकार की समानता से अभिन्न होने की तो कोई बात ही नहीं। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि आचार्य गौडपाद ने 'नैतद् ब्रह्मेण साधितम्' इस प्रेरणा के फलस्वरूप कहा कि वे अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को बौद्ध धर्म से बिलग कर दिखाने के ही पक्षपाती हैं क्योंकि उन्होंने जो प्रतिपादित किया है 'बहु ब्रह्म के द्वारा नहीं कहा गया है' तो हमें यह सोचना चाहिए कि ज्ञात ज्ञानि प्रकरण के प्रारम्भ में ही फिर 'अस्वर्ग्योन्' को 'अविचार और अविच्छेद' बोधित करने की क्या जरूरत थी अनेक स्थलों में 'विषय' स हि ब्रह्मात्' 'तथा ब्रह्म प्रकीर्तितम्' 'एव हि सत्त्वा बुद्धेरजाति' 'परिहीयता' 'अजाति' स्थापनति से 'जातिस्तु वेसिता ब्रह्मेणावेस्वसतां सत्ता' 'वाचि' कह कर बुद्धों के साध्य देने की उन्हें क्या जरूरत थी? 'भुक्ति' की बार-बार याद दिलाकर (जैसा कि गौडपादाचार्य ने नहीं किया कपिक ने तो खूब ऐसा कर दार्शनिकों को बिभ्रमित किया) 'आस्तिक' परम्परा के लोगों को विश्वास में लाने की तो कुछ जरूरत पर भी सफटी थी किन्तु स्वतन्त्र ब्रह्म आचार्यों को 'बुद्ध' के नाम से कोई विचारक तो प्रभावित नहीं कर सकता था। अतः 'बुद्ध' 'बुद्ध' गौडपादाचार्य का बार-बार कहना केवल ऊपर की यज्ञा मात्र विज्ञान के लिए ही नहीं प्रयत्न हो सकता था और

न निश्चय ही एक धननिष्ठ मन्त्र पर कारिकाएँ लिखते समय उनके लिये यह आवश्यक था। बुद्ध के प्रति इतनी बड़ा विषाद और उनके द्वारा उपदिष्ट 'अस्यार्थयोग' को भीमनिष्ठ मन्त्र के साथ 'अविद्या और अविद्या' दिखाने की प्रतिष्ठा करके फिर अन्त में जाकर किस प्रकार केवल भीत परम्परा के मन्त्रों अनुयायियों को प्रसन्न करने के लिए वे इस प्रकार कह सकते थे कि मैंने जिस सिद्धान्त का प्रस्तापन किया है वह बुद्ध के द्वारा कहा ही नहीं गया है, अतः उसे बुद्ध-मन्त्र या बीड़ मन्त्र से नहीं मिलाना चाहिए। ऐसा कहना उनकी सब उदारता और धनपक्षपातता को ले लेता है जिसकी महिमा सर्वातिथ्याम्नी है। फिर दूसरी बात यह है कि आचार्य गौडपाद ने बुद्ध-मन्त्र की भीमनिष्ठ मन्त्र से एकता दिखाने की कोशिश की है, बीड़ आचार्यों के मन्त्रों की नहीं। अब जब वे बीड़ आचार्यों के मन्त्रों का खण्डन करते हैं या उनके कर्मों पर चढ़कर कुछ बातें देखने का प्रयत्न करते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे धर्म से ही बुद्ध-मन्त्र की भी निराश्रय कर देते हैं, किन्तु वास्तव में जो वे करते हैं वह तो यह है कि वे उनके कर्मों पर चढ़कर (अर्थात् विज्ञानवाद और शून्यवाद के कर्मों पर चढ़कर) ने बुद्ध-मन्त्र की श्लाघा करना चाहते हैं किन्तु विद्या बुद्ध के और कुछ नहीं देख पाते अतः उन्हें पटक देते हैं और फिर जब भीमनिष्ठ ज्ञान के स्वरूप सीधे में होकर देखते हैं जिस पर 'संज्ञा' की पाकिस हो रही है तो उन्हें वह 'दुर्लभ' 'अनात्म' पर 'मगधोपम' बड़ी स्वरूप ठरह से बीखने लगता है। अब जिस वस्तु को वे गिराते हैं वे तो 'विज्ञानवाद' और 'शून्यवाद' हैं, जो अस्यार्थयोग के उपदिष्ट। बन्धनीय 'द्विषा वर' को हमारे सामने दिखाने में सर्वथा असमर्थ हैं किन्तु अब 'द्विषा वर' के 'अविद्या और अविद्या' मन्त्र को वे मगधोपम गौडपादार्थ वेदान्त के मन्त्र से बिना कर देखने के पक्षपाती किस प्रकार हो सकते हैं जब कि अनुर्ध्व प्रकरण की प्रथम कारिका में वे 'द्विषा वर' बुद्ध की बन्धना करते हैं और अपनी विलम्बित अन्तिम कारिका में ही वे हमसे यह कह कर बिदाई लेते हैं 'दुर्लभमतिमम्भीरममं साम्यं विद्यारब्धम्। बुद्ध्या परमनात्मार्थं ममस्कर्मा मयावतम्'। अब यह कहना विलम्बित मन्त्र है कि गौडपाद की यह विचारों की कल्पना है कि उनके मत को बुद्ध-मत से न मिलाया जाय। प्रत्युत वे तो उनकी एकात्मता दिखाने के ही अधिक कल्पना करते हैं जिसे उन्होंने अनेक छंदों से व्यक्त भी किया है। 'मैत्रं बुद्धेन भाषितम्' में आचार्य ने केवल यह दिसाया है कि मगधोपम रूप परमार्थ बुद्ध-मत का

सत्य का प्रयोग हुआ है और जब हम उसे अज्ञातस्मैव ब्रह्मस्य 'ब्रह्मो गच्छत्यमर्त्यताम्' 'एवं ब्रह्मो ब्रह्मा स्मृता' 'ब्रह्मो इति य आचक्षते' 'ब्रह्मन् यो गगनोपमान्' आदि रूप से प्रयोग करते देखते हैं तो निश्चय ही हम कह सकते हैं कि यहाँ बीड़ निश्चितियों का ही तो व्याख्यान हो रहा है^१।

इसी प्रकार 'संनृति' शब्द का प्रयोग है जो कि ज्ञापेक्षिक सत्य के बर्णन के बीड़ भाषायों और 'माध्वस्य कारिकाकार' ने समान ही अर्थों में प्रयोग किया है। जिस प्रकार बीड़ भाषा में 'लोकसंनृतिसत्यं चतुस्रत्यं च परमार्थतः' कह कर इस द्विविध सत्य का निरूपण करते हैं उसी प्रकार वीड़पाशाचार्य ने भी 'संनृत्येन हेतुता' कहा है और 'योऽस्ति कस्मिन्संनृत्या परमार्थेन नास्त्येति। परतन्माभिसंनृत्या स्माप्तास्ति परमार्थतः' कहकर पूरा संनृति सत्य और परमार्थ सत्य का विचार ही रख दिया है। अब यह केवल शब्द साम्य पर ही नहीं है किन्तु एक व्यापक शब्द है। वास्तव में बात तो यह है कि जिसने भी अद्वैत वेदान्ती विभिन्नोपपाद को 'अध्यात्मस्य मत' के रूप में उसे अद्वैतसंनृत्य समर्पण करते भी फिर उसे विकारी नहीं मानना चाहते अर्थात् दार्शनिक भाषा में परिणामवाद का समर्पण नहीं करना चाहते किन्तु विकर्त की स्थापना करते हैं उन्हें माया अविद्या आदि का सहाय अपनी कठिनाई को दूर करने के लिए लेना पड़ा है और यही संनृति सत्य और परमार्थ सत्य के बहान करने का भी रहस्य है। संकर ने भी व्यापहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य को लेकर अपनी कठिनाई हटाई है जिसके बिना वे निष्प्रपञ्च ब्रह्म और सप्रपञ्च ब्रह्म विषयक धृतियों की संपत्ति नहीं बना सकते थे। संकर की अनेक भाषाएँ वीड़पाद इस विषय में बीड़ों के और अधिक समीप चले पड़े हैं। यह बहुत सम्भव है कि इन भाषायों ने अपनी अपनी कठिनाईयाँ हल करने के लिए स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग इस विचार का उद्भावना किया हो किन्तु यहाँ बीड़ भाषाओं के अन्त को इन वेदान्ताचार्यों पर कुछ इस कारण लगना आवश्यक और अनिवार्य हो जाना है कि भाषाएँ कुतारित ने अपने 'स्वीकृतार्थिक' (निरालम्बवाद) में ('संनृत्येन तु सत्यत्वं')

- (१) यद्यपि यह कहा जा सकता है कि कठ १।१।२१ के 'अचुरेव परमं' में बीड़ अर्थ के समान ही अर्थ अन्विष्ट है किन्तु भाषाएँ विपुलेषर जी भट्टाचार्य के अनुसार यह 'कष्ट कल्पित है'। हेतुव् उक्तका लेख वीड़पाद' टीका 'प्रधानी' खण्ड १।४४ में।

सत्यद्वय कल्पना) आदि कह कर सत्यद्वय की कल्पना को बह-विकृत सिद्धांत माना है और उसका खण्डन किया है। जो ठकं आचार्य कुमारिक ने बौद्ध आचार्यों के 'सत्यद्वय' के विरुद्ध उपस्थित किए हैं निरचय ही वही बीडपाद और संकर की एतद्विषयक परिस्थिति के विरुद्ध भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं। और निरचय ही ऐसा किया भी गया है। श्रीमाध्य १।१।१ में 'सर्व विज्ञानार्थं यथार्थम्' आदि रूप से संकर के सत्य द्वय का जो खण्डन उपस्थित किया गया है वज्रवा नहीं ३।२।२ ६ में आचार्य रामानुज ने संकर के ध्वज हार-माल्य और परमार्थ-सत्य को लेकर जो माघोप किए हैं वे बिल्कुल आचार्य कुमारिक के ही ठकं हैं। जब ये वैदिक परम्परा के आचार्य इस प्रकार इस 'सत्यद्वय' के सिद्धांत के विरुद्ध हैं और उसे वैदिक परम्परा के अनुकूल नहीं मानते तो निरचय ही एक निष्पक्ष ववेपक इस निष्कर्ष पर आ सकता है कि बौद्ध बंधान्त के आचार्यों ने ये मत निरचयतः बौद्ध आचार्यों से ही ग्रहण किये हैं जो अपने आदि दास्ता के काठ से ही सम्पुति सत्त्व' (संबुति सत्य) और परमसत्त्व (परमार्थ सत्य) के रूप में इन दो सत्तों का व्यवहार करते चले आ रहे हैं और महायान में बिगड़ विषय अर्थवत्ता प्राप्त हो चुकी थी जिसका विवरण हम नीचे प्रकरण में कह चुके हैं।

'सत्तात्' शब्द का प्रयोग आचार्य बीडपाद ने वस्तुगत सत्ता के बौद्ध अर्थ को लेकर किया है यथा 'सत्तात् स्वप्नवन् सर्वे'। इसी प्रकार 'अज्ञानात्तात्' का प्रयोग और उसकी सब उपमा ही आचार्य बीडपाद ने बौद्ध आचार्यों से ली हुई है। इस तथ्य से हम सम्मेलन कभी द्वाार नहीं कर सकते कि यहा आचार्य बीडपाद पर बौद्ध प्रभाव अवश्य स्पष्ट बन सके

(१) डा रासाद्वयम् न वस्तुगत सत्ता (objective existence) के अर्थ में 'सत्तात्' के प्रयोग को बौद्ध प्रयोग ही माना है। देखिए इतिहास चिन्तामणी, बिस्व बुधरी पृष्ठ ४६५। हमारा बिशेष अभिप्राय है कि सात्य कारिका 'सत्तात् परार्थत्वात्' में भी बह-बह गयी अर्थ अभिप्रेत है अतः इस शब्द के लिए बौद्धों के अर्थ को बहाचिन् न मानना भी ठीक होगा।

(२) इन बिन्दु में लकावहार मंत्र (बी टी एन लकावहार) पृष्ठ ९५ तथा भुज माध्यमिक कारिका (बी टी एन मंत्रावहार) पृष्ठ ५ ६ दिशाने दीये हैं। आर्यदेव ने भी 'अज्ञानात्तात्' शब्द का प्रयोग किया है।

उपस्थित है। इसी प्रकार 'प्रपञ्चोपसम' का भी प्रयोग सम्भवतः पहले पहले बौद्ध भाषायों में ही किया था। और इस विषय में आचार्य बौद्धवाद न केवल इस शब्द के लिए ही किन्तु इसके साथ आने वाले सभी भाष के लिए भी बौद्धों के श्रेणी हैं। किन्तु बस्य शब्दों को छोड़कर हम कुछ वाक्यांशों के ही उद्धरण देकर और कहीं-कहीं तो पूरी कारिकाओं के उद्धरण देकर ही यह दिखायेंगे कि आचार्य बौद्धवाद अपने पूर्ववर्ती बौद्ध भाषायों से कितने प्रभावित थे फिर चाहे उनके शब्दों से वे पहले ही अन्तर्गतात्वा पूर्वक सहमत न हों।

मूलभाष्यमिक कारिका में

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमद्यावत्तम् । अनेकार्थमना-
गार्थमनाममभिगमम् ।

यः प्रतीत्यसमुत्पादम् प्रपञ्चोपसमं सिद्धम् ।
बोधयामास सम्बुद्धस्तं दम्हे बभूवो बरम् ॥ 'अनुत्पन्नः
प्रकृता पञ्चोपमा' । लंकावतारसूत्र ।

भाष्यक्य कारिका में

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च सावकः ५।१२
निर्विकल्पो ह्यस्य कृष्टः प्रपञ्चोपसमोऽयम् । २।१५
आनेतागाधमिमेन वर्मान् यो गम्योपमात् । बोधमिमेन
सम्बुद्धस्तं दम्हे द्विषो बरम् ।

बौद्धविशेषावतार में

एषः न न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति तत्त्वतः ।
अज्ञातमभिर्ह्यैव तस्मात्तर्कमिदं यत् ॥

भाष्यक्य कारिका में

भूतं न जामते किञ्चिदभूतं नैव जायते ।
विश्वस्तोऽयमा ह्येवमजातिः क्वापयन्ति ते ॥ ४।४
हेतुर्न जायतेऽजारे ४।२१
न करिष्यज्जायते जीवः सम्प्रबोध्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं तत्त्वं नन किञ्चिदय जायते ॥ ४।४१

- (1) So far as I know the Buddhists were the first to use the words 'प्रपञ्चोपसमं सिद्धम्' । वास्तव्यतः हिन्दु बौद्ध इतिहास विज्ञातकी, विश्व पत्रिका, वृष्ट ४२५

अनाद्यतार सूत्र में

यत्र वैचित्र्य संस्थानं विकस्यो यदि जायते ।
आकाशं घटशृंगे च सर्वाभावं धारयति ॥
स्वप्नं श्रेष्ठोद्भूतं माया पञ्चर्षं मृगं तृणिका ।
अहेतुकाग्रिं दृश्यते तथा लोक-विचित्रता ॥
आकाशं शराशृंगवत् नान्यथा एव पुनः च ।
असंस्तव्यमिच्छन्ते तथा भावेषु कल्पना ॥

वैचित्र्याद्यतार में

कदलीस्वप्नमायाम् लोकं पश्येद्विकस्मिन् ।
अस्मत्तो मापि चापात न विवर्तते न गच्छति ।
मायातः को विद्यपोऽस्य यन्मूर्ध्नि सत्पतं कृतम् ॥
मानया निर्मितं यच्च हेतुभिर्मन्त्रं निर्मितम् ।
आयाति तत् कृतं कृतं याति चेति निरूप्यताम् ॥
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्त्वता कथम् ॥
स्वप्नोपमास्तु पतय विचारे कदलीसया ।

माण्डूक्य कारिका में

यथा मायामयो बीजं यथा स्वप्नमयो
बीजं । ४।१८-७
वर्मा य इति जायते जायते ते न उत्पद्यते ।
अन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥४।४८
घटो हि मायया अन्म युज्यते न तु उत्पद्यते ।
सत्त्वतो जायते यस्व जातं तस्य हि जायते ॥१।१९
असतो मायया अन्म उत्पद्यते नैव युज्यते ।
नान्यथापुत्रो न तत्त्वेन मायया नापि जायते ॥१।२८
स्वप्नजावरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।

अद्वितीया इव लक्षिता

मिथ्यैव च ते स्मृतः । कस्मिन्ना एव
ते सर्वे विद्येपो नास्म्यहेतुकं आदि आदि ।

भगवान् छंदर भारतीय दर्शनशास्त्र के एक प्रखर मार्तण्ड है। अद्वितीय प्रतिभा तैयस्वितापूर्ण व्यक्तित्व अप्रतिहत बुद्धि-बल और सर्वत्र परिपूर्ण दर्शन यह हमें छंदर में मिलता है। इन भगवान् शंकर और उनके मनीषी का आचार्यत्व जितना सम्मौर वा पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्य उतना ही उनका उपसृ, चारित्र्य और साधन भी महान् वा। सम्भवतः यही उनकी महत्ता का प्रधान कारण है। जो उनके केवल आचार्यत्व को देखते हैं वे उन्हें कभी नहीं समझ सकते। भगवान् शंकर के साथ मिलकर वाचस्पति मिश्र बमर हो गए किन्तु भगवान् शंकर की महत्ता का कारण 'सामंती' नहीं है। भगवान् छंदर के पहले बहुत से बौद्ध आचार्य हो चुके थे और भगवान् शंकर उनसे बहुत कुछ प्रभावित थे और बहुत सी बातों में उनके अभी भी थे। निश्चय ही अस्वभाव्य नागार्जुन अरुण वसुबन्धु और अनन्त बौद्ध विचारक और नैयामिक जिनकी शार्थनिक प्रक्रिया अद्वितीय है शंकर से पहले हुए थे किन्तु इससे शंकर की एक मौलिक विचारक होने के नाते महत्ता में कुछ अन्तर नहीं आता। प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों और विचारकों के अनुभवों से काम उठाता है और कभी कभी तो उनकी सम्भावनी का भी प्रयोग करता है किन्तु इससे उसकी महत्ता को कुछ क्षति नहीं पहुँचती यदि वह कुछ अपना भी लोक को देता है। इस तरह हम देखते हैं कि बौद्ध आचार्यों का तो कहना क्या जिनकी अनेक बातों का शंकर ने प्रत्यास्पात किया है अपनी परम पूजा के स्थान स्मृतियों और ब्रह्मसूत्रों तक को उस मनीषी ने इस व्यापकता के साथ अपने मौलिक विचार से अभिव्यक्त कर दिया है कि आज हम जब उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों को समझने की बात कहते हैं तो सबसे पहले ध्यान छंदर का ही होता है। जैसे वे हमें समझते हैं वैसे ही हम मानते हैं यद्यपि जानने वाले ही जानते हैं कि उसमें कितना उपनिषदों या ब्रह्मसूत्रों का मूल मन्तव्य है और कितना शंकर के स्वयं वा दर्शन का। इसीलिए तो केवल भाव्यचार होत हुए भी हम उन्हें एक स्वतन्त्र शार्थनिक कहते हैं और 'साधर रचन' जैसी वस्तु की चर्चा करते हैं। कहा जाता है कि शंकर ने ब्रह्मसूत्रों के मन्तव्य को उनके वास्तविक स्वरूप में व्याख्यात नहीं किया है

(१) इसके विरुद्ध बात के लिए देखिए राहुल साहूपायन की 'ब्रह्मचर्या' की भूमिका।

किन्तु साब ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि उपनिषदों के मन्त्रियों को सबसे अच्छी तरह उन्होंने ही प्रख्यापित किया है। फिर महापि बाबरामय ने तो उपनिषदों के ही मन्त्रियों के समन्वित स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तो क्या स्वयं भगवान् शंकर ने अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा से हम सबको विध्वंसित ही नहीं किया ? अतः जब हम उनके तर्कों में बौद्ध आचार्यों के ही तर्कों का प्रत्याकर्तन देखें जब श्रीहर्ष की तरह हम उन्हें भी माध्यमिकों के तर्कों को ही विरोधी सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करने के लिए प्रयुक्त करते देखें तो हमें यह न समझना चाहिए कि शंकर के पास मौखिक कल नहीं है और वे एक उच्चतम कोटि के स्वतन्त्र विचारक नहीं हैं।

शंकर का दर्शन अपने मूल रूप में वैसा ही है वैसा उपनिषदों का। उनके दर्शन की प्रतिष्ठा नित्यानित्यवस्तु-विशेष इहामुत्सार्थभोगविराग समदमादि साधन सम्पत् और मुमुक्षुत्व इन चार साधनों की शंकर और बौद्ध दर्शन तैयारी पर अवलम्बित है^१ अतः समग्र बौद्ध नैतिक आदर्शवाद को वह अपने मार्ग में छिपाये है ऐसा कहा जा सकता है। फिर भगवान् शंकर ने ब्रह्मन्त दर्शन का प्रयोग नैतिक बुद्धि-निवृत्ति को स्वीकार किया है^२। अतः इस रूप में बुद्ध के अधिप्राय से उनका कोई विशेष नहीं हो सकता। इतना ही नहीं प्रतीत्य समुत्पाद का जन्म प्रस्तुत करते समय आचार्य ने उसका केवल तात्त्विक दृष्टि से ही अध्ययन किया है किन्तु वहाँ तक बुद्ध निवृत्ति रूप नैतिक तत्त्व से सम्बन्ध है उसको उन्होंने स्पर्श नहीं किया है और उसकी सम्ममता भी स्वीकार की है। यदि अधिप्राय प्रत्ययों से लेकर जरा भर्य छोड़कर परिदेवना बुद्ध और शीर्षनस्य तक सभी प्रत्ययों का निमित्त-नैमित्तिक भाव से घटीयग्न के समान समुच्चय और निरोध होता है तो इसमें शंकर को कुछ नहीं कहना उनका तो विरोध इसी में है कि बिना एक स्थिर आत्मा के इनका संघात

(१) वेजिय ब्रह्मसूत्र टीका भाष्य १।१।१

(२) भोग्यानास्पदत्वात् सम्पददर्शन इत्यर्तवर्जनं प्रस्तुयते। भाष्य-कारिका १।१ पर टीका भाष्य; रोगान्त्येव रोमनिवृत्तौ स्वस्वता। तथा पुनरात्मकस्यात्मनो हितप्रवृत्तौपपन्ने स्वस्वता। भाष्य-कारिका भाष्य के प्रारम्भ में; एवमयमनादिरनन्ती अस्यानर्थादिति। प्रह्लाद सर्वं वेदान्त आरम्भते। ब्रह्मसूत्र टीका भाष्य का पक्षोपात्त।

भगवान् संकर भारतीय दर्शनशास्त्र के एक प्रखर मार्तण्ड हैं। ब्रिटिष प्रतिभा तेजस्वितापूर्व व्यक्तित्व अप्रतिहत बुद्धि-बल और सर्वतः परिपूर्ण वर्णन यह हमें संकर में मिलता है। इस भगवान् शंकर और उनके मनीषी का आचार्यत्व जितना बम्मीर वा पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्य जितना ही उनका तपस्, चारित्र्य और बाह्य भी महान् वा। सम्भवतः यही उनकी महत्ता का प्रधान कारण है। जो उनके केवल आचार्यत्व को देखते हैं वे उन्हें कभी नहीं समझ सकते। भगवान् संकर के साथ मिलकर वास्तविक मिथ्य जगत् हो गए किन्तु भगवान् संकर की महत्ता का कारण 'भामती' नहीं है^१। भगवान् संकर के पहले बहुत से बौद्ध आचार्य हो चुके थे और भगवान् संकर उनसे बहुत कुछ प्रभावित थे और बहुत ही बातों में उनके खोजी भी थे। निश्चयही अस्वप्नोप नागार्जुन वसंत वसुबन्धु और अनेक बौद्ध विचारक और नैयायिक जिनकी दार्शनिक प्रक्रिया अद्वितीय है संकर से पहले हुए थे किन्तु इससे संकर की एक मौलिक विचारक होने के लिये महत्ता में कुछ अन्तर नहीं आता। प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों और विचारकों के अनुभवों से लाभ उठाता है और कभी कभी तो उनकी पद्धतियों का भी प्रयोग करता है किन्तु इससे उसकी महत्ता को कुछ क्षति नहीं पहुँचती यदि वह कुछ अपना भी स्लोक को देता है। इस लिये हम देखते हैं कि बौद्ध आचार्यों का तो कहना क्या जिनकी अनेक बातों का संकर ने प्रत्यक्षानुभव किया है अपनी परम पूजा के स्थान श्रुतियों और ब्रह्मसूत्रों तक को उस मनीषी ने इस व्यापकता के साथ अपने मौलिक विचार से अभिव्यक्त कर दिया है कि आज हम जब उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों को समझने की बात कहते हैं तो सबसे पहले ध्यान संकर का ही आता है। जैसे वे हमें समझाते हैं वैसे ही हम मानने हैं यद्यपि जानने वाले ही जानते हैं कि उसमें किन्ता उपनिषदों या ब्रह्मसूत्रों का मूल मूल्य है और किन्ता संकर के स्वयं का दर्शन का। इतनीए तो केवल भाव्यकार होठ हुए भी हम उन्हें एक स्वतन्त्र दार्शनिक बटते हैं और 'सांकर दर्शन' जैसी वस्तु की खोज करते हैं। कहा जाता है कि संकर ने ब्रह्मसूत्रों के मूल्यों की उनके बालनिक स्वरूप में व्याख्या नहीं की है

(१) इसके विरुद्ध मत के लिए हेन्रि एडवल्स साहित्यायन की 'ब्रह्मसूत्र' की भूमिका।

किन्तु साब ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि उपनिषदों के मतधर्मों को सबसे अच्छी तरह उन्होंने ही प्रस्थापित किया है। फिर महर्षि बाबरामन ने तो उपनिषदों के ही मतधर्मों के समन्वित स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तो क्या स्वयं भगवान् शंकर ने अपनी बहिर्तीय प्रतिमा से हम सबको विभ्रमित ही नहीं किया? अतः जब हम उनके तर्कों में बौद्ध आचार्यों के ही तर्कों का प्रत्यावर्तन देखें जब श्रीहर्ष की तरह हम उन्हें भी साम्यमिषों के तर्कों को ही विरोधी सिद्धांतों का प्रत्याख्यान करने के लिए प्रवृत्त क्यों देखें तो हमें यह न समझना चाहिए कि शंकर के पास मौलिक कुछ नहीं है और वे एक उच्चतम कोटि के स्वतन्त्र विचारक नहीं हैं।

शंकर का दर्शन अपने मूल रूप में वैसा ही है वैसा उपनिषदों का। उनके दर्शन की प्रतिष्ठा नित्यानित्यवस्तु-निबेद इहामुक्तार्थभोजविषय समवसावि साधन सम्पत् और मुमुक्षुत्व इन चार सामर्थ्यों की शंकर और बौद्ध दर्शन तैमारी पर अवलम्बित है^१ अतः समय बौद्ध नैतिक आदर्शवाद को वह अपने धर्म में छिपाये हैं, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भगवान् शंकर ने वैशाल दर्शन का प्रयोग आत्मनिक बुद्ध निवृत्ति को स्वीकार किया है^२। अतः इस रूप में बुद्ध के अधिप्राय से उनका कोई विभेद नहीं हो सकता। इतना ही नहीं प्रतीत्य समुत्पत्त का चरित्र प्रस्तुत करते समय आचार्य ने उसका केवल तात्त्विक दृष्टि से ही लक्षण किया है किन्तु वहां तक बुद्ध निवृत्ति रूप नैतिक उत्पत्ति से सम्बन्ध है उसको उन्होंने स्पर्श नहीं किया है और उसकी सम्भवता भी स्वीकार की है। यदि अधिष्ठावि प्रत्ययों से छेकर पटा मरच धोक परिवेचना बुद्ध और हीर्मनस्व तक सभी प्रत्ययों का निमित्त-निमित्तिक भाव से बटीमन्त्र के समान समुद्रम और निरोध होता है तो इसमें शंकर को कुछ नहीं कहना उनका तो विरोध इसी में है कि बिना एक स्थिर आत्मा के इनका संभाव

(१) देखिए ब्रह्मसूत्र टीकाकार भाष्य १।१।१

(२) श्वेताश्वतथवत्वात् सम्प्रत्यर्जनं इत्यतैतद्धर्मं प्रस्तुज्यते । माधुक्य-कारिका ३।१ पर टीकाकार भाष्य रोपार्तस्येव रोपनिवृत्ती स्वस्वता । तथा बुद्धात्मकस्यात्मनो ईतप्रपञ्चोपग्रमे स्वस्वता । माधुक्य कारिका भाष्य के प्रारम्भ में; एवमवमनादिरनन्तो अस्यानर्हंतोः प्रहास्य सर्वं वेदमन्ता आरम्भ्यते । ब्रह्मसूत्र टीकाकार भाष्य का उपोद्घात ।

सिद्ध कैसे होया ? 'इतरेषरोत्पत्तिमात्र निमित्तत्वमभिधावीनां यदि यथेद् यवतु नाम न तु सजातं सिद्धयेत्' । अतः तात्त्विक व्याख्या में विमोह है किन्तु एक सावक बिना यह प्रश्न उठाए कि एक स्थिर आत्म तत्त्व है अथवा नहीं यदि कुछ के समुद्रय और निरोध को उपर्युक्त नियम के अनुसार समझ कर आचरण करे तो क्या उसकी बुद्ध-निवृत्ति नहीं होयी ? संकर के प्रत्याख्यान का तात्पर्य यही हो सकता है कि बिना औपनिषद ज्ञान की प्रतिष्ठा किये बुद्ध के नैतिक मार्ग की व्याख्या नहीं की जा सकती उसकी संवत्ति नहीं बैठ सकती और इस विषय में सम्भवतः आचार्य संकर ठीक हैं । बुद्ध के मन्तव्य की नियेवात्मक व्याख्या कर सर्वकीर्ति और पिछताग जैसे बौद्ध आचार्यों ने अपने शास्त्र की सम्भवतः अधिक भरोसा की है बिचनी कि संकर के सब प्रत्याख्यानों ने भी नहीं की । किन्तु इस विषय पर बात में । बुद्ध के नैतिक आदर्शवाच से संकर को कोई विमोह नहीं हो सकता हाँ उसकी व्याख्या में वे और बौद्ध आचार्य विभिन्न मत वाले हो सकते हैं । फिर भगवान् संकर कर्मकाण्ड के भी तो विरोधी है और कम से कम ज्ञान की अपेक्षा में वे उसे अधिक मूल्य देने को तैयार नहीं । इस विषय में वेद का भी प्रमाण उन्हें उसी अर्थ में मान्य नहीं जिस प्रकार कि मीमांसकों को । श्रुति भगवान् संकर के लिए सहस्र कस्यामकारी माता पिताओं से भी अधिक है और वह इसीलिए कि अन्धकार से हटा कर ज्ञान के प्रकाश में ले जाती है । संकर का ब्रह्मात्मिकत्व विज्ञान वैसा ही है जसा उपनिषदों का अतः जो बात नहीं कह जाए है वह यहाँ भी समझना चाहिए । संकर तर्क को अधिक महत्त्व नहीं देते और 'कूटाकिकों' के बड़े भारी निष्कर्ष भी हैं । अतः अध्यात्म और बुद्धितत्त्व का एक उचित सम्मिश्रण

(१) ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य २।२।१९

(२) अनेकारो ह्यपमत्ताकं यन् ब्रह्मात्मवक्ती सत्यां सर्वकर्तव्यताहातिः कृत-
कृत्यता चेति .. यी हि बहिर्मुखाः प्रवर्तते पुरुषा इह्यं मे भूवावभिष्टं मा
भुविति न च तन्नास्तिकं पुरुषार्थं कथ्यते तन्नास्तिकपुरुषार्थव्यभिर्जनं
त्वानास्तिककार्यतन्नास्तिकप्रवृत्तियोचराद्धिमुचीकृत्य प्रत्यवस्तवकोतस्तमा
प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा जरे इच्छन्' इत्यादीनि । अतोऽप्यमोक्षं
प्रति कियानुप्रवेशद्वारं न कथं केनचिद् धर्म्मिण्युम् । तत्रैव सति
यवान्नास्तिकत्वविषयमपि ज्ञानं न बोधनास्तवम् । ब्रह्मसूत्र शांकर
भाष्य १।१।४

शंकर के दृष्टान्त में हुआ है और बौद्ध दर्शन में श्रद्धा के महत्त्व की भी स्वीकृति है वह भी इसके अनुकूल ही है। शंकर को तीन प्रमाण मान्य हैं यथा प्रत्यक्ष अनुमान और श्रुति। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से वे ब्रह्म की सिद्धि नहीं मानते^१। उसके लिए श्रुतिवादी और स्थानुमूर्ति ही यथा सम्भव प्रमाण हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान का अवसान अनुभव है और एक परिनिष्ठित वस्तु उसका विषय है^२। केवल अतीन्द्रिय क्षेत्र में ही वेद के प्रमाण की स्थापना है^३। वैसे तर्क की महिमा भी शंकर के मत में सुरक्षित है^४। तर्क की निम्ना उन्होंने इसीस्मिन् की है कि वह स्थानुमूर्ति का मार्ग छोड़कर कहीं उच्छृङ्खल न हो पाय^५। वैसे मनुमूर्ति और तर्क का एक अत्यन्त सामञ्जस्य पूर्ण रूप शंकर में दिखाई देता है और वह इस अत्यन्त छोटे से वाक्य में अपने पूर्ण प्रभाव के साथ छोड़ित हो गया है 'मृत्पानुमूर्हीत एव ह्यत्र तर्कानुमवागत्वेनाधीयते। (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१६)। श्रुति से अनुमूर्हीत तर्क का ही अनुभव का अर्थ होने के कारण अद्वैत शंकर ने वाच्य किया है और यह उनकी सत्य की प्रवेष्टा में सहायक ही हुई है वाचक कभी नहीं। श्रुति विरोध की समस्या उपस्थित होने पर वे उसे परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य के द्वारा बचा के गए हैं। अन्यथा तो किसी प्रकार उपनिषदों का सम्मम्य करना और निर्गुण ब्रह्म के सृष्टिकर्ता होकर भी निर्विकार बने रहना कभी

(१) न च परिनिष्ठितवस्तुस्वकस्वैर्येभिः प्रत्यक्षादिचिद्वयत्वं ब्रह्मणः। ब्रह्मसूत्र-भाष्य १।१।४

(२) मृत्पाद्योऽनुमवागवयवः यथातन्मवमिह प्रमार्थ अनुमवागत्वात्तत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।२

(३) श्रुतिश्च न प्रमाणतदीन्द्रियार्थविज्ञानीत्यसौ। ब्रह्मसूत्र भाष्य २।३।१ मिलाइये लायन भी यथा, 'प्रत्यक्षेनानुमित्या वा मस्तुपायो न बुध्यते। एतन् इच्छति वेदेन तस्मान् वेदस्य वेदता ॥ तैत्तिरीय भाष्य भूमिका में ॥ प्रत्यक्षानुमित्या वा मस्तुपायी न विद्यते। एनं विन्यति वेदेन तस्यादेवस्य वेदता। लायन भाष्योपक्रमणिका पृष्ठ ३४ में उद्धृत देखिए पीछे लायन दर्शन का विवेचन भी।

(४) देखिए पीछा भाष्य २।२१ माण्डूक्य कारिका भाष्य ३।१

(५) शंकर के द्वारा कर्तृक और कृतार्थकों की निम्ना के कुछ उदाहरणों के लिए देखिए प्रथम प्रकरण में 'भारतीय दर्शन में अभ्यास्यवाद और बुद्धिवाद' पर विवेचन।

सम्भव ही नहीं था। मायावाद की स्थापित इसी कठिनाई को दूर करने के लिए लाया गया है। अस्तु, परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य की कल्पना कर की कुछ-कुछ माध्यमिक भाषाओं की सी ही है और जैसा कि हम माने देखते आचार्य रामानुज के द्वारा प्राप्त इस विषय में उनका खण्डन भी वैसा ही है जैसा आचार्य कुमारिक के द्वारा बौद्धों का। किन्तु अभी तो हम संकर के द्वारा बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रत्याख्यान को देखें।

ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।१८ से २।२।३२ तक मध्वान् संकर ने बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन उपस्थित किया है। सांकरभाष्य के अनुसार हम मध्वान् संकर के द्वारा बौद्ध सम्प्रदायों के इस भगवान् संकर के द्वारा खण्डन में प्रवृत्त होते हैं। बौद्ध दर्शन का खण्डन ब्रह्मसूत्र-भाष्य में बौद्ध प्रस्तावित करते हुए ही उन्होंने 'सर्ववैनाशिक-दर्शन का प्रत्याख्यान पठान्त' (अर्थात् सर्ववैनाशिकों का सर्वसूय बाधियों का पठान्त अर्थात् सिद्धान्त) के नाम से बौद्ध दर्शन को पुकारा है। 'सर्ववैनाशिकपठान्तो नवप्रामेयित्व इति'। इस सर्ववैनाशिक पथ के उन्होंने तीन भेद बताए हैं सर्वास्तित्ववादी विज्ञानास्तित्वमानवादी और सर्वसूयत्ववादी। उन्हीं की प्रसस्त पञ्चमयी में स च बहुप्रकारः

तत्रैते त्रया बाधिनो भवन्ति—केचित् सर्वास्तित्व बाधिनः केचिद्विज्ञानास्तित्वमानवाधिनः अन्ये पुनः सर्वसूयत्वबाधिन इति। सूत्र २।२।१८ से २।२।२७ तक के भाष्य में आचार्यदेव ने पहले सर्वास्तित्व बाधियों (सर्वास्तित्वबाधियों) को किया है। सर्वास्तित्वबाधियों की परिभाषा देने हुए उन्होंने कहा है कि जो बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं को सर्वान् भूत और भौतिक की और विल मोर विल को स्वीकार करते हैं वे सर्वास्तित्ववादी हैं। 'तत्र ते सर्वास्तित्वबाधिनो बाह्यमान्तरं च वत्त्वम्पु गच्छन्ति भूत भौतिकं च विल विल च'।

अतुर् प्रकरण में सर्वास्तित्वबाधियों को 'संस्तुत' और 'असंस्तुत' दोनों का जो विवरण हम दे आए हैं उसमें विहित होगा कि संकर का सर्वास्तित्वबाधियों के मूल मन का उगरे बाधित्व का में दिनावा विनावा सर्वास्तित्व उदयक है। इस प्रकार प्रत्याख्यान कर सर्वत्रयम आचार्य संकर सर्वास्तित्वबाधियों के परमानुवाद पर आश्रय करने हैं।

(१) 'ब्रह्मसूत्र' के सभी भाष्यकार इस बात में सहमत हैं कि इसी तर्जों में 'सर्वास्तित्व' मन का खण्डन उपलब्ध होता है।

सर्वास्तिवादिषों का कहना है कि पृथ्वी, वायु, इतरादि भूत हैं, रूप और रस आदि भीतिष्ठ हैं। परमाणुओं में शर (तीव्रता का गुण) स्नेह (मित्रता का गुण) ईरण (यति का गुण) और उज्ज (गर्मी का यम) के गुण रहते हैं^१। इन गुणों की परमाणुओं में विद्यमानता होने के कारण पृथिवी आदि का संघात उठ खड़ा होता है और इसी प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पञ्चस्कन्ध भी और फिर इनसे जगत् मानसिक प्रवृत्तियाँ भी जो हमारे दैनिक व्यावहारिक जीवन को सम्भव बनाती हैं। यहाँ मगधान् शंकर को यह कहना है—यदि इस प्रकार के दो संघात^२ समानान्तर रूप से कारणभाव की दो परम्पराओं का अनुवर्तन कर चले अर्थात् एक तो परमाणुओं से^३ भूत

- (१) यहाँ शंकर ने पृथिव्यादि परमाणुओं में से हर एक को शर, स्नेह, उज्ज और ईरण स्वभाव वाला बताया है। पृथिव्यादि परमाणुः शरस्नेहोष्णेरण स्वभावास्ते^४। शंकर के व्याख्याकार मामतीकार ने पृथिवी परमाणु को माना है केवल 'शर' स्वभाव इसी प्रकार जल परमाणु को 'स्नेह' स्वभाव आदि। इनमें से कीन सा मत सर्वास्तिवाद की परिस्थिति को ठीक प्रकार से रखता है यह एक समस्या है जिसके समाधान के लिए देखिए बेल्लेकर : ब्रह्मसूत्र मोक्षसूत्र ६१-६२ मिलाइये बृहदारण्यकसंहिताः शरस्नेहोष्णेरणः। अभिधर्म-कोश १।१२। यहाँ भी भाषा की वही अस्पष्टता है। दोनों ही अर्थ लिए जा सकते हैं। बावत्पति मिथ का भी और शंकर का भी। राहुल साहूत्यायन ने उपर्युक्त की टीका में वही अर्थ लिया है जो बावत्पति मिथ ने शंकर की व्याख्या में जहाँ यह कि पृथ्वी शर स्वभाव है जल स्नेह स्वभाव आदि। बालि धर्मों को भी यही अर्थ मान्य होगा। मत इस सम्बन्ध में शंकर की अवेष्टा 'अद्वैतमीश्वरार्थ' (बावत्पति मिथ) ही अधिक ठीक जान बूझने है। बसुन् हनारे ब्रह्म का वैज्ञानिक आधार प्रायोगिक न होकर ब्रह्म चिन्तनात्मक ही रहा है जगत् उनके वर्णनों में यह अस्पष्टता अनिवार्यतः आ गई है।

- (२) उभयहेतुक उभयप्रकार समुदायः।

- (३) शंकर-भाष्य में शब्द है 'अनुहेतुक'। इस पर प्रसिद्ध जायानी बखित याबराजी लोखन ने व्यपत्ति की है कि यहाँ शंकर ने 'परमाणु' की बगल 'अनु' लिखकर गलती की है (निरुद्ध भाष्य ब्रह्मसिद्धि चोद वृत्त १६३)। शंकर के लानने भूत विषय अनु और परमाणुओं के विधेय का

और भौतिक पराधीन की ओर और दूसरा पञ्चस्कन्धों की ओर^१ तो फिर इन दोनों प्रकार के संघातों के इस प्रकार समानान्तर रूप से चलने पर उनके संघात क तत्त्व की ही असम्भवता हो जायगी। 'समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः'। उनके समुदाय के भाव की ही उपपत्ति नहीं हो सकेगी। और इसके लिए शंकर ने पांच हेतु दिए हैं (१) जो 'वर्म' (शंकर का प्रयोग नहीं किन्तु उनके अर्थ को प्रकट करने के लिए यह प्रयोग अन्य हो) संघात उत्पन्न करने या रहे हैं वे तो स्वयं अशुद्ध हैं 'समुदायिनामचेतनत्वात्'। अब यह भूत और भौतिक और चित्त और चेत (चेतनिक) की सृष्टि कैसे कर सकते हैं ? (२) चित्त का अभिगमन अर्थात् परमात्माओं में से चित्त भाव का स्वरूप तो उनके समुदाय या संघात पर निर्भर है। 'चित्ताभिगमनस्य च समुदायनिष्ठमधीनत्वात्'। जब समुदाय ही (प्रथम तर्क के अनुसार) गिना नहीं हुआ तो उसमें से चित्त-चेत भाव का भी 'अभिगमन' कैसे बन सकता है ? (३) संघात की स्थिति में कौन साध्या ? 'समुदाय' की प्रतिष्ठा कौन

विवेचन करता नहीं था। फिर पहले से कह ही चुके हैं कि 'पुष्य्याख्य परमाख्यः... संहृत्यन्त'। अतः उन्नी अक्ष में हमें यहाँ 'अक्ष' शब्द को लेना चाहिए। जैसे निश्चित वैज्ञानिक दृष्टावली की दृष्टि से (जो निश्चय ही दार्शनिक प्रश्नों में होनी चाहिए) सोजन का बहना निस्तार नहीं है और शंकर गुरु शब्द के प्रयोग के शोभी हैं। यदि इससे अधिक कुछ शंकर के प्रति वशपात चाहते हैं तो देखिए बेलबलकर : ब्रह्मसूत्र मोह्य, पृष्ठ ६३; सोजन की स्थिति के बूझकर के लिए देखिए अभिप्रेत कोष्ठ ३।८६ जहाँ पांच परमात्माओं को एक अक्ष के बराबर बताया गया है।

- (१) शंकर भाष्य में शब्द 'पञ्चस्कन्धी रूप' है। इसमें 'रूप' शब्द पर आमाशानी सोजन से आशय की है कि यह बीड़ दृष्टि से इस शब्द का अपारि-
नादिक प्रयोग है। निश्चय ही आमाशानी सोजन यहाँ गलत है। यह शब्द यहाँ पञ्चस्कन्धी के 'रूप' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है किन्तु केवल बिना प्रकार हुए बहने के मित्र-जन विपत्ति-रूप आदि। हमारे तथे से प्रयोग करने स्वाभाविक है। और फिर 'पञ्चस्कन्धी' में द्विपु अमान है इनकी भी सम्यक् अनुमति आमाशानी सोजन से नहीं की है। देखिए बेलबलकर : ब्रह्मसूत्र मोह्य, पृष्ठ ६३ ६४। सोजन के तर्क को लपटने के लिए देखिए 'निदम्य अष्ट अद्विष्टक बीड़' पृष्ठ १६३।

बनेगा ? तुम किसी 'अन्ध' 'स्विर' 'चेतन' तत्त्व की तो सच्चा ही स्वीकार नहीं करते ? किसी को इस 'समुदाय' या संघात का भोक्ता और शासनकर्ता तो मानते नहीं फिर यह तुम्हारा संघात कैसे बनेगा ? कौन इसको स्थिति में लाएगा ? यह तुम्हारे संघात का तो अन्त्युपम होना गही । 'अन्धस्य च कस्यचिन्चेतनस्य भोक्तुं प्रयासितुर्वा म्यिरस्य संहन्तुरनन्त्युपममाद्' । (४) यदि तुम कहो कि परमाणुओं की यह प्रवृत्ति किसी उपर्युक्त प्रकार से कहे हुए स्विर चेतन तत्त्व की वपसा गही रखती किन्तु बिना किसी प्रवर्तक कारण के ही परमाणुओं की संघात के प्रति प्रवृत्ति होने कम्पनी है, तो फिर इन प्रवृत्ति का उत्पन्न या उपसम भी तो कभी होगा गही क्योंकि उसका कोई नामक तो है ही नहीं । अतः निर्वाच भी तुम्हारा कहाँ सिद्ध होगा ? शायद यह कि यदि किसी संघातकर्ता को नहीं मानते और उससे निरपेक्ष ही प्रवृत्ति का अन्त्युपम स्वीकार करते हो तो प्रवृत्ति के अनुपरम प्रवर्तन से तुम मुक्त नहीं होइ सकते संहन्तुरनन्त्युपममाद् निरपेक्षप्रवृत्त्यन्त्युपममे च प्रवृत्त्यनुपरम-प्रवर्गाद्' । (५) यदि यह कहो कि ('सन्तान कर्') बाधन ही यह सब

- (१) 'आशय' क्या है ? सर्वास्तिवादी भास्यों में इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता । सम्भव है शंकर ने किसी ऐसे शब्द को आधार बनाया हो जो अब प्राप्त नहीं है । किन्तु तात्त्विक रूप से उनके अर्थ को समझना कठिन नहीं है और न यह किसी प्रकार अनुपपन्न ही है । जैसा कि हम चतुर्थ प्रकरण में देख आए हैं सर्वास्तिवादियों का एक सम्प्रदाय अक्षय या जो पञ्चस्कन्धों से व्यतिरिक्त एक चित्त की वारा की स्थिति मानता था जो क्षणिक होने पर भी बेहानियों की 'आत्मा' से कुछ समानता रखती थी और इसीलिये सर्वास्तिवादियों ने प्रमानतः उसे अन्ध लौकिकों की बीड़ समझ कर स्वीकार नहीं किया था । उसी चित्त-वारा की ओर निर्देश करते हुए आचार्य शंकर ने यहाँ कहा है । बते हम जानते हैं कि इसी 'चित्तवारा' का त्रिकल बार में बतकर 'आत्म विज्ञान' के नाम से विज्ञानवादियों ने दिया था । यही 'आत्म विज्ञान' शब्द का प्रयोग शंकर ने नहीं किया है, किन्तु उनके व्याख्याकारों ने उसे, इसी अर्थ में किया है । 'आमती' और 'रत्नप्रभा' ने 'आशय' का अर्थ 'आत्म विज्ञान' किया है और आनन्दपिरि न भी उसे सन्तान का पर्यायवाची बताया है, जो भी एक

काम कर देता है तो इसके विरोध में हमारे द्वार उक्त है (अ) संघात से यह निम्न है अथवा अतिम है इसका ही गुण निश्चय नहीं कर सकते 'आद्यसत्यान्त्यत्वात्मान्त्वान्भावानिष्कम्बत्वात्' (अ) यह तो एक अविश्व बर्ण (केवल का ही प्रयोग) है 'सन्निकल्पाभ्युपगमाच्च' (इ) अतः इसमें व्यापार सम्भव नहीं हो सकता निष्पत्तिरत्वात्' (ई) अतः प्रकृति की उत्पत्ति नहीं होती 'प्रकृत्यनुपपत्ते' । यहाँ परमाभुवाय के विरोधी उक्तों के प्रयोग में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का भी प्रयोग आ जाता है ।

समवाय संकर (सूचकार का ही अनुसरण कर) कहते हैं कि यदि सर्वास्तिवादियों की ओर से यह कहा जाय कि परमाभुवों के संघात के लिए स्थिर चेतन उत्पन्न मानने की जरूरत नहीं है प्रतीत्यसमुत्पाद आवश्यक प्रतीत्यसमुत्पाद ही यह सब काम कर देता क्योंकि उसमें सभी निदान एक दूसरे के प्रति कारण भाव से परिनिबद्ध रहते हैं तो वेदान्त की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ऐसा कभी हो नहीं सकता क्योंकि इससे तो केवल उत्पत्तिमान हो ज्ञानही संघात तो इससे होगा नहीं । 'प्रतीत्यसमुत्पाद संघात का कारण नहीं हो सकता इसके लिए संकर का प्रमाण उक्त वही है कि वहाँ कोई स्थिर चेतन्य मौजूद नहीं है, जो या तो प्रथम निदान स्वयं अविद्या को प्रकृत कर सके या इसके लिए संघात के उपभोग की संवत्ति दिखाई जा सके । चूंकि ये बातें प्रतीत्यसमुत्पाद में उपलब्ध नहीं होती अतः यह विभिन्न परम्पर-आधित निदानों की उत्पत्ति में भेद ही कारण स्वयं हो सके किन्तु उससे संघात व्याख्यात नहीं होता ।

ही बात है । निम्नाह्वय 'आद्योत्पत्तिस्त्विन् कर्मानुबन्धवात्तया इत्यादि' 'तत्त्वावात्म्यविज्ञानं मनुजैर्बहुमास्पदम् । तन् स्वात् प्रकृतिविज्ञानं समीक्षादिकमुपलभ्यते ॥ विज्ञानवादिषों के आत्म्य-विज्ञान या आत्म्य सम्बन्धी विचार की सर्वास्तिवादियों के बल्ले मड़ कर आचार्य डॉक्टर ने बीज सम्प्रदायों सम्बन्धी अपनी अनभिज्ञता की प्रकट किया है ऐसा अवश्य कहा जा सकता है ।

- (१) आचार्य हैं कि 'मातृरूप कारिका' के आध्यकार होने पर भी आचार्य डॉक्टर ने 'अ' न बीज प्रयोग अपने (कहाँ कि सम्प्रदाय उत्पत्ति तब) परत की) नहीं ।
- (२) इन दो तत्त्वों उत्पत्तिवादि ११/११

यहाँ हमें कुछ विस्तार से संस्कार के इस विषय सम्बन्धी तर्कों को समझना चाहिए । यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि संस्कार में कुछ संक्षेप से 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का विवरण भी दे दिया है (जिसकी आवश्यकता मित्र ने बड़ी विस्तृत और व्यत्यस्त विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है जिसके सहारे ही वे विद्यार्थी जिन्होंने बीछ कोशों से 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का ज्ञान सम्पादन नहीं किया है उसके स्वल्प को बहुत कुछ समझन का प्रयत्न करते हैं—यूँकि हम बीछे प्रकरण में स्पष्टिर्वाह परम्परा के अनुसार 'प्रतीत्य समुत्पाद' का विस्तृत वर्णन दे माए है और उसी प्रकरण के उत्तर भाग में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ने बीरे-बीरे विकसित होते हुए जो 'शून्यबाह' में अन्तर्भाव प्राप्त कर लिया उसे भी दिखा माए है इसलिए इच्छा रखते हुए भी हम यहाँ 'सामग्री' के उद्धरण करने के लोभ का संवरण करना पड़ता है बरि पुनरुक्ति के डर से—अतः भवमान् संस्कार तक ही हम सीमित रहना चाहते हैं) और साथ ही उन्होंने एक व्यत्यस्त महत्वपूर्ण वाक्य यह भी कहा है एवमासीयका इतरेतरहेतुका सीपते समये क्वचित् संक्षिप्ता निर्विष्टा क्वचित्प्रपञ्चिता । जो बीछ छात्रों से और विशेषतः पाक्षि-त्रिपिटक से अभिज्ञ हैं वे देख सकते हैं कि संस्कार का यह कहना ठीक है । हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि पाक्षि-त्रिपिटक संस्कार को उपलब्ध था हमें केवल यही कहना है कि संस्कार जब 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के निदानों के विषय में 'क्वचित् संक्षिप्ता निर्विष्टा क्वचित्प्रपञ्चिता' कहते हैं तो वे बीछ ग्रन्थों के स्वयं देखन का साधन देते हैं । अब हम अपने प्रश्न विषय पर आते हैं । भवमान् संस्कार का कहना है कि 'संघात की संगति तो हम अभी क्या सकते हैं जब कि संघात का कोई प्रवर्तक कारण माना जाय 'महेदुपपत्त-संघातो यदि संघातस्य किञ्चिद्विहितमवस्यते' । किन्तु इ तो यहाँ भिन्नता नहीं । 'न त्ववस्यते' । अगर यह मान लो और इसे मानने में हमें कोई हर्ष नहीं है कि अविद्या बाहि निदान एक दूसरे से कारण और कार्य भाव से सम्बन्ध रखते हैं फिर भी तो पूर्व-पूर्व का प्रत्यय या निदान उत्तरोत्तर प्रत्यय या निदान की उत्पत्ति मात्र का ही तो कारण हो सकता है किन्तु इतने से ही हम संघात के निर्माण का तो कोई कारण नहीं उपलब्ध होता नहीं । 'न तु संघातोत्पत्ते किञ्चिद्विहितं सम्भवति' । यदि सर्वास्तिवादी (जिनके ही सिद्धान्त के रूप में आचार्य संस्कार ने इसको यह प्रमाण उपलब्ध किया है) यह कहे कि अविद्या को ही क्या संघात के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्या उनसे ही संघात आविष्ट नहीं हो जाता तो इस पर संस्कार

कर लो किन्तु संसार की सिद्धि तो तुम प्रतीत्यसमुत्पाद से नहीं कर सकते । 'इतरेतरात्पतिमाननिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद् ननु नायं न तु संसारः सिद्धयेत् ।' इस प्रकार आचार्य शंकर ने सर्वास्तिवादियों के परमानुवाद का खण्डन किया है और साथ ही दिखाई है प्रतीत्य समुत्पाद की भी कारणभार के रूप में अपर्याप्तता ।

किन्तु सबसे बड़ी बात जो अब तक ऊपर किए गए शंकर के प्रत्याख्यान में हम देखते हैं वह यह है कि बीड़ दर्शन के कर्म निर्वाण साधन-पथ बाह्य की संगति बिना स्थिर आत्म तत्त्व स्वीकार किए गयी श्रेयशक्त के द्वारा कुछ लयती । यदि स्थिर आत्म तत्त्व की विद्यमानता प्रसङ्गात्पर हम बीड़ दर्शन की प्रतिष्ठा में न मानें तो उसका कोई भी सिद्धान्त पृथ्वी पर गिरे बिना नहीं खड़ा ।

निश्चय ही यद्यपि शंकर ने मूक माध्यमिककारिकाकार के समान विस्तार नहीं किया है किन्तु उनके गम्भीर और सूक्ष्म तर्कों की देखकर हम कह सकते हैं कि बिच प्रकार माध्यमिकों ने संसार की सभी वस्तुओं के प्रति कहा था किन्तु नहीं बात यदि हम स्थिर आत्मतत्त्व की सत्ता बीड़ दर्शन की प्रतिष्ठा में स्वीकार न करें तो उसके प्रत्येक प्रधान प्रत्येक नैतिक आदर्शवाद के सिद्धान्त वहाँ तक कि कर्म निर्वाण और पुनर्जन्म बाह्य सत्ता के विषय में कही जा सकती है 'बुद्ध्या विज्ञेयमानानां स्वस्मो नामचर्यते । यथा यथा विचार्यन्ते विधीर्यन्ते तथा तथा' । निश्चय ही ब्रह्मसूत्र भाष्य में वह काम शंकर ने कर दिखाया है । स्थिर आत्मतत्त्व के बिना 'जगद् बीड़ दर्शन 'बैनासिक समय' (बिनाशकारी सिद्धान्त) ही बना है और जैसे-जैसे उसकी उपन्युक्तता की उन्होंने परीक्षा की है वह सिकता-रूप के समान विधीर्न होता गया है । किन्तु इससे क्या बुद्ध-दर्शन की महिमा गट्ट होती है वना उसकी सत्ता बटती है ? शंकर का अतिप्रिय वाह जो टूट रहा हो (हम देखेंगे कि उनका अतिप्रिय भित्तिष वा) किन्तु उन्होंने अपने प्रत्याख्यानो से बुद्ध के कर्म और दर्शन की महिमा बढ़ाई ही है उसकी परिसुद्धि ही की है उसके ऐन को और प्रकाश ही दिया है । यह एक विरोधाभास-सा बीज सकता है किन्तु यह एक महान् सत्य है । शंकर के समस्त प्रत्याख्यानो का और उनके व्याख्याकारों के समस्त विस्तारों

(१) 'सर्वप्रकारेण यथायथा वैनासिकसमय उपपत्तिमत्त्वात् परीक्ष्यते तथा तथा सिकतारूपविधीर्न एव । ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।२।३२

का इससे अधिक और तात्पर्य क्या हो सकता है कि सर्वास्तिवादी विज्ञानवादी और सर्वसूत्रवादी (जिनके विषय में तो कहना ही क्या—आचार्य संकर ने जिनके सिद्धान्तों में से एक के भी निराकरण करने तक का भी बादर नहीं बिछाया) सभी परस्पर-विरोध सिद्धान्तों को किए हुए बेंबरे में टटोल रहे हैं वहाँ उनके आचार्यत्व और तत्त्वज्ञान की कोई सगति नहीं सगती और जो एक बड़ीत स्वर आत्मा की स्थिति माने बिना सभी प्रकार के प्रकाश और ज्ञान से रहित हैं। किन्तु इतने से बुद्ध-मन्तव्य निराकृत नहीं हो जाता उसकी नागार्जुन बर्मकीर्ति विद्वत्ता आदिकी (अवबोध और वसुबन्धु की नहीं—भूतवत्ता और विज्ञानमात्रता की ओर संकर के तर्क यहाँ सम्म नहीं करते और न वे उन पर प्रयुक्त हो सकते हैं) की हुई निवेद्यात्मक अवस्था बर्त निवेद्यात्मक व्याख्याएँ केवल मिश्रित होती हैं। बुद्ध-मीन की निवेद्यात्मक व्याख्या कुछ बौद्ध आचार्यों ने की। इसका गतीमा यह हुआ कि वे अपने धास्ता के मन्तव्य से दूर निकल गए (मृष्टि के अन्तस्तक में जिस बर्मनिमात्रता—धृत्य की नियमबद्धता—की लक्ष्य से देखा वा उसकी बें ठीक व्याख्या न कर सके) और निरन्तर निवेद्यात्मक विरोधों में पड़े हुए सिद्धांत पेशीदमियों के और किसी प्रकार बोधिलीय बर्मों के धास्ता के मन्तव्यों की संवधि ही न लगा सके। संकर का काम बुद्ध का व्याख्याकार होना नहीं था और न सुगत के प्रति यज्ञा ही उन्होंने दिखाई है (जागे देखेंगे) किन्तु अनायास रूप से उन्होंने बौद्ध आचार्यों की विचित्रार्थप्रतिपत्तियाँ दिखाकर बुद्ध-मन्तव्य को गवीन डंग से व्याख्या करने की एक विद्या प्रदर्शित दिखाई है जिसकी भी बुद्ध के मीन की व्याख्या करने में उसका ही अवकाश प्राप्त है जिसका कि नागार्जुन आदिकी निवेद्यात्मक विद्याओं की। जिस विद्या का प्रवर्तन अवबोध और वसुबन्धु न किया उसी का वैचारिक रूप हमें मीरपार में दिखाई पड़ा। अवबोध ने इन बताया कि धास्ता धास्ता ने भूतवत्ता कहा होना वसुबन्धु ने उसे 'विद्वत्तिमात्रता' कहा मीरपार ने औपनिषद ज्ञान को समर्पित कर कहा कि सम्भवतः यह उन वैदिक का मन्तव्य रहा होना किन्तु इससे ही सब ध्यान वाला नैतद् बुद्धेन मावितम् । कारिकाएँ बन्द कर दी। अब धार्मिक धारक रणमञ्च पर आने हैं। उन्हें ब्रह्म मठ की सिद्धि करनी पड़ती है और वैदिक मठ की स्थापना। बुद्ध के मन्तव्य के जिस बीज होने की सम्भावना आचार्य मीरपार हम विचित्रतापूर्वक और सम्यक् बूमकर देते हैं आचार्य संकर अनायास ही और सम्भवतः बिना अनुभव किए हुए ही (कल्पना

की दृष्टि यह है कि जब यह कहा जाता है कि प्रतीत्य समुत्पन्न मिथ्य ही संघात को अक्षिप्त कर सकते हैं, तो इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं। (१) या तो यह अभिप्राय हो सकता है कि चूँकि अविद्यादि निदान बिना संघात की उपस्थिति के अपनी स्थिति कायम नहीं रख सकते इसलिए निश्चयतः ही संघात की विद्यमानता उनमें निहित है अथवा (२) यह अभिप्राय प्रतिपक्षी का हो सकता है कि अविद्यादि स्वयं ही संघात के कारण हैं। इन दोनों परिस्थितियों का आचार्य संकर ने इस प्रकार निराकरण किया है। प्रथम आपत्ति के विषय में उनका कहना है कि यदि हम यह मान लें कि अविद्या आदि निदानों से संघात स्वयं ही अक्षिप्त हो जाता है और उसकी अनुपस्थिति में हम अविद्यादि की भी स्थिति को नहीं समझ सकते तो आचार्य संकर फिर यही कहते हैं कि उसके लिए कोई निमित्त लाजो 'तत्तत्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्'। यह निमित्त तो व्यास-वैशेषिक के परमाणुवाद में भी उपलब्ध नहीं होता जहाँ कि 'नित्य' वस्तु है और आत्म आध्यात्म स्वयं कई अनेक प्रोक्तता हैं, तो हे अर्थ ! (प्रियवर ! प्रतिपक्षी को प्रेम पूर्वक सम्बोधन !)

तुम्हारे यहाँ तो अजिंक' बरम परमाणु हैं, जो भी जगत्स्य हैं वत यहाँ निमित्त की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? 'नित्येष्वपि वस्तुषु बन्धुपगम्यमानेषु आध्यात्मविभूतेषु (आत्मवाधविभूतेषु भी पाठ है) व भोक्तृषु सत्तु व सम्भवतीत्युक्तं वैशेषिकपराजया। किमम ! पुनः सविशेषपि वस्तुषु भोक्तृच्छितेषु आध्यात्मविभूतेषु बन्धुपगम्यमानेषु सम्भवत्'। फिर यदि अविद्यादि निदान संघात को अक्षिप्त करत हैं तो यदि इसका दूरात उपलब्ध तात्पर्य यह किया जाय कि अविद्यादि स्वयं ही संघात के कारण हैं तो उसका निरुद्ध संकर का तर्क यह है कि जो अविद्यादि स्वयं अपनी स्थिति के लिए संघात पर निर्भर हैं वे स्वयं उस संघात के ही कारण किस प्रकार हो सकते हैं ? कब तमेवाभित्यात्मज्ञं कर्ममाणास्तस्यैव निमित्तं स्मृ । वत संघात अविद्यादि के द्वारा अक्षिप्त नहीं किया जाता और जिन दो अर्थों में संघात का अविद्यादि के द्वारा अक्षिप्त होना दिखाया जा सकता है उन दोनों अर्थों का संकर ने निराकरण कर दिया है। किन्तु बीडों के इतने महत्त्वपूर्ण मिथ्यात्व की इस प्रकार आसानी से आचार्य संकर नहीं छोड़ सकते। वे फिर कहते हैं कि यदि यह मान किया जाय कि इस जगत्सि संघात में संघात पूर्व से ही स्थित है और अविद्यादि निदान उसी पर आध्यात्म हैं तो यह पूछा जा सकता है कि एक गया संघात जो एक पूर्व संघात से उत्पन्न होगा वह क्या नियम से

पूर्व संघात के सदृश ही होगा अथवा बिना किसी नियम के सदृश और विषदृश दोनों हो सकता है। 'संघातासंघातान्तरमुत्पन्नानां नियमेन वा सदृशमेवोपपद्येत अनियमेन वा सदृशं विरुद्धं बोधयेत्'। दोनों ही हाकलों में संघात की सिद्धि नहीं होती। किन्तु प्रकार ? यदि नियम से एक संघात से समान संघात की उत्पत्ति हम मानें तो भिन्न-भिन्न योनियों में कर्मनिष्ठान्तर मनुष्य के संघरण की उत्पत्ति नहीं मिल सकती। 'नियमाम्मुपगमे मनुष्य-मुद्बलकस्मैवैवतिर्व्यभिचारकप्राप्यमात्रं प्राप्नुयात्' और यदि अनियम से ही एक संघात से सदृश अथवा विरुद्ध संघात की उत्पत्ति को हम मानें तो हमें मनुष्य के अरीर की एक क्षण में हाथी एक क्षण में देव और फिर एक क्षण में मनुष्य के रूप में आता हुआ मानना पड़ेगा। 'अनियमाम्मुपगमेऽपि मनुष्यपुरुषक-कथाचित्तस्यैव हस्ती मूखा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवत्'। अतः न तो एक संघात के दूसरे संघात से नियम पूर्वक सदृश उत्पन्न होने पर और न अनियम से सदृश या विरुद्ध उत्पन्न होने पर ही प्रतिपक्षियों का यह सम्मुपपन्न कि अनादि संसार में संघात पूर्व से ही अवस्थित हैं और अविद्यादि उन्हीं पर आधारित हैं नहीं ठहराया बल्कि दोनों ही उपर्युक्त सिद्धान्त (गिराण्ट किए जाने पर) उसके (सम्मुपपन्न के) विरुद्ध ही ठहरते हैं। 'उपपन्नस्यम्मुपगमविच्छेदम्'। फिर इस विषय में उपसंहार की ओर आते हुए आचार्य लेकर अपने प्रबान ठीक पर बतते हैं (जिसका निर्देश पहले भी कर दिया था चुका है और जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है न केवल बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध को समझने के लिए ही बल्कि सांकर दर्शन के बौद्ध दर्शन से मूल विमर्श को हृदयमय करने के लिए भी)। बौद्ध दर्शन के अनुयायी से उनका गम्भीर निगाह है 'यद्भोमायं संघातः स्यात्स तस्मिन् स्थितो भोक्तृति तत्राम्मुपगमः'। तुम्हारे दर्शन में उस स्थिर भोक्ता (अनुभवकर्ता) आत्मा के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है जिसके लिए संघात के भोग (अनुभव) की कल्पना की जाती है। अतः निश्चय ही भोग (अनुभव) के लिए ही तो यह संघात रूप भोग उपस्थित है अतः भोग केवल भोग के लिए ही तो रही मुमुक्षु कहाँ रहा ? यदि मानते हो कि मुमुक्षु ही तो क्षणिकवाद का उपदेष्टा क्यों देते हो ? भोग और भोग दोनों वालों में ही तो मुमुक्षु को स्थायी रहना चाहिए। अतः यदि एक ओर स्थिर आत्मा मानते हो तो दूसरी ओर तुम्हारा क्षणिकवाद नहीं रहना और यदि क्षणिकवाद पर आधारित रहते हो तो प्रतीत्यसमुत्पन्न के द्वारा संघात सिद्ध करने के मोह को छोड़ो ! एक से दूसरे की उत्पत्ति की व्याख्या करनी है तो मने ही तुम

कर लो, किन्तु संसार की सिद्धि तो तुम प्रतीत्यसमुत्पाद से नहीं कर सकते। 'इतरेवरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यास्वीमा यदि भवेद् भवतु नाम न तु संसार सिद्धये'। इस प्रकार आचार्य संकर ने सर्वास्तिवादियों के परमायुवाद का खण्डन किया है और साब हो दिखाई है प्रतीत्य समुत्पाद की भी कारणवाद के रूप में अपर्याप्तता।

किन्तु सबसे बड़ी बात जो अब तक ऊपर किये गए संकर के प्रत्याख्यान में हम देखते हैं वह यह है कि बौद्ध दर्शन के कर्म निर्वाण साधन-मार्ग आदि की संगति बिना स्विर आत्म तत्त्व स्वीकार किये नहीं शेषक के द्वारा कुछ कगती। यदि स्विर आत्म तत्त्व की विद्यमानता

प्रसङ्गान्तर हम बौद्ध दर्शन की प्रसिद्धा में न मालें तो उक्त का कोई भी सिद्धान्त पृथ्वी पर पड़े बिना नहीं रहता।

निश्चय ही यद्यपि संकर ने 'मूक माध्यमिककारिकाकार' के समान विस्तार नहीं किया है किन्तु उनके जम्मीर और सूक्ष्म तर्कों को देखकर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार माध्यमिकों ने संसार की सभी वस्तुओं के प्रति कहा था, विलक्षण नहीं बात यदि हम स्विर आत्मतत्त्व की उक्त बौद्ध दर्शन की प्रसिद्धा में स्वीकार न करें तो उसके प्रत्येक प्रज्ञान प्रत्येक नैतिक आदर्शवाद के सिद्धान्त यही तक कि कर्म निर्वाण और पुनर्जन्म आदि सभी के विषय में झूठी या झूठी है 'बुद्धया विवेक्यमानानां स्वक्यो नावधार्यन्ते। यथा यथा विचार्यन्ते विधीर्यन्ते तथा तथा'। निश्चय ही ब्रह्मसूत्र भाष्य में यह काम संकर ने कर दिखाया है। स्विर आत्मतत्त्व के बिना उक्त बौद्ध दर्शन 'वैनासिक समय' (विवाधवादी सिद्धान्त) ही लया है और जैसे-जैसे उसकी उपयुक्तता की उन्होंने परीक्षा की है, वह शिकता-रूप के समान विधीर्न होता गया है। किन्तु इससे क्या बुद्ध-दर्शन की महिमा नष्ट होती है या उसकी सत्यता घटती है? संकर का अभिप्राय चाहे जो कुछ रहा हो (हम देखेंगे कि उनका अभिप्राय विनिर्णय) किन्तु उन्होंने अपने प्रत्याख्यानों से बुद्ध के कर्म और दर्शन की महिमा बढ़ाई ही है उसकी परिशुद्धि ही की है उसके तेज को और प्रकाश ही बिना है। यह एक विरोधाभास-मा बीज सफ़टा है किन्तु वह एक महान् सत्य है। संकर के समस्त प्रत्याख्यानों का और उनके व्याख्याकारों के समस्त विस्तारों

(१) 'सर्वप्रकारेण यथावसाथं वैनासिकसमय उपपत्तिमत्त्वात् वरीयते तथा तथा शिकतारूपविधीयत एव। ब्रह्मसूत्र-भाष्य १।१।३२

का इससे अधिक और तात्पर्य क्या हो सकता है कि सर्वास्तिवासी विज्ञान-वासी और सर्वसूत्रवासी (जिनके विषय में तो कहना ही क्या—आचार्य संकर ने जिनके 'सिद्धान्तों' में से एक के भी निराकरण करने तक का भी आचर नहीं दिखाया) सभी परस्पर-विरुद्ध सिद्धान्तों को किए हुए भैंरे में टटोल रहे हैं वहाँ उनके आचारतत्त्व और तत्त्वज्ञान की कोई संगति नहीं छपती और जो एक बड़ी-ठीक स्वरि आत्मा की स्थिति माने बिना सभी प्रकार के प्रकाश और ज्ञान से रहित है। किन्तु इतने से बुद्ध-मन्तव्य निराकृत नहीं हो जाता उसकी नागार्जुन धर्मकीर्ति विद्वत्ताय आदि की (अस्वभावोप और वसुबन्धु की नहीं—मूर्तमत्ता और विज्ञानमात्रता की ओर धरकर के ठकें यहाँ सम्म नहीं करते और न वे उन पर प्रमुक्त हो सकते हैं) की हुई निवेद्यात्मक अभ्यास अर्द्ध निवेद्यात्मक व्याख्याएँ केवल निराकृत होती हैं। बद्ध-मीन की निवेद्यात्मक व्याख्या कुछ बौद्ध आचार्यों ने की। इसका मतीका यह हुआ कि वे अपने वास्ता के मन्तव्य से दूर निकल गए (मृष्टि के अन्तस्तक में जिस धर्मनियामता—सत्य की नियमबद्धता—को स्थापित ने देखा था उसकी वे ठीक व्याख्या न कर सके) और निरन्तर निवेद्यात्मक विरोधों में बाले हुए सिद्धांत पेशीयगियों के और किसी प्रकार औपनिषदीय धर्मों के वास्ता के मन्तव्यों की संगति ही न क्या सके। संकर का काम बुद्ध का व्याख्याकार होना नहीं था और न सुषुप्त के प्रति मत्ता ही उन्होंने दिखाई है (आगे देखेंगे) किन्तु अन्त्यास रूप से उन्होंने बौद्ध आचार्यों की विद्वत्प्रतिपत्तियाँ दिखाकर बुद्ध-मन्तव्य को महीन ढंग से व्याख्या करने की एक विद्या दक्ष्य दिखाई है जिसकी भी बुद्ध के मीन की व्याख्या करने में उतना ही अवकाश प्राप्त है जितना कि नागार्जुन आदि की निवेद्यात्मक विद्याओं की। जिस विद्या का प्रवर्तन अस्वभावोप और वसुबन्धु ने किया उसी का वैद्वान्तिक रूप हमें बौद्धवाद में दिखाई पड़ा। अस्वभावोप ने हमें बताया कि साम्य वास्ता में 'मूर्तमत्ता' कहा होमा वसुबन्धु ने उसे 'विद्वत्प्रतिमात्रता' कहा बौद्धवाद ने औपनिषद ज्ञान को समर्पित कर कहा कि सम्मत्ता यह उन 'द्विष्टिक' का मन्तव्य रहा होमा किन्तु दूसरे ही क्षण ध्यान आया नैवद् बुद्धं मापितम् । कारिकाएँ बन्य कर सी। अब वाद्वान्तिक संकर स्वयम्भू पर बाले हैं। उन्हें अर्द्ध मत्ता की सिद्धि करनी इष्ट है और वैद्विक मत्ता की स्थापना। बुद्ध के मन्तव्य के जिस बौद्ध होने की सम्भावना आचार्य बौद्धवाद हमें समिद्धतापूर्वक और समझ बुझकर देते हैं आचार्य संकर अन्त्यास ही और सम्मत्ता बिना अनुभव किए हुए ही (अभ्यास

कर को किन्तु संसार की सिद्धि तो तुम प्रतीत्यसमुत्पाद से नहीं कर सकते। 'इतरेतरेत्पत्तिमात्रमिति तत्त्वमविद्याधीनां बहिर्भवेद् भवतु नाम न तु संसारः सिद्धयेत्'। इस प्रकार आचार्य शंकर ने सर्वास्तिवादियों के परमावृत्त का खण्डन किया है और साथ ही दिखाई है प्रतीत्य समुत्पाद की भी कारणवाद के रूप में अपर्याप्तता।

किन्तु सबसे बड़ी बात जो जब तक ऊपर किए गए शंकर के प्रत्याख्यानो में हम देखते हैं वह यह है कि बौद्ध दर्शन के कर्म निर्वाण साधन-मार्ग आदि की संवत्ति बिना स्थिर आत्म तत्त्व स्वीकार किए नहीं हो सकते के द्वारा कुछ भगती। यदि स्थिर आत्म तत्त्व की विद्यमानता प्रसङ्गात्तर हम बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा में न मानें तो चतुर्थ कोई भी सिद्धान्त पृथ्वी पर गिरे बिना नहीं रहता।

निश्चय ही यद्यपि शंकर ने 'मूळ माध्यमिककारिकाकार' के समान विस्तार नहीं किया है किन्तु उनके पन्नीर और सूत्र तर्कों को देखकर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार माध्यमिकों ने संसार की सभी वस्तुओं के प्रति कहा था कि कुछ नहीं बात बहिर्भवेद् भवतु नाम न तु संसारः सिद्धयेत्'। निश्चय ही बौद्ध दर्शन की सत्ता बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा में स्वीकार न करे तो उसके प्रत्येक प्रमाण प्रत्येक नैतिक आदर्शवाद के सिद्धान्त यहां तक कि कर्म निर्वाण और पुनर्जन्म आदि सभी के विषय में नहीं जा सकती है 'बहुधा विवेक्यमानानां स्वस्मै नान्वार्यते। नवा यवा विचार्यन्ते विधीर्मन्ते तथा तथा'। निश्चय ही बहसूत्र भाष्य में यह काम शंकर ने कर दिखाया है। स्थिर आत्मतत्त्व के बिना उन्हें बौद्ध दर्शन 'बैनाधिक समय' (विनाशकारी सिद्धान्त) ही समझा है और बीते-बीते उसकी उपबुद्धता की उन्होंने परीक्षा की है, वह सिकता-रूप के समान विधीर्भ होता था है^१। किन्तु इससे क्या बुद्ध-दर्शन की महिमा मट्ट होती है या उसकी सत्यता बटती है? शंकर का अभिप्राय चाहे जो कुछ रहा हो (हम देखेंगे कि उनका अभिप्राय विभिन्न था) किन्तु उन्होंने अपने प्रत्याख्यानों से बुद्ध के कर्म और दर्शन की महिमा बढ़ाई ही है उसकी परिमुद्रि ही की है उनके पैर को और प्रकाश ही दिया है। यह एक विरोधाभास-ना चीज सकता है किन्तु यह एक महान् तत्त्व है। शंकर के समस्त प्रत्याख्यानों का और उनके व्याख्याकारों के समस्त विस्तारों

(१) 'सर्वप्रकारेण यथायथायं वैनाधिकतमय उपपत्तिमरवाय शरीरयते तथा तथा तिकतारूपविविधीर्यत एव। बहसूत्र-भाष्य २।१।३३

का इससे अधिक और तात्पर्य क्या हो सकता है कि सर्वास्तिवादी विज्ञान-वादी और सर्वसूत्रवादी (जिनके विषय में तो कहना ही क्या—आचार्य शंकर ने जिनके सिद्धान्तों में से एक के भी निराकरण करने तक का भी आदर नहीं दिखाया) सभी परस्पर-विरोध सिद्धान्तों को लिए हुए बेंबरे में टटोका रहे हैं जहाँ उनके आचार्यात्म और तत्त्वज्ञान की कोई संरति नहीं समझी और जो एक बड़ी-ठीक स्वर आत्मा की स्थिति माने बिना सभी प्रकार के प्रकाश और ज्ञान से रहित हैं। किन्तु इन्होंने से बुद्ध-मन्तव्य निराकृत नहीं हो जाया उसकी नायार्जुन धर्मकीर्ति विद्वानाग आदि की (अस्वर्ग्य और वसुवन्धु की नहीं—मृतत्वता और विज्ञानमात्रता की ओर शंकर के तर्क यहाँ लम्ब नहीं करते और न वे उन पर प्रयुक्त हो सकते हैं) की हुई नियेवात्मक अवस्था अथ नियेवात्मक व्याख्या केवल निराकृत होती है। बुद्ध-मीन की नियेवात्मक व्याख्या कुछ बौद्ध आचार्यों ने की। इसका मतीबा यह हुआ कि वे अपने छास्ता के मन्तव्य से दूर निकल गए (सृष्टि के अन्तर्गत में जिस धर्मनियामता—सत्य की नियमवत्ता—को तबानत ने देखा था उसकी व ठीक व्याख्या न कर सके) और निरन्तर नियेवात्मक विरोधों में आते हुए सिवाय ऐश्वर्यगियों के और किसी प्रकार शोषितव्य वनों के छास्ता के मन्तव्य की संरति ही न बना सके। शंकर का काम बुद्ध का व्याख्याकार होना नहीं था और न सुगत के प्रति यद्वा ही उन्होंने दिखाई है (आगे देखिये) किन्तु वनायास रूप से उन्होंने बौद्ध आचार्यों की विद्वान्प्रतिपत्तियाँ दिखाकर बुद्ध-मन्तव्य को नवीन हँस से व्याख्या करण की एक दिशा व्यक्त दिखाई है जिसको भी बुद्ध के मीन की व्याख्या करने में उतना ही अवकाश प्राप्त है जितना कि नायार्जुन आदि की नियेवात्मक विचारों को। जिस विद्या का प्रवर्तन अस्वर्ग्य और वसुवन्धु ने किया उसी का वैश्वविक रूप हमें मौखपाद में दिखाई पड़ा। अस्वर्ग्य ने हमें बताया कि छाया छास्ता ने 'मृतत्वता' कहा होगा वसुवन्धु ने उस 'विद्वान्प्रतिपत्तता' कहा मौखपाद ने औपनिषद ज्ञान को समर्पित कर कहा कि सम्भवतः यह उन 'वैदिक' का मन्तव्य रहा होगा किन्तु इससे ही हम ध्यान पाया नैतद् बुद्धेन मायितम् । कारिकाएँ बन्द कर दी। अब शास्त्रिक एकर रंगमन्त्र पर आते हैं। उन्हें अद्वैत मठ की सिद्धि करनी पड़ती है और वैदिक मठ की स्थापना। बुद्ध के मन्तव्य के जिस चीज होने की सम्भावना आचार्य मौखपाद हम विद्वान्पूर्णक और समझ बूझकर देते हैं आचार्य शंकर बनायास ही और सम्भवतः बिना अनुभव किए हुए ही (अन्यथा

‘स्पष्टीकृतमात्मनोऽश्वम्बदप्रकाशितम्’ ऐसा क्यों कहते) हमें यह बताना देते हैं कि बुद्ध यदि वास्तव में परमार्थ जानती हैं यदि वास्तव में कर्म की प्रतिष्ठा से चाहते हैं यदि पुनर्जन्म में उनका कुछ भी विश्वास है यदि उनके द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का कोई भी समझने योग्य अर्थ है यदि उनके आत्म-मार्ग की कोई भी प्रतिष्ठा है यदि जीवन की कोई भी महत्ता उनकी दृष्टि में है किसी भी प्रकार की व्यवस्था में उनका विश्वास है (जो सब बातें उनमें हैं) तो यह नाम-स्वात्मक जगत् से बटीत और उसमें समाई हुई किसी सत्यता के बल पर ही हो सकता है, उसका निवेदन करके नहीं। अब हम अपने उद्देश्य के लिए कह सकते हैं कि संकर ने एक प्रकार से बुद्ध के मन्तव्य की नियेधात्मक व्याख्याओं से परिशुद्धि ही की है और इस प्रकार उन्होंने बुद्ध के वास्तविक मन्तव्य को समझने के लिए अधिक प्रोत्साहन ही उत्पन्न किया है अनुत्साह नहीं। प्रश्न यहाँ यह बिलकुल नहीं कि तो फिर क्या गानार्जुन आदि ने बुद्ध-मन्तव्य की मूल व्याख्याएँ ही की हैं? अपने मूल विषय से हम हट तो ही आए हैं इसमें पड़कर तो और भी हटना होना! इतना ही कह सकते हैं कि संकर और गानार्जुन की प्रज्ञाएँ उन ‘अनोवरणी’ (बुद्ध) के शरीर के छोर को भी स्पर्श नहीं करतीं। सम्मत् सम्बुद्ध गानार्जुन और संकर दोनों की पहुँच से बाहर हैं। हाँ गौडपाद की ओर देखकर से लेकर कह सकते हैं ‘साम् गौडपाद ! साम् गौडपाद !’ (साम् शारिपुत्र ! साम् शारिपुत्र ! की तरह—सुतपिटक में अनेक बार प्रयुक्त। प्रज्ञानतया ऐतिय संकीर्ति-परिणाम-मुक्त (बीज १।१))। हम लौए हुए बाघे को पकड़ते हैं।

हम अभी इस बात का निरूपण कर रहे थे सर्वास्तिवादियों के परमाणुवाद का खण्डन करते हुए आचार्य संकर ने अनेक प्रभावशाली तर्क देकर इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परमाणुओं शंकर और बीज सखिकवाय का संघात जो सभी भूत और भौतिक तथा चित और चैत सम्बन्धी सृष्टि के लिए अनिवार्य आवश्यक है उनके मान्य सिद्धान्तों के अनुसार नहीं बनता और वे एक निश्चय-प्रतिपत्ति में आ पड़ते हैं। इसके लिए जितने तर्क आचार्य संकर ने अपने ब्रह्मसूत्रमार्ग में दिए हैं वे सब ऊपर उपस्थित कर दिए गये हैं। साथ ही ‘अतीत्यसमूत्पाद’ के सिद्धान्त में भी क्या निश्चयत्व मल पड़ा है और परमाणुओं के संघात को सिद्ध करने की उसकी भी फिटनी असम्भूतता है, इसके विषय में भी संकर के सभी प्रभावशाली तर्कों को ऊपर हम से चुके हैं। हमने

ऊपर देखा जा कि प्रतीत्य समुत्पाद से संघात की सर्वथा अतिरिक्त विचारों
 समय भगवान् एकर यह कह गए थे कि इससे अविद्यादि का एक दूसरे के प्रति
 'निमित्तमात्र निमित्तत्व' (पहले व्याख्या कर चुके हैं) तो विचारों की
 जा सकता है। 'इदरेतौत्यतिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेत् त्वेतेषु
 नाम'। किन्तु यह उन्होंने अपने मत की अपेक्षा से कहा था। अब वे यह
 विचारों को प्रवृत्त होते हैं कि स्वयं बौद्धों के मतानुसार तो इतना भी नहीं
 विचारों जा सकता। निश्चय ही बौद्ध बड़ी विरुद्धप्रतिपत्तियों में जा पड़े
 हैं। बौद्ध मत सर्वथा असंगत है। 'असंगतं सीपतं मयम्'। किन्तु प्रकार ?
 अविद्यादीनां वा अज्ञानादीनां बहु स्थापना करता है कि एक उत्तर क्षण के
 उत्पन्न होने पर पूर्व का क्षण निरुद्ध हो जाता है। अब ऐसा ही है तो पूर्व
 और उत्तर क्षणों में कारण-कार्य-भाव कैसे स्थापित किया जा सकता है ?
 'न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः सन्नयोर्हेतुफलभावो धारयते सम्पादयितुम्'।
 जो एक निरुध्यमान (निरुद्ध होने वाला) अथवा निरुद्ध (बर्तीत) पूर्वक्षण है,
 वह तो अभाव को ही प्राप्त हो गया तो फिर वह एक उत्तर क्षण का हेतु किन्तु
 प्रकार हो सकता है ? 'निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वसन्नस्याभावप्रत्यक्षापुनरु-
 त्पन्नहेतुत्वानुपपत्तेः'। यदि यह कहा जाय कि एक ऐसा पूर्व क्षण मिलने भाव
 बर्तीत क्षण को स्वल्प बारण कर दिया है और जिसने अपनी अवस्था को
 परिपूर्ण रूप से विरहित कर दिया है, एक उत्तर क्षण का कारण होता है,
 तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसे क्षण के प्रति फिर व्यापार या
 प्रवृत्ति की कल्पना की जाय तो एक क्षण की दूसरे क्षण के साथ सम्बन्ध में
 बर्तीत की आपत्ति का सामना। 'अथ भावमूठं परिप्लव्णवत्त्वं पूर्वसन्न उत्तर
 क्षणस्य हेतुव्यभिचारवत्त्वादि नोपपत्तये'। भावमूठस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां
 पश्चात्तरसम्बन्धप्रसङ्गात्। यदि यह कहा जाय कि बाब ही इसका (पूर्वसन्न
 का) व्यापार होता है तब भी ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी बाब जो अपने
 कारण के स्वभाव में उपरक्षण नहीं हुआ है कभी स्थिति में ही नहीं जा सकता।
 'अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नोपपत्तये'। हेतुस्य भावानुप-
 रक्षणस्य फलस्योत्पत्त्यसम्भवात्। और यदि कार्य का कारण से उपरक्षण

- (१) यहाँ शंकर की लज्जालोचना के लिए भी और उनके समर्थन के लिए भी
 काफी जगह मिल सकता है। यहाँ वर विचार यह है कि एक वस्तु
 किसी अन्य पूर्व वस्तु के कार्य स्वरूप उत्पन्न होती है और स्वयं किसी
 की १४

होना ही माना जाय तब चूंकि कारण के स्वभाव का स्वाधित्व कार्य की उत्पत्ति के सब तक मानना पड़ता है, तब सम्भवभाव के ही उठा फेंक देने का प्रसंग उठ सकता होता है। 'स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य पञ्चकालावस्थायित्वे सति क्षणमनाभ्युपगमत्वागप्रसंगः' । पुनः यदि यह माना जाय कि बिना ही कारण के स्वभाव से उपरक्त हुए कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है तो फिर किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकेगा क्योंकि कार्य का कारण के स्वभाव के साथ उपराग का अभाव तो सर्वत्र ही दृष्टि गोचर हो सकता है तब इस तरह अति प्रसंग का बोध जा जाता है बिना ही स्वभावोपरागेण हेतुपञ्चकालावस्थामभ्युपगच्छत सर्वत्र तत्त्वापेक्षेतिप्रसंगः । फिर

इसरी वस्तु का कारण बन कर निरुद्ध हो जाती है। अब वस्तु का जो कार्य स्वल्प होता है, उसमें 'कारण' उपरक्त हुआ रहता है तब वस्तु की तीन अवस्थाएँ होती हैं जबवा यह कहना चाहिए कि उसकी सत्ता के तीन तत्व होते हैं (१) उसका कार्य के रूप में उत्पन्न होना (२) कारण के रूप में उसका उपरक्त होना (३) एक दूसरी वस्तु की उत्पत्ति की परम्परा को जान्न लेकर स्वयं निरुद्ध हो जाना। यही है किसी वस्तु का तीन तत्व तक स्थायी रहना उसका 'त्रिधन-स्वाधित्व भाव'। अब वास्तव में बात यह है कि इस प्रकार का मत व्याय-बैधेरिक को जान्य है (देखिए पाँचवें प्रकरण में व्याय-बैधेरिक का विवेचन) बीह्नो की नहीं (जम्पवा उनका अधिकार ही नहीं कहकरा है ?)। तब शंकर के विरोधी कह सकते हैं कि उन्होंने सर्वास्तिवाद पर उक्त सिद्धान्त का आरोप किया है जिसे वे नहीं मानते। किन्तु सर्वत्र बात ऐसी नहीं है। यह बात ठीक है कि अधिकार पर प्रतिष्ठित कोई भी बीह्न सम्प्रदाय वस्तु के 'त्रिधन स्वाधित्व' की नहीं मान सकता किन्तु निरवय ही ऐतिहासिक रूप से सर्वास्तिवादियों का एक ऐसा सम्प्रदाय अवश्य था जो इस प्रकार के सिद्धान्त को मानता था (देखिए चौथे प्रकरण में सर्वास्तिवादियों के काल सम्बन्धी विचार का विवेचन)। मतः शंकर का आपार बह मत हो सकता है। और फिर 'परिचामित्यत्व' को तो सर्वास्तिवादी मानते ही हैं। अतः इस दृष्टि से भी शंकर पर दोष नहीं लगाया जा सकता। बिल्कुल विवेचन के लिए देखिये बेलबेलकर : ब्रह्मसूत्र नीरुत पृष्ठ ७७-७८

किसी वस्तु की उत्पत्ति और निरोध में इतनी बातों में से एक अवश्य होनी चाहिए। या तो वह वस्तु का स्वल्प ही हो (वस्तुन स्वल्पमेव) या एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ हों (अवस्थान्तरं वा) अथवा उस वस्तु से विभिन्न ही कोई वस्तु हो (वस्तुन्तरमेव वा)^१। इन तीनों की ही भगवान् संकर अनुपपत्त्यता दिखाते हैं। यदि वस्तु का स्वल्प ही उत्पाद और निरोध हों तब तो वस्तु शून्य और उत्पाद-और-निरोध शून्य पर्याप्तवाची होने चाहिए। किन्तु यदि यहाँ यह कहा जाय उपर्युक्त दोनों धर्मों में कुछ ता विभिन्नता है ही और उत्पाद और निरोध केवल एक ही वस्तु की दो अवस्थाओं को दिखाते हैं अर्थात् प्रारम्भिक और अन्तिम को जिनके बीच का बिन्दु ही वास्तविक सत् वस्तु है तब तो वह वस्तु तीन लक्षों के सम्बन्ध में आ गई अर्थात् प्रारम्भिक मध्यम और अन्तिम तो फिर छोड़ो जाने लक्षमन्त्रवाद को। 'अपास्ति वरिचक्षितोऽय इति मन्वेतोऽपानिरोधप्रशङ्का मन्मवर्तिनो वस्तुन आद्यत्यास्ये अवस्थे अव्यक्तमेवे इति। एवमप्याद्यन्तमध्यलक्षमयसम्बन्धित्वाद्वास्तुन अव्यक्तत्वाभ्युपगमहानि। पुन यदि उत्पत्ति और निरोध दो विच्छेदक विभिन्न वस्तुएँ हों जिस प्रकार कि बीड़ा और मैस तब तो वस्तु किसी भी प्रकार उत्पत्ति और निरोध के सम्बन्ध में ही नहीं आती क्योंकि फिर तो इसे घायबत ही मानना पड़ना 'अद्यात्यन्तम्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुन स्यातामरवमहिषवत् तत्रो वस्तु उत्पादनिरोधम्यामर्ममुष्टमिति वस्तुन घायबतत्वप्रसङ्गः' २। अन्त में यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु की उत्पत्ति और निरोध का तात्पर्य केवल उसके दिखाई देने या न दिखाई देने से है तब भी तो देखना या न देना तो देखन वाले के ही बम है वस्तु के तो नहीं अतः फिर वही वस्तुओं के घायबतत्वा का प्रश्न उठ गया होगा है। अब इस प्रकार भी शक्तिवाद पर प्रतिष्ठापित मौल्य मत समझ ही टूट रहा है। अतः लक्षमन्त्रवाद में बिनी भी प्रकार पूर्व-पूर्व शय निरुद्ध हो जाने पर वह उत्तरीतः शय का कारण बन ही नहीं सकता। लक्षमन्त्रवादे पूर्वसामानिरोधप्रसक्तत्वाभोत्तरस्य अपम्य हेतुर्भवति'। पुन

(१) देखिए अनुब प्रकरण के उत्तर भाग में सर्वास्तिवादियों के लक्षज्ञान का विवेचन।

(२) इसी प्रकार के एक ही समय कर आचार्य नागार्जुन ने 'अनिरोधमत्पादम्' नाम तत्त्व के सम्बन्ध में कहा था। देखिए, अनुब प्रकरण में शून्यवाद का विवेचन तथा इसी बीच प्रकरण में मोक्षवाद के दण्ड पर विवेचन भी।

यदि बौद्ध यह कहें कि बिना ही कारण के फल की उत्पत्ति हो जाती है, तो भी संभव है क्योंकि इस प्रकार उन की स्वयं की प्रतिज्ञा ही टूटती है। 'प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्'। किस प्रकार? बौद्ध लोग मानते हैं कि बार ही हेतुओं के प्रत्यय से चित्त और चैत उत्पन्न होते हैं। अब यदि उनके लिये सिद्धान्त से बिना हेतु के ही फल की उत्पत्ति होने लगे तो तब तो चाहे जो कोई चीज चाहे किसी भी चीज को उत्पन्न कर देनी क्योंकि वहाँ कोई प्रतिबन्ध तो है ही नहीं। 'निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात् सर्वे सर्वत्रोत्पद्येते'। पुनः यदि यह कहा जाय कि पूर्व क्षण तब तक ठहरता है जब तक कि उत्तर क्षण उत्पन्न न हो जाय तब भी तो हेतु और फल का साव-साव होना ही सिद्ध हो जाता है जो भी अनिक्रिया के सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है अर्थात् सभी 'संस्कार' शक्ति हैं यह प्रतिज्ञा कटती है। 'शक्तिका' सर्वे संस्कारा इतीव प्रतिज्ञोपरोधेते'। किन्तु अनिक्रिया के इतने प्रत्याख्यान ने ही आचार्य समुपुष्ट नहीं हो जाते और न वे सर्वास्तित्वादिओं तक ही अपनी सीमा रखते हैं। उनके लिए सब बौद्ध समान हैं अर्थात् सभी वैनाशिक हैं केवल स्वरों का विभेद है। हम जानते हैं कि अणार्णववाद प्रायः सभी उत्तर कालीन बौद्ध आचार्यों का उपान सिद्धान्त है यद्यपि विद्वान् और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वात्मिक' विज्ञानवादियों ने इसका विशेष रूप से प्रक्षेपन किया है। शंकर के इन प्रत्याख्यानों को इन अंतर्गत नहीं कह सकते किन्तु जब वे 'वैनाशिकों' के नाम से किन्तु सर्वास्तित्वादिवादियों के प्रसंग में 'अनिक्रिया' का उल्लेख करते हैं, तो इतने हमें यही जान पड़ता है कि आचार्यों को बौद्ध सम्प्रदायों का ठीक ज्ञान नहीं था। वैनाशिक (सर्वास्तित्वादी) कहते हैं कि प्रतिसंस्क्रान्तिरोध अप्रतिसंस्क्रान्तिरोध तथा आकाश को छोड़कर सब धर्म संसृष्ट हैं^१ शक्ति है और बुद्धि के द्वारा बोध है। उपर्युक्त तीन असंसृष्ट धर्मों (अर्थात् प्रतिसंस्क्रान्तिरोध अप्रतिसंस्क्रान्तिरोध तथा आकाश) के विषय में सर्वास्तित्वादी कहते हैं कि वे पदार्थ 'अवस्तु' हैं,

(१) यथा आत्मज्ञान प्रत्यय समनन्तर प्रत्यय अनिचयि प्रत्यय तथा सहकारि प्रत्यय ।

(२) ये तीन सर्वास्तित्वादिधर्मों के 'असंसृष्ट' अथवा 'अनात्म' धर्म कहलाते हैं। इसलिए अनुर्थ प्रकरण के उत्तरार्द्ध में सर्वास्तित्वादी-दर्शन का विवेचन।

(३) श्री लोप्या ने ७१ है। वैशिष्ट्य अनुर्थ प्रकरण में सर्वास्तित्वादिधर्मों के वर्णन का विवेचन ।

‘अभाव स्वल्प’ है तथा ‘निष्पात्य’ है^१ । जगदान् संकर सूत्रकार का अनुगमन करते हुए प्रतिसंख्यानिरोध अप्रतिसंख्यानिरोध तथा आकाश सम्बन्धी सर्वास्तिवादियों के सिद्धांतों के खंडन में प्रवृत्त होते हैं । उनका कहना है कि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध सम्भव नहीं है । किन्तु इससे पहले हम वाचार्थ की प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की परिभाषाओं को देखें । उनके अनुसार सर्वास्तिवादियों का कथन है कि बुद्धि की निश्चित क्रिया के पूर्व के पदार्थों का विनाश प्रतिसंख्यानिरोध^२ कहा जाता है ‘बुद्धिपूर्वक’ किन्तु विनाशोपशान्त प्रतिसंख्यानिरोधो नाम साम्यते^३ और उसके विपरीत ‘अप्रतिसंख्यानिरोध’ वहिरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोध^४ । संकर कहते हैं कि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध का बनना ही असम्भव है । क्यों ? अविच्छेदात् । अर्थात् इस तरह—ये दोनों निरोध या तो समिक चित्त-वारा से सम्बन्धित होने चाहिए या फिर किसी एक भाव से ‘एवौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोपी सन्तानबोधरी वा स्वाता भावबोधरी वा । अथ संकर का ठर्क यह है कि उन्मेषऽदोनों ‘निरोध’ सन्तानबोधर^५ नहीं हो सकते अर्थात् विज्ञान या चित्त की सतत परिवर्तनशील वारा में उनका अभिवास नहीं हो सकता । विज्ञान-सन्तति में तो निरन्तर ही हेतु और प्रत्यय के रूप में उस विज्ञान सन्तति के विभिन्न अंग अभिभिन्न रूप से जका करते हैं फिर विज्ञान-सन्तति का एकवचन स्थिर होकर ठहर जाना किस प्रकार सम्भव है ? सर्वेऽपि सन्तानेषु सन्तानिनामभिभिज्ज्ञेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्^६ । फिर यदि यह कहा जाय कि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध दोनों ही विज्ञानसन्तति के अंतः स्वल्प भावों में रहते हैं तो उनका भावबोधर होना भी तो हम सम्भव नहीं मान सकते । क्यों ? इसलिए कि यह कभी नहीं

(१) यही संकर के ‘अभावस्वरूप’ पर आपत्ति की जा सकती है सर्वास्तिवादी बुद्धि से किन्तु उसे वे ‘वैतादिक’ का बाना पहले ही पहना चुके हैं, जो उचित नहीं है । फिर ‘अभाव स्वल्प’ के साथ-ही-साथ ‘निष्पात्य’ शब्द भी चित्त में है सर्वास्तिवाद के बुद्धिकोण से । ‘अव’ के साथ सम्भव विज्ञान के लिए धामाकानी सोमन ने ‘नीकपाल्य’ बड़ने का प्रस्ताव किया है जिसके मुक्तिपुत्रऽकाण्ड के लिए देखिए अंतःकरणक ब्रह्मसूत्र नीमूत पृष्ठ ८९

(२) सन्तानो नाम आशाना हेतुफलभावेन प्रवाहः । एतदप्रमा ।

माना जा सकता कि किसी भी अवस्था में 'भाव' का पक्ष विनाश के द्वारा अभिमूढ कर दिये जायें और वे अपना कोई निष्ठान तक भी बाकी न छोड़ें क्योंकि सभी अवस्थाओं में यह देखा गया है कि जो एक 'सत्' वस्तु है वह अपने अन्वि-स्वस्य वृत्तों को बिना किसी सकाश के रखती ही है और ऐसा हम प्रत्यभिज्ञान के बल पर कह सकते हैं 'न हि भावता निरन्वयो निरुपायो विनाश' सम्भवति सर्वास्त्ववस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलान्त्वव्यविच्छेद-वर्त्तनात्'। फिर यदि कुछ बोझी सी अवस्थाओं में यह प्रत्यभिज्ञान ठीक तरह से स्पष्ट न भी हो तब भी हमें अनुमान के आधार पर यह मानना ही पड़ेगा कि वहाँ भी अन्वि-वर्मों के विच्छेद की अनुपस्थिति ही है 'अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्त्ववस्थासु कश्चिद्वृष्टेनान्व्यविच्छेदेनाप्यत्रापि तदनुमानात्'। अतः प्रतिपक्षी बीजों के द्वारा परिकल्पित बीजों निरोधों की उपपत्ति नहीं बनती। 'तस्मात् परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः'। निरोध ही शंकर को बीजों का लक्ष्यगन्ध एक ऐसा सिद्धान्त मिल गया है जिसके द्वारा वे बीजों के अन्व सभी सिद्धान्तों को उखाड़ फेंकते हैं। सभी वे लक्ष्यगन्ध के विषय को छोड़ने नहीं। अविद्या आदि का निरोध भी लक्ष्यगन्ध को स्वीकार कर सम्भव नहीं है और यदि स्वीकार करें तो गगनात् शंकर कहते हैं कि बीजों ही प्रकार से बीज का वायणा 'जगन्मया च बोधात्' (ब्रह्मसूत्र २।२।१)। किस प्रकार? बीज कहते हैं कि अविद्या आदि का निरोध प्रतिपक्ष्या निरोध में ही सम्मिश्रित है किन्तु शंकर कहते हैं कि वह अविद्यादि निरोध तो ही हासलों में प्रवर्तित हो सकता है या तो वह सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न हो जिसमें जगन्निवर्तन परिकरों की भावना भी सन्निहित है अथवा फिर वह स्वतः ही उत्पन्न हो जाय। इन बातों को छोड़ और कोई हासल नहीं है। इनमें से यदि पहली हासल को हम मानें तो शंकर कहते हैं कि 'निर्हेतुकविनाशान्मुपगम' सिद्धान्त जो बीजों को मान्य है (शंकर के अनुसार।) नहीं अस्मिन्न होता है 'निर्हेतुकविनाशान्मुपगममहानिप्रसंग'। वहाँ पर यह 'निर्हेतुकविनाशान्मुपगम' सर्वास्तिवादियों के किस सिद्धान्त का सूचक है यह ठीक समझ में नहीं आता। कदाचित् इससे यह माध्यम पड़ता है कि शंकर अपने प्रतिपक्षियों पर इस सिद्धान्त का आरोप करना चाहते हैं कि वस्तुएँ 'निर्हेतुक' अर्थात् बिना किसी कारण के विनाश को प्राप्त होती हैं। हम जानते हैं कि सर्वास्तिवादियों का या बीज धर्म के अन्य किसी सम्प्रदाय का ऐसा अभिप्राय नहीं रहा है। अतः यही कहना पड़ेगा कि शंकर ने सर्वास्तिवादियों की

दृष्टि को उसके मूक रूप में नहीं समझ है। हम पहले कह चुके हैं कि शंकर ने सर्वास्तिवादियों को 'वैनाशिक' कह कर उनको भी धूम्यबाध से उपरक्त करना चाहा है और इसी का परिणाम यह हुआ है कि 'निर्हेतुक विनाश' का प्रसंग उन्होंने सर्वास्तिवादियों के भी मत्वे मढ़ दिया है। माध्यमिकों के मायया निर्मित मण्ड्य हेतुमिर्यन्त्र निर्मितम्। आमाति तद् कृत्वा कश्च माति चेति निरूप्यताम् तथा सतीवस्मिन् मवतीत्येतन्नैवोपपद्यते' जैसे बिचारों में शंकर के 'निर्हेतुक विनाश' को कुछ अवकाश मिल सकता है किन्तु फिर जब माध्यमिक भी 'न स्वतो मापि परतः न ब्रह्म्या नाप्यहेतुतः' कहते हुए निर्बन्धीयता के ही आकाशरूप्य वायुमण्डल में बिहार करने कमते हैं तब तो 'निर्हेतुक विनाश' का आशेष उन पर भी करना अव्याय ही होगा। सर्वास्तिवादियों की तो बात ही क्या। सर्वास्तिवादियों ने तो प्रतीत्य समुत्पाद को उसके भावात्मक रूप में ही स्वीकार किया है (अव्यया ने सर्वास्तिवादवादी ही किस बात को हैं कम-से-कम उनके नाम के प्रति तो अव्याय नहीं होना चाहिए) और हेतु प्रत्ययों से वे वस्तुओं को उत्पन्न और निरुद्ध मानते हैं और इनीकिए मानते हैं उन्हें शक्ति भी। 'निर्हेतुक विनाश' तो वे कभी मान नहीं सकते क्योंकि अजस्रमबाध का अर्थ यही है कि प्रत्येक पृथ-पृथ एक उत्तरोत्तर क्षण का कारण होता जाता है और उसके उत्पन्न होने पर स्वयं निरुद्ध होता जाता है, अतः यह हेतु-प्रत्यय पर माधित प्रवाह 'निर्हेतुक विनाश' नहीं कहा जा सकता। अतः किसी भी प्रकार देस (यहाँ तक कि सर्वास्तिवाद को 'वैनाशिक' मठ से उपरक्त करके भी हम देनं वैसा कि ऐतिहासिक या सांख्यिक किसी रूप से हमें नहीं करना चाहिए, किन्तु वैसा कि शंकर ने किया है) 'निर्हेतुक विनाश' के सिद्धान्त का आशेष तो सामान्यता बौद्ध दर्शन पर और विशेषतया सर्वास्तिवाद पर किसी भी प्रकार किया ही नहीं जा सकता ऐसा हमारा जिनम अभिप्राय है। और चाहे जिन बातों में उत्तरकाशीन बौद्ध आचार्य अपने शास्ता से दूर चले गये ही (और वे बहुत बातों में दूर गए हैं) किन्तु एक बात का तो उन सब ने ही ध्यान रक्खा है। 'वे ब्रह्मा हेतुव्यवस्था तम हेतु तवादनो आह। तम च दो निरोधो। एवं चासी महासमर्थो'। बुद्ध-आमन की इस आचारभूत माय्यता वाचक में अनुगमन किया है। इनीकिए तो मक्का अवकाश करने वाले मज्झ नामाङ्गन की भी 'माय्यापुनः' (अन्ते न नहीं) कहना पडा। (अव्यया ने अपनी कारिकाओं में 'प्राप्यवसुत्पाद' के साम्या की वन्दना न कर किसी अभिन्न समुत्पाद के

आचार्य की बख्ता करने वाले होते ।) । तो फिर विषय होकर यही कहना पड़ता है कि आचार्य शंकर ने यहाँ सर्वस्तिबाध के मूक सिद्धान्त को नहीं समझा है और उसे एक ऐसा गलत रूप प्रदान किया है जो उसका नहीं है । आपत्ती बीछ विद्वान् यामाकाशो धोवन मे महां शंकर को एक बन्धोद यकत प्रस्तुतीकरण का अपराधी बताया है । बं कड़े सम्भ है^१ । आचार्य श्रीपाद कृष्ण बेडवत्कर ने यह कह कर कि सम्भवतः शंकर अपनं मस्तिष्क में किसी ब्रह्म बीछ सिद्धान्त को रखकर ऐसा कहने में प्रवृत्त हुए है^२ शंकर की स्थिति को सुधारने अपवा विगाड़न का प्रयत्न किया है जो हमारी समझ में उनका ब्रह्मवाय विमुग्धन ही है जिसके अनुगामी हम नहीं बन सकते । हमारी बुद्धि तो इसी में बन्धी तरह प्रकटित होती है कि 'सब सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन । स्वयं भगवान् शंकर भी इसे ब्रह्मका का प्रकाशन नहीं समझने ऐसा हमें विवश है । स्वयं 'सर्वज्ञ' महागुनि कपिक के विषय में शंकर ने कहा था कि उनकी सिद्धि सापेक्ष थी^३ । शंकर का ज्ञान भी सापेक्ष था । उसमें गलती हो जाना सम्भव था और ऐसा ही हुआ भी है । अस्तु हम माने सकते हैं । दूसरा कारण जिससे अधिचारि के निरोध की सम्भवता बसिद्ध हो जाती है शंकर के मतानुसार यह है कि यदि सम्पूर्ण ज्ञान को स्वतः उत्पन्न हुआ माने तो मौल्य-मार्ग के उपबेध की ही सम्बन्धता उपपत्ति हो जाती है 'उत्तरस्मिन्नु मायौपदेष्टानर्बन्धप्रसंगः' । इसलिए हम दोनों ही प्रकार

- (१) शंकर is here guilty of a grave misrepresentation
सोमन 'सिद्धन्तु आन ब्रह्मिष्ठिक पाठ' पृष्ठ १६८
- (२) We rather think that शंकराचार्य is thinking of
some Buddhist doctrine which holds that निर्वाण
or cessation of क्लेश is something which every one
is going to achieve one day or the other ब्रह्मसूत्र
नोट्स पृष्ठ ८४
- (३) बैडर ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१ 'अथर्व कपितादीनां सिद्धानामप्रतिष्ठ-
मानत्वादिति चेत् ? न । सिद्धेरपि सात्वैकत्वात् ।
- (४) आचार्य है कि अज्ञानताज्ञानकार-स्वभाव मोक्ष को स्वयं 'अनुत्पाद्य'
'अविचार्य' 'अवाच्य' 'अतत्कार्य' मानने वाले (ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४)
और निश्चय ही ऐसा होने पर भी साधन-सम्पत् का उसके साथ कोई निरोध

से इस वर्णन की असमञ्जसता सिद्ध होती है 'एवमममवापि दोषप्रसंगादसमञ्जसमिदं वर्णनम् । अब सर्वास्तिवादियों के तृतीय असंस्कृत बर्म 'आकाश' पर बातें हैं । आकाश है सभी दिशाओं में आवरण का अभाव मात्र आवरणभाव मात्रमाकाशिति^१ । यह स्थापना कि आकाश 'निर्वाणस्य' अर्थात् अवस्तु स्वल्प है, ठीक नहीं 'आकाशे चायुक्ती निरपास्मरवाम्युपगमः' ॥ कारण कि जिस प्रकार 'प्रतिसंख्याननिरोध' एवं 'अप्रतिसंख्याननिरोध' में उसी प्रकार आकाश में भी समान रूप से वस्तुत्व प्रतीति होती है 'प्रतिसंख्याप्रतिसंख्याननिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविरोधात्' । छुकर के छिपे इतना ही कहना काफी वा फिन्नु श्रुति प्रामाण्य देने के धोम वा यह यहाँ सबरूप नहीं कर सके हैं ।

ब देखने वाले संस्कार भी किस प्रकार बीड़ निर्वाण के भी उसी प्रकार के स्वप्न प्राप्त होने पर उसमें 'मायौपदेशानपश्य' के देखने वाले हुए । ऐसा करके तो वे निश्चय ही राजा मित्रिक के द्वारा रखे हुए उस पूर्वपत्र की ही अपने पूर्व रूप में रखने में समर्थ हुए हैं जिसकी अनिश्चिता नागसेन जैसे प्राचीन स्वविरवाद-परम्परा के आचार्य तक की भी । अविच्छेद होने पर भी विच्छेदत्व क्यों कल्पित किया जाता है हे महामोक्षदाग्निम् ! देखिए भद्रस्त नागसेन आपसे ७ वर्ष पूर्व आपके ही मन्तव्य को स्पष्ट करते हैं 'निष्वाणं महाराज अकम्मजं अहेतुजं अनुतुजं । मा भन्ते नागसेन विमवचनं भवच्छहि मा अमानित्वा पञ्चुं ध्याकरोहीति ।' । अनेक ततेहि पण भन्ते नागसेन कारणेहि जपवता तावज्जानं निष्वाणस्त सच्छिक्किरियाय जापी अवज्जाली । अब च पण त्वं एवं वदेति अहेतुजं निष्वाणं ति । एवमेव को महाराज तव्का निष्वाणस्त सच्छिक्किरियाय मणी अवज्जानुं न तव्का निष्वाणस्य उप्पादाय हेतु वस्सेनुं जतंजानं निष्वाणं न व्हिचि वत्ति । निष्वाणं महाराज न जतज्जं उप्पन्नं ति वा जनाज्जनं ति वा, उप्पादनिर्घं ति वा, अनीपं, ति वा, जनागणं ति वा, पक्खुप्पनं ति वा चकनुविज्जोप्पं ति वा सोत्तविज्जोप्पं ति वा जाय विज्जायं ति वा । पिनिम्ह वज्जो मेण्हक वज्जो पुण्ण ११४ ११५—(बम्बई विज्जविद्यालय का संस्करण) एक अन्य दृष्टि से बीड़ वरिचिचि के सम्बन्ध के लिए देखिए लोजन 'तिसद्वत्त आंज वड्डित्ठिक पाठ' पुण्ण ११८

(१) निभाइवे तत्राकाशमतावतिः । अभिषेक कोट ११५

बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के प्रसंग में यह प्रश्न ही अवसर है जब कि शंकर ने श्रुति को उद्धृत किया है और इसके बाद उन्होंने एक बार भी श्रुति का उद्धरण नहीं किया जब तक कि बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान समाप्त न कर दिया। यह मौन सुप्रसूत ही है। 'आकाश' के विषय में तो वह कहता नहीं भूके हैं कि 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' (आत्मन आकाशो सम्भूतः । (तैत्तिरीय २।१) अतः आकाश का वस्तुत्व प्रसिद्ध है। किन्तु आत्मा के 'वस्तुत्व' में क्या प्रमाण? जिस श्रुति का उद्धरण करते हो उसका क्या प्रमाण? हे वेदाश्रित! यह तो तुम्हारा सब ज्ञान अज्ञानों में ही सोमा देता है 'अध्यानेषु सोमते'। 'यस्य तु मुक्तिर्प्राप्तयान्ते'। हम तो मुक्ति की ही आपसे प्रार्थना करते हैं और उसी की आप से आशा रखते हैं। ऐसा यदि कोई बौद्ध ताकिक (बी सम्भवतः शंकर के लिए 'कृताकिक' ही होना) शंकर से कह बैठे, तो शंकर उसकी सम्भावना भी बड़ी अच्छी तरह पहले से ही समझ छेते हैं और प्रतिपादितशंकर निर्मम 'मुक्तिउत्तरण' का रूप बारण कर कहते हैं 'विप्रतिपद्धान् प्रति तु ब्रह्मनुष्ठानमेतत् ब्रह्मत्वं गन्धादीनां गुणानां पविष्यादिवस्त्वाभमत्ववर्णनात्' अर्थात् अति-प्रामाण्य में जिनकी श्रद्धा नहीं है उनको जानना चाहिए कि जिस प्रकार गन्धादि पदार्थों की स्थिति और आभयत्व पृथिवी आदि वस्तुमान् पदार्थों में ही देखा जाता है उसी प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि धर्मयग का आभय रूप आकाश भी वस्तुत्वं ही होना चाहिए। फिर आचार्य शंकर का तर्क यह है कि सर्वास्तिवाधियों के मतानुसार आकाश 'आवरणमात्र मात्र' है किन्तु यदि एक आवरण हमें कोई उपलब्ध हो जाय जैसा कि बटाकास आदि में वह उपलब्ध होता है तो हमें आकाश में विभाग मानने पड़ते हैं और विभाग एक वस्तुस्वरूप पदार्थ में ही सम्भव है अतः आकाश वस्तु स्वरूप है। इसका भी समझना चाहिए कि जैसे मान लें किसी कमरे में बड़े का अभाव है तो यदि कोई वहाँ एक बड़ा से आग तो उस कमरे में पटाभाष दूर होता है। इस प्रकार जिस किसी वस्तु का अभाव है, उसको यदि नहीं है लें जाया जाय तो स्वभावतः ही उत्पन्न अभाव समाप्त होता है। अब आपात आवरण का अभाव है यदि आवरण को कोई नहीं से के आने तो निरपेक्ष ही आवरण का भी अभाव होता है। अब मान लें किसी कमरे में अब तक बट नहीं था किन्तु अभी कोई वहाँ घट ले आये तो पटाभाष उध कमरे से दूर होता है किन्तु तब ही दूर नहीं होता। ऐसा क्या? इमीलिए कि आपात आपा में विभाजित कोई वस्तुस्वरूप पदार्थ ही हो

निष्पाक्य' 'अवस्तु' और नित्य है तो यह कबल भी विप्रतिपिद्ध है। कहीं 'अवस्तु' का भी नित्यत्व या अनित्यत्व हुआ करता है? सब धर्म-धर्मों अवस्तु पूर्णों और इन्धनों का व्यवहार 'वस्तुभूत' पदार्थ के ही आश्रय रख सकता है अवस्तुभूत के नहीं। अतः जब एक बार हमने धर्म और धर्मों के सम्बन्ध को मान लिया तो बटादि के समान आकाश को भी वस्तुभूत ही मानना होगा 'निष्पाक्य' नहीं। 'धर्म-धर्मिभावे हि बटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निष्पाक्यत्वम्'। इस प्रकार बाह्य जगत् की अपेक्षा में अवस्तु संस्कृत धर्म और 'असंस्कृत धर्म' दोनों के ही विभक्तन को लेकर भगवान् संकर ने बीज द्वाविचार की असमम्बसता दिखाई है। जब वे आन्तरिक जगत् में इस की असमम्बसता और दिखाकर बड़ी बेर में इस सिद्धान्त से बिदाई लेते हैं। 'अनुस्मृति' के कारण द्वाविचार एक असमम्बस दर्शन है इतना तो ब्रह्मसूत्रकार भी कहते हैं 'अनुस्मृतेष्व' (२।२।२५)। किन्तु इसकी अनुपम व्याख्या उपस्थित करना संकर का ही काम है। भगवान् संकर कहते हैं कि द्वाविचारवाद के मानने वाले को स्वभावतः ही द्रष्टा की भी द्वाविचारा माननी पड़ती है जो कभी सम्भव नहीं हो सकती। यदि एक स्थिर द्रष्टा की स्थिति हम नहीं मानें जिसको कि पूर्व और उत्तर के अनुभव होते हैं तो इस प्रकार का अनुभव कि मैंने इसे देखा है मैं जब इसे देखता हूँ कभी नहीं हो सकता क्योंकि द्वाविचार होने से द्रष्टा तो पहले ही बदल गया। यदि द्वाविचार के कारण द्रष्टा में भी परिवर्तन आया होता तब तो इस प्रकार का अनुभव होना चाहिए था मैं केवल स्मरण करता हूँ किन्तु जिसने इसे अनुभव किया था वह तो दूसरा ही है। किन्तु इस प्रकार का अनुभव किसी को नहीं होता। अतः यदि अनुस्मृति की कोई व्यक्तिमुक्त व्याख्या करनी है और मानवीय अनुस्मृति के विरुद्ध नहीं बने जाना है तो द्वाविचार के सिद्धान्त को आन्तरिक जीवन में हम लागू हुआ नहीं दे सकते। अतः दर्शन और स्मरण के सभी में यदि एक ही द्रष्टा का उभय सामान्य में जाना है तब तो यह द्वाविचार है कि वैज्ञानिक अपने द्वाविचार को छोड़ के 'तत्त्वैव सत्यमस्य दर्शनस्मरणसमाश्रयः' द्वाविचाराभ्युपगमनपरिहाराय वैज्ञानिकत्व समात्। बाह्य जगत् के सामान्य में मैं तो इस प्रकार का सादेह कोई कर भी नहीं कि क्या वह करी है अथवा उगरे सङ्घ है किन्तु द्रष्टा के सामान्य में तो ऐसा कभी नहीं जाने का योग्यता भी नहीं हो सकती कि क्या मैं करी है या उगरे गङ्गा कर्नाट निरिचन का है इमें यह अनुभव होना है कि करी

मैं जिसने कि कल देखा था वही मैं आज स्मरण कर रहा हूँ। ‘अथैवमि कथाचिद्
 बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसम्भवात्तदेवेवं स्यात्तत्त्वपूर्णं चेति सम्बन्धः। उपलब्धिरितु
 सम्बन्धोऽपि न कथाचिद् भवति स एवाहं स्यात्तत्त्वपूर्णं चेति। य एवाहं बुद्धेः पराजालं
 स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततत्त्वभावोपलम्भात्। यह शंकर का
 इस विषय में एक प्रमाण तर्क है और इसी के आधार पर उन्होंने ‘वैनायिक
 समय’ की इस विषयक अनुपपन्नता दिखाई है। ‘तस्मादप्यनुपपन्नो
 वैनायिकसमयः’। इस सूत्र (अनुस्मृतेश्च २।२।२५) में यमवान् शंकर ने
 ‘स्मृति’ के सवाल को लेकर ही शनिकत्वात् की अनुपपन्नता दिखाई है
 किन्तु अपने भाष्य के प्रारम्भ में वे कुछ ऐसे शब्द कह गए हैं जिनके
 कारण उन्होंने अपनी स्थिति बड़ी खराब कर ली है। उपर्युक्त सूत्र
 पर भाष्य करते हुए यमवान् शंकर ने कहा है ‘अपि च वैनायिक-
 सर्वस्य वस्तुना शनिकतामनुपपन्नं’ अर्थात् ‘वैनायिक सभी वस्तु की
 शनिकता का अनुपपन्न करता है। हम जानते हैं कि सर्वास्तिवादियों
 पर और कोई आरोप मझे ही समाया था उनके किन्तु यह सिद्धान्त उनके
 पहले मँडना कभी ग्याम्य नहीं है कि सम्पूर्ण वस्तु की शनिकता का उपपादन वे
 करते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि शंकर ने सर्वास्तिवाद को वैनायिक
 मत से उपरक्षण करके देखा है अतः उन्होंने उसे उसके ठीक रूप में
 प्रस्तुत नहीं किया है। मध्य लो इसी कठिनाई से सम्भवतः तय भी दीखते हैं
 और यह आश्चर्य और आश्वासन का विषय है कि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में
 वे ही अकेले इस सूत्र तथा इसके आगे वाले सूत्र (‘नास्तौष्ण्यत्वात्’) को
 दृष्ट्यवादियों के प्रति प्रयुक्त किया मानते हैं। यह हमारी विचार प्रणाली
 के अनुकूल सिद्धान्त है किन्तु कठिनता यहां भी हूक नहीं होती। आचार्य शंकर ने
 पहले ही प्रतिज्ञा की है कि वे सौगत मत के तीन वादियों का यमयः प्रयास्यान
 करेंगे अतः सर्वास्तिवादियों को बिना समाप्त किए और विज्ञानवादियों पर
 पहुँचने से पहले ही वे दृष्ट्यवाद को कित्त प्रचार से सजते हैं। वास्तव में जो
 बात हुई है वह यह है कि शंकर ने सभी बौद्ध सम्प्रदायों को वैनायिक ही
 समझा है और यही उनकी गल्ती है। एनिहासिक रूप से भी और
 तात्त्विक रूप से भी ऐसा हम कह सकते हैं। सर्वास्तिवादियों के दर्शन
 का हम अनुर्व प्रकरण के उत्तरार्द्ध में निरूपण कर आए हैं और उन
 बात पर यहां जोर दिया है (उन दर्शन की भाष्यता के अनुसार ही)
 कि वस्तुओं को शनिकता देने के नहीं किन्तु केवल उनकी अवस्थाओं

को ही वे धार्मिक बताने के पक्षपाती हैं। इस विषय में उनके विभिन्न आचार्यों के मत हमने 'अभिधर्म कोश' के अनुसार वहाँ उद्धृत किए हैं। विरूप ही सर्वास्तिवादियों ने तो भगवान् बुद्ध के बचनों के उदाहरण देकर इस बात की स्थापना की है कि वस्तुओं के तीन मार्ग (अध्यातम) होने ही चाहिए, अर्थात्, अतीत वर्तमान और अनागत^१। इसमें सन्देह नहीं कि वे भी अन्य बौद्ध धार्मिकों की तरह धर्मिकवादी हैं, किन्तु उनके धर्मिकवाद का केवल तात्पर्य यही है कि कारण कभी विनष्ट नहीं होता किन्तु केवल अपना नाम परिवर्तित कर देता है जब वह कार्य रूप में परिणत होता है और अवस्थान्तर होने से एक परिवर्तित स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। मिट्टी अपनी अवस्था को छोड़कर बड़ा बन जाती है और इस अवस्था में केवल 'नाम' मिट्टी 'नाम' बड़ा हो जाता है मिट्टी का तो धर्मिकत्व उपपन्न नहीं होता^२। जापानी पंडित यामाकामी सोजन का कथन है कि संकर ने जिस सिद्धान्त को उन पर आरोपित किया है वह उन्हें (सर्वास्तिवादियों को) मालूम था और उस से उन्होंने पहले ही अपने दर्शन को रखा कर ली थी। यह सम्भव हो सकता है कि संकर की सूचना का स्रोत एक ऐसा सर्वास्तिवादियों का सम्प्रदाय रहा हो (जिसको सर्वास्तिवादियों ने अपना कभी स्वीकार नहीं किया) जिसके आधार पर वस्तुओं की धर्मिकता के सिद्धान्त का आरोप वे सर्वास्तिवादियों पर कर सके। यह संकर की स्थिति का एक स्पष्टीकरण हो सकता है। फिर धर्मिकवाद तो बौद्धों के सभी सम्प्रदायों का एक सामान्य सिद्धान्त है अतः उसके प्रत्याख्यान में जब कोई (बहुमूर्तकार या संकर) प्रवृत्त होता है तो वह अपने को निरूपण ही सर्वास्तिवादियों तक ही सीमित नहीं रख सकता। यही सम्भवतः संकर के 'बैनाधिक' छन्द के इस प्रसंग में प्रयास का रहस्य है और इसी से उनके धर्मिकवाद के व्याप्यान और प्रत्याख्यान की संघर्ष भी समझनी है। डा. यीपाद इत्यादि बलवत्तर न कहा है कि संकर तो सर्वप्रथम बहुमूर्तों का भाष्य ही कर रहे हैं और बहुमूर्तों की रचना के समय अव्युक्त सर्वास्तिवादियों के

(१) सर्वास्तिवादियों के द्वारा एतद्विषयक बुद्ध-बचनों के उदाहरणों के लिए देखिए नीचे प्रकरण का उत्तरार्ध।

(२) निम्नोक्तं चेत् चर्च ऐतौ ऐतौ सकर्मकं भवेत् । पूर्वजाताय ऐतोरथ पुनर्यत्नं प्रत्ययते । सौजनः । तिरुमल आद्य बौद्धिक बौद्ध बुद्ध १४ पर संवेद्य १ में उद्धृत।

सिद्धान्त (कि एक व्यक्ति या वस्तु की अवस्थाएँ ही परिवर्तित होती हैं जब कि उनका प्रतिष्ठान यास्वत रहता है) का प्राबुधान ही नहीं हुआ था जब संकर, जिनको ब्रह्मसूत्रकार के मन्तव्य का ही सर्वप्रथम अनुवर्तन करना था उस मार्ग से निमिष नहीं जा सकते थे^१ । यदि ऐसी बात है तो ठीक है । परन्तु निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में ऐसा कहना साहसिक ही है । किन्तु यदि इसी स्थिति को हम स्वीकार कर लें तो फिर ब्रह्मसूत्रों में निविष्ट और संकराचार्य के द्वारा व्याख्यात सर्वास्तिवादी प्रत्याख्यानों का हमें ऐतिहासिक रूप से बौद्ध सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय पर ही आरोप करने का क्या अधिकार है ? ऐसा करके क्या हम उसके वास्तविक स्वरूप के विषय में ग्राप्ति ही नहीं फैलते ? या तो ब्रह्मसूत्र वास्तविक ऐतिहासिक बौद्ध वाचनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को ठीक प्रस्तुत नहीं करते या फिर संकर की बौद्ध वर्धन के मौखिक विचारों से अनभिज्ञ होना ही चाहिए । हम दोनों ही ओर धर्क को अपना पक्ष में नहीं ले जा सकते । ये सब प्रश्न विचारणीय हैं । अब हम संकर के द्वारा बौद्धों के इस सिद्धान्त पर किए हुए प्रत्याख्यान पर आते हैं कि अभाव से माव की उत्पत्ति होती है । संकर का कथन है कि जगत् का कोई स्वर कारण न मानने के कारण वैनायिक लोग 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति बिना है । वैनायिक कहते हैं कि जो बीज विनष्ट हो गया उसी से अकूर की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार विनष्ट बुध से बलि भी तथा विनष्ट मिट्टी से चूड़ की उत्पत्ति हो कहते हैं । संकर कहते हैं कि यदि 'कूटस्थ' कारण से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है तब तो फिर कोई विषय ही नहीं रहता और

(१) लोबन के मत की अनुपयुक्तता और अपूर्णता दिखाते हुए वे लिखते हैं

He (लोबन) conveniently ignores that Shankar is merely expounding the ब्रह्मसूत्र. It must, therefore he assumed that the doctrine that "the place of a thing or person changes every moment while its substratum is eternal and permanent is a later development within the school and not the original doctrine as known to the author of the ब्रह्मसूत्र." ब्रह्मसूत्र भाष्य—नोट्स पृष्ठ ८७; लोबन का मत अधिक कुछ बुनियादी पर स्थित है ।

को ही वे सन्निक बताने के पक्षपाती हैं। इस विषय में उनके विभिन्न आचार्यों के मत हमने 'अभिधर्म कोष' के अनुसार वहाँ उद्धृत किए हैं। निरूपण ही सर्वास्तिवादियों ने तो भगवान् बुद्ध के श्रवणों के उदाहरण देकर इस बात की स्थापना की है कि वस्तुओं के तीन मार्ग (अध्यातम) होने ही चाहिए, बर्णन, वर्गीकृत वर्तमान और अनागत^१। इसमें शंकेह नहीं कि वे भी अन्य बीड़ धार्मिकों की तरह सन्निकवादी हैं किन्तु उनके सन्निकवाद का केवल तात्पर्य यही है कि कारण कभी विनष्ट नहीं होता किन्तु केवल अपमानात्मक परिवर्तित करेता है वह वह कार्य रूप में परिवर्तित होता है और अवस्थान्तर होने से एक परिवर्तित स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है। मिट्टी अपनी अवस्था को छोड़कर बड़ा बन जाती है और इस अवस्था में केवल 'नाम' मिट्टी 'नाम' बड़ा हो जाता है, मिट्टी का तो सन्निकत्व उपपन्न नहीं होता^२। आपानी पंडित मामाकामी धोत्र का कहना है कि संकर ने जिस सिद्धान्त को जन पर आरोपित किया है वह उन्हें (सर्वास्तिवादियों को) मात्सूम या और उस से उन्होंने पहले ही अपने दर्शन की रक्षा कर ली थी। यह सम्भव हो सकता है कि संकर की सूचना का स्रोत एक ऐसा सर्वास्तिवादियों का सम्प्रदाय रहा हो (जिसको सर्वास्तिवादियों ने अपना कभी स्वीकार नहीं किया) जिसके आधार पर वस्तुओं की सन्निकता के सिद्धान्त का आरोप वे सर्वास्तिवादियों पर कर सके। यह संकर की स्थिति का एक स्पष्टीकरण हो सकता है। फिर सन्निकवाद तो बीड़ों के सभी सम्प्रदायों का एक सामान्य सिद्धान्त है, अतः उसके प्रत्याख्यान में वह कोई (ब्रह्मगुणकार या संकर) प्रवृत्त होता है तो वह अपने को निरूपण ही सर्वास्तिवादियों तक ही सीमित नहीं रख सकता। यही सम्भव संकर के 'ईनाधिक' छद्म के इस प्रसंग में प्रयोग का रहस्य है और इसी से उनके सन्निकवाद के व्याख्यान और प्रत्याख्यान की संघति भी कम जाती है। डा. श्रीपाद कृष्ण बेसवकर ने कहा है कि संकर तो सर्वप्रथम ब्रह्मगुणों का धारण ही कर रहे हैं और ब्रह्मगुणों की रचना के समान उपर्युक्त सर्वास्तिवादियों के

(१) सर्वास्तिवादियों के द्वारा एतद्विषयक बुद्ध-श्रवणों के उदाहरणों के लिए देखिए बीजे प्रकरण का उत्तरार्द्ध।

(२) मिट्टी जैसा पदार्थ है तो है तो संकर्मण भवेत्। पूर्वजातस्य हेतोस्तु पुनर्जन्म प्राप्नोते। लोचनः तिष्ठन्त आक बुद्धिस्तिक यदि पृष्ठ १४ पर संकेत १ में उद्धृत।

सिद्धान्त (कि एक व्यक्ति या वस्तु की अवस्थाएँ ही परिवर्तित होती हैं जब कि उनका प्रतिष्ठान शाश्वत रहता है) का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था जब शंकर, जिनको ब्रह्मसूत्रकार के मन्तव्य का ही सर्वप्रथम अनुवर्तन करना था उस मार्ग से विमुख नहीं जा सकते थे^१ । यदि ऐसी बात है तो ठीक है । परन्तु निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में ऐसा कहना साहसिक ही है । किन्तु यदि इसी स्थिति को हम स्वीकार कर लें तो फिर ब्रह्मसूत्रों में निरिष्ट और संकराचार्य के द्वारा व्याख्यात सर्वास्तिवादी प्रत्याख्यानों का हम ऐतिहासिक रूप से बौद्ध सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय पर ही आरोप करने का क्या अधिकार है ? ऐसा करके क्या हम उसका वास्तविक स्वरूप के विषय में ग्राहि ही नहीं पैदा करेंगे ? या तो ब्रह्मसूत्र वास्तविक ऐतिहासिक बौद्ध साधनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की ठीक प्रस्तुत नहीं करते या फिर संकर को बौद्ध दर्शन के मौलिक विचारों से अनभिज्ञ माना ही चाहिए । हम दोनों ही ओर लक्ष्य को अपने पास में नहीं ले जा सकते । ये सब प्रश्न विचारणीय हैं । अब हम संकर के द्वारा बौद्धों के इस सिद्धान्त पर किए हुए प्रत्याख्यान पर बात है कि अभाव स माय की उत्पत्ति होती है । शंकर का कथन है कि पण्डु का कोई स्थिर कारण न मानने के कारण वैनायिक लोग 'असत्' से सत् की उत्पत्ति दिखाने हैं । वैनायिक कहते हैं कि वा बीज बिनष्ट हो गया उसी से शंकर की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार बिनष्ट रूप से रश्मि की तथा बिनष्ट बिंदु से घट की उत्पत्ति से कहते हैं । शंकर कहते हैं कि यदि 'कूटस्थ' कारण नहीं कार्य की उत्पत्ति हो पाती है तब तो फिर कोई विषय हो नहीं रहता और

(१) मोक्षन क मत की अनुपपन्नता और अपूर्वता दिखाने हुए वे लिखते हैं

He (मोक्षन) conveniently ignores that Shankar is merely expounding the ब्रह्मसूत्र. It must therefore be assumed that the doctrine that the place of a thing or person changes every moment while its substratum is eternal and permanent is a later development within the school and not the original doctrine as known to the author of the ब्रह्मसूत्र. ब्रह्मसूत्र भाष्य—नोट्स पृष्ठ ८७; मोक्षन का मत अधिक दूर विचारों पर स्थित है ।

प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हो जानी चाहिए। 'कूटस्वात्म्येकारमात् नानं मूलघोषाविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत'। किन्तु यह होता नहीं। कोरु में ऐसा नहीं देखा जाता नहीं अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अभाव से भाव उत्पन्न होता तब तो फिर ससन्निधान आदि से भी अङ्कुर उत्पन्न होने लगते। किस प्रकार? हम मानते हैं कि विशेष कारणों से ही विशेष कार्यों की उत्पत्ति होती है। अब जब बीज दण्ड होता है तो उसका अभाव होता है और इस अभाव तथा ससन्निधान के अभाव में कोई विशेषता नहीं है, अतः जब कोई विशेषता ही नहीं है और असत् से सत् की उत्पत्ति मानने के कारण तुम विशेष कारणों से विशेष कार्यों की उत्पत्ति भी नहीं मानने की मजबूर हो तब तो फिर असत् बीज को कोई भी वस्तु उत्पन्न कर देनी चाहिए। बीज अङ्कुर ही उत्पन्न क्यों करे? दण्ड वही ही उत्पन्न क्यों करे? मिट्टी बड़ा ही उत्पन्न क्यों करे? जब मिट्टी गूँथ होकर बड़ा बन रही है तो वहाँ बड़े का भी पड़के तो अभाव ही है और ऐसे ही अभाव है ससन्निधान का भी। अतः दोनों अभाव समान हैं तो फिर ससन्निधान उत्पन्न न होकर बड़े की ही उत्पत्ति क्यों होती है? फिर यदि तुम यह मानने लगे कि अभाव का भी कोई विशेष होता है जिस प्रकार कि नीलापन कमल में तब तो फिर वह अभाव को ही भाव देना हो गया कमल आदि के समान 'विशेषतत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमूलकादिवत्प्रसज्येत'। प्रत्येक वस्तु 'सत्' रूप में ही अवस्थित है और उसी रूप में दिखाई भी देती है किन्तु यदि असत् से वह उत्पन्न हुई होती तब तो उसकी प्रतीति 'असत्' के रूप में ही होनी चाहिए थी किन्तु ऐसी नहीं होती अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। अपने-अपने रूप में प्रत्येक वस्तु यहाँ भावमय ही तो दिखाई देती है, किन्तु यदि अभाव से वह उत्पन्न हुई होती तो उसे अभावाविवक्षित रूप में ही दिखाई देना चाहिए था किन्तु ऐसा दिखाई नब देता है? अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना युक्तियुक्त नहीं है। असत् ससन्निधानादि से सत् की उत्पत्ति नहीं होती, सुवर्णादि सत् पदार्थों से ही सत् की उत्पत्ति देखी जाती है अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना ठीक सिद्धान्त नहीं है। 'असत्स्य ससन्निधानादिव्य' सत्प्राप्त्यवस्था-सम्पन्नस्य सुवर्णादिव्य' सत्प्राप्तिवर्तमानानुपपन्नोऽन्यथावादानाद्येतत्सम्पन्न'। फिर सत्कर मर्मास्थित्यादिको की परस्परविपरीतता पर भी आशय करने हुए कहते हैं कि ये बीड एक तरह तो परमाणुवादी हैं अर्थात् यह मानते हैं कि अनुदिश कारणवाद से चित और चेत उत्पन्न होते हैं और परमाणुओं

ये समुदाय उत्पन्न होता है तो फिर उसी के साथ ये इस प्रकार कैसे मान सकते हैं कि अमाश से माश उत्पन्न होता है। इन वैनाशिकों ने तो लोक को ही व्याकुल कर रखा है। 'वैनाशिके सर्वां लोकं आकुलीकृत्यते'। विनोद मिमिक्षाश्रम के रूप में हमें संकर के इस कथन को केना चाहिए। इससे यह भी प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म उस समय भीवित रूप में विद्यमान था। अमाश से माश की उत्पत्ति होने के बिना एक और कारण दे कर मयमान् संकर सर्वास्तित्वाचारियों के प्रकरण को समाप्त करते हैं। यह कारण इस प्रकार है— यदि अमाश से माश की उत्पत्ति हो जाती तो उदासीन रूप से अकथ्य होकर बैठने वाले आचारियों को भी दृष्टिदिष्ट होनी चाहिए थी क्योंकि अमाश तो सर्वत्र ही सुप्त है। पुत्रप्राप विना काम किए बैठे रहना किसे अच्छा नहीं लगता। कुम्हार को क्या जरूरत है कि चाक चलाए, बर्तन (माश) तो कैसे ही अमाश से बन जायेंगे बौद्धों ने जो सिखाया है। इसलिए अमाश से माश की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यहीं पर सर्वास्तित्वाचारियों का खण्डन समाप्त होता है। हमने विस्तार से सर्वास्तित्वाच के बिना संकर ने बितने तर्क दिए हैं उनका निरूपण कर दिया है। संक्षेप में फिर से उन्हें यहाँ रख देना अनावश्यक न होगा।

संकर के द्वारा सर्वास्तित्ववाद का खण्डन

- (१) अनुहेतुक भूत-भीतिक संघात तथा स्कन्धहेतुक पञ्चस्कन्धी संघात यह दोनों प्रकार का समुदाय असम्भव है क्योंकि कोई स्थिर, चेतन भोक्ता या पासन-कर्ता नहीं है।
- (२) 'प्रतीत्यसमुत्पाद' उत्पत्ति मान की व्याख्या कर सकता है संघात की संगति नहीं लगा सकता भोक्ता के अभाव होने के कारण।
- (३) अग्निदवाद के मानने पर प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पत्ति की भी संबंध नहीं बना सकता। अग्निदवाद अनेक प्रकार से अधिष्ठित सिद्धांत है।
- (४) प्रतिषेध्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध असम्भव हैं क्योंकि वे न 'संस्तान गोचर' हैं न 'आवगोचर'।

(१) संकर की बीज स्वाभाविक है। हरिचर्या का 'सत्पत्तिदिष्टादातृ' (अथ संस्कृत में अग्राप्त) तर्कपर्वसूत्र्यता का निरूपण करता है और अन्य सर्वास्तित्वाचारी परमाणुवादी हैं। आज भी यह सवाल है कि हरिचर्या को सर्वास्तित्वाचारियों में रखना जाय या सूत्र्यवाचारियों में। वे एक भी नहीं हैं और अमय हैं। ऐसी विविधता है।

- (५) अविद्यादि का निरोध भी असम्भव है। क्योंकि सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न होने पर 'निर्हेतुक विनाश' तथा स्वयमेव उत्पन्न होने पर मायोंपदेश की अनर्थाकता निष्पन्न होती है।
- (६) आकाश का निरुपास्मत्त्व सम्भव नहीं है क्योंकि आकाश वस्तुनूत है। एक ही साथ आकाश निरुपास्म्य अवस्तु और नित्य नहीं हो सकता क्योंकि अवस्तु का नित्यत्व या अनित्यत्व नहीं हुआ करता।
- (७) मानसिक अनुभव (अनुस्मृति) के तथ्य के विरुद्ध जाने के कारण सचिक भाव अत्यन्त गम्य सिद्धान्त है। शनिकवाद में कोई उपपत्ति नहीं है।
- (८) वस्तु से सत की सत्यति सम्भव नहीं है क्योंकि (१) स्थिर-स्वभाव पदार्थों में ही परिवर्तन सम्भव है (२) माव से ही सब कुछ शुरू है अभाव से नहीं।

अब हम शंकर के विज्ञानवाद सम्बन्धी प्रत्याख्यानो पर जाते हैं जो ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२८ ३२ में मिलते हैं। उपसृक्त सुक्तों पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने छह पूर्वपक्ष उठाए हैं जिसका शंकर और बीछ विज्ञानवाद उत्तर उन्होंने दिया है तथा चार स्वतन्त्र ठर्के दिए हैं। इस प्रकार कुल बस ठर्क मनवान् शंकर ने बीछ विज्ञानवाद के विरुद्ध उपसृक्त सुक्तों के भाष्य में दिए हैं, जिनका अब हमें क्रमशः विस्तरेष करना है।

(१) विज्ञानवादी बीछ कहता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य अर्थ नहीं है। 'न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति'। शंकर इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि बाह्य अर्थ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि इसकी उपलब्धि हमें होती है 'उपलब्धे'। बाह्य पदार्थ हमें अपने भीतर स्थित विचारों के अनुकूल ही दिखाई पड़ते हैं और हम यह अनुभव करते हैं कि यह वस्तु है यह स्तम्भ है आदि। जो वस्तु उपलब्धमान है उसका अभाव नहीं हो सकता। ज्ञाना ज्ञाने हुए भी कोई वस्तु कि मैं ज्ञाना नहीं या रहा हूँ इसी प्रकार यदि इन्द्रिय-सन्निकर्ष से बाह्य पदार्थों को देखता हुआ भी कोई वस्तु कि मैं नहीं देखता हूँ तो क्या उसका मूँह पकड़ा जाता है? वास्तव में बात तो यही रहेगी कि जिसकी उपलब्धि होती है वह अभाव नहीं हो सकता। 'अभाव उपलब्धे'। शिन्तु विज्ञानवादी आपर कह सकता है 'मे अभाव वह कहता हूँ कि मैं वस्तु को नहीं देखता। मैं तो बसल यही कहता हूँ कि उपलब्धि से व्यतिरिक्त 'मे वस्तु उपलब्ध नहीं करता'। वस्तु को ज्ञाने कटकारने हुए आचार्य

संकर विज्ञानबाबी के काम पकड़ते हुए, कुछ उसके प्रति मुसकराते हुए (मेरे जैसे ही तो बोल रहा है !) कहते हैं 'बच्छा बच्चे ! बड़े जानो तुम्हारे मुँह पर कपाम तो है ही नहीं' 'बाबमेवं कभीपि मिरकणत्वात्ते तुष्यस्य' । उसके ठक को लेते हुए उत्तर देते हैं कि सभी मनुष्य इसी प्रकार की उपलब्धि करते हैं कि स्वप्न बाहि बाह्य पदार्थ विषय रूप से स्थित है । कोई इस प्रकार अनुभव नहीं करता कि बाह्य पदार्थ ही स्वयं उपलब्धि है । सभी मनुष्य बाह्य पदार्थों को उपलब्धि के विषय रूप में देखते हैं इसमें प्रमाण यह है कि जो बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करते वे भी उसकी सत्ता को स्वीकार करने वाले ही ठहरते हैं । किस प्रकार ? तुम कहते हो कि भीतर अवस्थित ज्ञेय ही बाहर स्थित जैसा मासता है । 'अन्तर्ज्येयं रूपं तद्बहिर्बहिर्बुधमाद्यत इति' । किन्तु इस कथन में ही तो तुम बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हो । 'बाहर जैसा' ('बहिर्बु') तुम क्यों कहते हो ? जब बाहर किसी चीज को मानते हो तभी तो ऐसा कहते हो कि भेदा भीतर स्थित विचार बाहर पदार्थ के जैसे मासता है । विष्णुभिन्न ब्रह्मा पुनः की तरह मासता है ऐसा तो कोई नहीं करता । ब्रह्मापुनः कही हो तब तो कोई कहे ? अतः जब तुम 'बाहर जैसा' कहते हो तो निश्चय ही इसका यही अर्थ होता है कि लोक की अनुभूति के सर्वत्र ही तुम भी बाह्य पदार्थों की उपलब्धि करते हो । इसलिए उपलब्धि होने के कारण बाह्य पदार्थ का अभाव छिड़ नहीं किया जा सकता । 'न ब्रह्मभाषो बाह्यस्वार्थस्वाभ्यवहितुं शक्यते' ।

(२) विज्ञानबाबी तक-गुण को पकड़ता हुआ फिर कहता है कि बच्छा यदि तुम यह कहते हो कि बाह्य पदार्थ है तो फिर यह तो सोचो कि या तो ये परमाणु होने चाहिए या उनके समूह । किन्तु बाह्य पदार्थों यथा स्वप्नबाहि को पीपित करने वाले विचार तो परमाणुओं का घोलन नहीं कर सकते क्योंकि जब हमें स्वप्नबाहि बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि होती है तो इस उपलब्धि को ह्व परमाणुओं की उपलब्धि पर तो आक्षिप्त नहीं कर सकते और न स्वप्नबाहि परमाणुओं के समूह ही समझे जा सकते हैं क्योंकि परमाणुओं से उनका अन्त्य अथवा अनन्त्य ही निश्चित रूप से निर्णीत नहीं किया जा सकता । अनन्त संकर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि सम्भव और असम्भव को प्रमाण-प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक मानना न कि प्रमाण-प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति को सम्भव-असम्भव पूर्वक मानना ठीक अप्यवसाय नहीं है । जो कुछ प्रत्यक्ष प्रमाणों में है किसी के हाथ भी उपलब्ध नहीं होगा उसी के बारे में

कह सकते हैं कि यह नहीं है किन्तु यहाँ तो सभी प्रमाणी के बाह्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं, अतः वे हैं ही ।

(१) यहाँ पहले विज्ञानवादियों के दो तर्क हैं, बाह्यार्थ-निषेध के लिए (१) 'एवं जात्यादीन् अपि प्रत्याक्षणीत' अर्थात् पहले तर्क अर्थात् अपने हाथ परमाणुवाद सम्बन्धी प्रत्याख्यान करने के बाद ही विज्ञानवादी कहते हैं—इसी प्रकार 'वाति' भी नहीं माननी चाहिए । (२) जब हम वस्तुओं को देखते हैं तो हमें 'चट-ज्ञान' 'पट-ज्ञान' ऐसा ज्ञान होता है । चूँकि हर एक विषय के प्रति ऐसा ज्ञान होता है अतः हमें ज्ञान में ही कुछ विशेष मानना पड़ता है, इसलिये अवश्यम्भावी रूप से यह मानना पड़ता है कि हमारे विज्ञान वस्तुओं के स्वरूप को बारण कर सके हैं और जब एक बार यह स्वीकार कर लिया कि ज्ञान की विषय से संकल्पता है (विषयसाक्यं ज्ञानस्य) तो बाह्य पदार्थों को मानने की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है । मयमान् संकर इन तर्कों का इस प्रकार उत्तर देते हैं (१) ज्ञान के विषय-साक्य होने से विषय का नाश नहीं माना जा सकता और इसका कारण यह है कि यदि विषय न हो तो विषय-साक्य भी नहीं होता और विषय उपलब्धि का विषय है । (२) चटज्ञान और पटज्ञान में यह चट और पट रूप विशेषणों में ही भेद है विशेष्य रूप ज्ञान में नहीं । इत-लिए पदार्थ और ज्ञान में भेद है ।

(४) विज्ञानवादी कहता है कि सहोपलम्भ नियम से विषय और विज्ञान में अभेद है । इसलिये पदार्थ का अभाव है । संकर का उत्तर है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त चट ज्ञान और पट-ज्ञान में चट-पट रूप विशेषणों में ही भेद है (देखिए ऊपर तीसरा तर्क) उसी प्रकार यहाँ भी सहोपलम्भ-नियम विज्ञान और विषय में केवल उपाय और उपाय मात्र ही दिखाता है उन दोनों के अभेद को दिखाने वाला तो यह कभी नहीं है ।

(५) विज्ञानवादी बड़ा महत्वपूर्ण तर्क रखते हैं स्वप्नादिब्रह्मेवं द्रष्टव्यम् । अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न-माया-मरीचि-जडक—मन्त्रार्चनमयों के प्रत्यय या विचार हैं जो जिला ही बाह्य अर्थ के रूप में उपस्थित हुए बाह्य और प्राकृत आकार वाले होने हैं उसी प्रकार आपरित अवस्था में भी गोचर होने वाले स्वप्नादि प्रत्ययों वाले होने चाहिए क्योंकि ब्रह्मवत् से तो दोनों ही व्यभिचरित

(१) द्रष्टव्य अनुरूप प्रकरण में विज्ञानवाद का विवेचन । 'सहोपलम्भनियम-मात्रभेदो नीलतद्विषयोः' ।

नहीं होते 'प्रत्ययत्वाविशेषात्' । 'वैचर्म्याच्च न स्वप्नादिबन्धत्' २।२।२९ इस समय सूत्र के भाष्य में भगवान् संकर ने विज्ञानवादियों की उपर्युक्त मान्यता का अख्यन किया है । भगवान् संकर कहते हैं कि स्वप्नादि प्रत्ययों के समान जागरित अवस्था के प्रत्यय नहीं हो सकते । इसका कारण यह है कि दोनों में वैचर्म्य है अर्थात् दोनों के बर्तन भिन्न-भिन्न हैं । किस प्रकार ? दो प्रकारों से । (१) स्वप्न में उपलब्ध वस्तु बाधित हो जाती है जब मनुष्य जगता है । यह देखता है कि स्वप्न में जो चीजों देखी थी वे अब नहीं उठीं किन्तु जागरित अवस्था में उपलब्ध वस्तुएँ यथा स्वप्नादि कभी बाधित नहीं होते किसी भी अवस्था में 'कस्याचिरप्यवस्थाया' । यद्यपि प्रथम तो कारण यह है जिससे स्वप्न के परार्थ जागरित अवस्था के परार्थों से वैचर्म्य रखते हैं (२) दूसरी बात यह है कि स्वप्न-दर्शन स्मृति का विषय है और जागरित वर्तन में उपलब्ध होती है । स्मृति और उपलब्धि में क्या अन्तर है इसे हम अपने अनुभव से ही जानते हैं । इसलिए अनुभव का अख्यन कर बतर्क नहीं करना चाहिए । 'न स्वानुभवत्वात् प्रज्ञानानिर्निर्गुण कर्तुम्' । इन दो कारणों को देखे हुए भगवान् संकर यह भी कहते हैं कि जब अनुभव के आधार पर विज्ञानवादी जागरित प्रत्ययों की निरालम्बता नहीं दिखा पाते तो वे स्वप्न प्रत्ययों के साथ उनके साधर्म्य को दिखाकर ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं जो इसी बात से परह ही अक्षिप्त हो जाता है कि उपर्युक्त दो कारणों से स्वप्न और जागरित प्रत्ययों में वैचर्म्य है । जो जिसका स्वयं का घम नहीं है वह दूसरे के साधर्म्य से उसमें बँधे हो सकता है ? 'न च यो यस्य स्वता यमो न सम्बन्धति सोऽप्यस्य साधर्म्यान् तस्य सम्बन्धिष्यति' । इसलिए स्वप्न और जागरित का वैचर्म्य ही है ।

(९) विज्ञानवादी कहते हैं कि 'बाधना-वैचर्म्य' के कारण ही प्रत्ययों की विविधता होती है और इसके लिए बाह्य परार्थों की स्थिति आवश्यक नहीं । संकर कहते हैं कि परार्थों की उपलब्धि स्वप्न ही माना प्रचार की बातनाएँ बूझ करनी हैं । यदि परार्थ ही उपलब्ध न हों तो विविध प्रकार की बातनाएँ कहा से आ जाएँगी ? बाधना का अर्थ है सम्भार-विनाश 'बाधना नाश सम्भारविशेषा' । सम्भार बिना आपसी के नहीं हो सकते सम्भार-विनाश आपस-अपसम्बन्ध-बाधना-अपसम्बन्ध । गुह्यारी बातना का कोई आधार ही नहीं है । 'न च तत्र बाधनापक्षः कश्चिदस्ति' । अतः बिना परार्थों के बाधना भी सम्भव नहीं है ।

यहाँ तक विज्ञानवादियों की तरफ से पूर्वोक्त उत्तर उनके अर्थों का

भगवान् शंकर ने प्रत्याख्यान किया है। जब स्वतंत्र रूप से चार तर्क उन्होंने और विज्ञानवाद के विरुद्ध दिए हैं जिनको भी हम संक्षेप में देख लें।

(७) जो विज्ञान जो पूर्व और उत्तर काल में उत्पन्न होते हैं और अपना ही अनुभव कर उपलीन हो जाते हैं तो उनमें एक दूसरे के प्रति ग्राह्य-ग्राह्य मान नहीं बन सकता।

(८) यदि यह मान लिया जाय कि विज्ञान ही उपलब्धि का विषय है विज्ञान के स्वयं से व्यतिरिक्त किसी ग्राह्य के द्वारा तब तो फिर उस ग्राह्य (द्रष्टा) को भी किसी तीसरे का ग्राह्य बनना चाहिए और वह अनन्तता बढ़ती ही जायगी। किन्तु यह सारी (अर्थात् ग्राह्य या द्रष्टा) तो अपने में ही प्रतिष्ठित होता है और इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता 'स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्'।

(९) शंकर ने विज्ञानवादियों के इस सिद्धान्त का यहाँ खण्डन किया है कि विज्ञान बीपक की ज्योति के समान अपने-ही-आप चमकता है और किसी दूसरी वस्तु को उसे जलाने या प्रकाश देने की जरूरत नहीं है। शंकर अपने तर्क देते हुए इस निष्कर्ष पर आते हैं कि विज्ञान भी बीपक की तरह ही किसी अन्य की उपलब्धि का विषय होना चाहिए। 'प्रवीणबहिर्ज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावयवत्वमस्याभि प्रसाधितम्'।

(१०) विज्ञान में अधिकृत का बोध दिखाकर यहाँ (सप्तमोऽध्यायः २।२।११) भगवान् शंकर ने कहा है कि वह वादनाओं का अधिकार नहीं हो सकता और स्मरण रूप 'आत्म-विज्ञान' का मान नहीं सकते। इसलिए जन्म-मरण के कारण विज्ञानवाद भी गिर जाता है।

इस प्रकार हमने बीछ विज्ञानवाद के विरुद्ध प्रयुक्त शंकर के तर्कों की एक संक्षिप्त विवृति दी। 'सर्वास्तिवाद' और 'विज्ञानवाद' का खर खण्डन कर चुके। जब उन्हें धूम्यवाद पर आना चाहिए, किन्तु उसके खण्डन में आचार्य ने आबर नहीं दिखाया। जब उन्होंने सर्वास्तिवादी और विज्ञानवादी दोनों ही 'वैनाशिक पक्ष' कर दिए, तो फिर अलग से उन्हें धूम्यवाद का प्रत्याख्यान करने की क्या जरूरत रही और फिर क्याचित् ब्रह्मज्ञ भी इसके लिए अधिक अवकाश नहीं देते क्योंकि जो कुछ उन्हें कहना है उसकी पूर्वावृत्ति बं कर देते हैं केवल इसी एक सत्र में 'सर्वानुपपत्तेर्य' (२।२।१२)। शंकर कहते हैं कि यह वैनाशिकों का सिद्धान्त बीसे-बीसे परीक्षा का विषय बनाकर जाता है बीसे ही बीसे वह ब्रह्म के कुछ की तरह विदीर्घ होता चला जाता

है। शंकर ने उसमें कोई उपपत्ति नहीं देखी। यह तो सब आचार्य ने ठीक कहा है। किन्तु मन्त्र में आकर वे एक ऐसी बात कह जाते हैं जिसे उनके प्रबल समर्थक भी ठीक गले नहीं उठार पाते। और जो एक निष्पक्ष समीक्षक को भी आपानी विद्वान् सामाजिकी साधन के उस मठ से सहमत होने को विवश करती है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि शंकर को मौलिक स्रोतों के आधार पर बौद्ध दर्शन के अध्ययन का अवसर कदाचित् नहीं मिला था। बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान को समाप्त करते हुए शंकर कहते हैं अपि च बाह्यार्थ-विज्ञान-भूतवाह-अवयवितरेतरविरह्यमुपविद्यता सुयतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽन्तर्बद्धप्रमाणित्वं प्रत्येपो वा प्रज्ञानु, विद्वार्थ-प्रतिपत्त्या विमुह्यन्पुरिमा प्रज्ञा इति। सर्ववाज्मनादरीणोऽयं सुवचसमय-अवेत्कामैरित्यभिप्रायः। इसमें प्रधानतः चार बातें मगवान् शंकर ने उपस्थित की हैं (१) बुद्ध ने असम्बद्ध प्रमाण किया है, क्योंकि उनके द्वारा उपदिष्ट बाह्यार्थवाह, विज्ञानवाह और धर्मवाह सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है (२) प्रमाओं के प्रति बुद्धने विरोध दिखाया है (३) प्रमाओं का उन्होंने निमोहन किया है तथा (४) बौद्ध धर्म कस्यापि का मार्ग नहीं है। हम बड़ और शंकर दोनों की ही प्रतिष्ठा की रक्षा के पक्षपाती हैं। बड़ तो सम्मत् धम्बुद्ध हैं ही शंकर में भी 'बुद्धत्व' है किन्तु महा आचार्यत्व के आरोप में यह सब कितने गए हैं जो बुद्ध के जीवन और उपदेशों के प्रकाश में नहीं किन्तु आठवीं शताब्दी में 'सुवचसमय' के नाम से प्रसिद्ध हीन तान्त्रिकों की प्रवृत्तियों के प्रकाश में हमारे द्वारा व्याख्यात होना चाहिए। फिर भी आचार्य शंकर की मूल बुद्ध-धर्म विषयक अभिज्ञा के अभाव को छोड़कर और कोई हेतु उनके इस प्रकार सिद्ध करने का नहीं मिलता। उनकी ब्रह्मा में उनका स्वयं का ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान ही कारण है और उनकी चार बातों में एक भी बात मुक्तिसंगत मान्य नहीं पड़ती। शंकर को यह मान्य न था कि मगवान् बुद्ध के मूल उपदेश क्या थे और किस प्रकार उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। अतः उन्होंने उत्तरकालीन दार्शनिक सिद्धान्तों का बुद्ध पर आरोप कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय दिया। उन्हें देखना चाहिये या कि 'इतरेतर विरह' सिद्धान्त क्या वैदिक साहित्य में नहीं है? फिर समन्वय-

(१) देखिए डा. बेनबेनकर के जो विचार, ब्रह्मसूत्र भाष्य मोक्ष मुक्त १

(२) देखिए सौजनः सिद्धन्त ओज बुद्धिस्तिक ओज पृष्ठ १९

विज्ञान तो दोनों जगह ही किया जा सकता है। बाहि-कल्याणकारी मध्य-कल्याणकारी और अन्त-कल्याणकारी मार्ग का उपदेश करने वाले जपवान् ब्राह्मणमुनि जना किस प्रकार प्रजाओं के प्रति ईष्य करने वाले उसकी विरोध में आक्रमण या उसका अकल्याण करने वाले हैं यह कुछ समयमें नहीं आता। ऐसा लगता है कि अनेकवादी संकर भी सम-विषय से बरी नहीं वे और बर-भित्त क्षत्रों में वे गाली भी दे सकते वे जो प्राकृत्य पुरुष के किये भी योग्य नहीं हैं। बुद्ध-जीवन की उच्च मनोभूमि से तो इसकी कोई तुलना ही नहीं।

इस प्रकार आचार्य संकर के द्वारा बौद्ध वर्धन के प्रत्याख्यान को हमने देखा। एक प्रकार से तो निश्चय ही हमने एतद्विषयक ब्रह्मसुप्त-सांकराचार्य का एक संक्षिप्त विवरण ही उपस्थित किया।

क्या संकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं ? यह एक विशेष उद्देश्य से ही किया गया। क्या उनका निराण, निर्बिरोध संकर की महान् तार्किक शक्ति के साथ ही ब्रह्म 'शून्य' का ही दूसरा नाम साथ हमने इसका भी कुछ अनुमान जना ही है ? अथवा क्या स्वयं संकर किया है कि बौद्ध वर्धन के प्रति उनकी बेवान्त शास्त्रवादी औपनि सामान्यतः क्या प्रवृत्ति हो सकती थी। यदि आत्मवात् का आचरण छोड़े संकर के उपर्युक्त प्रत्याख्यानो को देखकर हुए विस्तृत बौद्ध विद्वान्वाच कोई भी स्पष्ट और नीचे सारे विचारों का ही नव संस्करण है ? इन वाक्याचार्य यह नहीं कह सकता कि संकर

वाच्यों की संक्षिप्त समीक्षा की विचार-मंचाली की समता किसी भी प्रकार बौद्ध विचार-मंचाली से दिखाई जा सकती है। किन्तु भारतीय वर्धन का यह एक विरोधाभास है कि बौद्ध वर्धन की पद-पथ पर असमञ्जसता दिखाने वाले संकर भी अपने विरोधियों (जो सम्भवतः बौद्धों से भी अधिक संकर के विरोधी हैं)—के द्वारा 'प्रच्छन्न बौद्ध' बर्नात् 'छिपे हुए बौद्ध' तक कहाए गए हैं।

यह एक बड़ा आश्चर्य की बात है (उपर्युक्त प्रत्याख्यानो के प्रकाश में विशेषतः) कि संकर को बौद्धों की पक्ष में बैठाने का प्रस्ताव करने वाले

कुछ चैत्य और अन्य आचार्य संकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' बताते हैं। किन्तु उनके विचारों की जगह ठीक मूल्य देने के पहले हम उनके कुछ प्रतिनिधि स्वयं उद्गारी से परिचित होना चाहिए। तब से पहले संकर के सबसे बड़े

प्रतिपक्षी आचार्य रामानुज है। आचार्य संकर ने वैदिक धर्म के उद्धार करने का व्रत किया था (और निश्चय ही उनकी तपस्विता और तेजस्विता ने एक अद्भुत धर्म-संस्कार किया भी था) किन्तु रामानुज उन्हें बेध-भूषा का ठो महुत्त देने की तैयार है ही नहीं (संकर के आगम' विषयक विचार को लेकर देखिए उनके प्रति उनकी विरस्कारमयी उक्ति—बुसरे प्रकरण में 'नास्तिक' और 'आस्तिक' मतों के विवेचन में उद्धृत) उम्हें उन्हें बीजों की पंक्ति में बिठलाने का प्रस्ताव करते हैं। पहले उनकी ओजस्विनी संस्कृत-भाषी को ही उद्धृत करते हैं। श्रीभाष्य २।२।२७ में ये वैष्णव आचार्य कहते हैं 'एवमेष सत्कर्मणि ज्ञात्वात्सर्वेन सर्वलोकेशाक्तिकमपरोक्षमवशासमाननैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थ इति साधयन्ता सर्वलोकोपहासकरणं भवन्ति वेदवादच्छदुमप्रच्छन्नबीज निराकरणे निपुणतरं प्रपञ्चितम्' इत्यादि। इस समालोचना में दो बातें स्पष्ट हैं। समालोचक संकर के ज्ञानबाध को अच्छा नहीं समझता या कम-से-कम उसे अपूर्ण समझता है और बूझती बात यह कि वह (जसी के अनुपम शब्द-व्यय में) उन्हें 'वेदवादच्छदुमप्रच्छन्न बीज' समझता है। इसका अर्थ यह है कि संकर का वेदवाद ठो कपट है वास्तव में वे छिप बीज है। यादव प्रकाश भी अपनी बाध-बाह्यिक शैली में एक ही श्लोक में बहुत सी बातें कह जाते हैं—वेदोऽमृतो बद्ध कृताममोऽमृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य ज्ञानुत्तमम्। बोधोऽमृतो बुद्धि फले तत्तत्तुते पूर्व च बोधात्स्य समानसंततः॥ रामानुज और यादव प्रकाश (११वीं शताब्दी) दोनों वैष्णव आचार्य हैं और संकर के 'प्रच्छन्न बीज' होने के विषय में उनके विचार देखिए गए हैं। निश्चय ही उन दोनों के बचनों में संकर की कुछ निम्ना अपेक्षित है। अब हम नवी शताब्दी के एक और बाधनिक के विचार देखते हैं। मास्कर 'वेदान्त सिद्धान्त' के प्रचारक है और मास्कर भाष्य का स्वल्प साम्प्रदायिक नहीं है। मास्कर का भी जयात है कि मायावाद माहायानिक बीजों से ही ली हुई बीज है 'माहायानिकबीजनाशितं माया वादम्' (मास्कर भाष्य १।४।४५)। जिस प्रकार संकर न बुद्ध के लिए कहा है कि 'वे प्रजाएँ विमोहित हो' 'विबुहोऽयुरिमाः प्रजा' इसीलिए बुद्ध ने उपदेश दिया है उसी प्रकार मास्कर न भी मायावादिनों पर आरोप लगाया है कि वे स्वयं लोक की विमोहित फिरते हैं और जिस प्रकार ब्रह्मानुभव न बीजों को निराकृत किया है उसी म्यात्र से मायावादी ब्रह्मन्ती भी निरस्त हो जाते हैं। मायावाद जन्मा स्वल्पित सिद्धान्त है अथवा बीजों से इसे उन्होंने किया है। वह वैदिक सिद्धान्त नहीं है। देखिए उन्हीं के शब्दों का

उद्धरण 'केचित्तु युत्तर्बमाचार्योक्तिं न पच्छन्' कृत्वा मायामार्गं स्वबुद्धया कल्पयित्वा अन्यदेव दर्शनं रचयन्ति । विहीनं किममूर्तं माहायानिक—
 बौद्धगामितं मायावादं ध्यावर्त्तयन्तो लोकान् ध्यामोहयन्ति ।
 तु बौद्धमतानुयायिनो मायावादिनः तेषां धर्मेणैव स्वायेन सूत्रकारण
 निरस्ता वेदितव्याः सन्ति । 'तात्पर्यं परिशुद्धि' के प्रसिद्ध रचयिता
 बौद्धों के पराक्रमशील होने पर 'ईश्वर' को उनसे बचाकर उसकी स्थिति को
 कायम रखने वाले (न्याय कृमुगाम्जलि में 'ईश्वर' की सिद्धि करने का प्रयत्न
 कर—वेदिए इनको 'ईश्वर' के प्रति सम्बोधन 'पराक्रमन्तेषु बौद्धेषु मरुधीमा
 त्तम स्थिति') उद्यमताचार्य (१८४ ई) भला अपने 'ईश्वर' को शंकर के
 द्वारा मायाविशिष्ट चैतन्य बना दिए जाने को (जिसी ने सम्भवतः जैन
 आचार्यों को भी शंकर के प्रति विस्मयाविष्ट और रोयान्वित किया) किस
 प्रकार सहन कर सकते थे रामानुज की तरह उन्हें भी शंकर का इह्य और
 ईश्वर का विमेष किस प्रकार पसन्द आ सकता था जब उनकी मर्त्य के
 परिषम की निम्नी हुई 'कृमुगाम्जलि' बौद्धों के द्वारा तो निराकृत हुई ही स्वयं
 शंकर के मत के द्वारा भी अनायास ही निराकरण का विषय बन सकती थी
 कम-से-कम परमार्थ सत्य का तो विषय नहीं बन सकती थी वत उन्हें
 कहना पड़ा

यन्मायावादिनो बह्व्य मङ्गल्यं शून्यवादिनः ।

न हि स्वकल्पमैवोपैस्ति स्वतस्सिद्धत्वात्तत्समोः ॥

आनन्दतीर्थ (मध्य तेरहवीं शताब्दी) ने भी इन्हीं की परम्परा में कहा

मङ्गल्यवादिनः शून्यं तदेव बह्व्य मामिनः ।

न हि स्वकल्पमैवोपैस्ति निर्बोधवस्तुतस्तस्योः ॥

ऐसा मामूम पड़ता है मानो उद्धरण के शब्दों की ही उल्ट-मेर कर आनन्द
 तीर्थ ने रख दिया हो । वेदिए 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के भी प्रभावशाली शब्द—

प्रत्यक्षादिप्रमातिद्विविद्धार्थानिवायिनः ।

वेदान्ताः यदि छास्त्राणि बौद्धैः किमपराय्यते ॥

निश्चय ही मायावादियों के प्रति इतनी अर्त्तता तथा उनकी अपसा में बौद्धों
 के साथ सहानुभूति इससे अधिक नहीं दिखाई जा सकती थी । इस प्रकार की
 भावनाएँ शंकर के मायावाद की वैदिक मार्ग का प्रवर्तक कभी मान ही नहीं सकती
 थी । उस्त उनक किन्हे मायावादी वेदान्ती अन्त में नास्तिक ही ठहरता था ।
 'मायावादिवेदायमपि नास्तिक एव परमेशान सम्पद्यते । ऐसा भीमाचार्य ने

अपने 'श्यामकोश' में कहा था। इस हास्य में तो मायावादी शंकर अधिक से-अधिक ऊपर जायें ठह कहीं बीड़ों के साथ बैठसकत हैं और असम्भव नहीं कि श्रीमाचार्य यदि उन्हें कहीं अन्य स्थान पर बैठाने का ही प्रस्ताव ग करते हों। शास्त्र हीपिका' तो मायावाद से बीड़ वर्णन को अच्छा समझती है 'तस्माद्विस्मयः मायावादान्माहात्म्यमिदम्'। इस मायावाद से तो माहात्म्यमिदम् ही अच्छा है।

'प्रकरण पञ्चिका' में सात्त्विकता ने भी माहात्म्यमिदम् पक्ष में बेशकियों के प्रवेश को ब्रह्मवादियों का मोह ही कहा है। 'तस्मादेवोपनि माहात्म्यमिदम् प्रवेष्टो ब्रह्मवादिना मोह एव'। इतना ही नहीं स्वयं शंकर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भाष्यार्थ 'पञ्चपाद' अपनी 'पञ्चपादिका' ('बसु-सूत्री-शास्त्र-भाष्य' की अतिरिक्त टीका) में भी स्वीकार करते हैं कि शंकर वर्णन में अर्थात् माहात्म्यमिदम् पक्ष का भी समर्थन है। अतः स एव माहात्म्यमिदम् समर्थित'। इस विषय में उदाहरण और बढ़ाए जा सकत हैं किन्तु उनसे हमारा मूल मन्तव्य कुछ नहीं होगा। अतः हम अपने वास्तविक विवेचन को प्रारम्भ करने से पहले दूसरे पक्ष की ओर भी देखते हैं कि उसे इस विषय में क्या कहना है।

सब से पहले हमें यह देखना चाहिए कि स्वयं भगवान् शंकर को इस बात की सम्पूर्ण अनुमति थी कि उनके अनेक विचार बीड़ भाषाओं से निकले हैं, अतः वे जानते थे कि उनका पर्यवसान उपर्युक्त व्याख्येयों पर शंकर और माध्यमिक मत में दिखलाया जा सकता है। शंकर द्वारा के कुछ व्याख्यार्थ ऊपर बिलगी भाषाएँ प्रकट की गई हैं

उन सब से शंकर अनेक से दिखाई पड़ते हैं और जान पड़ते हैं उन सब से कुछ अधिक जानते हुए भी। उन्होंने स्वयं ही प्रश्न उठाया है कि क्या यह बड़ा धूम्य ही है ? 'धूम्यमेव तद्भि तत्' ? और उसका उत्तर भाष्यार्थ देते हैं 'न'। मिथ्याकल्पस्य निमित्तितत्त्वानुपपत्तेः । मिथ्या-कल्पित वस्तुओं की भी ठहरने के लिए कुछ प्रतिष्ठा चाहिए और वही प्रतिष्ठा ब्रह्म है। इस प्रकार भगवान् शंकर वही अन्तर्गुप्ट के साथ कहते हैं कि हिन्दू, वेद पत्र पति और पत्र के नेत्र से धूम्य परमार्थसत् ब्रह्म ब्रह्म सम्भवद्वियों को 'असत्' या ही दिखाई पड़ता है 'दिष्टेन भुग गति पत्रवेद शम्भु हि परमापसत् ब्रह्म ब्रह्म मन्त्रबुद्धीनाम् असत् इव प्रतिपाति' ('छान्दोग्य-भाष्य' ८।१।१)। इतना ही नहीं उन्होंने इन से भी अधिक प्रभावशाली और स्पष्ट सबों में धूम्य और ब्रह्म को मिलाने की चेष्टा का निराकरण किया है। 'ब्रह्मवादान्माहात्म्यमिदम्' प्रतिपक्ष

बहिरुपाये विज्ञानाकार एवाममाभितः स्यात् । तथा च माहायानिकपञ्चानुप्रवेशो
शुनिवाः स्यात् । अतएव बाह्यार्थस्यापत्तापो नास्तीति निवेदः ।

विशेषवाचनान्तरं ब्रह्मस्मृतिरिक्तस्य सर्वस्य असत्त्वस्यैवमपसपनमिष्टमेवेति ।

इतना ही नहीं 'म्याममकरन्व' ने संकर की इस बात की भी गवाही दी है
कि हमारे यहाँ अभाव आत्यन्तिक नहीं है किन्तु ब्रह्मपर्यवधान ही है यद्यपि वो
कहिए कि कही-ही-कही है 'न हि निवेद्यवाक्येषु कस्यचिद् आत्यन्तिको निवेद्यः'
किन्तु किञ्चित् क्वचिदिति । 'पञ्चपादिका' के मनीषी चिन्तक (पद्यपाद,
सनन्तन) ने भी इस बात पर जोर दिया है कि वेदान्त में प्रतिष्ठित 'असत्'
के स्वरूप से बीड असत् में महान् विरोध है । उनका कहना है कि अस्त्य
वस्तु भी असत् नहीं हुआ करती क्योंकि यदि वह वैसी हो तो फिर वह प्रतिपाद
ही नहीं कर सकती । और माहायानिक मानते हैं कि सब असत् ही है ।
'नाप्यस्त्यस्तमस्यैव, तथात्वे प्रतिभासामोपात् । ननु सर्वमिदं असत् इति भवती मत्तम् ।'

'पञ्चपादिका' पर 'विचरण' चिन्तने वाले आचार्य प्रकाशरम्भ
का भी इस निबन्ध में साक्ष्य सून लीजिए । वे कहते हैं कि वेदान्तवाद को
सुमत्-विज्ञानवाद के समान कहना एक 'दुर्जन रमणीय' बापी है । 'दुर्जनरमणीया
वाचं अत्यति सुमत्विज्ञानवाच्यमानोऽयं वेदान्तवाद इति' । (पञ्चपादिका-
विचरण) । किन्तु साकर दर्शन का सुमत् मत से क्या सम्बन्ध है इसका
सब से अच्छा निरूपण तो प्रायः वो के द्वारा ही किया हुआ दिखाई पड़ता है ।
अर्थात् सर्वज्ञात्ममुनि (९) के द्वारा तथा भीर्ख (११९) के द्वारा ।
इनमें भी सर्वज्ञात्ममुनि का किया हुआ निरूपण अत्यन्त विचर है और साब
ही काव्यमय भी । पढ़के ही अपने 'संक्षेप सारिरक' में आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि
इस प्रकार समस्या का अवतरण करते हैं—

आपका यह दर्शन साक्ष्यभिन्नु-दर्शन के समान दिखाई पड़ता है । अगर
बाह्य वस्तु मिथ्या है तो फिर ये दोनों दर्शन क्यों नहीं आपस में समान हैं ?

ननु साक्ष्यभिन्नुद्यमेन सन्न प्रतिभात्ययं च भवतः समम् । यदि बाह्यवस्तु
नित्यं नु कश्च समवायिनी न सङ्ख्यौ भवतः ॥ २।२५ । फिर जाने वह भी कहते
हैं कि यदि 'बोध्य' को छोड़ 'बोध' को ही तुम परमार्थ का सरीर बतलते हो, तब
तो माकूम पड़ता है कि यह सब अपना मत तुमने कुछ मुनि से ही लिया हुआ है—

यदि बोध एव परमार्थवस्तु न तु बोध्यमित्यभिमतं ध्वनति । ननु चाभित
भवति बुद्धमुने मत्तमेव कृतस्मिह ॥ २।२६

तो फिर तुम वैदिक मुनि कैसे हैं

॥ २॥

हो ।

उपमान महास्त मुनिना सदृश कथमेव वैद्विमुनिप्रवृत्ति २।२७ । इन सब पूर्वपक्षों का समाधान करते हुए सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं कि 'मिथ्यात्व' तो बौद्ध ब्रह्मत्व में है किन्तु असत्य नहीं है और फिर बौद्ध दर्शन क्षयिणवाद पर प्रतिष्ठित है और ब्रह्मत्व दर्शन स्थिरत्व पर, अतः दोनों में लेश मात्र भी साम्य नहीं है । इसी तथ्य को 'महा यह निम्नलिखित विभिन्न श्लोक स्पष्ट करता है—

परमात्मसंभयतयोजनितं प्रविभक्तमेव तु परस्परतः ।

स्थिरत्वमभ्युपेतमिह न समये ननु मत्तुमामशिवय-प्रभृति ॥

संक्षेप सारोक्त २।२८

श्री हर्ष अपने 'सङ्ख्य-सांख्य-शास्त्र' (प्रथम परिच्छेद) में कहते हैं कि शीघ्रतः मतवाधियों और ब्रह्मवादिनों में यही मुख्य विवाद है कि जब कि शीघ्रतः मत सब को अनिर्बन्धनीय कहता है तो ब्रह्मवादी विज्ञान से व्यतिरिक्त इस विश्व को सत्य और असत्य से अनिर्बन्धनीय कहते हैं—'एवं च सति शीघ्रतः ब्रह्मवादिनो विक्षेप इति ब्रह्म विक्षेप महादिमः सर्वमेवानिर्बन्धनीयं वर्णयति विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिह विश्वं सत्त्वाद्यत्वाभ्यामनिर्बन्धनीयं ब्रह्मवादिनः संदिशते' ।

इस प्रकार हमने ऊपर दो समानांतर और परस्परविरुद्ध मतों को देखा है जो स्वयं संकर के सम्प्रदाय तथा अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों के द्वारा संकर दर्शन के शीघ्रतः दर्शन के साथ सम्बन्ध को लेकर प्रकटित किए गये हैं । यह प्रश्न इतना गूढ़ और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है कि बिना संकर मत की वृक्षम सुवृक्षमों का विवेचन किये इसका निर्णय नहीं लिया सकता और फिर जतना ही जरूरी है उत्तरकाशीन बौद्ध दर्शन को उसके ठीक रूप में समझना भी । यदि बौद्ध दर्शन के उसी स्वस्म को हम ठीक समझने हैं ब्रह्मवादी कहिए कि यदि बौद्ध दर्शन की अन्तिम बात नहीं है जैसी कि वह संकर और उनके अनुयायियों के द्वारा ब्रह्मसूत्र-भाष्य और उसकी टीकाओं में प्रवर्धित की गई है तब तो फिर बौद्ध दर्शन के साथ संकर दर्शन के सम्बन्ध के अधिक विवेचन करने का बखतर ही नहीं रहता क्योंकि फिर तो संकर न जो बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान किए हैं उन्हीं से हमें निर्णय दे देना चाहिए । ब्रह्मवादी संकर दर्शन के ही एक हो और व्याख्याकारों के साध्य को देखकर इसे समाप्त कर देना चाहिए । किन्तु ऐसा हम नहीं कर सकते । हमें वैष्णव आचार्यों के मतों को उनका पूरा मूल्य देना होगा और साथ ही यह भी देखना होगा कि बौद्ध दर्शन के जिस रूप का संक्षेप संकर ने दिया है क्या नहीं उसका

नामानाशान' अवधि यह हमारा प्रतिपेक्ष ग्रहण में ही अवसल होने चाहा है।
 अनाश में नहीं (ब्रह्मसूत्र भाष्य १।२।२२) । इसी प्रकार ज्ञानोप-पात्र
 १।२।१ में भी कहा तदभावाभावात् तत् परिकल्पयन्ति बीडा । न तु सद्-वति
 द्विविधस्तत्परिमिच्छन्ति । अवधि यथानु सत्कर कहते हैं कि सद् के अभाव वा
 तत्त्व का बीड कोष परिकल्पन करते हैं, किन्तु वे सद् की प्रतिष्ठाही विधी
 कुछी वस्तु को नहीं चाहते अवधि सत्की स्थापना नहीं करते । इसके विपरीत
 संकर अपनी प्रसिद्ध 'ब्रह्म' पर मानकर उसमें केवल रूप-अपेक्ष का ही विवेक
 करते हैं 'तस्मात् ब्रह्मण रूपप्रपञ्च प्रतिपेक्षि परिधिगमिह ब्रह्मेत्यवकल्पन्' ।
 (ब्रह्मसूत्र भाष्य १।२।२२) । हम पहले देख ही चुके हैं कि उन्होंने धूम्रवार
 के विचारण के प्रसंग में धूम्रवार के प्रति कितनी बुद्धा के भाव प्रकट किए हैं
 'न ह्ययं सर्वप्रमापयिहो लोकम्यवहारः न्यस्तत्वमनविषय्य उपपत्तमहमेतुम्' ।
 (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।११) । माध्वस्य कारिका पर भाष्य करते हुए भी आपने
 संकर ने कई बार ब्रह्म के प्रति निर्देशों को किंच प्रकार अन्वया व्याख्या कर
 दिया है, यह हम 'माध्वस्य-कारिका' के विरलेपत्र को उपस्थित करते समय
 देख चुके हैं । इस तथ्य से भी यह स्पष्ट है कि संकर बीड वर्तन से व्यतिरिक्त
 अपने मत को दिसाना चाहते हैं । माध्वस्यकारिका भाष्य में संकर कईबार
 और धूम्रवार का विवेक दिसाते हुए कहते हैं कि कईबार में धूम्रवार का
 प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता क्योंकि कईबार वस्तुत्व पर प्रतिष्ठित है 'तथा
 न प्रति कईतम्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावात् धूम्रवाध्यसंय ईतस्य नामाभावात्' । न ।
 रण्णुवर्णविच्छिन्नाना मितास्परत्वानुपवर्तिरित्युक्तमेतत् (२।३२) । अधिक उद्धरण
 देने की जरूरत नहीं है । बीड वर्तन का भी प्रत्याख्यान हुए साकर भाष्य के
 आधार पर है चुके हैं, वही केवल एक भाव संकर के इस बुद्धिकोष को विज्ञान के
 लिए पर्याप्त है कि वे अपने वर्तन को इस प्रकार बीड वर्तन के सम्मिश्रित दिखाए
 जाने का समर्थन नहीं कर सकते जिस प्रकार कि वैष्णव साधकों के उक्त
 विज्ञान का प्रत्याख किया है । हम यह सम्ये हैं कि संकर उसमें अपनी विन्या
 अनुसर करते । किन्तु यह तत्त्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अतः न केवल संकर
 के ही किन्तु उनके विचार-सम्प्रदाय के कुछ अन्य विचारकों के भी ध्यान को
 सुनना चाहिए कि वे संकर पर कहा गए इस्तेमाल के बारे में क्या कहते हैं ।

(१) तथा निम्नलिखित वही 'कल्पित रूप प्रत्याख्यानने ब्रह्मस्यव्याख्याननिधि
 निर्णीयते ।

तो सब से पहले सर्व दर्शनरत्नरत्नमल्ल 'यद्वर्धनीयत्नम्' बाधस्पति मिश्र की ही बात सुनो। इनका सब से बड़ा साक्ष्य यही है कि संकर में बाह्य जगत् का अपकाप नहीं किया है किन्तु उसे एक अतीत सत्य की अपेक्षा में ही मिथ्या बताया है। किसी का किसी पर आरोप होने के लिए किसी तत्त्व की स्थिति होनी आवश्यक है। निष्प्रपञ्च परमार्थ सत्य ब्रह्म ही जगत् की प्रतिष्ठा में अवस्थित है। अपि आरोपित निषेधनीयम्। आरोपश्च तत्वादिष्ठानो दृष्टः, यथा क्षुत्तिहारिषु रक्षताद्ये। न चेदस्ति किञ्चित् तत्त्वं कस्य कस्मिन्नारोप-
तस्मात् निष्प्रपञ्च परमार्थसत् ब्रह्म अनिर्वाच्य प्रपञ्चात्मनाऽऽरोप्यते। तच्च तत्त्वं व्यवस्थाप्य अतात्त्रिकत्वेन सांख्यवहारितत्वं प्रमेयाभावात् बाधकेनोपपद्यते इति युक्तमुत्पत्त्याम्। (भामती २-११)।

यद्यपि बाधस्पति मिश्र के उपर्युक्त उद्धरण में हम बौद्ध दर्शन के प्रति कोई संकेत नहीं पाते किन्तु हमने जिस दृष्टि से उसे उद्धृत किया है वह यह है कि संकर के जगत्मिथ्यात्व की प्रतिष्ठा में परमार्थसत् ब्रह्म को देखते हैं। बाधस्पति मिश्र। हमने संकर के विज्ञानवाय के सध्वन में देखा है कि वे किस प्रकार बाह्यार्थ को उपलब्धि में परिवर्तित कर देने के विरुद्ध हैं। एक और साक्ष्य देते हुए बाधस्पति मिश्र कहते हैं कि ब्रह्मवादी नीलादि की आकार वाली वृत्ति को नहीं मानता किन्तु नीला से अनिर्वाचनीय को मानता है अतः माहायानिक मत में उसका अनुप्रवेश नहीं हो सकता 'न हि ब्रह्मचारिणो निष्ठावाकारो वित्तिमभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वाचनीयं नीलावृत्ति' (भामती २।२।२८)। इसी के अनुकूल मत 'भ्यावमकरत्वं' के रचयिता आनन्दबोध अट्टाचार्य उपस्थित करते हैं जब कि वे बाधस्पति मिश्र के प्रायः समान ही शब्दों में कहते हैं 'न हि ब्रह्म नीलावाकारो वित्तिमभ्युपगच्छाम येन माहायानिकपञ्चानुप्रवेशः'। किन्तु अनाद्यविद्याविहीनितमकीकृतिर्वसिमाकारं प्रपञ्चमाचरामहे। इस प्रकार संकर सम्प्रदाय की परम्परा में बहुत बाद में आने वाले इन आचार्य ने भी यह विज्ञान का प्रयत्न किया है कि उनसे दर्शन-सम्प्रदाय का माहायानिक मत में प्रवेश नहीं होता। ब्रह्मचारियों के यहाँ ब्रह्म की सत्ता प्रतिष्ठा है जिस पर जगत् आश्रित है तथा ब्रह्म से व्यतिरिक्त ही सब का अपलाप दृष्ट है। बाह्य जगत् का वे अपकाप नहीं करते क्योंकि ऐसा करने से तो यह 'विज्ञानाकार' होकर आश्रित हो जायगा और तब तो फिर माहायानिकों के पक्ष में ही अनुप्रवेश करना दुर्निवार हो जायगा। लेकिन 'भ्यावमकरत्वं' की यह उक्ति 'न तत्र नमः स्यकमप्रकाशमानं प्रपञ्चमाचरामहे वेनायमाचरो न स्यात्' इति प्रतिभासमानाचारस्य

बहिरकाये विज्ञानाकार एवायमाभितः स्यात् । तथा च माहायानिकपञ्चानुप्रवेशो
भुतिपाटः स्यात् । अतएव बाह्यार्थस्थापकापी नास्तीति निर्णयः ।

विद्योत्पादनान्तरं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य असत्त्वकज्ञानमपसपनमिष्टमेवेति ।

इतना ही नहीं 'म्याममकरन्द' ने डॉक्टर की इस बात की भी मनाही की है कि हमारे यहाँ अभाव आत्मन्तिक नहीं है किन्तु ब्रह्मपर्यवसान ही है अथवा यों कहिए कि कही-ही-कही है 'न हि निवेशवाक्येषु कस्यचिद् आत्मन्तिको निवेशः । किन्तु किञ्चिद् स्वचिदिति' । 'पञ्चपादिका' के मनीषी चिन्तक (पद्मपाद, सनन्दन) ने भी इस बात पर जोर दिया है कि बेदान्त में प्रतिष्ठित 'असत्' के स्वरूप से बीड 'असत्' में महान् विषेय है । उनका कहना है कि अल्पस्य वस्तु भी असत् नहीं हुआ करती क्योंकि यदि वह बीसी हो तो फिर वह प्रतिमात्र ही नहीं कर सकती । और माहायानिक मानते हैं कि सब असत् ही है । 'नाम्बध्यस्तमसदेव त्वात्मे प्रतिभासाधोवात् । ननु सर्वनिवेशमसदिति नवतो मठम् ।

'पञ्चपादिका' पर 'विचरण' लिखने वाले आचार्य प्रकाशाख्य का भी इस विषय में साक्ष्य सुन लीजिए । वे कहते हैं कि बेदान्तवाद को सुगत-विज्ञानवाद के समान कहना एक 'दुर्बल-रमणीय' बाधो है । 'दुर्बलरमणीयां चार्थं वास्यति सुवतविज्ञानवाचसमानोऽयं बेदान्तवाद इति' । (पञ्चपादिका-विचरण) । किन्तु डॉक्टर बर्चन का उक्त मठ से क्या सम्बन्ध है, इसका सब से अच्छा निरूपण तो प्रायः बी के हाथ ही किया हुआ दिखाई पड़ता है । अर्थात् सर्वज्ञात्ममुनि (९) के हाथ तथा श्रीहर्ष (११९) के हाथ । इनमें भी सर्वज्ञात्ममुनि का किया हुआ निरूपण अत्यन्त विद्वत् है और साध ही काव्यमय भी । पहले ही अपने 'संक्षेप शरीरक' में आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि इस प्रकार समस्या का अवतरण करते हैं—

आपका यह बर्चन साक्ष्यभिन्नु-बर्चन के समान दिखाई पड़ता है । अपर बाह्य वस्तु मिथ्या है तो फिर ये दोनों बर्चन क्यों नहीं आपस में समान हैं ? ननु साक्ष्यमिदमसमयेन समं प्रतिभास्यते च भवतु समम् । यदि बाह्यवस्तु विद्वत् नु कर्त्तुं समवायिनी न सम्बन्धी भवतु ॥ २।२५ ॥ फिर जाने यह भी कहते हैं कि यदि 'बोध्य' को छोड़ 'बोध' को ही तुम परमार्थ का शरीर बताते हो तो वही तो मान्य पड़ता है कि यह सब अपना मठ तुमने कुछ भुनि से ही लिया हुआ है—

यदि बोध एव परमार्थवत् न तु बोध्यमित्यभिमतं भवति । ननु चाभिधं भवति बुद्धमुने मयमेव कृत्स्नमिह मस्करिति ॥ २।२६

तो फिर तुम वैदिक मुनि कैसे हो ? तुम तो यवन्त मुनि (बुद्ध) के समान हो ।

उपगत मद्गन्त मुनिगा सवसा कचमेय वैदिकमुनिर्मवति २।२७ । इन सब पूर्वपक्षों का समाधान करते हुए सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं कि 'मिथ्यात्व' तो अद्वैत वेदान्त में है, किन्तु 'असत्त्व' नहीं है और फिर बौद्ध दर्शन सन्निकषाद पर प्रतिष्ठित है और वेदान्त दर्शन स्थिरत्व पर, अतः दोनों में केष मात्र भी साम्य नहीं है। इसी उभय को नका यह निम्नलिखित विभिन्न श्लोक स्पष्ट करता है—

परमसमसंभयतमोवनिर्तं प्रविजस्तमेव तु परस्परतः ।

स्थिरत्वमभ्युपेतमिह नः समये ननु मातृमानविषय-प्रभृति ॥

संक्षेप धारीरक २।२८

श्री हर्ष अपने 'सम्प्रदान-सम्प्रदाय' (प्रथम परिच्छेद) में कहते हैं कि सौगठ मतवाहियों और ब्रह्मवाहियों में यही मुख्य विवाद है कि जब कि सौपत मत सब को अनिर्बचनीय कहता है तो ब्रह्मवादी विज्ञान से व्यतिरिक्त इस विश्व की सत्ता और असत्ता से अनिर्बचनीय कहते हैं—'एवं च सति सौपतब्रह्मवादिनो को विक्षेप इति चेदयं विक्षेप महाहिमः सर्वमिवातिर्बचनीयं बर्चयति विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरितं विषयं सत्तासत्ताभ्यामनिर्बचनीयं ब्रह्मवादिनः सगिरन्ते ।

इस प्रकार हमने ऊपर दो समानान्तर और परस्परविरुद्ध मतों को देखा है, जो स्वयं संकर के सम्प्रदाय तथा अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों के द्वारा धाँकर दर्शन के सौगठ दर्शन के साथ सम्मन्ध का लेकर प्रकट किए गये हैं। यह प्रसन्न इतना गूढ़ और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है कि बिना धाँकर मत की कुछता सूक्ष्मताओं का विवेचन किये इसका निर्णय नहीं किया सकता और फिर उक्तमा ही बकरी है उत्तरकासीन बौद्ध दर्शन को उसके ठीक रूप में समझना भी। यदि बौद्ध दर्शन के उत्ती स्वल्प को हम ठीक समझते हैं अथवा यों कहिए कि यदि बौद्ध दर्शन की अन्तिम बात बही है वैसी कि यह संकर और उनके अनुयायियों के द्वारा ब्रह्मसूत्र भाष्य और उसकी टीकाओं में प्रक्षिप्त की गई है तब तो फिर बौद्ध दर्शन के साथ धाँकर दर्शन के सम्मन्ध के अधिक विवेचन करने का आवश्यक ही नहीं रहता क्योंकि फिर तो संकर ने जो बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान किए हैं उन्ही से हमें निर्णय दे देना चाहिए। अथवा धाँकर दर्शन के ही एक ही और व्याख्याकारों के साक्ष्य को देखकर इसे समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु ऐसा हम नहीं कर सकते। हमें वैष्णव आचार्यों के मतों को उनका पूरा मूल्य देना होगा और छाक ही यह भी देखना होगा कि बौद्ध दर्शन के जिस रूप का चच्छन्न संकर ने किया है क्या वही उत्तम

बहिरन्तापे विज्ञानाकार एवावमाभितः स्यात् । तथा च माहायानिकपञ्चानुप्रवेष्टो मुनिवारः स्यात् । अतश्च बाह्यार्थस्यापवापो नास्तीति निर्णयः ।

विज्ञोदयादनन्तरं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य असत्त्वकसमपक्षपक्षमिष्टमेवेति ।

इतना ही नहीं 'म्याममकरन्द' ने शंकर की इस बात की भी यवाही की है कि हमारे यहाँ अभाव आत्यन्तिक नहीं है किन्तु ब्रह्मपर्यवसान ही है अथवा जो कहिए कि कही-ही-कहीं है 'न हि निवेद्यमानेषु कस्यचिद् आत्यन्तिको निवेद्यः । किन्तु किञ्चित् स्वविविधिति' । 'पञ्चपादिका' के मनीषी चिन्तक (पद्मपाद, सनत्कृत) ने भी इस बात पर जोर दिया है कि वेदान्त में प्रतिष्ठित 'असत्' के स्वस्व से बीड़ 'असत्' में महान् विरोध है । उनका कहना है कि अस्मत्त्व वस्तु भी असत् नहीं हुआ करती क्योंकि यदि वह वैसी हो तो फिर वह प्रतिभास ही नहीं कर सकती । और माहायानिक मानते हैं कि सब असत् ही है । 'नाम्यभ्यस्तमसदेव, तत्रात्मे प्रतिमासाद्योमात् । मनु सर्वमेवेदमसदिति मवतो मत्तम् ।

'पञ्चपादिका' पर 'विवरण' लिखने वाले आचार्य प्रकाशात्मन् का भी इस विषय में साक्ष्य सुन लीजिए । वे कहते हैं कि वेदान्तवाद को सुगत-विज्ञानवाद के समान कहना एक 'दुर्बल रमणीय' बाणी है । 'दुर्बलरमणीया वाचं व्यस्यति सुगतविज्ञानवादसमानोऽयं वेदान्तवाद इति' । (पञ्चपादिका विवरण) । किन्तु शांकर दर्शन का सौम्य मठ से क्या सम्बन्ध है इसका तब से अच्छा निरूपण तो प्रायः हो के जाय ही किमा हुआ दिखाई पड़ता है । अर्थात् सर्वज्ञात्ममुनि (१) के ज्ञाप्य तथा श्रीहर्ष (११९) के ज्ञाप्य । इनमें भी सर्वज्ञात्ममुनि का किमा हुआ निरूपण अत्यन्त विपक्ष है और साथ ही काष्णमय भी । पहले ही अपने 'संक्षेप शरीरक' में आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि इस प्रकार समस्या का अवतरण करते हैं—

आपका यह दर्शन शाक्यभिक्षु-दर्शन के समान दिखाई पड़ता है । अगर शाक्य वस्तु मिथ्या है तो फिर ये दोनों दर्शन क्यों नहीं आपस में समान हैं ?

मनु शाक्यभिक्षुसमयेन समं प्रतिमात्ययं च भवतः समयः । यदि बाह्यवस्तु विषयं नु कथं समयादिमौ न लब्धौ भवतः ॥ २।२५ । फिर आने यह भी कहते हैं कि यदि 'बोध्य' को छोड़ 'बोध' को ही तुम परमार्थ का शरीर बताते हो तब तो मान्यम पड़ता है कि वह सब अपना मठ तुमने बूढ़ मुनि से ही लिया हुआ है—

यदि बोध एव परमार्थवपुः न तु बोध्यमित्यभिमतं भवति । मनु आधितं धवति बूढ़मुने मत्तमेव कृत्स्नमिह मस्करिमि २।२६

तो फिर तुम वैदिक मुनि कैसे हो ? तुम तो महन्त मुनि (बूढ़) के समान हो ।

सम्बन्ध में बड़ी सावधानी से चलने की आवश्यकता है। निर्गुण ब्रह्म जगत् का कारण है किन्तु उस निर्गुण निर्विशेष तत्त्व में से यह गुणमय प्रपञ्चमय जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो गया और उत्पन्न होने पर भी वह ब्रह्म निर्विकारी कैसे बना रहा इसी समस्या के हल के लिए 'माया' का आशय धरने लिया है। माया के कारण ही निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित-ना प्रतीत होता है। अब सुनी कल्पित है। एक ही ब्रह्म की सत्ता खण्ड-खण्ड होकर हम डीखती है। और वह माया के कारण। माया न सत् है और न असत्। वह अनिर्बचनीय है। माया में दो शक्तियाँ हैं आकर्षण और विक्षेप। आकर्षण शक्ति के कारण माया आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढँक लेती है और दूसरी शक्ति के आधार पर वह जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है (अनिर्बचनीय रूप से)। इसी तत्त्व को 'संशय धारक' न इस प्रकार समझाया गया है—

आकाशमिदं विक्षिपति संस्तुरवात्म कम्

श्रीशेखरत्वजपदाकृतिभिर्मुद्बैध ।

अज्ञानमावरणविभ्रमप्रवृत्तयोपात्

मात्मत्वमात्रव्यिमाधयता बलेन ॥ ११२

इतना संक्षिप्त रूप से माया के विषय में कह कर अब हम इस विचार पर आते हैं कि विज्ञानवादी बौद्धों ने भी इसे प्रयुक्त किया है और प्रपञ्च विषय को ही लेकर, यथा शक्ति और उनकी परम्परा के आचार्यों ने। जड़त्व ब्रह्मत्व में भी माया का सम्बन्ध ज्ञेय या विषय से रहता है जब कि अविद्या का ज्ञाता या

- (१) मिलाइए 'अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमरित शक्तित्वयम् । आकर्षणशक्तिस्तावत् अस्त्वोद्यमि मेघोद्भेदयोऽनयायतमादित्यमण्डलमन्त-लोकवित्तुनयनपथविचारयुक्तया यथावच्छादयतीह तत्तात्तार्यं परिच्छिन्न-मप्यप्रमादमपरिच्छिन्नमन्तर्तारिजमन्तर्लोकवित्तु अद्विष्टिवाद्युक्तयाच्छाद-यतीह तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्, अनन्तप्रवृद्धिर्धनचलप्रमर्कं यथा मग्नये निष्पन्नं जाति मङ्ग तथा बहुभवति यो मङ्ग दृष्टेः स नित्योपलब्ध्या स्वतः पोद्भूतात्मा । विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्जुब्रह्मन् एवावत रज्जुवै स्व-प्रकृत्या सर्वादिदुर्बुद्धावयति एवमज्ञानमपि स्वाधुतात्मनि विक्षेप-शक्ति आकाशविप्रपञ्चमुद्भूमावयति तादृशं सामर्थ्यं तदुक्तम्—विक्षेपशक्ति-विहयारि ब्रह्माण्डान्तं जगत्पुत्रेत् । वेदान्तसार (सदानन्द-वृत्त) ।

मीश्रिक रूप है। जपना जिसे वे जपना मत समझ कर स्थापित कर रहे हैं वया वही पूर्वकाशीन बीछ मत भी है जिसका उन्हें ज्ञान नहीं था। इन शांकर दर्शन के मूल मूल सिद्धान्तों में से एक-एक को लेकर दोनों दर्शनों के इस विषयक दृष्टिकोण को उपस्थित करेंगे।

‘आत्मैक्य विज्ञान’ शांकर दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है और वह आधारित है उपनिषदों के सम्पीर प्रज्ञानों में जहाँ से शंकर ने उसे छिपा है। ‘ब्रह्मसहस्रनाम’ पर काष्ठा ‘आत्मैक्यविज्ञानम्’ (ज्ञान की यह परम मायावाद काष्ठा है वह जो कि आत्मा की एकता का ज्ञान) यह एक शंकर का वाक्य उनके समय दर्शन की पूरी व्याख्या कर देता है। ‘आत्मैक्य विज्ञान’ से ही सम्बन्धित समस्या है ‘माया’ की जो हमें ध्वस्त करने के लिए उपस्थित है। स्वस्मय वह कुछ नहीं है किन्तु उसने आत्मीयता कर दिया है बुनिया के स्पष्टतम मस्तिष्कों की भी। जब शंकर नहीं समझ सके (या कहिए पूर्व मनीषी भी) तो उन्होंने माया को निकाला किन्तु जब हम माया को भी नहीं समझ पाएँ तो क्या निकालें ? इस डेढक का विचार है कि वैष्णव आचार्य शंकर के मायावाद को समझ नहीं सके। इसके पचाने के लिए बड़े बल की जरूरत है। जब वैष्णव आचार्य शंकर के मायावाद को नहीं पचा सके तो उन्होंने शंकर की निन्दा करनी शुरू कर दी। निरयम ही शंकर का छाह्न अपार है। जब हम जास्कर जैसे भेदाभेदवादी को भी ‘माहात्म्यनिरासकबीजपति’ मायावादम्’ कहते हुए देखते हैं तो हमें आश्चर्य होने लगता है कि क्या सचमुच शंकर मायावाद के किये बीजों के मूल है। निरयम ही इस प्रकार के प्रस्ताव को देखकर हम मायावाद के प्राचीन इतिहास की ओर देखते हैं अर्थात् उपनिषदों में उसकी स्वरूप को देखने की ओर प्रवृत्त होते हैं। किन्तु वहाँ भी एक बड़ा विवाद है। जो आचार्य शंकर के ‘मायावाद’ को ‘माहात्म्यनिरासकबीजपति’ यह बुद्धि से उपनिषदों में भी उसकी प्रतिष्ठा कैसे होने देंगे ? और फिर वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने वाले विद्वानों के भी तो मत इस विषय में वहाँ मिलते हैं ? दायतन और बीजों के इस विषयक मतों में क्या समानता है ! अब इस

(१) अब कि उनके पास इस प्रकार की वैज्ञानिक भावनाएँ भी तो उपस्थित हैं :
मायावादमतच्छात्रं प्रच्छन्नं बीजमेव च । पञ्चपुराण १।१४

वेदान्तम् महाभाष्यम् । मायावादमैरिदम् । पञ्चपुराण

सम्बन्ध में बड़ी सावधानी से चलने की आवश्यकता है। निर्गुण ब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु उस निर्गुण निर्बिम्बण तत्त्व में से यह नृपमय प्रपञ्चमय जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो गया और उत्पन्न होने पर भी वह ब्रह्म निर्बिकारी कैसे बना रहा इसी समस्या के हल के लिए 'माया' का आशय संकर ने किया है। माया के कारण ही निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म गामरूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित-सा प्रतीत होता है। मय सभी कल्पित है। एक ही ब्रह्म की सत्ता खण्ड-खण्ड होकर हम दीखती है। और वह माया के कारण। माया न सत् है और न असत्। वह अनिर्बचनीय है। माया में दो शक्तियाँ हैं आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति के कारण माया आत्मा के वास्तविक स्वरूप को छँक लेती है और दूसरी शक्ति के आचार पर वह जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है (अनिर्बचनीय रूप से)। इसी तथ्य को संक्षेप 'दारीरक' में इस प्रकार समझाया गया है—

आत्मप्रपञ्च बिम्बिपति संस्तुरात्म रूपम्

बीबेहवरत्नजवदाहृतिमिर्मुर्वैव ।

अज्ञानमावरणबिभ्रमभ्रमितिधीमत्

मात्मत्वमावबिभ्रमाभ्रमता बलेन^१ ॥ १।२

इतना संक्षिप्त रूप से माया के विषय में कह कर अब हम इस विचार पर आते हैं कि विज्ञानवादी बीठों ने भी इसे प्रयुक्त किया है और प्रपञ्च विषय को ही छेकर, यथा संकर और उनकी परम्परा के आचार्यों ने। अद्वैत ब्रह्म में भी माया का सम्बन्ध ज्ञेय या विषय से रहता है जब कि अविद्या का ज्ञाता या

- (१) निम्नाहण 'अस्याज्ञानस्यावरणबिभ्रमभ्रमरिति शक्तित्वयम् । आवरणशक्तिस्तावत् अस्वीक्यपि मेयोऽनेकयोऽन्यथायतमादित्यमण्डलमन्त्र-लोकवितुनयनपपयिषामकृतया पञ्चाष्टादयतीव तत्प्राप्तार्थं परिच्छिन्न-मप्यप्रमाणमपरिच्छिन्नमस्तंसारिणमवलोकयितुं अद्विषियामकृतपाष्टादयतीव तावत्तं सामर्थ्यम् । तदुक्तम् घनच्छन्नदृष्टिघनच्छन्नमर्थं यथा मन्थने निष्पन्नं जातिमूढ तथा बद्धमवति यो मूढ दृष्टेः स निरयोपलम्भिः स्वकपीडहृत्कल्पा । विज्ञेयप्रवृत्तिस्तु यथा रज्ज्वज्जालं स्वावृत् रज्ज्वौ स्व-सत्त्वा सार्वदिकमुद्भासयति एवमज्ञानमपि स्वावृत्तात्मनि विज्ञेयशक्ति आकाशादिप्रपञ्चमुद्भासयति तन्मुक्तं सामर्थ्यं तदुक्तम्—विज्ञेयशक्ति-लिङ्गादि बहुधावधानं जपत्तुजेत् । वेदान्तसार (सदानन्द-वृत्त) ।

विषयी से यद्यपि संकर ने तो इतना बिभेव नहीं भी रक्खा है और कही कही क्या बहुत बगह 'अविद्याकल्पितकर्मभेदाभ्युपगमात्' आदि कह कर माया और अविद्या के दृष्टों के प्रयोग में बाहर और भीतर का बिभेव नहीं रक्खा है। हमें भी मूक बात ही पकड़नी चाहिए। लकावतार सूत्र में शून्यवादिनों और विज्ञानवादियों के एक विवाद का वर्णन है, जो मायावाद के प्रश्न को लेकर है। विज्ञानवादी कहता है सर्वभूतवासी को सम्बोधित कर—'सर्वं भवत् मायात्मकतया स्वभावभूतमुपगतं साम्यमिकवादिनि' तथा मायास्वभावसंवृतिवादिनी बुद्धिपि भवता नास्ति बाह्यवत्। तथा च मामा केनोपलभ्यते प्राहकवस्तु धञ् ज्ञानमन्तरेण। यस्य तु विज्ञानमेव परमार्थसत् प्राह्यकपतया भ्रान्तं तथा प्रतिमासत्ते न तस्याभ्य बोध'। अर्थात् बाह्यार्थभूतवासी सर्वभूतवासी पर यह आरोप करता है कि साम्यमिक सब भवत् को मायात्मक और स्वभाव शून्य कहते हैं किन्तु बिध प्रकार से बाह्य पदार्थों का उपजाप करते हैं उठी प्रकार से बुद्धि की भी तो उता स्वीकार नहीं करते जो जो उनके लिए माया स्वल्प ही है तो फिर जब प्राह्य वस्तु कम सत् बुद्धि है ही नहीं तो फिर वे माया का ग्रहण ही किससे करते हैं? किन्तु वे जो परमार्थ ज्ञान विज्ञान को ही मानते हैं जो सत् है उनके लिए तो प्राह्य कम भवत् भ्रान्ति के समूह ही मासता है जो ठीक है। इस पर आपत्ति करते हुए साम्यमिक कहते हैं कि जब माया ही नहीं है तब भ्रान्ति ही किसके द्वारा ग्रहण की जा सकती है?—'यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते। जब तुम हाथी इत्यादि बाह्य पदार्थों को ही नहीं मानते और विज्ञानमान की ही सत्यता स्वीकार करते हो तो बाहर का तो पदार्थ तुम्हारे लिए नहीं है ही नहीं तो फिर भास क्या करता है? 'यदा मायैव ते नास्ति तथा हिमुपलभ्यते। बुद्धय तो तुम्हारे यहा (विज्ञान वादियों के यहा) है ही नहीं विज्ञान ही तुम्हारे लिए प्राह्य है और विज्ञान ही बाह्य। जब ये व्यतिरिक्त सभी बंध जाया हैं तो जिसकी किम प्रतीति तुम करने हो? चित्त तो चित्त को नहीं देन सत्यता और चित्त की जब माया है तब कौन किमका ग्रहण करता? 'चित्तमव यदा भावा उदा कि केन गृह्यते। उक्तञ्च भातनायेन चित्तं चित्तं न पश्यति' ॥ इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण न हम देगने दे कि मायावाद सत्तर से भी ५ ६ वर्ष पूर्व प्रचलित था और विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही उस अपने-अपने दृष्टी के स्वीकार करने से। बुद्धि भोग परम्परा के प्रतिष्ठ आचार्यों ने भी सत्तर के मायावाद को अस्वीकृत बनाया है, जग यदि हम बौद्ध आचार्यों के ज्ञाप को

छंकर पर मानें तो यह अनुचित न होया। भास्कर जैसे निपुण भाषायी (मेधावेरवादी से और वैसे भी भास्कर माध्य साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रायः विमुक्त है) का सार्व मां हमें प्राप्त ही है 'माहायानिक बौद्धभाषित मायावादम्'। किन्तु ऐसा करना छंकर की मौखिकता पर आघात करना होया। हमारे लिए यह समान ही है कि छंकर ने अपने विचार स्रुतियों से लिए हैं या बौद्ध भाषायों से (केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही इसका महत्व है या साम्प्रदायिक दृष्टि से) क्योंकि ज्ञान पर हम किसी का एकाधिकार नहीं मानते। जो बात हमारे लिए महत्वपूर्ण है वह यह है कि छंकर ने पूर्ण बौद्ध भाषायों से माया के सिद्धान्त को अपने पूज्याभिपूज्य परमगुरु (गौडपाद) के माध्यम से अथवा अन्य स्रोतों से किया है किन्तु छंकर का मामावाद विकसित नहीं नहीं है जो बौद्धों का। विज्ञानवादी के लिए बाह्य वस्तुओं के मामामयत्व का अस्मूपगम नास्तित्वासाधर्म के कारण है और माध्यमिकों का है सब के ही दृष्ट-नष्ट-स्वप्न होने के कारण परन्तु छंकर का है सब और सब से अनिर्वचनीय होने के कारण ही।

उदाहरण के लिए 'लकावतार सूत्र' के इस उद्धरण को लीजिए 'पुनरपरे भ्रामते न माया नास्ति साधर्म्यवर्धनात् सर्ववर्माणां मायोपमत्वं भवति। महा मतिरुह—किं पुनर्ममवन् विविचमायाभिनिवेशकज्ञानेन सर्ववर्माणां मायोपमत्वं भवति? उत विवचामिनिवेश कल्पयेन? उद्यदि ममवन् विविचमायाभिनिवेशकज्ञानेन सर्ववर्माणां मायोपमत्वं भवति हन्त तहि ममवन् न माया मायोपमा। तत्कस्य हेतो? कपस्य विविचकज्ञानाहेतुवर्धनात्। न हि ममवन्। न विवचेतुर्नस्ति येन रूप विविचकज्ञानाकार स्यायेत मायावत्। अतएव तस्मात् कारणात् ममवन् विविचकज्ञानाभिनिवेश साधर्म्याद्भावा मायोपमा'। मगदन् आह—न महामते विविच माया कज्ञानार्जमनिवेशसाधर्म्यात् सर्ववर्मा मायोपमा। किं तहि महामते विवचाद्यु विद्युत् सद्यु साधर्म्येन सर्ववर्मा मायोपमा। तद्यथा विवक्तृता अथमवदृष्टनष्टवर्धन पुनर्वर्माना स्यामते। एवमेव महामते सर्वमाया स्वविकल्पसामान्यतया प्रविचयभावात् स्यामत् रूप कसचावितिपद्यत। तथेवमुच्यते—

न माया नास्ति साधर्म्याद्भावातां कथ्यतेऽस्तितत्।

वितबागुविद्युत्तदुमा तेन मायोपमाः स्मृताः ॥

छंकर के द्वारा यह मत अखित कर ही दिया गया है, बल्कि फिर सब यहाँ विष्टेयन करने की जरूरत नहीं। इस प्रकार यह निश्चित है कि छंकर

का मायाबाध पूर्ववर्ती बीज मायाबाध से कुछ विभिन्न स्वरूप का है। परन्तु ज्ञात वा अज्ञात रूप से उसका स्रोत तो वही है। वैष्णव आचार्यों ने उसकी इतनी भर्त्सना की है उसे अर्बुकि बतलाया है और विज्ञानमिस्र जैसे आचार्य ने उसे 'अप्रामाणिक' माना है उसका भी रहस्य यही है।

जगत् के दृष्ट-जट-स्वरूप होने के कारण संकर ने उसे वित्तव नास्तित्व-रूप अथवा मायामय नहीं बताया किन्तु उसके विभिन्न होने के कारण उसे मायामय बताया है और उसके आचारस्वरूप परम जगद्भिन्नात्मा का स्वरूप सत्य की अपेक्षा में उसे बताया है मिथ्या।

नामरूपाभ्यामस्पृष्टं यदित्येतत् तच्च ब्रह्म नाम रूपवित्क्षणं नाम रूपाभ्यामस्पृष्टं एषं कश्चन ब्रह्म' (छान्दोग्य-भाष्य ८।१।१) 'नाम रूप से अस्पृष्ट जो है वह ब्रह्म है नाम रूप से वित्क्षण नाम रूप से अस्पृष्ट, इस क्षण बाका ब्रह्म'। संकर का यह पम्मीर मिनाह बीज प्रज्ञाओं में अलक्षित है—अविद्या-कल्पितेन बोधेन पारमार्थिकं वस्तु न द्रुपति न च मिथ्याज्ञानं परमार्थवस्तु वृथयितुं समर्थ (गीता भाष्य १३।२) अर्थात् 'अविद्या-कल्पित बोध पारमार्थिक वस्तु को द्रुपित नहीं कर सकते न मिथ्याज्ञान द्रुपित कर सकता है परमार्थ वस्तु को। आत्म ज्योति कार्य और कारण से अतीत होने पर भी कार्य और कारण को अवभासित करने वाली है 'कार्यकारणातीतं तथापि कार्यकारणावभासकं—आत्मज्योति' (बृहदारण्यक भाष्य ४।३।१)। यह जगत् स्वविषय रूप (अपने क्षेत्र में) सत्य ही है। 'स्व विषये सर्व सत्यमेव' (छान्दोग्य भाष्य ८।५।४) किन्तु 'अणु महद्वा यदस्ति कोऽपि वस्तु तद्व्यात्मना विनिर्मुक्तमसत् सम्पद्यते' (कठ-भाष्य २।२) अर्थात् अणु या महान् जो कोई वस्तु है यदि आत्मा से विरहित करके उसे देखें तो वह असत् ही है।

अध्यास को भी से तो मुगदुष्यिका बाधि भी दिना किसी आचार के नहीं होते न हि मुगदुष्यिकाबोधोऽपि निरास्पृहा भवन्ति'। एतन् में यदि धर्म की ध्याति करनी है तो धर्म पहले होना (सत्) ही चाहिये। अध्यास 'एतज्ज्यात्मना यदबोधोवात् प्राक् धर्मं संप्रेष्य भवति' (बृहदारण्यक-भाष्य १।९)। अस्तु धराविषय की वही उत्पत्ति नहीं देखी गई।

अतः धराविषयादेः समस्तत्पर्यवर्तनात् (तैत्तिरीय भाष्य २।६)। इस प्रकार संकर ने अनेक ठकों से दिखाया है कि नामरूपात्मक जगत् अविद्या से प्रत्यपस्थापित है अविद्याकल्पित है, किन्तु (और यह किन्तु) आत्मन्

महत्त्वपूर्ण है यदि हमें बीड़ दर्शन के साव धंकर के विचार को उसके ठीक रूप में मिलाना है) नामरूपपदस्यैव विद्याविद्ये' अर्थात् विद्या और अविद्या केवल नामरूप-पद के ही हैं) । 'न हि परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिद्विकल्प उत्पद्यते' (तैत्तिरीय भाष्य २।८) । परमार्थ रूप निर्विकल्प ब्रह्म में कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता । इतने से सम्भवतः हमने दोनों दर्शनों के मायावाद और अगमिष्म्यात्त्व सम्बन्धी सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाला है । बीड़वाद के दर्शन को विवेचित करते समय हम पहले कुछ और उद्धरण माहात्म्यिक आचार्यों के माया वाद सम्बन्धी सिद्धान्तों के देखेंगे हैं मگر उन्हें भी मिलाकर देखने से यह विषय कुछ और स्पष्ट हो जायगा ऐसा हमारा विश्वास है ।

सत्य-द्वय के सिद्धान्त के विषय में धंकर पर बीड़ आचार्यों के ज्ञान के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते । कुमारिल ने 'सत्य-द्वय-वस्तुता' का बड़ा ठीक प्रत्याख्यान किया है और उसी के व्यवहार और परमार्थ अथवा आचार पर 'सर्वे ज्ञानवाधे मन्वार्थम्' इस सृष्टि और परमार्थ सत्य प्रकार कह कर आचार्य रामानुज ने किया है । जो तक कुमारिल ने बीड़ों के लिहाफ

उठाए हैं वही उन्हें रामानुज ने धंकर के विरुद्ध प्रयुक्त किए हैं । इसलिये कुमारिल और रामानुज के तर्क देख लेने पर इस सम्बन्ध में कोई संशय नहीं रह जाना कि इस सत्य द्वय के सिद्धान्त के सम्बन्ध में धंकर बीड़ों के श्रेणी हैं । मगरानु धंकर न व्यवहार और परमार्थ सत्यों का बड़ा व्यापक प्रयोग विद्या है और उन सबकी समता हम प्रायः भाष्यमिकों में पाते हैं । यहाँ हम केवल धंकर के इस विषय सम्बन्धी कुछ उदाहरण देते हैं और उरु भी प्रकरण में निर्दिष्ट एवं विस्तार से उद्भूत माहात्म्यमिकों के इस विषय सम्बन्धी विचारों से तथा इसी प्रसंग में बीड़वाद के दर्शन से भी मिलान करने से यह बात बड़ी आसानी से समझ में आती है कि दोनों में अथवा यों कहिये कि तीनों में (अर्थात् धंकर बीड़वाद और माहात्म्यमिक आचार्यों में) इस विषय में बिल्कुल नहीं समानताएँ हैं । धंकर के नाम से यदि कोई भी विराधी भक्ति आती है जो उनके अर्थ में केवल नहीं जानी तो वह भ्रष्ट बात है कि यह तो व्यवहार-अवस्था के लिए है और 'नृकचरोर्द्ध्वे परमार्थविश्रायेण तदवस्थावसिवाह' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१४) । इस प्रकार के अनेक उदाहरण धंकर के भाष्यों में भरे पड़े हैं । विशेषतः उदाहरण के भाष्यों में । बिल्कुल इस सत्य-द्वय के सिद्धान्त को धंकर

ने श्रुतियों या ब्रह्मसूत्रों के माध्यमों तक ही सीमित नहीं रखा है, उसे उन्होंने ब्रह्म और अणु के विभेद को सूचित करने के लिए भी प्रयुक्त किया है 'सत्यमुक्तं सत्यत्वं विकारना—एतत् न परमार्थविशेषा । किं तर्हि ? इन्द्रियविषयानेकत्वा उक्तं । (छान्दोग्य भाष्य ७।१७) । पुनः 'सत्यं न व्यवहारविषयं न परमार्थं सत्यं । एकमेव हि परमार्थं सत्यं ब्रह्म । (तैत्तिरीय भाष्य २।६)

माहायानिकों ने संवृति को अविद्या कहा था और उसे जाबरन करने वाली बताया था अभूतं ज्ञापयत्वं भूतजायत्य वर्तते । अविद्या ज्ञापयमानेन कामका-लंकृतवृत्तिवत् । देखिए किस प्रकार वह ब्रह्मसूत्रियों के 'अज्ञान' के दोनों काम जर्वात् 'जाबरन' और विज्ञेय निकास देती है । संकर भी तो कहते हैं 'अविद्या ज्ञानात् वस्तुवन्तरमिव पश्यति' (प्रश्न-भाष्य ४।५) । इसी प्रकार संकर ने अनेक स्थलों पर प्रकट किया है व्यवहार की अवस्था से मनुष्य जब उठता है तो परमार्थ अवस्था से उसको व्यवहार नहीं रहता जर्वात् फिर ब्रह्म ही ब्रह्म अनुभव होता है प्रपञ्च नहीं रहता । (इससे व्यतिरिक्त) माहायानिकों ने इस सत्य को तो नहीं किन्तु इसके कुछ सपुष्ट भाव को ही इस प्रकार प्रकट किया है—

सम्यक् मुखा दर्शनं सत्यं सत्यं कथं विप्रति सर्वभावः ।

सम्यक् बुद्धां धी विप्रः स तत्त्वं मुखा बुद्धां संवृत्तिस्तत्प्रमुक्तम् ॥

(बोधिवर्षावतार)

इसी सत्य-ज्ञ के विभाव से स्वभावतः हम असत्य से सत्य प्राप्ति विषयक सिद्धान्त पर जाते हैं । व्यावहारिक सत्य एक प्रकार से असत्य का ही नाम

है । उस व्यावहारिक सत्य से पारमार्थिक सत्य की असत्य के माध्यम प्राप्ति होती है ऐसी भावना संकर के दर्शन में वर्तमान से सत्य की प्राप्ति है । बौद्धों में भी बिल्कुल वह इसी प्रकार से है ।

'असत्ये वर्तमानि स्थित्वा तत् सत्यं समीक्षते' । वह भावना दोनों जगह वर्तमान है । आचार्य संकर ने अपने इस मत का विपरीत ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय और प्रथम पाद के आरम्भनामिकरण में किया है और रामानुज ने इसका प्रत्याख्यान श्रीनारद के विज्ञाताधिकरण में किया है * ।

- (१) आचार्य सिद्धान्त में अविद्या की निवृत्ति के लिए देखिए बृहदारण्यक भाष्य ४।३।२ तैत्ति २।८.९; ५।१।१; बृहदारण्यक ४।४।१; ५।१।१। छान्दोग्य ८।१२।१; बृहदारण्यक ४।४।६; ४।३।२३ देखिए कोकिलेश्वर शास्त्री अद्वैत सिद्धान्तश्री बुध २३२ पृष्ठसंकेत भी

- (२) कमरारि ने भी ऐसे ही किया है बौद्धों के सिद्धान्त की लेकर 'संवृत्ता

साह्यायानिकों के कार्य-कारणभाव के अपसाप करण के विषय में हम
 वतुर्ब प्रकरण में ही कह आए हैं। उनके कार्य-कारण
 काय-कारणभाव का भाव के अपसाप की विषयता यह है कि वह
 अपसाप निस्त्वभाव में पर्यवसित होता है।

‘भावानी निस्त्वभावानी न सता विद्यते यतः।

सतीदमस्मिन् भवतीत्येतर्मेवोपपद्यते ॥

एकर की स्थिति इससे सिद्ध है। यही निस्त्वभाव नहीं किन्तु सभी रवभावों
 को देने वाला है। सभी कारणवादों को कारणता प्रदान करने वाला है
 ‘कार्यकारणातीत तथापि कार्य-करणावभासक—आत्मज्योतिः’ (बृहदारण्यक
 भाष्य ४।३।१)

‘कटस्वात् वारणात् कायमुत्पद्यत (बृहसूत्र भाष्य २।२।२६)

‘न हि वस्तुवृत्तान विचारो नाम वस्तुवृत्तिः। परमार्थतः वारणात् व्यति
 रेकेन भवात् कायस्य’ (बृहसूत्र-भाष्य २।१।४)। यही एकर और बीड़ भाषायों
 का इस विषय में विवेक है।

ओ बाग कारणवाद के स्वरूप में है वही बात प्रमाण-विचार के सम्बन्ध में
 भी है। प्रमाण प्रमेय व्यवहार कुछ भाष्यमिकों ने नहीं छोड़ा है। सब को ही
 दृश्य या निस्त्वभाव बना कर उड़ा दिया है। ‘प्रमाणप्रमाण
 प्रमाण-विचार ननु ननु तत्प्रमितं मूया। तत्रण दृश्यता तस्मान् भावानी
 मोक्तव्यमे’ ॥ बोधिवर्मावतारः। निश्चय ही बाह्यार्थ
 निवेष्टवाद का उत्पन्न करने वाले एकर की यही स्थिति नहीं हो सकती किन्तु
 परमार्थ व्यवस्था की अगता में ‘अविद्यावद्विषय तो उन्होंने भी उभे बताया है।
 उनका तर्क अध्यासवाद पर प्रतिष्ठित है और उभे इस प्रकार हमें समझना चाहिए।
 ‘देह और इन्द्रिया में जब तब ‘मै और ‘मेरा का अभिमान नहीं है तब
 तब प्रमाणा होने की भावना का उदय नहीं हो सकता। अतः प्रमाण प्रमाण
 भी सम्भव नहीं हो सकती। इन्द्रिया का बिना उपादान बिना प्रमाणादि
 व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता और बिना अभिमान के इन्द्रिया का व्यवहार
 नहीं हो सकता। और जब तब देह में ‘आत्म’ भाव का अवधान नहीं किया
 जाय तब तब देह वस्तु नहीं बन सकती। यदि वह सब बात न हो तो अवय

यन्वचनं हि तद् वादमात्रनिवृत्त्यर्थम्। हेतुर्ब वरमार्थस्य प्रतिवस्तु न
 तावदुपात् ॥ निरालम्बवादः।

आत्मा का प्रमातृत्व भी नहीं बन सकता । और जब प्रमातृत्व नहीं है तब प्रमाण-मन्युति भी नहीं हो सकती । अब अधिष्ठात्रिधय ही हैं सब प्रमाण-प्रमाण और आत्म' ।^१ शंकर के तर्कों में एक प्रमातृत्ववाहिका है, एक अनुवृत्तता । बौद्ध विचारकों में एक वेग है एक तीव्र प्रतिक्रिया घीवण तेज । अब हम बौद्ध और शंकर दर्शन के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर बातें करें अर्थात् क्षुण्य ब्रह्म और अनिर्बन्धनीय के सम्बन्ध पर ।

पैसा कि हम पूर्व लिखित कर चुके हैं अधिकतर पूर्वोद्धृत भाषाओं के मत इसी समस्या की ओर निर्देश करते हैं । शंकर के ब्रह्म और मोहर्ष के अनिर्बन्धनीय को हम अच्छी तरह से जानते हैं, अतः शून्य निर्गुण और उनके विषय में हमारे मन में कुछ अधिक विकल्प नहीं अनिर्बन्धनीय पर उठते क्योंकि वे सब संयत हैं । हम 'क्षुण्य' के विषय में उपसंहाररूप से चतुर्ष्व प्रकरण में भी विचार कर चुके हैं और वहाँ कुछ कथन हमने विशेषतः माध्यमिकों के इस अनुमम को ठीक रूप में ही स्वीकार करने का प्रस्ताव किया है कि यदि

हमें माध्यमिकों के साथ स्याम करना है तो निश्चय ही उन मनस्वियों के यन्मीर चिन्तनों में तथाकथित 'अभाव' की कल्पना हमें नहीं करनी चाहिए । 'अभाव न विकल्पमेव' । सायब इतने से ही यह समझ कि या समझ कि यह लेखक कहाँ जा रहा है । मयबान् शंकर ने जो यह कहा है कि हमारा प्रतिषेध तो ब्रह्मावसान है और सौगत मत का अभाववाचन (ब्रह्मावसानोर्ज्य प्रतिषेध न अभाववाचन) वह उन भयबान् में अधिक रूप में ही ठीक कहा है । ब्रह्मवादियों के लिए तो यह कहना ठीक है कि ब्रह्म-पर्यन्त सनका प्रतिषेध है किन्तु 'बैनाधिको' को तो गलत ही समझ पया है । हमारा बिलम्ब अभिप्राय है कि यदि शब्दों के पीछे लड़ना न ही है तो एक अर्थ में 'ब्रह्मावसान' प्रतिषेध क्षुण्यवादियों का भी है । यह एक अत्यन्त साहसिक कथन है, किन्तु देखिए—

(१) वैश्वेन्द्रियादिषु अर्जुनमानिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमात्रप्रवृत्त्यनुपपत्तौ । नक्षीन्द्रियाभ्यनुपादाय प्रत्यक्षादिभ्यश्चहार सम्भवति । न चापि प्दानमन्तरैवेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति । न चालम्परतात्मनात्वेन वैश्वेन कश्चिद्व्याप्तिरिति । न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नस्ति अर्जुनस्वतन्मम प्रमातृत्वानुपपत्तौ । न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमात्रप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादधिष्ठात्रिधयाभ्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमात्राणि शास्त्राणि च । ब्रह्मतुल्य-शोकरनाम्न का उपोद्घात ।

तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं ज्ञयत् ।

तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं ज्ञयत् ॥

यदि नास्ति स्वभावस्तत्र परभावः कथं भवेत् ।

स्वभावपरभावाम्यामुते कः स तथागतः ॥

क्या इन चार पंक्तियों में समझ बदलत रहन उपस्थित नहीं हो जाता ? क्या इन चार पंक्तियों के ही प्रकाश में समझ बदलत रहन व्याख्यात नहीं किया जा सकता ? 'ब्रह्म' क्या है ? एक नाम ही तो है जिसके द्वारा परम सत्यता का निर्देश करने हा ? 'आत्मा' भी क्या ब्रह्म ही नहीं है ? 'तथागत' क्या है ? 'मी' भी ब्रह्म सचते हो 'नारायण' भी ब्रह्म सचते हा 'राधा' भी ब्रह्म सचत हा 'हृण्म' भी ब्रह्म सचन हो और सबका कर सबने हो बदलत में समन्वय । 'तथागत' ने क्या दिखाड़ा है ? अब तो गुण्य उनमें समा गया । 'गुण्य' नहीं अब 'तथागत' है । और तथामग तथागत

'तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं ज्ञयत्'

तथागत जिस स्वरूप पाल है उसी स्वरूप वाला यह जगत् है । तथागत म यह जगत् और जगत् म तथागत है । तो क्या तथागत गुण्य नहीं है ? क्या पार करन हा ? तथामग और गुण्य ?

गुण्यमिति न ब्रह्मार्थं आगम्यमिति वा भवेत्

उभयं शोभयं अति प्रशंस्यते तु ब्रह्मण ।

तथामग की गुण्य कह कर या पुकारो भगुण्य भी उम्ह मन क्यों उभय न बने अनभय मन बना । उनको दिया हुआ नाम ब्रह्म प्रशंसि के लिए है । आचार्यभगवत विचारो नामधेयम् । 'गुण्य' और 'नैराग्य' बाद कहा चल द्यो, जो अब ब्रह्मसत्ता की तरफ है । 'गुण्य' मा रह हो भट्टना ! उनका धेन बना 'गुण्य' स्वरूप म सबके के अभेदक प्रियता । अब ता 'तथामग' के साथ ही लक्ष्य है ।

स्वयं न भाग्य स्वयंस्वयं भाग्यं स्वयं न तेन न ।

तथागतः स्वयंस्वयं स्वयंस्वयं तथागतः ॥

तथागत स्वयं स्वयं है स्वयं के साथ भी नहीं है । तथामग म स्वयं स्थित नहीं है स्वयं के तथामग स्थित नहीं है । ता फिर यह ता कोई क्या न वा अति से ब्रह्मता सिद्ध परल है यदि स्वयं 'न' न था

तत्त्वस्थित । नहीं कृत्स्न की भूमि से ही नहीं यादवत्त्व की ब्रह्मात्म से भी बाबाब बा रही है 'कस्मै बेबाय हविषा विधेम' । अब यह पद 'क' ब्रह्म के रूप में नहीं किन्तु 'क' तत्त्वगत' के रूप में बा रहा है

परि नास्ति स्वभावश्च परभावः कर्त्तव्येत् ।

स्वभावपरमात्म्यामृते कः स तत्त्वगतः ॥

तत्त्वगत में 'स्व' का अपने का भाव नहीं पर का भाव तो होना कहां से ? 'स्वभाव' और परभाव के बिना अब प्रश्न यही है कि वह तत्त्वगत 'क' है । 'क' स तत्त्वगत' । उही देव को हविषा के बाओ । इस प्रकार नामार्जुन ने स्पष्ट दिखला दिया है—

सर्वं न युज्यते तस्य शून्यता य मयुज्यते ।

सर्वं न युज्यते तस्य शून्यता यस्य न युज्यते ॥

'शून्यता' का और 'सर्व' का कैसा योग । कैसा समन्वय । और सभी कारिकाओं के रचयिता महामनीषी नामार्जुन ही । 'सर्व' की भी सिद्धि सही के लिए, जिस के लिये शून्यता की सिद्धि है । जिसको शून्यता का योग नहीं है, उसको 'सर्व' भी क्या युक्त होगा ? 'शून्यता' और 'सर्व' एक ही चीज है । 'अभाव' न विद्वत्स्येत् । इस स्थिति में देखिए कि क्या 'ब्रह्मसिद्धि' का की यह उचित सावकाश होती है या नहीं

कस्मिन्कस्मिन् स्थितु कस्मिन्कस्मिन् तादृशो न विविध्यते ।

विज्ञानमन्तरैवातो न निषेधस्य सम्भवः ॥

माय्यधिकों न भी परम तत्त्व को 'निरमिताप्य' 'अबाध्य' 'अनन्तर' और अनिर्बचनीय ही निर्णीत किया है । यह निश्चित है कि नामार्जुन के शून्य का अर्थ असत नहीं है बल्कि वह सबसबनिर्बचनीय तत्त्व है । अतः शून्य और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है और केवल सत्य को बीड भाषाओं के अभिप्राय से विभिन्न रूप में समझने हुए अज्ञेय बेदागती उससे अपने ब्रह्म की विभिन्नता दिखाते रहे । श्री हर्ष का यह कहना कि बीड दर्शन विज्ञान को भी मिथ्या बताता है अब कि बेदाग विज्ञान विज्ञान न अतिरिक्त सब को मिथ्या बताता है ठीक नहीं है क्योंकि असत और वस्तुस्थिति जैसे विज्ञानवादियों ने विज्ञप्तिमात्रता को मिथ्या नहीं बताया है । अतः न महाबाहू सुबालकार में तत्त्वता-स्थिति परमार्थ का उदाहण का उदाहण किया है 'न मम चाग्रत तथा न चाग्रत न चाग्रत न चाग्रत ॥' न अर्थत नापि विगूढघने पुनर्विदग्धघने तत् परमार्थ सदात्मन् ॥ क्या इस परमार्थ के उदाहण और बेदाग के निर्णय ब्रह्म के उदाहण में एक अन्तर का भी

अन्तर है ? ऐसा समझा है कि असंग और वसुधन्वु के प्रत्यक्ष संकर को प्राप्त नहीं म और केवल वर्मकीर्ति और विद्वान्ताय जैसे प्रतिस्पर्धावादी बीड़ आचार्यों के शक्तिवाद को ही संकर ने बीड़ वर्सन का सर्वस्व मान लिया है जिसका उन्होंने निरसन किया है। अस्वभाव्य की तबता तो बिल्कुल बेबाल्ट के ब्रह्म के समान है वह ब्रह्म की यही आवश्यकता नहीं। अतः कुछ बेबाल्टी आचार्यों के विरोध के होते हुए भी ब्रह्म और शून्य एक है अनिर्बन्धीय है इसमें तनिक भी संशय नहीं और इसी प्रकार का निश्चित साक्ष्य 'योग वासिष्ठ' का था यह हम पहले देख चुके हैं। यह एक आश्चर्य का विषय है कि विज्ञानवाद के स्वप्न और माया की उपमाओं के विरुद्ध एक वस्तुवादी का रूप धारण करते हुए संकर ने उनका तो विरोध किया था किन्तु स्वयं अपने मामावाद की स्थापना के लिये उन्हीं उपमाओं का उपयोग उन्होंने किया था। वस्तुतः जैसा मामाकामी सोचने ने हमें बताया है विज्ञानवाद का जन्म तर्क से हुआ ही नहीं था^१ उसका जन्म और विकास भोज की स्थापना से सम्बन्ध था इसीलिये उसने 'योगाचार' की संज्ञा भी पाई थी। बीड़ और बेबाल्ट वर्सन अपने सम्पूर्ण विकास की परम्परा में इसी समस्या में उलझे रहे कि विज्ञान नित्य है या अनित्य। बीड़ वर्सन का अधिकतर झूठा अनित्यता की ओर था और उसका कहना था कि बेबाल्टियों का अल्प मात्रा में परम तत्त्व को नित्य मानना है। दूसरी ओर विमुक्त्यात्म मुनि और सवालन्व यति जैसे अद्वैतवादी कहते रहे कि यदि बीड़ विज्ञान को नित्य मान ले यदि उनका दृश्य सबसन्निकर्षक हो जाय यदि शून्य असत् न रहे, तो उनका बीड़ों से कोई झगड़ा नहीं है। बीड़ वर्सन बेबाल्ट में प्रवेश कर जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हजारों वर्षों की दार्शनिक चिन्ता के बाद भी भारतीय मनीषा नित्यता-अनित्यतावाद के उस अतिबाध में ही पड़ी रही जिससे बचने के लिये तदागत ने उपदेश दिया था। राष्ट्र के सर्वोत्तम मस्तिष्कों का हजारों वर्षों का योग और उनका लौटकर तपायत के जीवन पर ही आश्रय यही बीड़ और बेबाल्ट वर्सनों के समग्र इतिहास का निष्कर्ष है। ब्रह्म को धूम्रत्न की ओर के जाने के कारण आत्मा को सादृश्य विमान का रूप देने के कारण संकर प्रकृतम या प्रकट बीड़ ने उसी प्रकार जैसे कि तपता और विज्ञप्तिमात्रता को ब्रह्मत्न के पास जान के कारण अस्वभाव्य असंग और वसुधन्वु से प्रकृतम या प्रकट ब्रह्मवादी। बेव्यास आचार्यों ने अवज्ञापूर्वक आचार्य संकर को 'प्रकृतम बीड़' कहा था किन्तु आज विचारकों के जगत् में बीड़ धर्म अपनी महिमा को

तत्त्ववस्तुत्व । नहीं कस्मैव की भूमि से ही नहीं याज्ञवल्क्य की यज्ञशाखा से भी साबाज का रही है 'कस्मै देवाय हविषा विभेमे' । अब यह उद्य 'क' ब्रह्म' के रूप में नहीं किन्तु 'क' तत्वागत' के रूप में आ रहा है

यदि नास्ति स्वभावश्च परभावः कर्त्तुं भवेत् ।

स्वभावपरभावाभ्यामुते कः स तत्वागतः ॥

तत्वागत में 'स्व' का अपने का भाव नहीं पर का भाव तो होना चाहिये ? 'स्वभाव' और परभाव के बिना अब प्रसंग यही है कि वह तत्वागत 'क' है । 'क' स तत्वागत' । उसी देव की हविषा के जाओ । इस प्रकार नाभार्जुन ने स्पष्ट सिद्धता दिया है—

सर्वं न भूयते तस्य भूयता य यस्पृश्यते ।

सर्वं न भूयते तस्य भूयता यस्य न भूयते ॥

भूयता का और सर्व का कैसा योग । कैसा सम्बन्ध । और सभी कारिकाओं के रचयिता महानवीनी नाभार्जुन ही । 'सर्व' को भी सिद्ध उसी के लिए जिस के द्विभूयता की सिद्धि है । जिसको भूयता का बोध नहीं है उसको 'सर्व' भी क्या मुक्त होमा ? 'भूयता' और 'सर्व' एक ही चीज है । अभाव न विकल्पयेत् । इस स्थिति में देखिए कि क्या 'ब्रह्मसिद्धि' कार की यह बलिष्ठ सावकाश होती है या नहीं

तत्त्वकमेव वस्तुत्वं कश्चित् सादृश्येन निविध्यते ।

विधानमन्तरेणतो न विधेयस्य सम्भवः ॥

माध्यमिको न भी परम तत्त्व की 'निर्दिष्टताप्य' 'अवाच्य' 'अनन्तर' और अनिर्वचनीय ही निर्णीत किया है । यह निश्चित है कि नाभार्जुन के रूप का सर्व असंग नहीं है बल्कि वह उदयनिर्वचनीय तत्त्व है । अतः भूय और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है और केवल धर्म की बीड भाषाओं के अधिप्राय ने विभिन्न रूप में समझने हुए अद्वैत बदागती उसमें अपने ब्रह्म की विविधता दिखाने रखे । भी हरे का वह कहना कि बीड बर्धन विज्ञान को भी पिछा बनाता है जब कि वेदाद्वैत विगूढ विज्ञान ने अतिरिक्त सब का पिछा बनाता है ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ और अनर्थ जैसे विज्ञानवाहियों ने विज्ञानविज्ञानता की पिछा नहीं बनाया है । अर्थ ने महावान् नृनाम्बहार में तपता-ज्वर परमार्थ का लक्षण प्रकाश दिया है 'न मम ज्ञानं तथा न वाग्यया न वायने व्येति न वाचनीयम् । न सर्वं नापि विगूढपूर्णं पुनर्विगूढपूर्णं तन् परमार्थं लक्षणम्' ॥ क्या इन परमार्थ के लक्षण और वेदान्त के निर्णय ब्रह्म के लक्षण में एक अन्तर का भी

मनात्रोय निरासंग मय्यापाता समाहित ।
 तरेव तर्षप्रप्तानां वित्तवत् नमोऽस्तु ते ॥
 आप्तनेत्याधिने देष्टे वाप्ये शाने च देष्टिदे ।
 मय्याहृतमने नित्यं सुरेष्टिदे नमोऽस्तु ते ॥
 उपत्य वचनस्नेयी वरिष्ठ आगतो गतो ।
 निरादरे र्वेव साक्षात्ता स्वपथात् नमोऽस्तु ते ॥
 तत्सौदम्यं प्रयच्छते त्वां वदन्ता तवदेहिमः ।
 दृष्टमात्राप्रसादस्य विपाद्यत् नमोऽस्तु ते ॥
 मादान् रथात् सौभाग्य निर्माय परिणामतः ।
 नमापिज्ञानवर्धनामनुयाय नमोऽस्तु ते ॥
 उपाने शरमे मन्त्रौ तत्पत्नी विप्रवादिने ।
 मत्तापाने च निर्दामे नारदश्च नमोऽस्तु ते ॥
 ज्ञान प्रदाय निर्माय विन्दतास्तु देविता ।
 स्वपरावर्त्तनीयार्थानां निरापत्य नमोऽस्तु ते ॥
 विपुष्ट्य वरता पर्यन्त इयं संवत् वरिष्ठ ।
 निरादस्त मममोय ममवर्ष नमोऽस्तु ते ॥
 चारे विहारे तर्षत्र नारदमर्षत वैदित्तव ।
 तर्षता तव तर्षत मन्त्राधिक नमोऽस्तु ते ॥
 तर्षमन्त्रार्थं दृष्ट्वेव वाग त्वं मन्त्रि दत्तव ।
 दत्तवत्तुय मन्त्रमर्षमोय नमोऽस्तु ते ॥
 तत्सौवर्गमोरात्रं वदन्ता प्रयच्छतामे ।
 मन्त्रवत्तुय मन्त्र दत्ताय नमोऽस्तु ते ॥
 चारेणधिपदेवति शान्तवति च वरिष्ठ ।
 त्वं वादक प्रयत्न दत्ताय नमोऽस्तु ते ॥
 विवि. चार्थमहाशोधि मन्त्रावाक्यवाग्वा ।
 तर्षत तव साक्षात्ता वाग्वाविष्ट नमोऽस्तु ते ।
 निरादस्त निरादस्त विवाग्वाविष्टवति ।
 ज्ञानिदस्त तर्षवत्तुय निरादस्त नमोऽस्तु ते ॥
 निरादस्तवर्गमोरात्रं प्रयत्न विवि. वत्तुय ।
 तर्षतवत्तुय मन्त्र मन्त्रवत्तुयवत्तुय ॥

पुनः प्राप्त कर रहा है और बीड़ होता विद्येपत एक बेदास्ती के बिने विद्येप गौरव की बात है। यह उसके ज्ञान की सच्चाई की मजहबी है बेदास्ती के निश्चयों का स्वाभाविक विकास है। संकर बेदान्त के निष्कर्ष इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं ऐसा बीड़ शास्त्रों के साथ उनका मिश्रण करने से स्पष्ट हो जाता है। अतः हम चाहें तो वैष्णव आचार्यों से विभिन्न वर्ग में संकर को प्रकट या प्रकट बीड़ कह सकते हैं। और यह उनके प्रति निन्दा का नहीं बल्कि पौरव का ही सूचक है।

संकर को छोड़ कर जो चार श्रेय बेदान्त के आचार्य बचते हैं वे तो सीधे बीड़ों के साथ कभी सम्पर्क में नहीं आए क्योंकि उनके समय तक बीड़ों की परम्परा भारत में रही ही नहीं थी। इन वैष्णव आचार्यों ने तो संकर पर ही आक्रमण कर बीड़ों पर भी आक्रमण की अपनी समुष्टि मान ली है। जिस धर्मित रस का परिपाक भारत में इन मनीषियों के प्रहसनों के परिणामस्वरूप हुआ उसका विवेचन हम जाने करेंगे। चूँकि हमारा उद्देश्य यहाँ स्वतन्त्र रूप से भारतीय दर्शनों का विवेचन नहीं किन्तु उनको बीड़ दर्शन के सम्बन्ध में देखना ही हमारा यहाँ काम है और चूँकि इन आचार्यों के भाष्यों में बीड़ दर्शन के प्रति कोई नई बात नहीं हम नहीं पाते अतः वे हमारे विचार के विषय नहीं हैं। किन्तु फिर भी 'यस्य पवित्री सटीरम्' कहने वाले दर्शन के साथ हमारा द्वारा पहले उद्धृत उपागते 'तत्त्वमात्र' तत्त्वधामनिर्भर 'बाण' जैसे वाक्य मिश्रण योग्य हैं। और फिर हे वैष्णव आचार्यों! आप भी तो सभी मनीषी बेदास्ती हो। अनेक स्तोत्रों को पाठ करने वाले साथ ही पम्भीर विचारण मनीषियों! आपकी सेवा में एक बीड़ 'आक्रमण' उपस्थित करना यहाँ अनिवार्य न होना जिसमें आप वैष्णव दर्शन की सर्वोत्तम भावनाएँ सर्वोत्तम रूप से प्रदर्शित देखेंगे केवल इस मेह के साथ कि आक्रमण यहाँ बड़ा ही स्वयं आपक पुराणों के मन्तव्यानुसार भगवत्स्वरूप है। बीड़ों के आक्रमण स्तोत्र का यह बीड़ संकरण।

‘अनुकम्पक सत्त्वेषु संयोगविविदासय ।

अविषोपाजय लौक्याहिताश्रय नमोऽस्तु ते ॥

सर्वीशरय निर्मलत सर्वलोकामिदं नुने ।

ज्ञानेन श्रेयं ध्यात्ते ते मुक्तचित्त नमोऽस्तु ते ॥

अदोर्ष सर्वसत्त्वार्थ सर्वलोक्य विनाशक ।

नमोऽस्तु ते ॥

अक्षरैरसमैर्युक्तो पुनैर्लोकियु बुद्धमते ।
मन्त्रलेख्यमद्वयसर्वथा देव मानुषैः ॥

इस प्रकार अत्यन्त संक्षिप्त और परिमित रूप में हुनने देखा कि समग्र बेबान्त वर्धन के इतिहास में बीड़ वर्धन का उससे एक अत्यन्त बलिष्ठ सम्बन्ध रहा है केवल वैष्णव सम्प्रदायों की छोड़कर, और उन अपसंहार हास्य में महाभाग-साधना से उसका एक उचित साम्य उत्पन्न रूप से विशेषित किया जा सकता है। जैसा कि पूर्व उद्धृत 'बुद्ध काय' की स्तुति से अच्छी प्रकार प्रकट है। हमने यह भी देखा है कि प्रवल किया है कि संकर किन अर्थों में 'प्रच्छन्न बीड़' है। वस्तुतः बीड़ और बेबान्त वर्धनों का सम्पूर्ण विकास ही विभिन्न मिष्टान्तों और ठरक-मसूरियों का अनुसरण करते हुए भी परमार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में समान निष्कर्षों पर पहुँचा है। गौडपाद और लकर यदि किसी अर्थों में प्रकट या प्रच्छन्न बीड़ है तो यह उनका बीरव ही है उसी प्रकार जैसे कि बीड़ अपनी स्वतन्त्र पद्धति का अनुसरण करके भी अन्य में 'तथागत' में शून्य की अभिव्यक्ति कर ब्रह्मवादिनों की ही पंक्ति में बैठन के अधिकारी बने हैं। वे अमात्र के लिए ही प्रतिबोध नहीं करते किन्तु 'तथागत' में अतीत उत्पन्न बैठत हैं। इस विषय का हमारे विचारमण्डल में कभी प्रकट नहीं किया गया। किन्तु इतिहास किसी का पक्षपात नहीं करता। बीड़ आचार्यों के प्रति विरक्तार का भाव निरास्पद है। उनके आदि सास्ता 'बेबान्त' है और वे भी उन्हीं की परम्परा का प्रवर्तन करने वाले हैं। जहाँ बंकर हैं जहाँ श्रीहर्ष हैं, वही नागार्जुन हैं आर्यदेव और कमलसीख हैं। वस्तुतः वे पुरे बंभान्ती ही हैं बेबान्ती अर्थात् ज्ञान के चरम निष्कर्ष को जानने वाले। और फिर ज्ञान अमल है। जिनके सास्ता ने 'बेबान्त' की उपाधि धारण की है उनके शिष्यों को भी उसे पहुँच करने से। वह उनका स्वाभाविक दायित्व है। संकर के बारे में हुने फिर कहना चाहिए कि बीड़ वर्धन का कठोर प्रत्याख्यान करके भी उन्होंने उसकी बड़ी सेवा की है। वे उपनिषदों के अनुपम व्याख्याता हैं और उनसे हटकर उन्होंने सम्भवतः कुछ नहीं कहा है। किन्तु उपनिषदों में जिस अत्र साम्य अद्वय उत्पन्न का निरूपण है उसे ही तो प्रबल बेबान्ताचार्य (गौडपाद) ने बुद्धों का विषय बताया था। यह बात यही बुद्धजनों की नहीं है कि अद्वयवादी साम्प्रदायिकों के 'अनादिवाद' का आचार्य गौडपाद ने अनुमीलन

(१) अतंग-कृत 'महापात्र सूत्रार्थकार'। टीका: लिखित अंश बुद्धिस्थल बीड़ पृष्ठ २४७-५१ में उद्धृत।

किया है। 'स्मात्प्रमानामजाति र्हरनुमोदामहे वयम्'। हम पहले देख चुके हैं (अनात्मवाद के विवेचन में) कि ईश की निरक्षिप्त से बचने के सिधे ही मनवान् ब्रह्म ने 'अनात्मवाद' का निषेधात्मक वर्णन किया था। मनीषी-साधना में किस प्रकार ब्रह्म ईश संनिविष्ट है यह भी बताने की आवश्यकता नहीं। शायद यह कि ब्रह्म मार्ग का प्रकाशन ही बौद्ध आचार्यों ने किया है। अतः बौद्ध दर्शन का सम्पूर्ण विकास ब्रह्म तत्त्व का विकास ही है। इतना ही नहीं सामाजिक नीति में उसकी प्रतिष्ठा बेरान्त से भी अधिक उत्तम की है। ब्रह्म-धर्म उच्चतर ब्रह्मवाद ही है। जो विद्वान् बौद्ध दर्शन का अन्तर्मात्र बेरान्त में दिखाने का प्रयत्न करते हैं (अधिकतर प्रवृत्ति ऐसी ही है) उन्हें यह न भूल जाना चाहिये कि बुद्ध की आध्यात्मिक अनुभूति ब्रह्मवाद से उच्चकोटि की अवस्था थी और ऐतिहासिक रूप से ब्रह्म बेरान्त का ही माहात्म्यिक मठ में प्रवेश हुआ है। बौद्ध दर्शन को मूल रूप से समझने हुए ब्रह्म बेरान्ती उसके अपने मठ को ब्रह्म बताते रहे परन्तु आज जब बौद्ध शास्त्रों का प्रकाशन हुआ तो पता चला कि जिसे वे मीन अपना परमार्थ छठ कहते थे वही तो इनके पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्यों का भी अर्थ प्राप्त था। अतः इस प्रकरण में भी कुछ कहा गया है उसका अन्तिम शायद यही है कि बौद्ध और बेरान्त की खाई मिटाकर हमें बौद्ध-बेरान्त एक कर देना चाहिए और भारतीय दर्शन का इतिहास इसका समर्थन करेगा। "इन्द्र-सामाधिपत्यम्"।

ओ-बौद्ध दर्शन और मध्ययुगीन भक्ति-साधना

आगे और उपनिषदों में भक्ति-साधना का जो रूप आदिर्भूत हुआ उसका विवरण हम कर चुके हैं। भाषण और धर्म साधनाओं का भी उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसी प्रकार धीरा के भक्ति-दर्शन और उपोद्घात महायान बौद्ध धर्म के भक्तिवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का दिने ज्ञान हम पहले कर चुके हैं। यहाँ हम मध्ययुगीन भक्ति-साधना का सुक्षिप्त मध्यम बौद्ध दृष्टि को ध्यान में रखते हुए करेंगे।

मध्य-युग की भक्ति-वादा प्रवृत्तियों के विचार में दो मुख्य धारायाँ में होकर गयीं। एक सद्गुरु धारा और दूसरी निर्गुण धारा। मध्यम धारा की दो शाखाएँ थी रामभक्ति-शाखा और कृष्णभक्ति-शाखा। मध्ययुगीन भक्ति-धारा रामभक्ति-शाखा का आधार का रामानुज और श्री पूरुषोत्तम रामानन्द द्वारा प्रचारित भक्ति-धर्म जो राम की भक्ति पर आधारित था। गोस्वामी तुलसीदास इस

साध तादात्म्य की भावना की व्यक्तिगत की भी जो महायानी साधना की आधार-भूमि है। इसी के आधार पर वैष्णव धर्म की दखि-नायक की कल्पना का विकास हुआ। हम पहले बोधिसत्व-विद्या के विकास के सम्बन्ध में दिखा चुके हैं कि महायान में ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्व को उनका निर्माण-काम कहा जा जिसे वे माना लोक-आनुजों के सत्त्वों के कल्याणार्थ चारण करते हैं। भगवान् विष्णु के अवतार केन में माया का आशय लेकर यह लोक कल्याण की बात ही वैष्णव साधना में बही गई है। मायावाद और इस तारवाद के विद्या के पहले बौद्ध साधना में प्रकट हुए हैं यह आश्चर्यकर लगते हुए भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। तथामत जो स्वयं निस्वभाव (निर्गुण) और समता स्वरूप है, लोक के कल्याण के सिद्धे माया-निमित्त रूप को, नीतम बुद्ध आदि अनन्त बोधिसत्त्वों के रूप में चारण करते हैं। इस प्रकार एक तथामत धर्म-भूषण (ब्रह्म-निर्गुण-निराकार) हैं और एक उनके साधनित रूप रूप-काय (समुत्त) नीतम बुद्ध। यह विवेक वैष्णव भक्ति के निर्गुण-समुत्त वर्णों के आध्यात्मिक से सत्ताधियों पूर्व महायान ने कर दिया था। जिस प्रकार राम एक ओर 'एक बनीहु, अनन्य बनामा अन्न सन्निधानम् परनामा अनुप जगत्त अनन्त अनादी' हैं परमात्म-रूप अधिपत कल्याण अनादि और अनन्त हैं और दूसरी ओर बाधरुचि भी कौटल्या की मोर में खेदने बाल भी, राम के बाले बाले भी लोक-मर्यादा की स्थापना करने वाले भी। बही बात इस —राम के सत्ताधियों पूर्व तथामत के सम्बन्ध में बह बी गई थी। जैसे कबीर कहा था 'हम उद्य राम को नहीं मानते थे जो बरखर के घर उत्पन्न हुआ : जिहने पनुप को गाइकर सीता में विवाह किया था जिसने राम को बरखा आदि। उनकी प्रसिद्ध सक्ति है भी 'बरखर-मुठ तिहुँ लोक बखाना। चरख का मरम है आना। विष्णुस मही बात महायानी साधनों में बही है। इस उद्य बुद्ध की नहीं मानत जिनम गुडोशन के घर जन्म लिया था की भी जिसने आत प्राण किया था जिनम जन्मेय दिया बह हो वे हैं जिनका कभी इय लोक में आना ही नहीं हुआ : जन्मेय ही मही दिया। जो बाये और जिनने जन्मेय के माया-निमित्त रूप हैं। समुत्त बुद्ध तो धर्म-भूषण हैं और हम लोक में जो दिखाई देता है उस तथ का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस प्रकार ~~जिनम~~ जिनमों बने पूर्व समय

२. व्यक्तिगत में समिप्यभित प्राप्त कर चुकी थी और राम
 तब को लेकर इस प्रकार के समन्वय का भार्य बाध में
 कठ-साधना में विकसित और समुद्र हुआ ।

पुके हैं कि अवभाष की रच-साधा का उत्सव भगवान्
 उत्सव के आचार पर विकसित किया गया । एम अन्य
 जिनके आचार पर हम देख सकते हैं कि एक अद्भुत ढंग
 ता का वैष्णव कृष्णान्तर मध्य-युग में हुआ । इतिहास के मनीषी
 दुनाब सरकार ने हमें बताया है कि मध्ययुग के एक उद्दिष्ट
 । मयबान् की स्तुति में 'बाद बह' नामक एक कविता लिखी है ।
 अवभाष भगवान् की बुद्ध-रूप में स्तुति की है । इस कविता में
 गान् कमला को यह कहते दिखाया है "मे बुद्धावतार हूँ । मे कलि-
 रों का उद्धार करूँगा ।" वस्तुतः यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि
 अवभाष की मूर्ति पहले बद्ध-मूर्ति ही थी । यही बात बहरिदासम की
 सम्बन्ध में भी कही जाती है । सारनाथ के समीप शिव की एक प्राचीन
 शिव संघेस्वर' (संघ के स्वामी शिव) के नाम से प्रसिद्ध है । यह भी
 धर्म के संघ धर्म के रूप में अन्तर्भावित हो जाने की कहानी की मुष्ट रूप
 नी है । दिल्ली के समीप एक गाँव में बुद्ध की मूर्ति बुद्धो माता' के नाम
 पूजी जाती है । तांत्रिक धर्म के माध्यम ने भी बौद्ध धर्म बड़ी आसानी से
 हिन्दु-धर्म में समाविष्ट हो गया । यह धर्म विरूपण पूर्वी बंगाल और असम
 में सम्पन्न हुआ । इस पर हम अल्प प्रकाश डालेंगे । यहाँ यह कह देना आवश्यक
 होता कि तांत्रिक बौद्ध धर्म के ऐसी-वैचित्र्यों का पूरी तरह हिन्दु धर्म के
 तांत्रिक साधकों ने अपना लिया अपना दोनों में कुछ भेद भी था । हमारी दृष्टि
 से तो यह कहना भी असंगत होगा । बौद्ध तांत्रिक धर्म की तात्त और दोनों की
 शक्ति में कोई अन्तर नहीं है । अब भक्ति-धर्म का आविर्भाव हो रहा था
 तांत्रिक धर्मों की साधना का यह सम्मिश्रण बंगाल और असम में चल रहा
 था जिनसे अपना प्रभाव सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन पर पड़ा है ।

३. जहाँ तक निर्पुणकारी मन्त्रों की बात का प्रश्न है वह उत्तरासीन बौद्ध
 साधना में अत्यधिक प्रभावित थी इन सम्बन्ध में आज 'निहानकारा के दा
 न्त नहीं हैं । डा हज्जमात्र सादरी न भैपानी बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में महत्त्व

भक्ति-चार के अत्यन्त प्रभावशाली भक्त-साधक हैं। उनका भक्तिवाद व केवल रामानुज और रामानन्द की भक्ति-परम्परा पर ही आधारित है बल्कि यह सम्पूर्ण श्रुति-स्मृति प्रतिपादित भक्ति-धर्म है। 'मानापुराणनिगमायमसम्मत' भक्ति मत है। भक्ति सम्मत हरि भगति पत्र' का प्रचार तुलसीदास ने किया है जो वर्चस्व-धर्म की आधार-भूमि पर आधारित है। कृष्णभक्ति भाला बल्लभा चर्म के मत पर आधारित थी। अतः कृष्ण भिन्नाकर हम सगुण चार को यौत परम्परा की भक्ति-साधना की प्रतिनिधि मान सकते हैं। निर्गुण चार की बात दूसरी है। उसका सम्बन्ध अमय परम्परा से भिन्न है बसिस्वत यौत परम्परा से। ब्राह्मण्य और सामन्य की परम्परा के भेद को हम कमस' तुलसी दास और कबीर के व्यक्तित्व में अच्छी प्रकार समझ सकते हैं, जो कमस' इन परम्पराओं के मध्ययुगीन रूपों के प्रतीक हैं। तुलसी और कबीर में जो अन्तर है वही यौत परम्परा और अमय-परम्परा में है। तुलसीदास और कबीर में से हम किसे अधिक पसन्द करते हैं इससे हमारे मन की यह परीक्षा हो सकती है कि उसका भूकाम वैदिक और बौद्ध विचार-धाराओं में से किसकी ओर अधिक है। अस्तु, कबीर और सामान्य भक्ति की निर्गुण चार के ऊपर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात पर हम शायद सन्देह करेंगे। अभी हम धीरोलिक दृष्टि से मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन पर कुछ और विचार कर लें। जैसा हम पहले विचार चुके हैं उत्तरी भारत में सगुण मत और निर्गुण वाली भक्ति-चार बहिष्क में बेलायत भाषित वैष्णव धर्म और बंदाय में प्रेम कृपा भक्ति या 'शुद्धाधिकार' रहस्यवाद' इन तीन भुक्त रूपों में यह भारतवासी भक्ति-आन्दोलन चला। यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि भक्ति का उदय बहिष्क में हुआ। चारों वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य प्रायः बहिष्क निवासी थे और उनके पूर्ण भी भक्ति की परम्परा वहाँ प्रचलित थी। 'भक्ति शक्ति कला'। यह उक्ति ऐतिहासिक प्रकाश में सर्वथा व्याख्यात की जा सकती है। ऐसा लगता है कि बहिष्क से भक्ति पूर्वी भारत में गई और फिर वहाँ से उत्तरी भारत में उसका विकास हुआ। हम पहले विचार चुके हैं कि ठीक यही कम महाभारत बौद्ध धर्म के विकास का पात्र। जो बौद्ध धर्म में प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्ण उत्तम प्रथम भक्ति-आन्दोलन था। मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन को हम ठीक ही श्रुति-स्मृति पुराण भागवत यौता और रामानुज रामानन्द बल्लभाचार्य

आदि आचार्यों की परम्परा से संवृत्त करते हैं परन्तु एक दूसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष भी है उसे प्राचीन भारतीय साधना से जोड़ने का और यह है महायान बौद्ध धर्म के साथ उसका सम्बन्ध ।

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ । नाटकी और आठनी मन्त्राधिकारों में जब कि पौराणिक धर्म का पुनर्मन्थन हो रहा था और वन-धर्म के रूप में जाति धर्म की बौद्ध धर्म की भस्म पर नीब पुनः दृढ़ की जा रही थी महायान के विरुद्ध मध्ययुगीन भक्ति-साधना और विवर्क सम्बन्धी तत्त्वों को दोनों न और मान कर आरोहण हुआ बीच और भक्ति-सम्बन्धी तत्त्वों को दोनों ने महामानी बौद्ध साधकों ने ग्रहण किया । इस प्रकार इन दोनों साधनाओं ने बौद्ध धर्म को आत्मसात कर लिया । पुराणों के योगी शिव और महायान बौद्ध धर्म के ज्ञानी बुद्ध में नाम-मात्र को भी अन्तर नहीं है । यह सम्मिलन या सम्मन्वय नैपाल में सबसे अधिक हुआ वहाँ बौद्ध और शैव साधनाएँ दोनों साथ-साथ चल रही थी । नैपाल की इस युग की अनन्क मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में हम पूरी तरह निश्चय नहीं कर सकते कि वे शिव की हैं या बुद्ध की । इसी प्रकारतन्ना के कारण बौद्ध धर्म और विहार सामान्य में शैव मत के गिरि सम्प्रदाय के साधकों के हाथ में आ गया जिनका बौद्ध धर्मियों से नाम-मात्र का भेद था । इसी प्रकार बोध-यमा का मन्दिर शैव सम्प्रदाय के हाथ में चला गया । वही उपासक वही उपास्य । महायान का शैव और वैष्णव रूपान्तर एक अत्यन्त बहुस्य रूप में हो गया । बागद्वीपी धर्मात्मी के पयदेव ने पुराणों के आधार पर मयभानु बुद्ध की बिष्णु के आठवें अवतार के रूप में स्तुति की बाद के वैष्णव भक्तियों (विद्यमान-मुक्त्युपास) ने भी उनको इसी रूप में स्वीकार किया । पता भी नहीं चलता कि इतना बड़ा बौद्ध धर्म-मन्थन कहाँ कहाँ हुआ । बभ्रुन यह गया नहीं नहीं मध्ययुगीन भक्ति साधना में बलवर्धित हो गया । बद्ध बिष्णु रूप में समा गया । ब्रह्माप बल-राम और नुमरा की रत्न-साक्षात् कथा भी वह इतनी भार पापिष्ठत्वा से विरह हुए बुद्ध की रत्न-साक्षात् कथा के रूप में स्वीकार की जा चिन्ते बीनी पापी कात्यायन न पापकी गतायनी में देखा जा' । हम पहले से यह बुद्धे हैं कि विवर्क प्रकार गानधी धर्मात्मी के बौद्ध भक्त-भक्ति शास्त्रिदेव ने दुर्गा प्राचिनो के

साध साक्षात्त्व की प्राप्ति की अतिव्यक्ति की थी जो महायानी साधना की आचार-भूमि है। उन्हीं के आचार पर वैष्णव धर्म की शक्ति-मार्गप्रण की कल्पना का विकास हुआ। हम पहले बोधिसत्व-सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में विचार चुके हैं कि महायान ने ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्व को उनका मिथ्या-काय कहा था जिसे वे माना लोक-मानुषों के सत्त्वों के कल्याणार्थे धारण करते हैं। भगवान् विष्णु के अवतार होने में मत्मा का आश्रय लेकर यह लोक-कल्याण की बात ही वैष्णव साधना में कही गई है। सामान्य और अथवा पारम्परिक के सिद्धान्त पहले बीज साधना में प्रकट हुए हैं यह आश्चर्यकर समझे हुए भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। तथापि जो स्वयं निस्वभाव (निर्गुण) और वर्मता स्वरूप हैं लोक के कल्याण के लिये मात्र-निर्मित रूप को पीतम बुद्ध आदि अनेक बोधिसत्त्वों के रूप में धारण करते हैं। इस प्रकार एक तन्त्रागत धर्म-भूष्य (ब्रह्म-निर्गुण-निराकार) है और एक उनके मात्राभिध रूप रूप-काय (समुत्तम) पीतम बुद्ध। यह विमोक्ष वैष्णव भक्ति के निर्गुण-समुत्तम रूपों के आभिर्भाव से सत्तात्त्विक पूर्ण महायान ने कर दिया था। जिस प्रकार राम एक ओर 'एक बनीहु, अरु अनामा अत्र सन्निधानम् परमात्मा अनुपम असम्पन्न अनन्त अनारी' हैं परमार्थ-रूप अविनाश अमल अमोघ और अनूप हैं और दूसरी ओर बाघरवि श्री कौसल्या की गोद में खेलने वाले श्री रावण को मारने वाले श्री लोक-मर्वादा की स्थापना करने वाले भी। वही बात इस धर्मोत्तर के सत्तात्त्विक पूर्ण तथापि के सम्बन्ध में कह दी गई थी। जैसे कबीर ने कहा था 'हम उस राम को नहीं मानते वे जो इतरण के घर उत्पन्न हुआ था जिसने वन्य को ठोकर सीता से विवाह किया था जिसने रावण को सत्ताया था आदि। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है श्री 'इतरण-सुत तिहुँ लोक बछाना। राम-नाम का मरम है आना। दिक्कट यही बात महायानी आचार्यों ने कही थी कि हम उस बुद्ध को नहीं मानते जिसने सुदोषम के घर जन्म किया था जिसने उपस्या की थी जिसने ज्ञान प्राप्त किया था जिसने उपदेश दिया था। हमारे बुद्ध तो वे हैं जिनका कभी इस लोक में आना ही नहीं हुआ जिन्होंने कभी कोई उपदेश ही नहीं दिया। जो बाये और जिन्होंने उपदेश दिया वे तो हमारे बुद्ध के माया-निर्मित रूप हैं। वस्तुतः बुद्ध तो धर्म-भूष्य हैं तन्त्रा-स्वरूप हैं निस्वभाव हैं और इस लोक में जो दिखाई पड़ता है वह उनकी छाया-भाष है। अतः तन्त्रागत का प्रतिबिम्ब भाष है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति की निर्गुण और समुत्तम दोनों कल्पनाएँ अपने पूर्ण सम्बन्ध

के साथ उबागत के व्यक्तित्व में अभिव्यक्ति प्राप्त कर चुकी थी और राम और कृष्ण के अवतारवाद को लेकर इस प्रकार के सम्बन्ध का मार्ग बाह में चमकर मध्ययुगीन भक्ति-साधना में विकसित और समृद्ध हुआ।

इस ऊपर कह चुके हैं कि जगन्नाथ की रथ-यात्रा का उत्सव भगवान् बुद्ध की रथ-यात्रा के उत्सव के आकार पर विकसित किया गया। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण हैं जिनके आकार पर हम देख सकते हैं कि एक बहुभुत रूप से महायानी साधना का वैष्णव रूपान्तर मध्य-युग में हुआ। इतिहास के मनीषी विद्वान् डा. महुनाथ सरकार ने हम बताया है कि मध्ययुग के एक उद्दिष्ट कवि ने जगन्नाथ भगवान् की स्तुति में 'दाह ब्रह्म' नामक एक कविता लिखी है। उसमें उसने जगन्नाथ भगवान् की बुद्ध-रूप में स्तुति की है। इस कविता में कवि ने भगवान् जगन्नाथ को यह कहते दिखाया है 'मे बुद्धावतार हूँ। मैं भक्ति-युग के बीबी का उद्धार करूँगा।' वस्तुतः यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जगन्नाथ भगवान् की मूर्ति पहले बुद्ध-मूर्ति ही थी। यही बात बहरिनाथम की मूर्ति के सम्बन्ध में भी कही जाती है। सारनाथ के समीप शिव की एक प्राचीन मूर्ति 'शिव सर्वेश्वर' (शिव के स्वामी शिव) के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी बौद्ध धर्म के सर्व धर्म के रूप में अन्तर्भावित हो जान की कहानी को सुष्ठ रूप से कहती है। दिल्ली के समीप एक गांव में बुद्ध की मूर्ति बुद्धो माठा' के नाम से पूजी जाती है। तांत्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म बड़ी आसानी से हिन्दु-धर्म में समाविष्ट हो गया। यह कार्य विद्यपतः पूर्वी बंगाल और असम में सम्पन्न हुआ। इस पर हम असम प्रवास करेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि तांत्रिक बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं को पूरी तरह हिन्दु धर्म के तांत्रिक साधकों ने अपना लिया अपना होना में कुछ मर भी वा हमारी दृष्टि से तो यह कहना भी असंगत होगा। बौद्ध तांत्रिक धर्म की लाल और पीली ध्वनि में कोई अन्तर नहीं है। जब भक्ति-धर्म का आधिपत्य हो रहा था तांत्रिक धर्मों की साधना का यह सम्मिश्रण बंगाल और असम में चल रहा था जिसने अपना प्रभाव सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन पर छोड़ा है।

जहाँ तक निर्गुणकारी मन्त्रा की लाल वा प्रेम है वह उत्तरवर्ती बौद्ध साधना से अत्यधिक प्रभावित थी इस सम्बन्ध में आज इतिहासकारों के हाथ लग चुके हैं। डा. हरप्रसाद शास्त्री ने नैपाकी बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में महत्त्व

साध सादात्म्य की साधना की अभिव्यक्ति की थी जो महायानी साधना की आधार-भूमि है। उसी के आधार पर बौद्ध धर्म की इतिहास-साधना की कल्पना का विकास हुआ। हम पहले बोधिसत्व-चिन्ता के विकास के सम्बन्ध में लिखा चुके हैं कि महायान ने ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्व को उनका निर्माण काय कहा था जिसे वे नाग लोक-बातुओं के सत्त्वों के कल्याणार्थ धारण करते हैं। भगवान् विष्णु के अवतार भेन में माया का आशय केसर यह लोक-कल्याण की बात ही बौद्ध साधना में कही गई है। मायावाद और अवतारवाद के चिन्ता पहले बीड़ साधना में प्रकट हुए हैं यह आश्चर्यकर लगते हुए भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। तथापि जो स्वर्ग निस्वभाव (निर्गुण) और वर्मता स्वल्प है लोक के कल्याण के लिये माया-निर्मित रूप को गौतम बुद्ध आदि अनेक बोधिसत्त्वों के रूप में धारण करते हैं। इस प्रकार एक तथागत धर्म-सूत्र (ब्रह्म-निर्गुण-निराकार) है और एक उनके मायावित रूप रूप-नाय (सन्तुष) गौतम बुद्ध। यह विवेक बौद्ध धर्म के निर्गुण-सन्तुष रूपों के आधुनिक से सत्ताधिकारों पूर्व महायान ने कर दिया था। जिस प्रकार राम एक ओर 'एक अनीह, अकल अनामा अल सन्निधानन्द परमात्मा अनुप असंख्य अनन्त अनारी' हैं परमार्थ-रूप अधिगत अकल अनारि और अनुप हैं और दूसरी ओर बाघरथ भी लीसत्ता की गोद में सेलने वाले भी राधक को मारने वाले भी लोक-मर्त्या की स्थापना करने वाले भी। वही बात इस वर्गीकरण के सत्ताधिकारों पूर्व तथागत के सम्बन्ध में कह दी गई थी। वेसे कबीर ने कहा था हम उस राम को नहीं मानते वे जो बघरथ के घर उत्पन्न हुआ था जिसने अनुप को लौटकर सीता से विवाह किया था जिसने राधक को छेदाया था आदि। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है भी 'बघरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना। राम-नाम का मरम है जाना। बिलकुल वही बात महायानी आचार्यों ने कही थी कि हम उस बुद्ध को नहीं मानते जिसने सुखोदल के घर जन्म लिया था, जिसने उपस्था की थी जिसने ज्ञान प्राप्त किया था जिसने उपदेश दिया था। हमारे बुद्ध तो वे हैं जिसका कभी इस लोक में जाना ही नहीं हुआ जिन्होंने कभी कोई उपदेश ही नहीं दिया। जो जाने और जिन्होंने उपदेश दिया वे तो हमारे बुद्ध के माया-निर्मित रूप हैं। वस्तुतः बुद्ध तो धर्म-सूत्र है, तथा-स्वल्प है निस्वभाव है और इस लोक में जो दिखाई पड़ता है वह उनकी छाया-मात्र है। अतः तथागत का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्ति की निर्गुण और सन्तुष दोनों कल्पनाएँ अपने पूर्व सम्बन्ध

के रूप में किया है वह है तेरहवीं शताब्दी के सम्यग्-धर्म के रामचन्द्र कवि-माछी जिन्होंने बौद्ध की बन्धना-स्वरूप गौ संस्कृत छन्द लिखे हैं जिसका नाम है 'मक्ति-सतकम्'। रामचन्द्र कवि-माछी एक बंगाली ब्राह्मण थे जिसकी बौद्ध धर्म में दीक्षा लंका में हुई थी। भक्ति के उस समय में जब चारों ओर राम और कृष्ण की विरहावली गाने जा रही थी एक भारतीय ब्राह्मण ने बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर मक्ति के उस समय सहज-उपलब्ध साम्य के द्वारा उपासक की भी कुछ अज्ञता कर दी यह हमारी संस्कृति और उसका सर्वात्म्य रूप के लिए कुछ कम गौरव की वस्तु नहीं है। 'मक्ति-सतकम्' कोई कम महत्व वाली गुरु-नैतिक रचना नहीं है। उगम वही आत्म-तत्त्वीयता निरमिमिश्रता और आराध्य के प्रति एकनिष्ठता निम्नता है या साक्षिद्वेष और तुलसीदास जैसे सायक-कवियों का विषयता है।

भारत में उस समय बौद्ध धर्म के विद्यमान न होने में वह इस सम्बन्ध में अधिक रचनाएँ हम न देखें। परन्तु अन्य देशों में जहाँ वह अपने जीवनतक रूप में उस समय विद्यमान था उसका माना गया-मनोविषयों के अपने सम्बन्ध-कार्य को आगे बढ़ाया और जिस प्रकार तुलसीदास ने मनुष्य-निर्गुण आत्म-भक्ति और वैष्णव आदि के भवा को भिटाकर साधना व अविरोध भाव को प्रकाशित किया उसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी यह कार्य अन्य देशों में किया। नेपाल का उदाहरण हम देखें। बुद्ध हैं जहाँ धर्म और बौद्ध धर्म का सम्बन्ध किया गया। निम्न और चीन में विद्यमान बौद्ध धर्म को स्थानित रूप दिया। चीन और जापान में ध्यान बौद्ध धर्म का विकास हुआ जो इन देशों की प्रकृति के साथ महायान का सम्बन्ध-साधन ही था। वस्तुतः दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में भक्ति और महायान का सम्बन्धकारी सम्बन्ध विद्यमान सब न अधिक देन नही है। हम देखें कि हिन्दू धर्म प्रसार हिन्दू धर्म में समान नामक विग्रह के द्वारा एक मन्दिर समस्त रूप में बौद्ध और गिर के लिए समर्पित किया गया था और उसका सम्बन्ध-कार्य का 'विष्णु-मन्दिर'। हिन्दू-धर्म व बौद्ध धर्म के एक समन्वय में बंधि-धर्म की स्मृति न केवल धर्म के लिए व बौद्ध धर्म के लिए 'महायान' नामक बुद्ध का नाम ही है।

- (१) यह प्रत्यक्ष ही जान है कि बौद्ध धर्म आत्म-धर्म के लिए ही है जो धर्म-धर्म-धर्म रचना का हिस्सा अनुसार दिया है जिसे धर्म-धर्म महायान नाम, आत्म-धर्म में प्रकाशित किया है।

पूर्व गवेषणाओं की भी बीर उनके फकिराओं का निर्गुण सम्प्रदाय के सत्तों की साधना के उद्देश्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। कामा छारा-मात्र के इस कथन में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि योही गोरखनाथ पहले बीड से बीर बार में पैदा हो गए थे। ऊपर बिल सभ्यों के विवरण हम दे चुके हैं उनकी पूरी संवत्ति में यह बात है। परन्तु फिर भी कुछ कुछ विद्वानों ने कामा छारा-मात्र की भूषिता को सही नहीं माना है। कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि नाथरी सम्प्रदाय जिसके संस्थापक मत्स्येन्द्रनाथ थे जो गोरखनाथ के पूर्व थे अपनी उपासना-प्रवृत्ति में भग्न बीड बर्म के प्रभाव के साक्ष्य को लिये हुए हैं। कबीर नाथपरियों के विरुद्ध थे परन्तु अपने इष्टयोग की भाषा के प्रयोग के लिये इसी साधना के लिये लक्ष्मी है और उसके माध्यम से बीड तांत्रिक साधना के भी जिसका स्वयं उन्हें पता नहीं था। बंगाल के म्यारा बीर सहजिया सम्प्रदाय जो वैष्णव सगम्मे जाते हैं उत्तरकालीन बीडों के ठीक बंधन हैं ऐसा स्वर्गीय डा. हरप्रसाद छात्री का निश्चित मत है। पाल बंधीय राजा जिन्होंने बंगाल में आठवीं शताब्दी और दसवीं शताब्दियों में शासन किया बीड बर्म के अनुयायी थे और बंगाल (जिला बर्दवान) में सन् १४१६ में प्रतिक्रिया की हुई 'बाबिचर्पावतार' की पाण्डुलिपि का मिलना इस बात का साक्ष्य होता है वहाँ इस बर्म के कुछ अनुयायी उस समय तक विद्यमान थे जैसे कि आज भी हैं। चैतन्य महाप्रभु ने अपनी ब्रह्म-दासा के समय सन् १५११ में एक बीड मैदापिन की परास्त किया था और अरि-मुक्त में भी बीड बर्म बचपि भारत में लक्ष्य-प्राप्त हो गया था परन्तु उसका सर्वथा विरोध नहीं हुआ था। बीड बर्म के एक प्रभावशाली स्वतंत्र साधना-मार्ग के रूप में विद्यमान न रहने भी पञ्चपुरीन अस्ति-आन्दोलन में उसने जो हाथ बढ़ाया है वह अन्य महत्त्व का नहीं है। जैसे तो स्वयं अस्ति के सम्पूर्ण आन्दोलन में महापान छिपा पड़ा है यह हम कह सकते हैं किन्तु स्वतंत्र रूप से उगने जो दाग दिया है वह भी अन्य या कुछ नहीं है। अस्ति-साधना की पूर्वभूमि तैयार करने नाम धार्मिक की अस्ति साधना के सम्प्रदायों में हम महापान का निर्देश करने पाएंगे वह कुछ है। उन्हें हमने बंगाल-मुर्गीशान का बीड रूप ही कहा है। एक दिन बीड बर्धन विद्वानों अस्ति-साधना का उपासक महापान की आराधना

(१) हेतिये धनुनाथ सरदार : इण्डिया टू दि एशिया बुक ३९

(२) हेतिये बर्धन बुक ३६

के रूप में किया है वह है तेरहवीं शताब्दी के मध्य-भाग के रामचन्द्र कवि भारतीय जिन्होंने बौद्ध की बन्धना-स्वरूप की संस्कृत छन्द लिखे हैं जिसका नाम है मल्लि-उत्तम् । रामचन्द्र कवि-भारती एक बंयासी ब्राह्मण थे जिसकी बौद्ध धर्म में दीक्षा लब्ध म हुई थी । मल्लि के उस समय में जब चारों ओर राम और कृष्ण की विरहावली गार्हवा रही थी एक भारतीय ब्राह्मण ने बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर भक्ति के उस समय सहज-उपमन्य माध्यम के द्वारा उपागत की भी कुछ बचना कर दी यह हमारी संस्कृति और उसके सर्वांगीण रूप के तत्त्व कुछ कम गौरव की वस्तु नहीं है । मल्लि-भक्तम्^१ काई कम महत्त्व वाली सुकनैतिह रचना नहीं है । उसमें बड़ी वारम-सम्मीलनता निरभिमानिता और आराध्य के प्रति एकनिष्ठता मिलती है, जो धान्तिरेव और तुम्हीनाम जैसे साधक-कवियों की विशेषता है ।

भारत में उस समय बौद्ध धर्म के विद्यमान न होने में वह इस सम्बन्ध में अधिक रचनाएँ हम में से सदा । परन्तु अन्य देशों में जहाँ वह अपने जीवनत रूप में उस समय विद्यमान था उसका माना उपासना-प्रवृत्तियों के अपने समन्वय-कार्य को भाग बढ़ाया और जिस प्रकार तुलसीदास ने समुज-निर्यज मान-भक्ति रीति-रीत्या आदि के भेदों को मिटाकर साधना के अधिकार मार्ग की प्रकाशित किया उन्ही प्रकार बौद्ध धर्म ने भी यह कार्य अन्य देशों में किया । नेपाल का उदाहरण हम देखें चुक है जहाँ हिंदू और बौद्ध धर्म का समन्वय किया गया । तिब्बत और चीन में विद्यमान बौद्ध धर्म को लागू कर दिया । चीन और जापान में ध्यान बौद्ध धर्म का विकास हुआ जो उन देशों की प्रवृत्ति के साथ महायान का सम्बन्ध-नाशन ही था । बलुन-हिन पूर्वी एशिया के देशों में भक्ति और महायान का सम्बन्ध-नाशन समन्वय विधान सब में अधिक दृश्य योग्य है । हम देखें चुके हैं कि बिना प्रसार हिन्दू चीन में सकल नामक भिन्न के द्वारा एक मन्दिर मधुवन रूप में बस और जिस के विषय वर्णित किया गया था और उसका समन्वय-कार्य का विनिर्माण । हिन्दू-भवन का ब्राह्मण शताब्दी के एक अविनाश में बापि-हम की स्तुति का यह रचना का नाम का गई है । महायान मतान्त ब्रह्म । ब्रह्मा के रूप में विर

- (१) यह प्रस्तावना की जान है कि वज्र चक्रम ध्यान बौद्ध-धर्म की ने इस भक्ति-रत-वृत्ति रचना का हिन्दी अनुवाद किया है जिसे तुल-भक्ति महाशक्ति लब्ध, लालाच ने प्रकाशित किया है ।

ठेरे उनाहें बिष्णु तेरी छात्ताएँ है । आदि । पीराधिक देव नदी के साथ बौद्ध धर्म के प्रतीक-रूप बौद्ध-मूल का कैसा सुन्दर समन्वय-विधान है । स्वाम के मन्दिरों में इसी मूल में यदि मूर्तियां बुद्ध और बोधिसत्त्वों की स्थापित की गईं तो मन्दिरों की दीवारों पर चित्रकारी की गई रामायण के दृश्यों की और यदि मूर्तियां राम और सीता की स्थापित की गईं तो चित्रकारी की गई बुद्ध के जीवन-दृश्यों की । इसी प्रकार बाबा में बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म का समन्वय-साधन किया गया जो 'यमुर्बेर-बुद्ध-स्तुति' और बुद्ध-देव के रूप में आज भी देखा जा सकता है । यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में महायान बौद्ध धर्म न केवल वैष्णव और शैव साधनाओं में ही समन्वय स्थापित नहीं किया उसने अन्यपुधियन धर्म के भी साथ-साथ रहना सीखा और उसके साथ मेल बढ़ाया । इस प्रकार जब कि तुलसीदास मोक्षहूमी पठायी में भारत में शैव और वैष्णवों के झगड़े को मिटा रहे थे बौद्ध मूल-साधक हिन्दू-जीन स्वाम जाबा सुभाषा और दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य अनेक देशों में उनी कार्य को एक बड़ पैमाने पर कर रहे थे ।

जब हम विमलपत्त सत्त-साधना पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की कुछ वर्षों करें । सत्त-साधना बलुना बौद्ध धर्म का मूल रूप ही है । बौद्ध धर्म विरते-विरते भारत में अपनी देव को साधना की उस समिटि विरासत के रूप में छोड़ गया जिसे हम आज सत्त-साधना कहते हैं । मध्यकालीन सत्त बौद्धों के ठीक उत्तर-विराटी है । सत्त-साधना के प्रतिनिधि नबीर को लेकर हम बौद्ध विचार धारा के साथ उनके जीवन-दर्शन की कुछ तुलना करेंगे ।

जहाँ तक करीर के व्यक्तिगतता सम्बन्ध है वे एक अनोखे व्यक्ति हैं । उनकी निमी के तुलना नहीं की जा सकती । उनकी कुछ बातें जैसे मात मौला बन कररकारी और कहा समत राम रहना हमें औरनिरर अधि लपुष्पा रस्य की याद दिलाती है । उनके जीवन का कठोर अनुशासनात्मक रूप और उनकी ध्यानविषया हम बोधिसत्त्व न उनकी सुलभ करने की ओर प्रवृत्त करती है । उनका गिरजा मग्न स्वभाव किसी विप्रु माधक में उल्लेख नहीं हो सकता । विप्रु माधक की भी सम्पीटना नित्य हुए नबीर नहीं है । गरम्मु बययान के

- (१) बलुभन गिराजराय बिष्णुगाल मन्नातन । बलुभन बलुभाय लक्ष्मिक-
चन्द्र ॥ का लाला द्वारा सम्पादित 'बिद्विदिक रटडीन में लई
किमो के लाल 'बिद्विदिक इन इनको बापना' में उल्लेख पृष्ठ ७१०-७११

बीरछी सिखों में मनेक से कबीर की तुलना की जा सकती है। छद्मपा (सरोखपाव) के समान वे खरी बात कहन वाले और आठिबाद पर तीव्र प्रहार करने वाले हैं। उल्टाबासियों में कबीर ने सिद्ध बेधनपाव की चेष्टा की ही नहीं उनके व्यक्तित्व को भी बहुत कुछ पाया है। कबीर में कुछ बातें ज्ञाने स्वर की भी हैं कुछ प्रह्लाद की भी कुछ बुद्ध की भी और कुछ स्वामी रामानन्द की भी। जन्म में जिन्होंने भीनी ध्यानी (जैन) बौद्ध गुरुओं की पुस्तक बहाकर अनुभूति से ज्ञान-सम्पादन करने की प्रवृत्ति और उनकी बनोसी प्रस्त करने और उत्तर देन की प्रथाओं को देखा है वे बासानी से एम किसी एक धाम से कबीर की तुलना कर सकते हैं। कुछ भिन्नान कबीर का अपने आप में एक अत्यन्त मौलिक व्यक्तित्व है। यही बात उनकी साधना के सम्बन्ध में भी है। हम उन पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात कहें परन्तु इससे हम अनभिज्ञ नहीं हैं कि कबीर अलग-अलग प्रभावों में बनित हैं। बस्तुतः भारतीय इतिहास में बुद्ध के बाद कबीर जैसा मौलिक स्वतन्त्रचरता पुरुष कोई दूसरा हुआ ही नहीं। भगवान् बुद्ध बार-बार कहन थे कि उन्होंने जो स्वयं साक्षात्कार किया है उसे ही वे कहने हैं और बिना 'मति-नाम' छद्म ही कबीर ने ज्ञानी का यह स्वरूप कर दिया था 'मो ज्ञानी जो बाप बिचारे'। भगवान् बुद्ध ने कहा था 'य मया माम' हिन्दू तर्ह कहामि' जो मन स्वयं देखा है उसे मैं कहना हूँ। कबीर के शब्दों में इसका तात्पर्य अनुवाद है मैं कहता आश्रित की देवी जो अनुभूति की अमानता के कारण स्वयं जा गया है। कबीर की साधना बहुमुखी थी और विविध भी। वे ज्ञानी भी थे और भक्त भी। वे प्रेमोपासक सूफी शक्तियों के जादू भी थे और अनहूँ बाद मुक्त बापि साधियों के बाप भी। वे राम की बहुविधा स्तुति करने के लिये भी तैयार थे और राम-समाधि का भी उन्होंने अध्ययन किया है। गुप्त में उन्होंने स्थान लिया है, वेद के मंदिर में वे गोप हैं और बाप ही जा तत्त्व रोंगी में उन्होंने पाया है उस अर्थ पर नहीं पाया गी। कबीर माह अत्यन्त विनम्र हैं हिन्दू-जनों के मानक से बिन्नु छत्र और प्रह्लाद की मानता उम्माने ज्ञानी बापा का अतिरिक्त दीपन किया है गया उनका दावा है। कबीर राम-नाम के उपासक हैं राम-नाम के अर्थ का अन्वयण का अन्वयण बाप मनमन है राम और अन्वयण की अन्वयण दिशा है परन्तु माह ही कहन है 'जहा अन्वयण और राम की राम नहीं है वही अन्वयण में पर बनाया है। 'अन्वयण राम की राम नहीं है पर बनाया वही। कबीर बना है और बना नहीं है यह जानना अन्व

तेर उगाहे बिष्णु तेरी साधारण है । बाबि । पौरुषिक देव-अमी के साथ बीड़ ब्रम के प्रतीक-रूप मोहि-बुद्ध का कैंसा सुन्दर समन्वय-विधान है । स्वाम के मन्दिरों में इसी मृग में यदि मूर्तियां बुद्ध और मोहिचरितों की स्थापित की गईं तो मन्दिरों की दीवारों पर चित्रकारी की गई राजाधन के बुद्धों की और यदि मूर्तियां राम और सीता की स्थापित की गईं तो चित्रकारी की गई बुद्ध के जीवन-दृश्यों की । इसी प्रकार बाबा में बीड़ ब्रम और वैदिक ब्रम का समन्वय-साधन किया गया जो 'मधुरैद-बुद्ध-स्तुति' और बुद्ध-वेद के रूप में आज भी देखा जा सकता है । यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में महात्मान बीड़ ब्रम ने केवल वैष्णव और शैव धारणाओं से ही समन्वय स्थापित नहीं किया उसने कल्पवृक्षिजन ब्रम के भी साथ-साथ रहना सीखा और उसके साथ मेक ब्रह्मता । इस प्रकार जब कि तुलसीदास सोमहरी धताम्बी में माण्ड म शैव और वैष्णवों के भगवें को मिला रहे थे बीड़ धकठ-साधक हिन्दू-जीन स्वाम बाबा सुबाबा और दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य अनेक लोगों में ज्योई कार्य को एक बड़ पैमाने पर कर रहे थे ।

जब हम विशेषतः धन्त-साधना पर बीड़ ब्रम के प्रभाव की कुछ बर्णना करें । धन्त-साधना बस्तुतः बीड़ ब्रम का मूल रूप ही है । बीड़ ब्रम गिर्यो-गिर्यो माण्ड में अपनी देव को साधना की उस अमिट विरासत के रूप में छोड़ पना जिसे हम आज धन्त-साधना कहते हैं । मध्यकासीन धन्त बीड़ों के डीक उत्तम-विधारी है । धन्त-साधना के प्रतिनिधि कबीर को लेकर हम बीड़ विचार-धारा के साथ उनका जीवन-दर्शन की कुछ तुलना करेंगे ।

जबकि ठक कबीर के व्यक्तित्वका-सम्बन्ध है वे एक अनोखे व्यक्ति हैं । उनकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती । उनकी कुछ बातें जैसे मस्त मोला पन बेपरवाही और सदा रमते राम रहना हमें आपत्तिवश जबि समुन्हा रैसक की याद दिलाती है । उनके जीवन का कठोर अनुसाधनात्मक रूप और उनकी ध्यानप्रियता हमें मोहिब्रम से उनकी तुलना करने की और प्रयत्न करती है । उनका बिलक्षण मस्त स्वभाव किसी मित्र साधक में उपलब्ध नहीं हो सकता । जिन्हे साधक की ही गम्भीरता भिन्ने हुए कबीर नहीं है । परन्तु मध्यकास के

(१) ब्रह्मसूत्र सिधत्कन्ध बिष्णुदास लतातन । बुद्धात्म महात्मान सर्वात्म-कमलर ॥ बा । जम्हा द्वारा संपादित 'बुद्धिस्तिक एडिड' में पृष्ठ ६१ के लेख 'बुद्धिस्तिक इन इन्दी बापना' में उद्धृत पृष्ठ ७९०-७९१

‘तुम कैसे बाह्यन और हम कैसे भूख ?

क्या हममें लोहू है और तुम में दूध ?

‘तुम कठ बाह्यन हम कठ सुद ?

हम कठ कोहू तुम कठ दूध ?

मानव की आपारभूत पृथ्वा की याद दिखाकर ब कहते हैं

‘एक भूँद, एक मल-मूतर ।

एक चाम इक गूदा ।

एक जोति ते सब उत्पन्ना ।

को बाह्यन को सुदा ॥

बिमलबुद्ध और सरोवरहास के तर्क का अनुसरण करते हुए कहते हैं

‘ओ तुम बाह्यन बसनी जामे

मबर राख ते काहे न जाये ?

कारी पिपरी डूहड़ गाई

तिनकर दूध देहु बिलमाई ।

एक तबजा बधिर बुनि एक विप्र भूख के माही

अम्यत्र भी

मादे-बिम्बे बधिर के लंरी

पट हो मेंह पट सपनै

अध कमल बीज बुझी जामा

फूल कहाँ ते उपजो ?

जाति-भेद के सम्बन्ध में कबीर और बुद्ध के विचारों में इतना साम्य है

कि वही-वही सम्य बिलकल मनायाम और स्वामात्रिक रूप से एक हो गये

हैं । कबीर साहब न कहा है ‘जानि न पछो मायु की पुछि सीखिय ज्ञान’ । यह

हम बुद्ध बचन के बिल्कुल समान है ‘जानि वा पुच्छि चरख वा पुच्छि ।

इमका भर्ख है जानि मन पुछो आचरण पुछो’ । बर्म से मनुष्य ऊँचा या नीचा

होता है जानि वा बर्म से नहीं । यह बुद्ध के समान कबीर का भी आपारभूत

सम्येय था । बुद्ध न ज्ञानन के स्थानों के सम्बन्ध में आ कहा था कि कबीर न

का बाह्यन आ बह्य विजारे के रूप में बना है

कबीर के समतावाद और जानि भद विराय की हम धीन-पारंगत से

जिया हुआ न बादकर बीड़ परगतरा से जिया हुआ माना ? अगर एक

आपारभूत कारण है । धीन परगतरा न गायन न केवल व्यक्तिगत साधना

कठिन है। कबीर का ज्ञान अबाह है। सचमुच हम कह सकते हैं 'कोटी को कोड़ मरमु मथाना'। कबीर ने अनेक साधनाओं को स्वीकार किया है और वे स्वयं उन सब से ऊपर हैं। चूंकि कबीर इस हर एक मौकिक है, इसीलिये वस्तुतः बड़ और बीड़ धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का भी प्रश्न उठता है।

कबीर ने अपने जीवन का लक्ष्य बताते हुए कहा है, 'हम समर्थ का परवाना लावे हैं और हंस को उबारने लाये हैं।' 'समर्थ का परवाना लावे हंस उबारने लाये। समर्थ के परवाने जाने की बात यदि हम छोड़ दें तो मानव-आत्मा की विभुक्ति का सन्देश ज्ञान वालों में कबीर बुद्ध के साथी है। भक्त नामावाच ने कबीर के जीवन-कार्य का मूल्यांकन करते हुए सुन्दर शब्दों में कहा है 'कबीर ने वर्णाश्रम धर्म और पद्धतियों की मर्यादा नहीं रखी। उसके बचनों में पक्षपात नहीं था। उसने सब के हित की बात कही। उसने जनता को अभिभूत कर किसी के मुख को बेसकर बात नहीं कही।

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम बड़ दर्शनी।

पक्षपात नहिं बचन छबन के हित की मावी।

भाट्य बत्ता हवै जगत् पर मुख देखी नाहिन मनी।

उपर्युक्त शब्द मर्मबाल् बुद्ध पर कबीर से भी अधिक लायू है वह बताते की आवश्यकता नहीं। कबीर और बुद्ध के युग के व्यवधान को देखते हुए और समाज में बड़ (क्षत्रिय राजकुमार) और कबीर (बुलाहे) की स्थिति को भी ध्यान में रखते हुए जाति-भेद का जो प्रतिपाद मर्मबाल् बुद्ध ने किया था और जातिधर्म सुद्धि का जो सन्देश उन्होंने सुनाना था उसकी महत्ता का परा अनुमान हम नहीं लगा सकते। बुद्ध मुक्तमोक्षी नहीं थे फिर भी उन काश्मिक शास्ता ने ब्राह्मणों के जातिगत अविमान के लिये उन्हें कटकाते हुए कहा था कि ब्राह्मणों की स्त्रियाँ भी अन्य स्त्रियों के समान अनुमती जोर वर्जवती होती हैं जनन करती हैं ब्रूष पिलाती हैं और जैसे अन्य पुरुष स्त्रियों के धर्म से उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्राह्मण होते हैं फिर वे कैसे बाधा करते हैं कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं वे ही स्रोत हैं अन्य नहीं। शास्ता के इसी उद्देश को धते हुए वज्रपत्नी सिद्ध सख्पा (सरोस्वती) ने कहा था ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। अब हुए होय तब हुए हौंनि। इस समय तो वे भी वैसे ही पेट से पैदा होते हैं वैसे दूसरे लोग अपमान की चोख खाते हुए कबीर ने इसे इस प्रकार रक्खा था

(१) वैखिमे अस्तनामज-सुतान्त (मज्झिम २५।१३)

का ब्रह्म या ईश्वर के साथ एकाकार तो बीड़ परम्परा के साहित्य में अनेक बार किया गया है, परन्तु स्पष्टतः 'सत्यनाम' शब्द ईश्वर या ब्रह्म के लिये व्यव-
हृत प्राचीन साहित्य में नहीं किया गया है। हम जानते हैं कि अष्टाक्षर-निराक्षर
में बृद्ध की 'सच्चनाम' (सत्यनाम—सत्तनाम) कहा गया है^१। हमारा बृद्ध
विश्वास है कि सन्त-साधना का 'सत्तनाम' वाकि 'सच्चनाम' ही है जो
सनागत का एक नाम है। इसी प्रकार कबीर द्वारा वाङ्मय से प्रयुक्त 'सुरति-निरति'
शब्दों की अनेक व्याख्यायें आचार्य सितिमोहन सेन आचार्य हमारी प्रसार
हिबेरी एवं अन्य सन्त साहित्य के अधिकारी विद्वानों के द्वारा की गई हैं।
इस सम्बन्ध में हमारा विमर्श निवेदन यह है कि कबीर की 'सुरति' को बीड़
साधना की 'स्मृति' से मिलाना चाहिये। 'स्मृति' का निकपण करते समय इस
सम्बन्ध में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। कबीर की 'निरति' तो वस्तुतः
'निरति' ही है। इस सम्बन्ध में अधिक विवरण यहाँ सम्भव नहीं है।

कबीर की उल्टबासियों पर मित्र दण्डवत्पाद की उल्टबासियों की पूरी
प्रतिकृति है इसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। यहाँ कुछ उदाहरण देना
आवश्यक होगा।

दण्डवत्पाद की उल्टबासियाँ

बदल बिभाएल गबिबा बाँभे

निते निते बिबाका तिहु वम जूने

कबीर की उल्टबासियाँ

बैल बिषाया बैया बाँभ

नित नित स्यार तिहु सौ जूने

इस प्रकार अब अनेक उल्टबासियों की समता दिखाई जा सकती है।
वस्तुतः सहज्यानी बीड़ इस प्रकार की उल्टबासियों का प्रयोग अधिकता
से किया करते थे और कबीर ने इन्हें उन्हीं की परम्परा से मुग़लर दल पूर्वक
प्रयोग किया था। सहज्यान के सहज-मठ का परिष्कार भी कबीर ने किया था।
कबीर साहब कहते थे 'सहज समाधि घनी' और सहज में उनका तात्पर्य
था सहज में ही इन्द्रियो पर बग़ल प्राप्त कर देना। उनका कहना था—

सहज सहज सब कोइ कहै सहज न बाँधे कोइ ।

सहजै दिन बिषया सबी सहज कहोई सोइ ॥

सरोरहपाद और कबीर की बाबिया में अनेक साम्य है। एक उदाहरण
प्रस्तुत होगा।

(१) अष्टाक्षर-निराक्षर त्रिस्तरी, पृष्ठ १४६ त्रिस्तरी चौथी पृष्ठ २८९
(वाकि ईशतद् सोनायटी का संस्करण ।)

में समष्टि के महत्त्व को स्वीकार किया है उसका। अस्मात् भी किया है परन्तु समाज-व्यवस्था में वे समर्थता के पक्षपाती कभी नहीं रहे। स्वयं बीठा का दर्शन चातुर्वर्ण्य को आकारभूमि पर प्रतिष्ठित है। 'पञ्चिता समर्थता' को व्याख्या वहाँ चातुर्वर्ण्य को बाधक नहीं है। इस प्रकार अनेक की पूर्ण निष्ठत भीत परम्परा में कभी नहीं आ सकी। वहाँ अधिक-से-अधिक समष्टि ही रही समर्थता कभी नहीं को समर्थता का दूसरा नाम है। तुलसीदास तो परम कारुणिक थे सब जगत् को रामसीयमय जानकर प्रणाम करते थे परन्तु समाज-व्यवस्था का प्रश्न आने पर सामाजिक नीति की सर्वथा का अलंकरण उन्हें पसन्द न था। इसीलिये वे कह सके थे 'पूजिय बिप्र सकल पुषहीना। नाहि बूढ़ भुज गणहि प्रबीना'। तुलसीदास तो फिर भी स्वार्थ वैष्णव थे महापाद-संत जगन्नाथ को ही ले लीजिये। वे तो आत्मज्ञानियों में से थे वे सब प्राणिमों में समत्व की भावना करने वाले थे और पशुओं का महु नहता है। मान लो कि किसी बूढ़ के महु अन्धे-अन्ध पक्षजान तैयार हुए हैं। अब चाहे कोई ब्राह्मण बिलगा ही बुढ़स क्यों न हो फिर तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी उस ब्राह्मण को न पक्षजान माने चाहिये? इससे हम यही प्रकार समझ सकते हैं कि वेदवर्तियों और भक्तों की समर्थता का क्या स्वभाव है और कबीर की भावनाओं का उसमें क्या भेद है। बूढ़ और शरीररूपाय के उद्धारों को वे देने के बाद निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता नहीं रहती कि कबीर के इन सम्बन्धी विचारों का स्वीय क्या है।

महजगानी सिद्धों की भावनाओं में बूढ़ विचारात् पर जोर देना यह भी भगवान् से भी बड़ा मानना भी एक विरोध बात थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ने इस पूरी तरह स्वीकार किया है। उनका प्रमुख 'उत्तम' पद्य उस समय बगवान् की सिद्धों और नाथपंथी नाथों में सत्ता का ले व्यवहृत होता था। कबीर ने भगवान् का सर्वोत्तम नाम सत नाम या 'नतनाम' कहा है उक्तिवशों में नाथ के द्वारा ईश्वर का वर्णन तो किया गया है और बीना में भी। श्री परमुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी' भाग की मूल बरम्परा में 'सत' पद्य का विचार करने हुए इन उद्धरणों में से कुछ को दिया है। बागुन ताय (१) गीता ३।३५ की व्याख्या में ज्ञानेश्वरी पृष्ठ ७५ (रामचन्द्र वनों का अनुवाद)

(२) देविये बीते पृष्ठ १४ १५

(३) देविये उत्तरी भाग की मूल बरम्परा पृष्ठ ३-८

का ब्रह्म या ईश्वर के साथ एकाकार तो श्रीत परम्परा के साहित्य में बनेक बार किया गया है परन्तु स्पष्टतः 'सत्यनाम' शब्द ईश्वर वा ब्रह्म के लिये व्यव-
 हृत प्राचीन साहित्य में नहीं किया गया है। हम जानते हैं कि अमुत्तर-निकाय
 में ब्रह्म को 'सच्चनाम' (सत्यनाम—सत्तनाम) कहा गया है^१। हमारा कुछ
 विश्वास है कि सन्त-साधना का 'सत्तनाम' पालि 'सच्चनाम' ही है जो
 उपासक का एक नाम है। इसी प्रकार कबीर द्वारा आहुत्य से प्रयुक्त 'स्मृति-निरति'
 शब्दों की बनेक व्याख्यायें आचार्य सतिमाह्न सेन आचार्य हमारी प्रसाद
 द्वितीय एवं अन्य सन्त साहित्य के अधिकारी विद्वानों के द्वारा की गई हैं।
 इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निबन्ध यह है कि कबीर की 'स्मृति' को बीड़
 साधना की 'स्मृति' से भिन्नाना चाहिये। 'स्मृति' का निकमम करत समय इस
 सम्बन्ध में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। कबीर की 'निरति' वा वस्तुतः
 'विरति' ही है। इस सम्बन्ध में अधिक विवरण वहाँ सम्भव नहीं है।

कबीर की उल्टवांसियों पर सिद्ध ङब्धवाप की उल्टवांसियों की पूरी
 भ्रमक है इसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। यहाँ कुछ उदाहरण देना
 आवश्यक होगा।

ढेङ्ढवाप की उल्टवांसियाँ

बहल बिजाएल बजिया बाँधे

भिते भिते बिजाळा सिंह बम बूझे

कबीर की उल्टवांसियाँ

बैल बिजाटा गैया बाँध

भित-भित स्यार सिंह सौं बूझे

इस प्रकार अन्य बनेक उल्टवांसियों की समता दिखाई जा सकती है।
 वस्तुतः सहजबानी बीड़ इस प्रकार की उल्टवांसियों का प्रयोग अधिकता
 से निभा करत थे और कबीर ने इन्हें उन्हीं की परम्परा से सुनकर कवि पूर्वक
 प्रयोग किया था। सहजबान के सहज-मठ का परिणार भी कबीर ने किया था।
 कबीर साहब कहते थे 'सहज समाधि नहीं' और सहज में उनका तात्पर्य
 था सहज में ही इन्द्रियों पर अधिकृत प्राप्त कर मना। उनका कहना था—

सहज सहज सब कोइ कहै सहज न बने कोइ ।

सहजै जिन बिपदा तजो सहज कहो जै सोइ ॥

सरोसुहाव और कबीर की वाकियों में बनेक साम्य है। एक उदाहरण
 प्रस्तुत होगा।

(१) अमुत्तर-निकाय सिद्ध तीतरी गुल्ल १४६ सिद्ध चौथी गुल्ल २८९

(पालि टैक्सु तोताबटी का संस्करण ।)

व्यापक यह तत्व है कि इसके उदाहरण न तो वैष्णव-वर्सनों में से ही और न भक्त-कवियों में से ही यहां देने की आवश्यकता है। सभी एक भाव से अपनी निर्बलता और दीनता को प्रख्यापित करते हुए जैसे तुलसीदास को अपना प्रतिनिधि बनाकर प्रभु से पुकारते हैं 'बिष पिपूष सध करहु बसिबि हिम तारि सकहु बिनु बेरे। तुम सम और ब्यासु कृपानिबि पुनि न पाछो हेरे'। भगवान् की कृपा के बिना भक्त का कोई बूझ सहाय नहीं है। परन्तु बुद्ध का विचार तो सर्वथा मनुष्य के बीर्य और 'प्रबान' (प्रयत्न) पर ही आधारित है और उसमें तो मनुष्य का अधिक हृदय सिवाय अपने साधन के और छास्ता के उदाहरण के और किसी बात में आस्था नहीं से सकता। बाहर के सोरह सिद्धों में से सप्तमी नामक ब्राह्मण ने जब भगवान् से पूछा था 'हे सध ! मैं अकेले महान् भोज (संसार-प्रवाह) को निराश्रित हो पार करने की हिम्मत नहीं रखता। हे समस्त जगत् । आत्मजन ब्रह्मा जो विश्व आश्रय से मे इस भोज (जब) को ठहरे'। तो भगवान् का केवल यही उत्तर था 'आश्रित्य को देख स्मृतिमान् हो कुछ नहीं है' को आत्मजन बना कर भोज पार करो। कामों को छोड़ कष्टों से दूर हो रात दिन तुल्य-धर्म को देखो'। भक्ति-भावनामय प्राप्ति को यहां आस्था के पुत्रावय नहीं है। फिर जब भिक्षु भगवान् से प्रश्नमा पाता है तो उसके बोधोपमा का भार वही बुद्ध कहता 'सर्वपापेभ्यो मोक्षमिप्सामि मा शुच' कह कर जब 'उपामह समुद्यता मृत्युसंसारक्षान्त्यु' ऐसा उद्बोध कर या फिर 'तुलसीदास देतो' ऐसा ही कह कर नहीं लेते किन्तु उन नास्तिक छास्ता का कुछ कम ही और है या भिक्षु। यह वर्म सु-आस्था है, अच्छी प्रकार बुद्ध का धर्म करने के लिए तु ब्रह्मचर्य का आचरण कर'। इस प्रकार भगवान् बुद्ध कहते हैं। तथागत जिमी की शिष्यवर्ग अपने ऊपर नहीं लेते किन्तु बहिर जीवनपर्यन्त से आश्रित बचने लगे हैं। उनको अपना छास्ता स्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं है कि तथागत किसी के परिचाया बन पाते हैं प्रत्युत बुद्ध तो केवल मार्ग के दिगाले जाने हैं और मार्ग तो स्वयं भिक्षु की ही चरमा होगा। उनके मार्ग में तो वर्म ही केवल अपना है और अतदीय होने का ही तथागत का सर्वोत्तम उद्देश्य है। 'जो कुछ भी बीर्य के द्वारा प्राप्त है उसे प्राप्त किए बिना

मेरा बीर्य न बकेया 'ऐसा सकलस्यवान् व्यक्ति ही बुद्ध के विचार में आत्मासक्त प्राप्त कर सकता है। यही बुद्ध के दर्शन का भक्ति के दारुण से महान् विमोक्ष है। भक्त अपने बल में विश्वास नहीं कर सकता मद्यपि वह निरम प्रयत्न सीस रहता है, वह जानता है कि विषम-वासनाएँ बुरी हैं और उन्हें जीतने के लिए निरन्तर प्रयत्न भी करता है किन्तु 'हो हारपी करि अतन विविध विधि' की विध्वस्ता मन्त में जा ही जाती है। इसीलिए भक्त कह उठता है 'जानत हूँ बनुराग तहाँ मति सी हरि तुम्हरे प्रेरे। तुलसिदास यह विपति बाँधुरो तुम्हीं हैं सौ बनै निबेरे'। भीतोक्त भगवान् कृष्ण की बाणी कि मामा का ठरना अत्यन्त कठिन होने पर भी भगवान् की अनन्य धारणावति से सरल हो जाता है। इसी प्रवृत्ति का घातक है। कहने का तात्पर्य यह है कि पवित्रता के माप पर तो बल्लभ के बुद्ध दर्शन और भक्ति दर्शन दोनों ही इन्क़ुह हैं किन्तु बुद्ध की बीर्यवती बाणी जब कि पुरुषार्थ को प्रधान वस्तु मानती है तो भक्ति की विकलतामयी बाणी उसकी अपर्याप्तता स्वीकार कर भगवत्पूजा भी चाहने वाली होती है। एक आवाज यदि विमुक्त ज्ञान और पुरुषार्थ की है तो दूसरी सहायता और भावना की भी। निर्वल मानवता को कदाचित् दूसरी ही अधिक आकर्षक और आश्वासनकारी मालूम होती है। इसी में भक्ति और महायान धर्म बौद्ध धर्म की एककता का सारा रहस्य छिपा है किन्तु स्वविरवाद की उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारण ही वह भी सभी युगों में बेबान्ध दर्शन के छाव ही अधिक विचारशील लोगों के मनन का विषय हुआ है। इस प्रकार बुद्ध-दर्शन और भक्ति दर्शन के सम्बन्ध के समग्र प्रश्न को हमने इस बात में देखा कि जब कि बुद्ध की बाणी का समग्र ओर 'प्रतिपद्' अपना मार्ग पर चलने में ही है भक्ति उसकी सुमनता के लिए भगवत्पूजा की भी कदिमि होती है। यदि भगवत्पूजा कोई साम्प्रतिक और नियमित वस्तु है तो वह 'प्रधान' करने वाले को अवश्य स्वयं मिल ही

(१) ईसी ह्येवा गुणवती नम आया कुररयया ।

जामेव ये प्रपद्यन्ते आयायेतां तरन्ति ते ॥

जिसाद्वये वही 'अनन्यादिबलान्मयी आम्' 'अनिरयमय नमराव आम्' 'गुण नै वरत्नं बलः—सम्पदा भव मयूकलो' 'जामेव शरणं बल' 'अनन्येनैव योगेन' 'तेषामहं लब्धवती' 'मय्येव नम आचरन्' 'अस्तिस्वनिचारिणी' 'तमेव शरणं यत्तु लब्धमायम्' आदि, आदि ।

सरोवराद—अहि मन पवन न संबद्ध रवि मग्नि नाह पवेस ।

तहि बट वित्त विधाम कर, सबहे कहिय उवेस ॥

कबीर—अहि बन सीह म संबरे, पति उई नहि जाय ।

रति बिबस का मम-नहीं, तहें कबीर रहा को लाह ॥

कबीर ने 'सूय' शब्द का बहुधा प्रयोग किया है, उन्होंने सूय में स्यानि स्याई है । 'मन-पवन' से उठन आका 'असमानी सबय' सूय ही है । सहमार चक्र को उन्होंने सूयचक्र से मिखाया है । ऐसा कम्ता है कि कबीर ने अलख निरंजन बीर बीर सूय उत्प को मिला बिबा है । इस प्रकार कबीर ने निर्बल बासी बेबाग बीर सूयबासी बीडमठ का हमें समझम ही दिया है जब कि उन्होंने कहा है 'कह कबीर कहें बसहु निरंजन तहें किछ बाह कि सूय' । बह्मबाह बीर सूयबाह की परिचयि अनिर्बलनीयता में ही है, यह इस पर की स्पष्ट ध्वनि है ।

हठयोग के वर्णन में कबीर ने शरीर में सूर्य चन्द्र यंदा यमुना सरस्वती की स्थापना की है । सूर्य जब चन्द्र से मिल जाता है तब वनूत की प्राप्ति होती है । इस प्रकार की सब भाषा और हठयोग सम्बन्धी सब विचार उन्होंने बौद्ध योगियों से किये हैं । इसी प्रकार कबीर अपने अनेक रहस्यवादी प्रतीकों के त्म में भी अपने पूर्ववर्ती बौद्ध सिद्धों के लपटी है । इस विषय का अधिक निकपण करना हमारे धिने अनादर्यक होमा क्योंकि हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वान् इसका निकपण कर चुके हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के उपदेशों में अनेक बातें ऐसी हैं जिनकी बहुमत सजता बुद्ध के विचारों से हैं और कबीर के विचारों और उगकी अविम्वयि के स्वस्वों की इसी प्रकार अनेकों बातें ऐसी हैं जो उन्होंने बौद्ध धर्म के अन्तिम अवशिष्ट स्वरूप बीरपी बौद्ध सिद्धों और नापपणियों से ली हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि नापपणियों के अनेक पर बौद्ध बीरपी सिद्धों में से ही थे ।

मब हम उत्तरी भारत के सबल मक्ती पूर्वी भारत के प्रेमरुपा मलि के उगागको और महाराष्ट्र मन्तो की ओर मुड़ते हैं । तुमसीबास न भक्ति का स्वरूप रघन हुए बहा है भुति सम्मत हरि भगति पर संयुत विरति विवेक । मयत विरति विवेक म उन्होंने साब-मठ या सन्त-साबना को उपकाय दिया है बी डा बसरेवप्रसाद मिय के इस मठ से हम सहमत हैं । इतना जोड़ बना भाष-यक होना कि विरति और विवेक ही बुद्ध और बौद्ध धर्म के मुख्य

(१) देखिये उनके 'तुमसी-वर्णन' न तुमसीबास के भक्ति-वर्णन का विवेचन ।

सन्देश हैं और यमक-धर्म का अनुबाध ही साधुमत है। तुलसीदास की भक्ति नैतिक अभिप्राय है इसलिये वह बौद्ध साधना की माग्य है। तुलसीदास जैसे वेद-भक्त कवि ने देवताओं की निन्दा की है इन्द्र को ईर्ष्यालु बताया है उसकी उपमा कुत्ते से की है। बौद्ध धर्म के मनुष्य किन्तु निश्चित प्रमाण का इस साध्य माना जा सकता है। महाराष्ट्र के भक्त कवियों की यह एक विशेषता है कि कृष्ण के माधुर्यमय जीवन को लेकर भी उन्होंने समाज-नीति का बहुत अधिक ध्यान रखा है और उनके वर्चन ऐकान्तिक साधना में इतने दूर नहीं चले गये हैं जितने सूर के या अन्य कृष्णोपासक कवियों के। भक्ति अन्ततः एक राग ही है। सूरदास ने अन्त समय कहा था 'जवन नैन रूप रस माते'। भक्तबन्धु बुद्ध का कोई उपासक इस प्रकार की बात उनके सम्बन्ध में नहीं कह सकता यद्यपि बुद्ध में भी अन्ततः सौन्दर्य है। भक्ति में रूप की आसक्ति कुछ न कुछ बाह्य है बौद्ध साधना पूर्णतः अनात्मविचार है। बुद्ध के रूप-काय में हम रस-भक्त नहीं हो सकते जैसे कि कृष्ण या राम के पर-धर्मों में। अब हम धार्मिक दृष्टि से बौद्ध विचार और भक्ति-रचन का कुछ तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

मूल बुद्ध-वर्णन और भक्ति साधना-तत्त्व का पारस्परिक विचार करते समय सब से पहले यही प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन मुख्य है प्रतिपद् या

प्रपत्ति ? वास्तव में इस सप्रश्न के हल में

बुद्ध 'प्रतिपद् (माग)' पर बुद्ध के विचार और भक्ति की भावना के सार इत हैं, जब कि भक्ति पारस्परिक सम्बन्ध का सारा तत्त्व निहित 'प्रपत्ति' (शरणागति) में है। नामात्मन ऐंता कहा जा सकता है अधिक आश्वासन प्रदत्त कि बुद्ध-वर्णन में भक्ति का अभाव है।

करती है

भक्ति का प्रमाण तत्त्व है शरणागति पूर्ण माग-विष्मृति और अपन उपास्य देव में

अवश्य निष्ठा। भक्ति धर्म का उद्देश्य चाहे किसी भी रूप में और किसी भी देव में हो वह भावना निश्चय ही वर्णन अब से अधिक बलवती मिलेगी। अवश्य भाव से उपास्य देव के प्रति शरणागति होना ही चाहिए। हमी को 'प्रपत्ति' कहा जाता है वैष्णव धर्म में। क्या शक्ति के वेदान्ती बल क्या बलदेव के 'प्रेमा' भक्ति में दृढ़ हुए वैष्णव भावक क्या निर्बलक में समाधि लयाने वाले उत्तर भाग्य के उग्र अथवा क्या राग परम राग मन समुन्मत्तम प्रपन्न नहीं अवश्य भाव से प्रभु की भक्ति का उद्देश्य देते हैं और उसे एकमात्र शांति का उपाय समझते हैं। इन्द्रा

जायगी^१। और यदि भयबलरूपा भिक्षु जाती है तो 'प्रतिपद्' पर चढ़ सकने में ही क्या सम्बेह है? अतः विचार की दृष्टि से विभिन्न दिखाई देने वाली भी ये विचार-प्रवृत्तियों जीवन में इतनी विभिन्न नहीं हैं। कुछ भी हो विमोक्ष तो यहाँ प्रचलता देने में है और हम देखते हैं कि बुद्ध-दर्शन प्रतिपद् पर तो भक्ति-दर्शन 'प्रपत्ति' पर जोर देता है। भक्ति की भक्ति-परम्परा में तो इस प्रश्न को लेकर वैष्णवों के दो भाव ही हो गए। अर्थात् एक वे जो आचार्यमार्ग को ही प्रधान मानने लगे और दूसरे वे जो सरणावधि को अधिक महत्वपूर्ण मानने लगे^२। गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति-प्रवृत्ति में हमें प्रतिपद् और प्रपत्ति का संतुलित रूप मिलता है। प्रपत्ति से यहाँ साधना का आरम्भ है परन्तु उसकी परीक्षा प्रतिपद् में है। गोस्वामी बल्लभाचार्य के 'पुष्टिमार्ग' में प्रपत्ति ही भक्ति का सर्वस्व हो गई है और प्रतिपद् पर भक्ति जोर नहीं दिया गया है। यहाँ यह आपत्ति हो सकती कि बुद्ध के द्वारा भी तो सरणावधि का विधान किया गया है और यहाँ भी तो 'बुद्धं शरणं गच्छामि-अम्मं शरणं गच्छामि-संघं शरणं गच्छामि' इस प्रकार शिष्यत्व की व्यवस्था है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यह सरणावधि वैष्णव या भक्तिसमयी सरणावधि से सर्वथा भिन्न है। तबागत ने अपनी शरीर-पूजा से तो भिक्षुओं को निरत करने और केवल मार्ग पर चढ़ने का तो आदेश दिया ही^३। साथ ही किसी भी प्रकार की अपनी पूजा या उपासना का आदेश उन्होंने कभी नहीं दिया। मगधान् तो बोधि-राजकुमार द्वारा दिखाई हुई वैश्व-वर्णित पर ध्यान चले^४ और

- (१) 'भिक्षुओ यदि प्राची ईश्वर निर्माण के कारण सुख-दुःख भोक्ते हैं तो अवश्य भिक्षुओ। तबागत अच्छे ईश्वर के द्वारा निर्मित है जो कि वे आत्म-विहीन सुख-वेदना को अनुभव करते हैं। यदि भिक्षुओ नहीं तो भी भिक्षुओ तबागत आत्म-विहीन सुख-वेदना को अनुभव करते हैं- " वैषदह सुत (मग्गिम-निकाय)
- (२) अर्थात् कमल-वृक्षकर्म (जिनके प्रवर्तक आचार्य वेदमलदेशिक थे) और डेंकरी (जिनके प्रवर्तक आचार्य लोकाचार्य थे)
- (३) देखिए महापरिनिम्बान सुत (दीप-निकाय में) 'अम्माच्छटा ना तुम्हें जलम्ब होय तबागतात्त लरीर पुजाय'।
- (४) देखिए बोधिराज कुमार सुत में 'राजकुमार ! बिछे पुस्तों को लमैड ली। अपमान् भावी प्रजाओं का समान कर उन पर न चले'। आत्म-की

मित्रियों के द्वारा धर्म का पाकन किए जाने पर ही उन्होंने अपने को सर्वोत्तम रूप से संतुष्ट और पूजित हुआ माना^१ । बन्धुत-बुद्ध धर्म और संघ की अनुस्मृति या छारणापति का प्रयोगन चार कार्य संघों का साक्षात्कार और दुःख-विमुक्ति ही है^२ ? 'महानाम ! तुम उषामण्ड का स्मरण करो ऐसे वे भगवान् जहाँ सम्मक सम्बद्ध विद्या-वरण-सम्पन्न भुगत लोकविद् अनुपम पुण्य-धम्म-सारणी देव-मनुष्यों के शास्ता हैं । जिस समय महानाम ! कार्य थावक उषामण्ड को अनुस्मरण करता है उस समय उसका चित्त न एव-निष्ठ होता है न द्वेय-निष्ठ न मोह-निष्ठ । उसका चित्त अन्तु मार्ग पर आपन्न होता है । इस प्रकार कार्य थावक परमार्थ ज्ञान को प्राप्त होता है धर्म ज्ञान को प्राप्त होता है धर्म से संयुक्त हुआ वह आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त होता है महानाम ! तुम इस बुद्धा अनुस्मृति को प्राप्त कर यह भावना करो और फिर महानाम ! तुम धर्म का अनुस्मरण करो—भगवान् का धर्म सु-आस्मात् है उत्तम फलदायक है वाक्यान्तर में नहीं यही विद्याई देने वाला और विद्या द्वारा अपने आप ही में ज्ञानने योग्य है और फिर महानाम ! तुम संघ का अनुस्मरण करो भगवान् का थावक संघ सुप्रतिपन्न है भगवान् का थावक-सप अन्तु-प्रतिपन्न है^३ । उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है बुद्ध के साधना मार्ग में विद्यारणानुस्मृति का एकमात्र उद्देश्य नैतिक ही है अन्य कोई

बोधि-राजकमार के प्रति उचित अग्रिद्ध २।१५ में देखिये अस्तवत्त ५ बी ।

(१) देविए महापरिनिम्बाय तुल (बीय २।३)

(२) विनाइये यो व बुद्धञ्च धम्मञ्च संघञ्च सरत्थं गतो ।

अत्तारि अरिय सव्वानि सम्मपञ्जाय वसन्ति ॥

दुक्कं दुक्कतमुप्याई दुक्कतास च अतिवधमं ।

अरियञ्चदुद्धनिहं धार्यं दुक्कपुणमगाविमं ॥

एनं तो सरत्थं तेमं एनं सरत्थवत्तमम् ।

एनं सरत्थवागम्य सरत्थदुक्का वमुत्तमि ॥

(३) महानाम तुल (अंगुत्तर ११।२।२) देविए सर्वोत्तमाय वरुणरा में

यौ यही विचार, 'बुद्धसंपवत्तान् धर्मान् अपीत्तान् उज्जायिच स्तः । निर्वाण

रूपि छारत्थं यो जाति छारत्थं वयम्' ॥ अजिपरकोट ४।३२

रहस्यात्मक तरंग नहीं। कुछ भी हो बौद्ध साधना का भी आरम्भ घरबागति से ही है ऐसा कहा जा सकता है। आचार्य बुद्धघोष ने एक जगह कहा है कि आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ की धृष्टता होने वाली घरबागति ही है। घरबागति आध्यात्मिक जीवन के उदय का लक्षण है। यह एक महान् आध्यात्मिक धर्म है जिसकी सिद्धि भक्ति-दर्शन के समान स्वविराज बौद्ध धर्म में भी हुई है। हम पहले देख चुके हैं कि भट्टा की कितनी महिमा बौद्ध धर्म के आदिम स्वरूप में स्वीकृत है और भट्टा की विकसित अवस्था को ही आचार्य बुद्धघोष ने 'भक्ति' (मति) कहा है। फिर बुद्ध-भक्ति के रूप में तो भक्ति बुद्ध के प्राथमिक धर्मों में भी विद्यमान थी। भगवान् के परम भगवती धर्म्य सारिपुत्र का उनके प्रति उद्गार है 'मार सेना को दमन करने वाले बुद्ध एक ही के प्रति भट्टा रचना एक ही की करम जाना एक ही को प्रणाम करना भवसागर से तार सकता है'^१। इस एक वाक्य में अनन्य भक्ति के समग्र तत्त्व हमारी समझ से उपस्थित है। फिर घास्ता के इन्हीं परम भगवती धर्म्य ने अपने घास्ता के प्रति जो उद्गार अपने परिनिर्वाण के लिए उनसे अन्तिम बिदाई के समय किये उनमें ही भक्ति-तत्त्व का क्या कम परिपाक हुआ है। स्वविर (सारिपुत्र) ने रक्तवर्म हाथों की फैलाकर घास्ता के चरणों को पकड़ कर कहा 'मते। इन चरणों की बन्दना के लिए सी हजार कस्यों से भी अधिक काल तक मैंने अवश्य पारमिताएँ पूरी कीं। यह मेरा मनोरथ सिर तक पहुँच गया। अब आपके साथ फिर जन्म के एक स्वान में एकत्रित होगा नहीं है। अब यह विरहात छिन्न हो चुका। अनेक घट सहस्र बुद्धों के प्रवेश-स्वाम अजर, अमर, जेम सुख चीतल अमय निर्वाण पुर जाईना। यदि मेरा कोई कामिक या बाहिक कर्म भगवान् की म बन्ना हो तो भगवान् क्षमा करें। मेरा जाने का समय है'^२। इसी प्रकार आत्मन् के भी कई उद्गार स्मरणीय हैं। बीमार निम्न भक्तिके तो अपने सभी भक्त के द्वारा कहे हुए बुद्ध-भक्तों को भी चारपाई पर बैट्टे हुए नहीं तुल सकता था। 'मेरे लिये यह उचित नहीं कि मैं चारपाई

- (१) मिलिन्द प्रश्न में सारिपुत्र-वचन के रूप में उद्धृत, देखिए निम्न अपरीक्ष काव्य का हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २९६
- (२) देखिए बुद्धचर्या पृष्ठ ५१३
- (३) उदाहरणतः उन्होंने परिनिर्वाण के समय कहा 'मैंने परम भट्टा के साथ बन्ध की सेवा की है। अब मैंने जीवन के भार को ढँक दिया है'।

पर छंटे वास्ता के बच्चों को सुनूं। बरती पर अपने को उतरवा कर चढ़ने बड़ बच्चों को सुना। इससे सिद्ध है कि व्यावहारिक रूप में बुद्ध के सिष्य अपने वास्ता को उपास्य वृष्टि से ही देखते थे और यह प्रवृत्ति विष्णु नागसेन के समय तक तो इतनी पटुंभी कि मिश्रिन्ध्रप्रसन्न के स्वविराज-परम्परा के ही प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें बुद्ध की पूजा और भक्ति जैसी बहुत सी बातें कही गई हैं^१। महायान के भक्ति तत्त्व को निश्चय ही इन से बहुत प्रेरणा मिली होगी। यही बुद्ध के विचार का भक्ति तत्त्व से संक्षिप्त सम्बन्ध निष्पन्न है।

महायान धर्म में भक्ति तत्त्व का किस मूढ़ रूप से समावेश हो गया यह हम पहले देख चके हैं। हमने यह भी पहले देखा है कि बोधिसत्त्वों की पूजा और भगवान् बुद्ध की भगवत् के नाता महायान धर्मान और और पिता समझने की प्रवृत्ति किस प्रकार बौद्ध धर्म भक्ति तत्त्व में समा गई और मूलतः विमूढ़ भक्तिवाद पर प्रतिष्ठित बौद्ध धर्म का कालान्तर में एक भक्तिमय स्वरूप प्राप्त कर गया। इन सब बातों का विवेचन हम चतुर्थ प्रकरण में चुके कर रहे हैं^२। यहां इतना कह देना और आवश्यक होना कि बौद्ध धर्म में भक्ति के विकास के पूर्वरूप में प्रतिपद् और प्रपत्ति की भावना में सम्भवतः या या प्रतिपद् का स्थान कुछ ऊँचा था। इस स्थिति का प्रतीक अरबकोप का युग है। लौन्गलन्द में भगवान् बुद्ध नन्द से कहते हैं 'बन्धुवर्ग में न तथा प्रजामो धर्म

- (१) देखिए मिश्रिन्ध्र प्रसन्न एक तरफ तो महास्वविर नागसेन यह कहते हैं, 'परिमिच्छन्तो महाप्राज्ञ भगवा न न भगवन् पुत्रं साविपत्तिं बोधिमतो येन तथाप्यतस्त साविपत्ता पण्डितः, किं पण अनुपादितेताय निज्जान पानुया परिमिच्छुतस्त' तो दूसरी ओर ही भविष्य भाग से कहने लगते हैं 'न न भगवा पुत्रं साविपत्तिं असाविपत्तस्तैव तथागतस्त आचरन्तानाम्भजन तन्मत्पटिपत्तिं सेवन्ता तित्तो तम्पत्तिबो पटिकमन्ति। इमिना पि महाप्राज्ञ कारणेन तथाप्यतस्त परिमिच्छतस्त असाविपत्तस्तैव कसो भविकारो भवन्तो नवति सकलो' मेण्डक पम्हो पृष्ठ १ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)। लोकधर्म की भावना को इस प्रकार उल्टाह देना ही भक्ति की जड़ों को प्रकट करना है।

- (२) देखिये पीछे महायान धर्म का विवेचन।

मर्त्यवा प्रतिपत्तिरेव'। अर्थात् मुझे प्रणाम करना मेरा बंधा सम्मान नहीं है बंधा कि मर्त्य का आचरण करना। बाह में बुद्ध की शरणावृत्ति प्रमाण हो गई और बर्माभ्यास पीप। 'सुखावती-ब्यूह' की यही परिस्थिति है। मध्ययुगीन भक्ति से प्राप्त इसी अवस्था की अधिक समानता है। जब हम संज्ञाहृन् रूप से भक्ति-दर्शन और बौद्ध दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध पर जाते हैं।

भक्ति-दर्शन भी एक मार्ग है जिस प्रकार कि भूक्त बुद्ध-दर्शन वा। दोनों ही तत्त्वमीमांसा से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते इसी अर्थ में कि मार्ग उनके लिए प्रमाण है। किन्तु यहाँ एक अन्तर भी है।

संज्ञाहृन् दृष्टि से बौद्ध दर्शन और भक्ति दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध—तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में—प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में—आचारमीमांसा के क्षेत्र में—

प्रकार बुद्ध भी साधना के पक्ष को कालान्तर की चीज नहीं मानते। इस जीवन में भक्तगण इतने 'रामचरणरसमत' रहे कि उन्होंने पाई हुई भक्ति का भी निरादर किया। 'बरम न अरम न काम बधि परम बहई निरवान। जनम जनम रति रामपद यह बरवान न जान' ऐसा भोस्वाजी तुलसीदास भी ने गाया और महाराष्ट्र में भी सन्त तुकाराम ने बोल और मोक्ष की पैराने पड़ी हुई चीजें बतलाया। ये सब बातें बताती हैं कि भक्तों ने इसी जीवन में उस आनन्द को पाया वा जिससे बरम और कुछ नहीं है। इसी अत्यन्त सख रूप निम्बाण को इसी जीवन में साक्षात्कार कर जिस सम्बन्ध कह सकते थे 'सुमुख बत बीराम। हम सुख से भी रहे हैं। भक्तों ने तत्त्व मीमांसा नहीं की। वे प्राप्त वैष्णव आचार्यों के ही तत्त्ववाद पर अपनी प्रतिष्ठा रखते रहे। अतः बौद्ध दर्शन की तरह स्वतन्त्र विचार वा चीज उनमें कभी नहीं उग सका। हाँ बहीरदास जी इसके एक बड़े जबरदस्त अपवाद हैं। 'अपनी राह तू बने बहीरा' ऐसा मग्गीर निनाद वही एक व्यक्ति; वे जो मध्ययुगीन भारत में कर लवते थे। जातिगत और वर्णगत भेदों के

निषारों को सब से पहले इन्हीं महात्मा ने मध्यमगीन भारत में बिम्बित किया। जैसा हम पहले कह चुके हैं कबीर ने जब सृष्टि के जादू कारण का चिन्तन करते हुए यह कहा था 'कह कबीर यह बहुत निरंजन तहें किछु जाह कि सून्य' तो उन्होंने बीड़ों के शून्य और ब्रह्म के निर्युक्त निर्विकार— जो सत्ता का 'निरंजन' है—के बीच मध्यस्थता कर दी थी। 'तहें किछु जाह कि सून्यम्' का उत्तर नासदीय सूक्त के ऋषि से लेकर नाथानुन लेकर, श्रीहर्ष और ऐकान्तिक अथ मनीषियों की बड़ियाँ भी जाब तक नहीं दे सकी हैं। इसी शून्य में स्थान कर कबीर साहब जीतक हुए थे। 'तपन गई नीतक भया जब बुझि किया असनाम'।^१ इतना बबरबस्त प्रभाव मध्यमगीन साधना पर शून्यवाद का उपलब्धित होता है कि महान् मुसलमान साधक मस्जिद महम्मद नामची भी बिना गाए नहीं रहे। 'इहै जब तक पुन यह जप तप सब साधना। जानि परै जब सून मुहमद छोई सिद्ध मा। भा जब सोह सो सुजहि जाने। सुजहि तैं सब जग पहचाने। सुजहि तैं है सून जपाती। सुजहि त उपजहि बहु जानी। सुजहि माह इन्द्र बरम्हया। सुजहि ते टीके नमब्रह्मा। सुजहि ते सपने सब कोई। पुनि बुकाइ सब सुजहि होई। सुजहि सात सरन उपराही। सुजहि सातों बरति तराहीं। सुजहि ठठ आन सब एका। बीरहि काम पिण्ड सगरे का। सुजम सुजम सब उतराही। सुजहि मोह सब रहे समारि'। इतना ही नहीं परम तत्त्व को वे 'गुप्त तें गुप्त सून तें सून' भी कहते हैं और फिर शून्य और ब्रह्म अथवा आत्म-ब्रह्म का यह समन्वय करते हैं जिसको आज तक कोई भारतीय बार्धनिक नहीं कर सका है 'हुता जो सुजम सून नार्न ठाबें ना मूर सबर। तही पाप नहि पुन मुहमद जापुहि जापु जापु महे'। निश्चय ही यहाँ नाथानुन (शून्यवाद) और शंकर (ब्रह्मवाद) दोनों के ही बहिर्तीय समन्वय को इस सूझी साधक ने इन दिया है।

जिस प्रकार तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र की ओर भक्तों ने विशेष ध्यान नहीं दिया उसी प्रकार प्रमाण-मीमांसा की भी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। वेद के प्रामाण्य को तो प्रायः सब ने स्वीकार किया ही। श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ मोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा 'ब्रह्म म समर्थ रामदास ने भी अपने 'बाख़शोब' में बर-भक्ति की रायप ली और ता और पावसी भी ता इत पर

(१) मिलाइये अग्यब भी—'हूँ छौंड़ि बेहूँ मया किया सुनि असनाम' 'तहूँ सून में रही लमना।

मर्या से विरहित नहीं हो सके। 'बेद पन्थ को नहीं चकड़िते मूर्छाहि बन मांस। भूँठ बोल फिर रहै न राधा। पण्डित सोइ बेद मत सोचा॥ बेद बचन मुख सोन को कहा। सो जुम जुन बहिरि होइ रहा'। बंगीन वैष्णव भक्त तो इससे भी जाये बड़ गए। उन्होंने न केवल बेद को ही प्रमाण माना किन्तु श्रीमद्भागवत पुराण को भी सर्वसाधनव्यवस्थित का स्वस्व्य हे दिया। 'भक्ति-सम्पन्न' में तो 'नवीनकीलावृत्त्यै वैदिकमपि वाचं नाम्मसेत्' इसका भी प्रतिपादन किया गया और श्री रूप मोक्षामी जी ने अपने संक्षेप भागवतामृत में मुक्तिविस्तार करते हुए 'प्रधानत्वात् प्रमाणेषु शब्द एव प्रमाप्यते' यह भी कहा जो बीड़ विचार की परम्परा के किसी भी स्तर से कोई भेक नहीं ला सकता। यह विद्या विष्णुक बीड़ विचार से विपरीत नहीं गई है। बूझि मनीषी भाषाओं की मक्ति की सिद्धि प्रधानतया बेद से न होकर श्रीमद्भागवत से ही होती है इसलिये वे इतना भी कहने से नहीं चूके हैं 'बेदेर निपुण जर्ब भूझने ना जाय। पुराण वाक्य सेई जर्ब करये निरूपय'। सम्भवतः यह शब्द प्रमाण की उसकी आत्यन्तिक सीमा तक बढ़ाना है। किन्तु सम्भवतः यह प्रवृत्ति तत्कालीन कठोर तर्कवाद के प्रति प्रतिक्रिया रूप में ही थी जसा कि सार्वभौम के इन शब्दों से भी प्रकट है—'तर्क दासने जड़ जामि मैछे कीहृदय। जाने ब्रह्महेतु नि प्रताप प्रपच्छ'। ब्रह्म की मक्ति परम्परा जिसमें बेदात की भावना एक समीर रूप से सर्वत्र निहित है इस विषय में बड़ी संमत है। उक्त रूप तो कबीर में ही हमें सभी प्रकार के बन्धनों को तोड़ने का मिसरा है फिर चाहे वे बन्धन बेद के हों या किसी अन्य के। साधु सती और सूरमा इन पट्टर कोट नाहि। जपन पन्थ को पय बरें बिपै ली कहा समारि। जिस अहम्प भीय को बुझ ने प्रारम्भ किया या उसी की एक भलक इन शब्दों में कैसी बल्लही मिलती है 'साध का खेल तो विष्ट बेडा मटी सती और सूर की भास जाने। सूर भमछान है पछर दो चार का सती भगसाग पकल एक जाने। साध संग्राम है रैन बिन कूझना। हेह पवैत का काम भाई'। ब्रह्म का वैष्णव धर्म जिसका स्वस्व 'श्रृंगारिक रहस्यवाद' का वा नैतिक तन्त्रों की कुछ अवहेलना ही करता रहा कम-से-कम उसने इसे प्रधान स्थान नहीं दिया और इस कमी को श्री सुसील कुमार ने भी स्वीकार किया है^१। अन्यथा अन्य भक्ति सम्प्रदायों ने स्पष्टतया नीति तत्त्व

(१) बेसिद् उनका वैष्णव कोष पृष्ठ भूषणेश्वर इन ब्रह्म' अध्याय ६। स्वर्ग भी जीवन देव अवका उनके उपदेशों में तो इन कमी का आरोप करना

को एक प्रवाल स्थान अपनी भक्ति साधना में दिया है। बाह्य कर्मकाण्ड का भी प्रायः सभी जगह अभाव है। 'पाइये रँ जानिबो करम एक भरि भरि बेद परोसो' तुलसीदास ने कहा है जो ब्रह्मचारी व्रत के प्रति बौद्ध प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।

इस प्रकार एक अनन्यसाधारण आध्यात्मिक वायु-मण्डल मध्ययुगीन भारत में भक्तों की परम्परा के द्वारा भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक कहीं साक्षी सबही सुना कर कहीं 'मंगल मुद बैनी' राम बन्ना का अलङ्कार कराकर, कहीं प्रभु की ह्माकिनी शक्ति के साक्षात्कार करा कर, कहीं 'त तुम्हीं सोइहीं राम हा अन्तकाली' ऐसा आस्थासंग बेचर, प्रसारित किया गया जो निरुपम ही निर्बल मनुष्यों में (संशय कीन है ?) आरिष्यगुण का सम्भार करने का अद्भुत सामर्थ्य रखता है। निरुपम ही इस मार्ग पर जो चमत्ते हैं वे भी अवश्य ही काटते हैं यही अद्भुत परोसा हुआ अपने लिए देखते हैं महान् भोग को वे ठरते हैं अपना यों कहिए कि महान् भोग ही इनके लिए मूल बात है। 'राम अपठ मरसिन्दु मुकाली' यह बानी सत्य से खाली नहीं है और म असत्य है भक्ति मार्ग के विषय में नहीं हुई यह उक्ति ही 'सबहि सुलभ सब दिन सब बैसा। सेवत साधर समन कसेसा'। सच्चिदानन्दमय राम के रूप में रहने अज्ञानाचकार प्रवेश नहीं कर सकता नाम नहीं टूट कर मरता विषय की तो चार्ना ही नहीं रहनी। 'राम चरित जे सुनत अचारी। रम बिषय जाना तिन्ह नाहीं'। अपरिमित आस्थासंग्रह साधना भक्ति है। पानी से पानी के तिर्ये यहां आस्थासंग्रह है। ज्ञान और वैराग्य की साधना कश्चित् में नहीं है। 'संन्यास लेते ही मन बिगन्ता है और 'मुक अपनेहु न जोय सिबि साधन'। इसी वृत्ति को लेकर भक्ति चलती है। यह ज्ञान विराग और वैदिक ज्ञान को विध्या नहीं चली। 'मो सब जानि सरी। परन्तु उमको ग्रहण करने की शक्ति

बाध ही होया—सबे परस्त्रीच्यति नाहि चरितास। रभी बैकि दुरे प्रभु होयेन एक पाग'। इसी प्रकार उक्त 'चरित भी 'ए' सब दुष्ट हय वैराग्य लक्षण। सब कहा का पाप करि विहरतान ॥ कृपाक मृदुलोह लक्ष-सार सम। निर्दोष ब्रह्म बहु दधि अरिचन ॥ लक्षोपचारक ज्ञानत हृत्प्रेत शरण। अभाव निरीह विपर बिजित दग्गज ॥ दिग्भक्त अग्रजल भाग्य अमासी। पम्पेर करण मैत्र बरि दल बीसी ॥ ज्ञान विरा के लक्षण भी तो यही है !

तो कस्मिन् के मनुष्य में नहीं है। इसलिये जिसको राम नाम प्रिय है 'ताको बनो जगह कल कासुं बाहि मध्य परिनामो'। हम जानते हैं कि नाम साधना का महान् आस्वादन बौद्ध धर्म को भी बाद में मिला जो एक महा आध्यात्मिक प्राप्ति थी। 'बाकी प्रीति प्रीति जहाँ उन्हें ताको काज सरो' कह कर धर्मों ने इन साधनाओं से समन्वय स्थापित कर लिया है। इस प्रकार भक्ति का धर्म भी एक अनुसर क्य से भारत में पवित्रता का स्थापन करने वाला ही हुआ और चूँकि भक्ति अपने विभूत क्य में उन्हीं विरागादि गुणों को सम्पादन करने वाली होती है जिनके लिए बोधि पक्षीय धर्मों का उपयोग या अर्थ वह भी साक्षात् साधन का एक अंग ही समझी जा सकती है ऐसा कहने का हम प्रस्ताव रखते हैं 'बोधिमी ! जिन धर्मों को तु जाने कि वे विराग के लिए हैं सराव के लिए नहीं विरोध के लिए हैं संयोग के लिए नहीं अवग्रह के लिए हैं संघर्ष के लिए नहीं इच्छाओं को कम करने के लिए हैं इच्छाओं को बढ़ाने के लिए नहीं संतोष के लिए हैं असंतोष के लिए नहीं एकान्त के लिए हैं भीड़ के लिए नहीं उन्नोभिता के लिए हैं अनुन्नोभिता के लिए नहीं सरलता के लिए हैं कठिनाई के लिए नहीं। तो तु बोधिमी ! सोचो जाने जानना कि वह धर्म है वह विषय है वह साक्षात् साधन है। चूँकि हम सत-सहस्र धर्मों के अनुभव पर जानते हैं कि भक्ति-धर्म ज्ञान उपयोगी है ब्रह्मचर्य-उपयोगी है वह निर्द्वेष के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए उपग्रह के लिए, अभिज्ञा के लिए, संयोग के लिए और निर्वाण के लिए अन्त्य क्य से सेवित किया जाने पर होता है अतः हम विनम्रतापूर्वक कह सकते हैं (केवल नीति-दिक्षा को लेकर) कि वह (बोधि-पक्षीय धर्मों के) साक्षात् का भी सोचो जाने धर्म भी है विषय भी है और साधन भी है, बड़ा तक कि वह उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति करता है। महायोगी बौद्ध धर्म नाम जप करन लभ जाता है और वैष्णव साधक धर्म साधना करने लभ जाता है कबहुँक ही यहि रहनि 'छ्दीयो' तो प्रतिपद् और प्रपत्ति मिल जाती है और यही भारतीय साधना का अन्त निष्कर्ष है। और फिर 'पूजेन न पूजयितव्यं वस्तु' कह कर तो निश्चय ही भगवान् ने कुछ बाकी ही नहीं छोड़ा। बिना भक्ति और यज्ञ के बौद्ध धर्म के प्रथम फल का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है उसका अन्तिम फल तो प्रज्ञा ही है।

ओ—बौद्ध दर्शन और तन्त्र सिद्धान्त

अप्य भारतीय साधनाओं की तरह तन्त्रों की साधना भी अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः यह प्रागैतिहासिक भी हो सकती है क्योंकि मिथ आदि देशों में भी पुराने समय में तान्त्रिकों की किसी-न-किसी तन्त्र दर्शन के स्वरूप प्रकार परम्परा का पता लगा ही है। वर्षाबेद में और सिद्धान्तों पर एक तो मन्त्र-तंत्रों की भरमार ही है। तन्त्र शब्द का अर्थ विहंगम दृष्टि किया गया है वह शास्त्र को ज्ञान का विस्तार करे। 'तन्मते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्'। इसी प्रकार शैव सिद्धान्त नामक ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि 'तनोति विपुला नयान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्'। शायं य कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते। तात्पर्य यह कि शास्त्र सिद्धान्त अनुष्ठान और दर्शन के अर्थ में 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध होता है। भगवान् संकर ने सांख्य-वैशेषिक-प्रचारी के लिए भी 'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमपिप्रणीता' ऐसा कहा है। इसी प्रकार न्याय दर्शन और योग दर्शन तक के लिए भी उनके साधना तन्त्र शब्द का प्रयोग महाभारत में उपलब्ध होता है। तन्त्र का पर्यायवाची शब्द ही 'आगम' है। तत्त्व-वैचारिक में सप्ततन्त्रस्वर्गत्र वाचस्पति मिथ ने 'आगम' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है आदच्छन्ति बद्धिमारेहन्ति यस्मात् अम्युदयनिर्धेयमोपायाः स आगमः। तन्त्रों या आगमों के तीन प्रकार बताए गए हैं। वैष्णवागम (पाञ्चरात्र या आगवत) शैवागम और शाक्तागम। महाभारत-काल से ही इन मनो का बधन मत्त होता चला आया है और जगत् कठ प्रकार से जो उनका विभाजन किया गया है उनमें निश्चय ही बहुत से वैष्णव आचार्यों के मन की स्वभावन जा ही जान है। विष्णुतन्त्र की इतनी व्यापक भावना करने में हमारा महा प्रयोजन नहीं है। निश्चय ही शैव शाक्त और प्रायश्चित्त सिद्धान्तों के भी निश्चय करन में हम महा कोई प्रयोजन नहीं है। महा हमारा तात्पर्य केवल उन सम्प्रदायों की विचार प्रणाली में है जो वैदिक परम्परा के मूलन बौद्ध परम्परा में भी प्रकाश कर आती सामान्य प्रकृतियाँ से उमड़ी जन्म का योग्यता कर रहे हैं और विज्ञान बौद्ध धर्म को तो बिलम्ब बिलम्ब ही कर दिया।

(१) बह्मन्यु शास्त्र २।१।१२ में ।

(२) १।३

आध्यात्मिक आदर्शों से हैं और ये आदर्श बीड वर्म ही है सकता है, क्योंकि सार्वभौम तत्व उसी में सब से अधिक हैं नैतिक अनुभूति की व्यापकता उसी की सब से अधिक तीव्र हैं कर्मकाण्ड उसी में सब से कम है और वैज्ञानिक निष्कर्षों से उसी का सब से अधिक साम्य है। आध्यात्मिक संस्कृति पर उसी ने सब से अधिक जोर दिया है और लोक-कल्याण के लिए सेवा-वर्म का भी विस्तार करने किया है। मगस्तत्व का अत्यन्त दम्भीर पर्यवेक्षण करके उसने अपने नैतिक तत्व का निर्माण किया है जिसे मिथ्या धार्मिक विश्वासों से ऊँचा हुआ मनुष्य जान चाहता है। चाटोय यह कि अनेक कारणों से बीड वर्म और वर्तन न केवल भारत के ही किन्तु सम्पूर्ण विश्व के वाकर्षण का कारण बन गया है।

भाष्यीय विचार की तो अभी जागृति ही हुई है। उसे अपने आदर्श पूर्ण के चिन्तन वादि कुछ भी स्मरण नहीं रहे। वे। मग घटावही में यह बुर सोच, जबकि संसार वैज्ञानिक मार्ग पर बढ़ रहा था।

एक छम्भी मूर्खों के अभी उसकी मूर्खता जगी है। यह सोचता है कि जब भारतीय विचारकी मेरे भी आदर्श हैं जिन पर मैं अपने जीवन की स्फूर्तिमय जागृति का निर्माण कर सकता हूँ। बहुत बड़ कद सेवा और आत्मस्वरूपानुस्मृति न्याय होगा कि इस नव-जागरण में प्रकाश कारण वास्तव में बड़ी रहे हैं जिन्होंने उसका सम्पूर्ण

धी किया था। हमें अपने कुछ मातृवस्त्व छँकर और अछोकर कम स्मरण थे? जब इन विषयक अध्ययन गवेषण और मत्प्राप्त्यन पहले अँग्रेजों ने किया तभी तो उनके परबिहना पर हम इसमें प्रवृत्त हुए। कुछ और बीड वर्तन के विषय में तो यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से ठीक ही है। सर्ववर्तन संग्रह और 'छँकर विभिन्नय' के वर्तनों को छोड़ कर हम सुपान या उनके वर्म के विषय में क्या अभिधा रखते थे? कुछ को सिवाय नास्तिक वेदमित्यक और प्रजाओं के विमोहन करने को आए हुए भयवान् विष्णु के अवतार को छोड़ और हम क्या जानते थे? सब से पहले सराग्वेधी नववचनमय और स्वतन्त्रप्रज्ञ विवेचियों ने ही तो बीड वर्म और वर्तन का अध्ययन प्रारम्भ किया। प्रारम्भिक रूप से मौलिनय बीड वर्तन छम्भवी ज्ञान हमन सब से पहले विवेधी विद्वानों से ही तो तो पाया। पश्चिम में ही तो ट्रेन्कमर, स्वीयल बैस्टरपाई चाइस्वर्थ जेम्स एस्विन फौलरहॉल एडरसन बैडल पिंसल मिन्सक, एडमण्ड हार्डी, जोसेफनबर्न कर्न विपण्डेट, रिचार्ड मीण्डि एमण्ड डेविड्स गायमर, बैस्टर, बिबिड ई अँ कार्लोस्टे, वागर्स पूर्ण वारेन जीनो थोडर, बीकोबी लीनन

बकिनेम प्रिय मूर, घर चास्त्र इत्थियट्ठ किमोत्त डिम्बर और केरवास्की
 बादि मनीषियों ने सर्वत्रयम पाकि धम्मों का सम्पादन अनुदान और बौद्ध धर्म-
 और दर्शन पर स्वतन्त्र द्रव्य रखने का प्रयत्न किया। हमारे यहाँ तो बिम्बु उत्तम-
 की यह जम्पतम अभिलाषा ही कि समग्र त्रिपिटक साहित्य अपने मूक रूप में
 गायरी बस्तियों में ही जा जाय जमी तक पूरी नहीं हो पाई है। क्या यह हमारे
 धारण का कथन है? क्या पाकि टेक्स्ट सोसायटी के कम-से-कम अनुकरण
 के ही हम योग्य नहीं हैं? किन्तु कुछ आत्मानुस्मृति के बिह्वल हमसे मिलते हैं।
 यह कुछ प्रसन्नता की बात है कि हम भी अपने यहाँ कुछ बहुत हरप्रकार धार्मिक
 धर्मालय कौसम्भी बेधीमायन बाहुजा सतीसचक्र विद्याभूषण सुरियगोठ सुमंगल
 बापट, हरिताण दे अनागारिक धम्मपाल मुनरत्न जयविक्रम नारद, सिद्धार्थ
 मज्झिमाय बत्त सांख्यवायन आत्मा कौसम्मायन और बिम्बु जयवीर कास्मप जैसे
 कतिपय नाम गिना सकते हैं जिन्होंने पाकि एवं बौद्ध धर्म और दर्शन के क्षेत्र में
 बहुत प्रयत्नशील कार्य किया है। किन्तु इतना ही पर्याप्त है यह क्यों कहेगा?
 जिस सर्वविध और सब दिशाओं में प्रसरणशील स्फूर्तिमय धारण के लक्षण
 हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन में कुछ दिनों से प्रकट हो रहे हैं उनके
 परिणामस्वरूप आत्मानुस्मृति की भी तो एक अभिनव रूप धारण कर हमारे हृदय
 पटल पर बाना ही चाहिए ताकि उन विरल-वृद्ध की उन वैद और मनुष्यों के
 शास्त्र की बीजवृत्ति वाली हमारे सर्वविध जीवन का परिष्कार करे और हम
 उनके सम्बन्ध को सुन उन्हें स्वयं अपनी ही भाषा की कोश-भाषा में राष्ट्र-भाषा
 हिन्दी में उसकी गौरव-वृद्धि के लिये।

आधुनिक युग सर्वत्र ही एक जन्मपूर्व परीक्षण का युग है। सर्वत्र
 मनुष्यों के विचार में एक जन्मपूर्व क्रान्ति है। परम्परागत धर्मों के ध्वस्त
 डीसे पड़ गए हैं। पड़वासी वैज्ञानिक तत्त्ववाद के
 आधुनिक युग सर्वत्र ही
 एक जन्मपूर्व परीक्षण-
 युग, स्वभावतः ही बौद्ध
 विचार के प्रति एक नई
 दिलचस्पी और शाक्य-
 मुनि का आकर्षण
 और मार्ग का परीक्षा में होकर गुजर रहे हैं।
 महान् हृदय-जन्म का रो और दिखाई पड़ रहा है। कहने की आवश्यकता

ताम्रिक लोग बहुसुत प्रतीकों का प्रयोग करते थे और बड़े मोती होने का भी शौक करते थे। उनका प्रभाव बौद्धों पर पड़ा और बौद्धों ने भी उनको बहुत कुछ बान दिया। विशेषतः मैपाक और बंगाल में सर्वोत्तम सुन्दर-सम्पन्न सरस और धान्यों ने बहुत सी बातें बौद्धों से सीं। किन्तु और केवल सम्पत्ति ताम्रिक दृष्टि से बुद्ध की शिक्षाओं में और उनके प्रतिपद पर प्रतिष्ठित सिद्धान्तों में कुछ भी सम्मिलित नहीं था। जबकि बुद्ध ने सम्पत्ति प्रतिपद पर और दिया था अतः बौद्ध धर्म में हठयोग वन-वन आदि को प्रोत्साहन नहीं था अपर्यवर्ती बातों को तो होता ही कहाँ से। अतः जब बौद्ध धर्म में चीरसी सिद्धों का पुनः कामा जिनका धर्म महापण्डित राहुक शङ्कस्यामन ने अपने ग्रन्थ 'पुरातत्व निबन्धावली' में विस्तार से किया है^१ तो यह भारत में बौद्ध धर्म के बुरे दिनों का ही सूचक था। उपासना चाहे भैरव मन्त्री की हो चाहे बुद्ध और तारा की उस पर बुद्ध-धर्म टिक नहीं सकता था और ऐसा ही हुआ भी। हम पहले कह चुके हैं कि पुरानी चीजों में बौद्ध धर्म के प्रचार की आवश्यकता के परिणाम-स्वरूप ताम्रिकता का समावेश बौद्ध धर्म में हो गया जबकि मैं कहना चाहिये कि उन देशों की ताम्रिक पृष्ठभूमि को स्वीकार कर बौद्ध धर्म ने उसके माध्यम से अपना संविष्ट देना शुरू किया। ताम्रिक का सामाई बौद्ध धर्म और चीन और जापान के ताम्रिक (यंग यान सम्प्रदाय) इसी प्रकृति के परिणाम हैं। खुश्यात्मक मन्त्रों के उच्चारण ने बौद्ध धर्म में भी जोर पकड़ा। 'यते यते परमते परसंपत्ते बोधि स्वाहा' (हे बोधि ! पार जले जले पार जले यते पार पहुँच गये स्वाहा) जैसे मन्त्रों की आनुति प्रजापारमिता के प्राप्त्यर्थ होने लगी। मन्त्रवादी सम्प्रदायों में ही बौद्ध ध्यान (जैन) बौद्ध धर्म के लक्ष्यों अनुयायी आज भी 'प्रजा पारमिता हृदय मूल' के इस मन्त्र का जप प्रतिष्ठित करते हैं^२। 'स्वाहा' शब्द बता रहा है कि वैदिक ब्रह्मवाद का अनिवार्य प्रभाव भी बौद्ध धर्मवाद पर पड़ा है। बुद्ध के मूल उपदेशों के अनुसार प्रजा की प्राप्ति के लिए शीघ्र और ध्यान का अभ्यास आवश्यक है मन्त्रों की आनुति से वह नहीं मिल सकती। परन्तु वह परिवर्तित बौद्ध शास्त्रों में आ गया। बुद्ध ने कहा था 'मन्त्रोच्चारण एवं अग्नि आहुति द्वारा ब्रह्म-मरण से मुक्ति नहीं होती। मन्त्रोच्चारण करने से और आहुति आदि देने से विपरीत

(१) पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३५-१६

(२) रेविने सुबुद्धी : एसेन इन जैन बुद्धिज्ज (वर्ग सीरीज) पृष्ठ २-२

की तुलना दूसर होनी है^१। बुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार योग की श्रद्धाओं में न स्थानि है और न संयम। परन्तु बाद में बीड़ धर्म में यह सब सब पड़ा।

जब इस प्रकार बीड़ धर्म में तान्त्रिकता का समावेश हो गया तो जैसा कि हम पहले कह चुके हैं उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गए जिनका वर्धन तान्त्रिक दृष्टि से यहाँ उपयुक्त न होना। न केवल उत्तरकाशीन बीड़ धर्म में धार्मिक किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में भी नये-नये तान्त्रिकता का समावेश प्रत्यक्ष रूप से बुद्ध को अनेक योग की क्रियाओं का उपदेष्टा बताया गया और वह भी विभूतिओं को प्राप्त करने के लिए। प्रातिमोक्ष शील विष्णु-संघ से वृत्त हो गया और ब्राम्हणी छेय मांस और मदिरा का भी प्रचार करने लगे।

इसीलिए बीड़ धर्म और दर्शन की परिशुद्धि की भी आवश्यकता प्रतीत हुई और यह काम संकर ने बड़ी लगन के साथ किया। परिणामतः जिस कार्य-उदात्तन धर्म रूप महानगर से बीड़ धर्म निकला था उसी में बाद में नामरूप छोड़कर वह मिश्र गया और यह काम भारत में विशेषतः तान्त्रिकता के बीड़ धर्म में प्रचल करने के कारण ही हुआ। यहाँ यह कह देना बनावस्थक न होना कि बीड़ धर्म का यह अन्तिम भग्न तान्त्रिक रूप भी नाय-यन्त्र और सन्त-साधना पर अपने प्रभाव की समित छाप छोड़ गया है जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

अ—बीड़ दर्शन और आधुनिक भारतीय विचार

आधुनिक भारतीय विचार में और न केवल आधुनिक भारतीय विचार में ही यदि तु समय विरह के विस्तार में बीड़ धर्म अपने महत्त्व को पुनः प्राप्त कर रहा है। जैसा कि सर बीरन जयसिंहक ने कहा है 'बीड़ व्यापकता धर्म हो बाकी तत्तार का धर्म होगा'^२। यह यज्ञ का विजृम्भण ही नहीं किन्तु एक मत्त है। धर्म में तान्त्रिक मूल के सर्वोच्च

(१) बुद्ध चरित १९१७-५९

(२) देखिए इनका इस विषय पर निबन्ध 'पिण्डवाजी' (मई १९४२ बीड़ संस्कृति मंड) पृष्ठ ५०३-५२६

बलिम, धिम मूर, सर चास्त्र हकिमट, किमोज डिमर और बेरवास्की बाकि मनीषियों में सर्वप्रथम पाकि यन्त्रों का सम्पादन अनुबन और बीछ बर्म और बर्तन पर स्वतंत्र प्रत्येक करने का प्रयत्न किया। हमारे यहाँ तो भिक्षु उत्तम की यह अत्यन्त कमिलावा ही कि समग्र विपिटक साहित्य अपने मूळ रूप में नाचरी बसरी में ही का नाम अभी तक पूरी नहीं हो पाई है। क्या यह हमारे आचरण का कथन है? क्या पाकि टेक्स्ट सोसायटी के कम-से-कम अनुकरण के ही हम योग्य नहीं हैं? किन्तु कुछ आरमानुस्मृति के बिना हममें भिन्नते है। यह कुछ प्रसन्नता की बात है कि हम भी अपने यहाँ बड़ापठ हरप्रसाद शास्त्री बर्मागन्ध कोषम्बी बेपीमाचक बाहुबा छतीसचन्द्र विद्याभूषण सुरिमयोद सुमंगल बापट हरिनाथ रे, अनापारिक धम्मपाक पुनरल जयविक्रम गारद सिद्धार्थ मलिनाथ दत्त साहित्यपावन आनन्द कोषस्थापन और विष्णु बपरीश काश्यप जैसे कतिपय नाम दिया सकते हैं जिन्होंने पाकि एवं बीछ बर्म और बर्तन के क्षेत्र में बहुत प्रसन्नता कार्य किया है। किन्तु इतना ही पर्याप्त है यह कौन कहेगा? जिस सर्वविध और सब दिशाओं में प्रसरणशील स्फूर्तिमय आचरण के लक्षण हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन में कुछ दिनों से प्रकट हो रहे हैं उनके परिणामस्वरूप बुद्धानुस्मृति को भी तो एक अधिनत रूप आरण कर हमारे हृदय पटल पर आना ही चाहिए ताकि उन विद्वान्-मूढ की उन देश और मनुष्यों के शास्ता की नीयवती बानी हमारे सर्वविध जीवन का परिष्कार करे और हम उनके सन्देश को मूल सर्वे स्वयं अपनी ही आज की लोक-आपा में राज्य-आपा हिन्दी में उसकी गौरव-वृद्धि के लिये।

आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूतपूर्व परीक्षण का युग है। सर्वत्र मनुष्यों के विचार में एक बहुमुक्त क्षति है। परम्परागत बर्मों के बन्धन छोटे पड़ गए हैं। अज्ञानी वैज्ञानिक तत्त्ववाद के आधुनिक युग सर्वत्र ही भी निष्कण आस्थातनवारी नहीं है। धार्मिक नेताओं की कोषपटा और भोगवारी प्रवृत्ति के कारण विचारकों की उनमें मर्यादा नहीं रही। कोई नहीं जानता कि मनुष्य का बहिष्कृत क्या है। 'आधुनिक नीयमानः यथान्ता' की उपनिषद् बाजी आज लूब चरितार्थ हो रही है। सभी बर्म और आराम आज पटोला में हीकर पुनर रहे हैं। महान् हृदय-मन्दन चारों ओर विचार बड़ रहा है। कहने की आवश्यकता

महीं कि मानवतावाणी बुद्ध-वर्म के लिए यह एक अच्छा अवसर है। यह वैज्ञानिक परीक्षा पर बराबर उतरता है। यहां विश्वास की आवश्यकता नहीं। इस 'एहि पस्सिक धम्म' की ओर विश्व-मानव की इच्छा दिन-दिन बढ़ेगी इसमें शन्दे नहीं।

आधुनिक युग के अस्त्रोद्योग में रामकृष्ण परमहंस ने अपनी वैष्णवी भाषा में भयवान् बुद्ध को ईश्वर का सामान्य अवतार कहा था। 'धम्म पिबमंती' के उपासक स्वर्णीय विस्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तथापत्त के प्रति भव्यानी याचना उपस्थित करते हुए उन 'करना बन' से पृथ्वी को कर्कश धूम्र करने की प्रार्थना की थी:—

“हिता-उन्मत्त बरषि, मित्य निरुर इण्ड
 ओर कृदित अपत-पन्व ओम बरित बन्व
 गुत्तन सब धम्म-हेतु कातर सब प्राची
 करो वस्तु महाप्राण काओ अनृतवाची
 विकसित कर प्रेम-पद्य चिर मधुर निष्कम्ब
 धाम्म है मुक्त है है अनन्त पुण्य
 करवाधन बरणीतक कर कर्त्तकधूम्य ॥”
 “बानवीर करो बान रपाप कडिब बीजा
 पहन करो महा-मिनु अईकार-भिजा
 ओक-ओक दिपत-ओक लय करो मोह,
 उन्मत्त हो बान-सूर्य उदय-समारोह
 नायें प्राप सकल भुवन, पायें बुध्दि बन्व
 धाम्म है मुक्त है, है अनन्त पुण्य !
 करवाधन, बरणीतक कर कर्त्तक धूम्य ॥ १

इतना ही नहीं उन कान्तवर्धी कवि ने इस दत्त-दिलक-रक्त-कबुच-स्यमि' आधुनिक जयन् की सन्तुष्ट अवस्था और उसकी समस्याओं का समाधान और प्रतिकार तथापत्त (या उनके बम) के आभिर्भाव में ही देखा था। इन्हीं की वरात्त पर-योजना में—

‘अमनमय निखिल हृदय ताप रहन शीति
 विषय-विष-विकार-शीर्ष शीर्ष अपरितुप्त
 ऐश-वैद्य दत्त-तिलक-रक्त-कल्प-स्तनि
 निज मंगल घञ्ज लामो निज दक्षिण पानि
 निज धुम संपीत राग निज सुन्दर छन्द
 प्राप्त है । मुक्त है । हे भवन्त पुण्य ।
 कष्टनाशन परपीतल कर कर्त्तक मूम्य ॥

पर्वत-शिखर के समान उच्च आध्यात्मिक अनुभूति वाले शाक्यमुनि की तुलना किसी आधुनिक महापुरुष से नहीं की जा सकती । विश्वव्याप्त महात्मा गांधी जी उनके सामने समतल भूमि पर ही खड़े दिखाई पड़ते हैं । गांधी जी की जीवन-साधना में आरम्य बीज का प्रज्ञा भी थी परन्तु जिस प्राप्ति के लिये उन्होंने उद्घास किया वह अत्यन्त उच्च और कोक कस्यामकारी होते हुए भी अन्ततः मौलिक ही था । अध्यात्म-पिपासुओं को उसमें पुरा आश्वासन नहीं मिल सकता । परन्तु गांधी जी ने विरह में मैत्री-धर्म का प्रसार किया जो मैत्रेय ब्रह्म का काम है । भगवान् ‘अटुकवाचरिय’ ने एक जगह कहा है कि तपागत धर्मिय और ब्राह्मण इन दो कृत्ता में ही जन्म लभ्यते हैं । महात्मा गांधी जी ने भगवान् ‘अटुकवाचरिय’ की इस उक्ति की मिय्या लाबित कर दिखाया है । महात्मा गांधी तपागत के ही स्वरूप हैं । इस युग में समग्र विश्व में गांधी जी ही एक जने हुए व्यक्ति हैं एक ‘बुद्ध’ हैं ऐंसा हम कहते हैं । जो उनके मार्ग पर चलते हैं वे भारतीय धर्म की सर्वोत्तम सिध्दाओं का ही अनुसरण करते हैं । गांधी जी के नीति-तत्व भी गौतम बुद्ध के नीति तत्व से बहुत समानता है किन्तु एक बात में बिबर भी है । गांधी जी का नैतिक आदर्शवाद एक राज भी ईश्वरवाद के बिना फिक्ता नहीं दीघठा ईश्वर-विरवाद या आस्तित्व-ता सय्या नहीं की अतिवार्य घट है परन्तु तपागत इन सब दृष्टियों में परे जाने पड़े थे । धर्म का कल है मही उनके लिय आन्त्रितता थी । गांधी जी बल अधिक विरवादो स्वभाव के आदमी थे । हरिपर एन्विन के आदर्शवित्त धर्मो में गांधी जी ‘अध्यात्मिक कर्त्ता’ लामुओ व इन के आदमी हैं । और नहीं उनकी तपागत के मुख्य विधिप्रता है एसा हम कह सकत हैं । बीमे दोनों ही महात्माओं का

बाबिर्माव छोड़-कर्याव के लिए ही हुआ और दोनों ही विश्व के सब हैं एक बर्तीत के बग हुए पुरुष हैं तो दूसरे वर्तमान के । 'नमः मैनेवाव' ।

ममवान् तवामत का उपवेश बाबुनिक मम के लिए एक महान् उपवेश रहता है । बाबुनिक जगत् में हम सर्वत्र ही क्या देखते हैं ? लोग नृपा और

मोह की बाप सभी जगह तो बचक रही है ।

बड़बाव के निश्चित परिणामों बड़े-से-बड़े राजनीतियों और राज्यों के से बिहूष, धार्मिक विश्वास नियमन करने वालों के भी तो 'बहुष' जैसी किसी भी चीज के लिए बित हो रहे हैं । व्यक्तिगत जीवन की पवि-अयोग्य शान्ति की इच्छुक जता बाव कहा है ? सभी जगह तो बड़बाव किन्तु अपने व्यक्ति और के निश्चित परिणाम उपलब्ध है । ममवान् समष्टि सभी रूपों में उत्तमत्रा ने धर्मों के दुष्परिणामों के बारे में जो कुछ भी भिनन्दिनी शुष्णा की घुटी कहा था वे सब तो बाव समाज में बिबाई तरह से शिकार, मानवता के पड़ रहे हैं । क्या घोषित और क्या घोषण लिए आश्वासन और सम्देश करने वाले सभी तो बाव कराह रहे हैं । कर्म की बार क्या कम देनी है ? ऐसी हास्त में सिबाव 'मन्वी' (तुष्णा) को छोड़ने के और क्या उपाय है ? किष्ठा क्यों नहीं छोड़ी जाती फिर बाहे वह साम्राज्य की हो बाहे व्यापार की बाहे निजब की बाहे चीन के सिक्कों की ?

जैसे गृहपति । बिहू कौआ या चीख मांस के टुकड़े को लेकर पड़ पड़को बिहू भी कीए भी चीख भी पीछे पड़-उड़ कर नोर्बे-बसोटें । तो क्या मालते हो गृहपति ! क्या बिहू कीए और चीख यदि चीख ही उस मांस के टुकड़े को न छोड़ दें तो क्या उसके कारण मरण या मरणान्त कुछ को वे न पाएँगे ? पाएँगे भन्ते ! समस्त संसार में यही तो सब जगह बाव हो रहा है । सारा समाज और सब व्यक्ति इसी प्रबल में हैं कि इस मांस को न छोड़ें के टुकड़े को हम बें कि हम । तवामत के बचन सर्व नहीं

(१) पूर्व ! मन्वी (तुष्णा) की उत्पत्ति से कुछ का समुदाय कहता है । पुष्प-मुत्त (संदुत्त ३४४।६)

“अथ, नीचे तिर्यक और मध्य में सारी सबह करने की तरफ को छोड़ दो । नीक में जो संग्रह करना है उन्नी से बाहर अनुश्रुतों का बीछा करता है । संग्रह करने वालों की मृत्यु के हाथ में जैसी प्रजा तमक सारे नीक में सब भी संग्रह न करें । अहावव-आवव-पुष्पा, सुतनिपात ५

हो सकते कि यदि वे उस हड्डी के टुकड़े को उस आमिष उपादान को नहीं छोड़ते तो वे पार्श्वे मरण को या मरणान्त दुःख को। बाहरी विचारों को बनाने से क्या होता है। आर्टिस्टों और उद्योगियों के करने से क्या होता है जब तक राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति को व्यापक और व्यावहारिक रूप से यह नहीं सिखाया जाता कि संघर्ष से त्याग ही भोष्ट है। अनुपम होने से अनुपम होता ही ठीक है। कामों के प्रापण से उनका छोड़ देना ही योग्य है (जो भारतीय दर्शन का सामान्य और बौद्ध दर्शन का विशय सन्देश है) तब तक लोक के व्यापक कल्याण की आशा नहीं। समस्त की स्वापना तब तक न होगी स्वाभिन्न भोग तब तक न छोड़ेंगे। हा सन्तुष्ट। हा पीड़ित की आवाज यदि संसार से दूर करती है तो छास्ता बुद्ध ने जो मार्ग दिखाया वा उसी से यह सम्भव हो सकता है। फिर चाहे उनके नाम को हम भक्ष ही छोड़ दें जिसके लिए उन्हें भी विलम्बित भावह नहीं था। यदि धीरे धीरे मीमी की प्रतिष्ठित समाज में है पाप के प्रति संकल्पना और भय है तो इसे बौद्ध धर्म का प्रचार ही समझना चाहिये। आज का अनुपम किसी भी आत्मिक विज्ञान बीसी जीवन के लिए योग्य नहीं रहा। जनक आमात-मतिवातों के फल-स्वरूप यह इस परिणाम पर आ पाया है। अतः जिस धर्म में विमुक्ति है किन्तु दशतामों की बाधता नहीं जहाँ अनुसर नैतिक आदर्शवाद है किन्तु क्रमशः नहीं जहाँ कारमिकता है किन्तु बुद्धि का अभाव नहीं जहाँ परम वास्वाधन है किन्तु देवता की आभस्मकता नहीं वह मात्र मानवता को प्रियकर कैसे नहीं हो सकता? उसका धार्मिक स्वल्प किस समय अनुपम को पालित नहीं दे सकता। चाहे यही हा चाहे प्रवर्धित चाहे ब्राह्मण हो चाहे अल्पज चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष सभी के लिए महाधर्म के मार्ग में वास्वाधन की पर्वण्ट सामग्री है। धर्म का मुख्य बैकर उसे हम करीब सकते हैं।

बौद्ध दर्शन की बहुत सी मान्यताएँ आज विचारकों के द्वारा पुनर्जातिवित की जा रही हैं यह बौद्ध विचार की महिमा का एक प्रस्थापन है। इस प्रकार अविषम में जो चित्त-वारा का भणन है उसने जब जैसे विचारकों का मार्ग प्रवर्धन किया है और उनके विचारों की उसने पूर्णता प्रदान की है। यदि आमेस्टन के वैज्ञानिक पारिभाषिक भाग

(१) देखिए आनातिलोक पाइड ए. दि अविषम पिष्ट के प्रत्यक्षन में सेविपत ए. पेरीरा का वक्तव्य।

को छोड़ दें तो उनका सापेक्षभाव भी उन्हीं तर्कों का प्रवर्तन करता है जिसका कि बीड भाष्यमिक्त मत। इसी प्रकार दृग्-मूलक तर्क-पद्धति में 'पट्टान' के कुछ तर्कों का प्रवर्तन देखा जा सकता है। भयवान् बुद्ध की मनोवैज्ञानिक विज्ञा एवं उनकी तात्त्विक परिस्थिति को प्रकाशान्तर से क्रमशः फेंच वार्सनिक दर्शनों और प्रसिद्ध जर्मन वार्सनिक काण्ट ने मही प्रकार दिखाया है इसके निदर्शन में हम यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार भेत्तनाईतवाणी ब्रह्मे ने अपने ग्रन्थ 'ऐनिर्वरैस एण्ड रिजकटी' में बीड विज्ञानवाद के तर्कों को पुनरुज्जीवित किया है। जर्मन वार्सनिक बोपेनार पर बीड दर्शन का जो विघात प्रभाव पड़ा है वह अनिश्चित नहीं है। काण्ट के सर्वोच्च सार्वजनिक मंगलबोध और कर्तव्य रसत जैसे उच्चकोटि के विचारकों ने बीड दर्शन के प्रभूत महत्त्व को स्वीकार किया है।

अ—सदस्येयणात्मक दृष्टिपात और एक सर्वनिष्ठ संप्राप्त तत्त्व की ओर संकेत

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि का अनुवर्तन कर हमने वैदिक काल से लेकर अब तक की भारतीय विचार-परम्परा का बीड दर्शन के साथ सम्बन्ध देखा।

अनेक तत्त्वज्ञान और प्रमाण-प्रमेय व्यवहार सम्बन्धी विभिन्नताएँ हमने विभिन्न दर्शनों के विवेचन में देखीं और यदि मनुष्य अपनी निष्केयवासिमका

प्रकृति को कुछ भी प्रोत्साहित है तो इन अनेक तत्त्वज्ञान सम्बन्धी और विभिन्नताओं का कोई अन्त नहीं है। 'मासी प्रमाण-प्रमेय विषयक विभिन्न मूर्तिर्यस्य मतं न भिन्नम्' यह वाणी इसी तात्त्विकों के होते हुए भी जीवन प्रकृति की परिचायक है किन्तु सम्पूर्ण की भूमि में सब दर्शन एक सत्य इतना ही नहीं है। यदि विचारक हाथ हैं

बुद्धि के द्वारा ही सत्य पाना सम्भव होता और वही एक मात्र उपकरण उसकी अधिगति में कारणत्वस्वरूप होता तो सम्भवतः हमको निराश होने का कारण था किन्तु विचारकों के सामान्य मत है स्वानुभूति ही सत्य अन्तर्धान ही वह वस्तु है जो हमें सत्य के निजट पहुँचा सकती है। इस स्वानुभूति का पाना बिना पवित्र जीवन के सम्भव नहीं है जो सभी विचार का अन्तिम मस्तक स्थान है। कारण विद्या को यदि अपने अविभक्त करना है तो जीवन को पवित्र

बनाता ही होगा फिर चाहे दार्शनिक सिद्धान्त कोई भी हमें बखता ही बखता न बखता हो। साधना के क्षेत्र में ही समग्र दार्शनिक मतों का पड़ाव डाकने के हम पक्षपाती हैं। सभी प्राचीन ऋषियों और दर्शनकारों ने यही सिखाया है। दर्शन का अर्थ कोई प्रयोजन ही नहीं है। 'समार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः'। स एव सर्वशास्त्रज्ञः यस्य शान्तं मनः सदा। यह महामार्ग की प्राची भारतीय दर्शन के विद्यालयों के लिए मुरि-मुरि स्मरणीय है। निश्चय ही सभी भारतीय दर्शनों का सम्मेलन ही ऐसा कि हम पहले विवेचित कर चके हैं इस जीवन की 'हा सत्यम् ! हा पीडित' अवस्था के समन के लिए हुआ है। जिसने जीवन में शान्ति पाई है उसने समग्र भारतीय दर्शनों के लक्ष्य को सम्पादित कर लिया है। जो विभिन्नता विविधता-शास्त्र में वर्णित दशावस्थाओं में होती है वही विभिन्नता भारतीय दर्शन प्रशास्त्रियों में भी है। अनेक दशावस्थां होत्ये हुए भी जिस प्रकार रोम के अनुसार उनके देने का विधान होता है और इससे वैदिक शास्त्र में ही कोई परस्पर विरोधभाव अथवा असम्बद्धत्व नहीं आ जाता उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों और स्वभावों को लेकर उत्पन्न प्राचीन भिन्न भिन्न निष्ठाओं और साधनाओं से प्रभावित होते हैं और उन पर बल कर लक्ष्य को सम्पादन करते हैं। अतः आरोग्य काम तो सब की होता ही है और यही आवश्यक वस्तु भी है। किन्तु यदि ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के प्रश्नों को लेकर और जीवन से असम्बद्ध होकर हम चले तो हम कहीं नहीं पहुँचते। बुद्धि के विकल्पों का अन्त नहीं है और जगत् शान्ति नहीं है। बोध के लिये निर्विकल्प चित्त चाहिये जो सीरु के सम्पास से ही उत्पन्न होता है। सदाचार के बिना ध्यान नहीं होता और बिना ध्यान के ज्ञान नहीं है। अतः ज्ञान का आधार जीवन में है। जो प्रवृत्तियाँ धर्म के लिए हैं या जो अधर्म के लिए हैं जिनके द्वारा हम ज्ञान निर्बन्ध, उपशम अनिद्धा और निर्वाण की ओर बढ़ते हैं अथवा जिनके द्वारा हम अज्ञान प्रवृत्त अद्यान्ति अविद्या और बन्धन की ओर प्रवृत्त होते हैं उनके विषय में क्या दो दर्शनकारों का भी कोई विमर्श है ? क्या गीताकार में यही बात नहीं बही ? क्या यह दर्शनकारों ने प्रायः सभी ने साधना-मार्ग का प्रस्थापन कर इती बात को प्रस्थापित नहीं किया ? तो फिर विचार तो जीवन को छोड़ उसकी पवित्रता को छोड़ बुद्धि के विकल्पों में ही रहा जो अकिञ्चित्कर है। विष्णुति सब जगत् है वैदिक दर्शन में भी जैन दर्शन में भी और बौद्ध दर्शन में भी। आचार्य वसुबन्धु ने कहा है धामन्य निर्मल मार्ग

मक्षिका का आवास को आपने बैठा प्रयत्न होता । पूर्वपथ परम्पारियों के सामने हम सब कितने बौद्ध हैं इसकी पूरी अनुमति हम कभी कर ही नहीं सकते । अतः उन पुस्तकालयों के विचारों के परोक्षस्वरूप जो कुछ भी यहाँ कहा गया है या मान्य कहा जाया वास्तुतः केवल भाग्य-बुद्धि का सम्मान रखने के लिए ही होया हुआ-यस्य से तो कभी नहीं । फिर अपनी मर्दा का मूल्य चुकाकर ही तो इन सब पूर्व मनीषियों के प्रज्ञाओं को, जो विशेषतः वैज्ञानिक और सहज आन्तरिक अनुमति पर प्रतिष्ठित हैं हम कदाचित् समझ भी सके किन्तु उन उत्तरकासीन महाप्रज्ञ वादियों और प्रतिवादियों की परम्पराओं को लेकर हम क्या करेंगे जिनका विनाश तात्त्विक विरोध के और किसी बात में साम्य ही नहीं है । वात्स्यायन और विद्वांस्य कुमारिक और ब्रह्मकृति नागार्जुन और श्रीहर्ष जैसे मनीषियों के तर्कवादों के पाठ भी हम नहीं पढ़ सकते उनको समझना और उनकी समीक्षा करना तो दूर की बात है । फिर इन दोनों की अपेक्षा पूर्व के वादियों सहज अनुभव सम्मत महात्माओं और जीवन के छास्ताओं की और उत्तरकासीन उनके व्याख्याकार भाषाओं की आपेक्षिक महत्ता की मर्जा भी हम क्या जाँचेंगे ? क्या हम पूर्व मनीषियों के अपरोक्षानुमति पर व्यवस्थित प्रज्ञाओं पर विशेषतः अपनी बुद्धि केन्द्रित कर समन्वय-विधान की प्रतिष्ठित में प्रवृत्त होंगे या उस प्रवृत्ति से विभिन्न मार्ग का अवलम्बन कर, समन्वयवाद का निरसन कर, उत्तरकासीन तात्त्विकों की बाद-परम्परा से ही विशेषतः सत्य निकालने की चेष्टा कर, अन्त में उनके पारस्परिक विरोधी तर्कों को उनके ही एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त कर, और इस प्रकार उन सब को बराबारी कर और एक प्रकार से नागार्जुन विद्वांस्य ब्रह्मकृति और श्रीहर्ष की ही बाद-परम्परा का पुनरुन्वीक्षण कर, और इतना ही नहीं आधुनिक संदेहवादी भबवा अविवेकतावादी वैज्ञानिक विद्वान्तों का भी उसमें समावेश कर, (जैसा साधु चान्तिनाथ ने अपनी 'प्राच्य दर्शन-समीक्षा' पुस्तक में किया है) अपने मन और बुद्धि को समित करने । जबवा विशुद्ध वैज्ञानिक मार्ग का अवलम्बन कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच कर केवल वास्तुस्थिति के निर्देश मात्र से ही संतोष कर लेंगे । जो मनीषी विद्वान् न केवल वैदिक और बौद्ध दर्शनों के ही बल्कि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के एक दूसरे के साथ समन्वय-विधान का प्रयत्न करते हैं वे उनकी विभिन्नताओं को जानकर ही ऐसा करते हैं और जो विरिक्तवादीक बुद्धि वाले मनीषी उनकी विभिन्नताओं का प्रकाशन करने लगे बैठते हैं जो उनकी आचारमुक्त

समानताओं से अनभिज्ञ होते हों ऐसी भी बात नहीं है। और फिर जो मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर वैज्ञानिक अध्ययन जैसी वस्तु को उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं वे ही किसी विषय प्रकाश में रहने हों ऐसी भी बात नहीं है। कोई भी ऐसा सुनिश्चित मार्ग नहीं है जिस पर चलकर छात्रक विद्यार्थी वह सके यह मग चलत सुलभ मोहिं मारै । वस्तुस्थिति के समान होने पर भी मनु में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मनष्य की सहा ही प्रमाण है । हमने जिस दृष्टि का अवलम्बन किया है वह समन्वयात्मक ही नहीं आ सकती है। मतभारों के बीरस्तों को पारकर हमने जीवन की भूमि में उन सभी पर केवल एक ही अभिप्रेष पड़ा है और वह है 'जीवन-विमुक्ति' 'सत्य मुक्ति' । इसी की अभिव्यक्ति के लिए सभी महनीय दर्शनों का उदय हुआ है और इसी में उनका स्वाभाविक पर्यवसान भी है। अभिव्यक्ति भय से से या विविध ऐतिहासिक और तात्त्विक पृष्ठभूमियों के भेद से विभिन्न वर्णन-प्रणालियों में भव है। परन्तु साथ ही उन सब में अभिव्याप्त है। अतः वे सब समान रूप से महान् हैं। 'बिना सत्यो महान् हूँ' । यदि किसी एक विचार-धारा को किसी दूसरी विचार धारा में धोए भी जान लिया जाय तो भी उस विचार धारा को मानने के कारण किसी व्यक्ति का अर्थ को धोए मानने लग जाना तो भयंकर अनर्थ और नैतिक पतन का कारण होगा। वह तो उस अहंभाव का बड़ा कारण होगा जो मनुष्य भारतीय दमन-माधनाओं के सम्मिश्रित साध्य में हैं और व्याप्त हैं। भिक्ष के मन में जब मूल से अभिमान आ जाता है तो वह अपने लौकिक विहीन बुद्धि सिर को टूटा है अपने बापाय बप्पा और भिन्न-भाव को देखा है। अहंभाव के बिना क नित्य ही बीड़ पम की माधना की जाती है और उसकी गिरा के अनुसार उस माधना में भी धोए का अभिमान न। बिना या मरणा। बीड़ का पम हा या दर्शन मन्त्रण हा पर मनु हो है। वह वचन धर्म का एक साधन है। अतः उसमें अभिनिधता का हाना अज्ञान का कारण है। धर्मन का कारण है। मनुष्य की भिक्षा तो नहीं जिसे वह आज कम से अधिक करेगा। अतः न कोई दर्शन छात्र है और न बड़ा। छात्र बड़े की कारण ही भिक्षा है। सब मनु के उत्तम है और माधन बनने योग्यता स्वाभाव और प्रभुति के अनुसार साथ उसमें प्रहण करता है। न भिक्षा हम दे मरणा है वह महान् है। परन्तु महान् वह है जिसे वे हम नहीं दे मरणा को नम आ करीन है। नहीं स्वाभाविक मनु है परम मनु को दुर्लभ न उत्तम्य की होता पात्र जिसे नहीं दे मरणा उत्तम प्रभुति जिसे हमें प्रदान नहीं

मक्षिका का आकाश को नाप्ने जैसा प्रयत्न होया। पूर्वगत परमार्थियों के सामने हम सब कितन बने हैं इसकी पूरी अनुमति हम कभी कर ही नहीं सकते। अतः उन पुण्योत्तमों के विचारों के परीक्षणस्वरूप भी कह भी नहीं कहा गया है या भाये कहा जायगा वस्तुतः केवल मानव-बुद्धि का सम्मान रखने के लिए ही होया। हृदय-मन से तो कभी नहीं। फिर अपनी भ्रष्टा का मूल्य चुकाकर ही तो हम सब पूर्व मनीषियों के प्रज्ञानों को भी विशेषतः नैसर्गिक और सहज आन्तरिक अनुमति पर प्रतिष्ठित है हम कदाचित् समझ भी नहीं सकते किन्तु उन उत्तरकाशीन महाप्रज्ञ वादियों और प्रतिवाकियों की परम्पराओं को लेकर हम क्या करेंगे जिनका सिवाय टाकिक विरोध के और किसी बात में साम्य ही नहीं है। वात्स्यायन और चिदनाथ कुमारिक और ब्रह्मकौटिल्य नायानुम और श्रीहर्ष जैसे मनीषियों के तर्कवालों के पास भी हम नहीं फटक सकते उनको समझना और उनकी समीक्षा करना तो दूर की बात है। फिर इन दोनों की अर्थात् पूर्व के ऋषियों सहज अनुभव सम्पन्न महारथियों और जीवन के शास्ताओं की और उत्तरकाशीन उनके व्याख्याकार आचार्यों की आलोचिक महत्ता की समीक्षा भी हम क्या करेंगे? क्या हम पूर्व मनीषियों के अपरोक्षानुमति पर व्यवस्थित प्रज्ञानों पर विशेषतः अपनी दृष्टि केन्द्रित कर समन्वय-विधान की प्रतिष्ठा में प्रवृत्त होंगे या उस प्रवृत्ति के विभिन्न मार्ग का अवलम्बन कर, समन्वयवाद का निरसन कर, उत्तरकाशीन टाकिकों की वाद-परम्परा से ही विशेषतः उत्पन्न निकालने की चेष्टा कर, अतः में उनके पारस्परिक विरोधी तर्कों को उनके ही एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त कर, और इस प्रकार उन सब को बराबरी कर और एक प्रकार से नाया-बुन चिदनाथ ब्रह्मकौटिल्य और श्रीहर्ष की ही वाद-परम्परा का पुनरुज्जीवन कर, और इतना ही नहीं आधुनिक तदेहवादी अथवा अविश्रमतावादी वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी उसमें समावेश कर, (जैसा सायण शास्त्रिणाथ ने अपनी 'प्राच्य दर्शन-समीक्षा' पुस्तक में किया है) अपने मन और बुद्धि को ग्रामित करेंगे। अथवा विमुक्त वैज्ञानिक मार्ग का अवलम्बन कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच कर केवल वस्तुस्थिति के निरूपण मात्र से ही संतोष कर लेंगे। जो मनीषी विद्वान् न केवल नैतिक और बौद्ध दर्शनों के ही बल्कि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के एक दूसरे के साथ समन्वय-विधान का प्रयत्न करने हैं वे उनकी विभिन्नताओं को जानकर ही ऐसा करने हैं और जो विरलेव्यक्तिक बुद्धि वाले मनीषी उनकी विभिन्नताओं का प्रत्यक्ष करने नहीं करते वे भी उनकी आधारभूत

सके नगुप्य की बुद्धि की तो गति नहीं है। म्याम और बैसेपिग जैसे दर्शन जो अधिकांश में वृक्ष जगत् के आधार पर ही समस्या के उद्घाटन और समाधान का प्रयत्न करते हैं जगत् में अपनी अपूर्वता को पाने बिना नहीं रहते बल्कि वे भी अज्ञात और असीम के अस्तित्व की ओर ही ताकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। सभी भारतीय दर्शन जीवन की उच्चतम पवित्रता से अभिव्यक्त हैं इसीलिए हम कह सकते हैं कि हिमात्म्य की ओटियों के समान तुफान-अवस्थित हैं। किन्तु साथ ही वे सभी बीरान भी हैं। ज्ञान के वे पर्याप्त नहीं केवल मार्ग हैं। ज्ञान का मानसरोवर तो उन सबके पार हिलोरे लेता हुआ दिखाई पड़ता है जिसका दर्शन केवल स्वानुभव से ही संभव है। जिस प्रकार तपिष्ठ पीतम और बादरमण उसी प्रकार ब्रह्म और महावीर भी हमें केवल मार्ग दिखा सकते हैं जिस परम सत्य को उन्होंने पाया था उसकी धार्मिक अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। वह तो अवाच्य निरभिधाय्य और अनिर्वचनीय ही रहेगा। बल्कि सभी दर्शनों और उनके उद्घाटकों के प्रति हम यही भ्रष्टा व्यक्त कर सकते हैं कि देखो! आप में न तो कोई अल्प है और न कोई तुच्छ। आप सभी समान रूप में महान् हैं। समानान्तर रूप से दिग्गज तक फैली हुई हिमात्म्य की पवन धारियों की विभिन्नता केवल प्रकृति के लिए ही है वास्तव में वे एक दूसरी से सटी हुई एक ही जंजी के विभिन्न अभिधाय्य अंग हैं जिनकी संघाटक अनुभूति ही यह हिमात्म्य है। इस प्रकार होनी है। इसी प्रकार यह जैन दर्शन है यह बौद्ध दर्शन है यह वैदिक दर्शन है यह अश्वेदिक दर्शन है इस प्रकार के प्रयोग केवल निरक्षिप्त के लिए हैं विरलेपचारमक निरूपण की सुविधा के लिए ही हैं। परमार्थतः वे एक-दूसरे में इस प्रकार में सजे हुए हैं और एक में अनेक और अनेक में एक की गम्भीर अनुभूति पर इस प्रकार अवशिष्ट है कि मनीषी ऋषि पञ्चदशिक के पद-चिन्ह पर चलकर निजाम ‘एकमेव दर्शनम्’ कहने के और कोई पति ही हमारे पिये नहीं है। सभी को समान रूप से महान् बनने के अनिवार्य और कोई पारा ही नहीं है। ज्ञान और महान् रहने में विपत्ति का जानी है भेद बुद्धि पर कर जानी है। पर ज्ञानियों के लिये सम-विषय ब्रह्म रह ही नहीं जाता। ज्ञान की यह अवधारणा और संसाधारक सुविधा ही भारतीय दर्शन का अभिप्राय है और यही उद्घाटन चरम रूप और सगुण्य भी है।

जिनका दर्शन है ज्ञान सत्य नहीं है। यह वैदिक सत्य है यह बौद्ध सत्य है यह जैन सत्य है। सत्य एक और असाध्य है। हम पढ़ते हैं यह सत्य-वचन को

कर सकती। यह सत्य केवल अनुभव से ही मिल सकता है। यह अनुभव ही सब से बड़ा दर्शन है। सब दर्शन प्रजातिमें उसी की ओर इंगित करती हैं और उन्हीं पदों में व्यक्त नहीं कर सकती। इसलिये हम कह सकते हैं कि सत्य जब कि सब दर्शन-परम्पराओं में निहित है सब विचार-धाराओं में अभिव्यक्त है वह उन सब से अतीत भी है। वह उनमें से किसी में भी नहीं मिलता। जीवन का स्वान कोई विचार-दर्शन नहीं ले सकता। वह जीवन के लिए है अनुभव की व्याख्या के लिये है। जिस प्रकार वैदिक ज्ञान से बुद्ध की शान्ति नहीं मिली थी उसी प्रकार केवल बीज ज्ञान से शान्ति प्राप्त करने का प्रयास व्यर्थ ही होगा। स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा है 'कठोर योगाचार के बिना केवल मेरे दर्शन से ही मुक्ति नहीं मिल सकती जैसे कोई मनुष्य कोपवि-सेवन लिये बिना केवल बीज को पककर ही रोम-मुक्त नहीं हो पाता'। सत्य प्राप्ति से पूर्व प्रत्येक को बुद्ध का बीजा अभ्यास करना होगा और वह धार्मिक और धर्मों से नहीं होता फिर वे पाएँ कोई हों। गीताकार के शब्दों में सम्पूर्ण 'युत' और 'शीतल्य' से मनुष्य की निर्बल अन्तः प्राप्त करता ही पड़ेगा। दर्शन केवल उसके सहायक हो सकते हैं, अन्तर्गत नहीं। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की तुलना एक ही हिमात्म्य की गगनचम्बी ओटियों से सही प्रकार की जा सकती है। सभी विचार सभी महान् सभी तुल्य-व्यक्ति और सभी शीतल। वहाँ समुद्र की ऐसी कोई किनार सतह नहीं मिलती जिससे उनकी आपेक्षिक ऊँचाई मानी जा सके। इसीलिए कह सकते हैं कि वे सभी समान रूप से विद्या हैं समान रूप से महान् हैं। यदि उनका गवेषित विषय दृश्य वस्तु या उत्सव-व्यवस्था ज्ञान होता तो कहा जा सकता था कि अनुक्त दर्शन अथवा उक्तका अनुभाव उस व्यवस्था की पहुँचा और उस पर अनुक्त दर्शन अथवा आधुनिक ने विकास इतना किया। किन्तु यहाँ तो प्रारम्भ से ही अनिश्चित और अतिरिक्त की ही अन्तिम और 'बेह' की ही परिनिष्ठित और स्थिर सत्य की ही लक्ष्य बनाया हुआ है। फिर उसके विषय में निश्चित वैज्ञानिक भाषा की क्या प्रति जैसे? जो अनन्त को नाप सकता है निश्चित की कल्पना कर सकता है 'मानवीयता' स्वयंसे 'उत्तम' पर स्वच्छन्द और सुनिश्चित विचार उपस्थित कर सकता है वही कोई औपनिषद 'यक्ष' बीज दर्शन या अन्य किसी भारतीय दर्शन में निहित आध्यात्मिक विकास को भले ही नाप

जा चायमा हम मुमुक्षु ही जाऐये और भारतीय दर्शन हमारा मार्ग बर्लक बन जायमा। किसी भी उसके अर्थ पर हम अपना चित्त एकाग्र करें मूल वस्तु हम बहुत दूर नहीं जा सकेंगे। अन्त में अनात्म को आत्म से विलय कर उस अशय सूत्र के उत्तराधिकारी हम बनेंगे जो शास्त्र है शिव है ब्रह्म है और जिसके लिए सभी भारतीय दर्शनों का समान रूप से उपश्रम है, उद्योग है। इस दृष्टि से किसीको छोटा और किसीको बड़ा कहा जाय सब एक ही बंधी के आवश्यक अंग है जो सब मिलकर ही परिपूर्णता प्राप्त करते हैं। 'एकमेव दर्शनम्' की भावना की मूलतम अनुभूति में तो बुद्धनात्मक अभ्यसम भी एक निचड़ी कोटि की नींव रख जाती है। 'एकं हि सत्त्वं' जानने वाला जिसकी किसीके साथ पुजना करेगा? दूसरा तो ई ही नहीं। न 'वृत्तियमतिथि'। हमारे अभ्यसन की यही भूमिका है और यही उसका उपसंहार भी।

अतः अन्य दर्शनों के प्रति विरोध जबका गिरावर बुद्धि का सर्वथा परिहार करते उनके ही सहचर सहोदर और समान महत्त्व वाले बौद्ध-दर्शन के प्रति

उनके सम्बन्ध को हम बर्मिनापति सारिपुत्र के अतः 'बुद्ध-शासन मनस इन धर्मों के द्वारा ध्यस्त कर सकते हैं कि करने के लिए अत्यन्त 'बुद्ध-शासन मनस करने के लिए अत्यन्त उत्तम उत्तम है' धर्मसनापति है। इस छोटे से वाक्य में सनापत के उक्त सारिपुत्र के इन सामान्य प्रमाण ज्ञानी भिक्षु ने अपने शास्ता के मार्ग और अत्यन्त बवार शब्दों का समग्र महत्त्व और आकर्षण भर कर रख में ही समग्र बौद्ध दर्शन के दिया है। सनापत के समान शास्ता इस लोक महत्त्व का यहाँ अंकन में बुरुल है। जो पुण्य अपने को बमत करना चाहता है समय का इच्छुक है उसके लिए बुद्ध

बैसा 'सारपी' जिसका सम्भव नहीं है। लोक में शास्ता और दर्शनकार तो अनेक हैं और सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं किन्तु धान्यमुनि जैसे उपदेष्टा बुरुल है जो प्रत्यक्ष अलमन के आधार पर साविकार कह सके निर्वाक के सिधे कोई समय निश्चित नहीं है। यहाँ जाओ और शीघ्रता प्राप्त करो। सनापत के समान उदात्त और अलमन कोमल व्यक्तित्व इस विद्वाने नहीं देखा। उनकी मूर्ति के समान ही उदात्त और मानव-जन को ठँसा उठाने वाली वस्तु विश्व में यूरोप के एक महान् शायनिक (का-७ केसरिंग) को नहीं मिली तो फिर उनके सामान्य व्यक्तित्व के विषय में तो कहना ही क्या? जो उत्स के एकनिष्ठ उपासक हैं और जिनके अस्तित्व में इतनी शक्ति

उद्धृत कर चुके हैं और उसकी प्रभावशीलता के 'एकमेव ब्रह्मणम्' की भावना कारण यह निष्कर्ष कम में उसके पुनः उद्धार में किसी भी एक दर्शन का हमें लाभ है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि प्रयासी को अल्प या मह्यम् 'सत्य एक है ब्रह्म (सत्य) नहीं है'। 'एक' कहना उचित नहीं है। 'सत्त्वं न द्वयमित्येव'। बौद्ध का इससे अधिक सुन्दर निष्कर्ष अब तक नहीं किया गया है। सत्य माना नहीं है। माना सत्त्वों या दर्शनों की कल्पना मिथ्या है। जब बुद्धरा ही सत्य नहीं है तो माना कहाँ से होगा? दर्शनों के उत्तरों में बेव नही है। भेद केवल उनकी दृष्टियों में है। जिसने जिस दृष्टिकोण से और बितना सत्य देखा है उतना ही अंकित किया है परितुर्ष सत्य तो परितुर्ष मानव के जिज्ञे ही जानता अन्त है और फिर वह मनुष्य की व्यक्त करने की सक्ति के भी बाहर है। भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय बितना व्यक्त करते हैं उससे अधिक वे दिखाते भी हैं। उनका शास्त्र मीन उपदेश तो एक है। उसे मीन साधक ही सुनते हैं दूसरों के लिए नाद-विचार का मार्ग खूसा है। सब भारतीय दर्शन सम्प्रदाय साधना पर प्रवृत्त हैं सभी कुछ निवृत्ति के मार्ग को बताते हैं और क्या किसी ने भी परीक्षा करके उनमें से किसी अन्त को भी मिथ्या बताया तो फिर कृतार्थिकों की तरह केवल बुद्धि-कीचल को ही दिखाकर हम किसी को किसी से बड़ा या छोटा दिखाने का प्रयत्न क्यों करें? आचार्यों को छोड़कर हमें पूर्ण आचार्यों के पास क्यों न चारों? कहाँ क्या कोई विशेष अन्त है? सम्पन्न ज्ञान का रूप केवल बुद्धि के द्वारा कभी जानने योग्य नहीं है और न साधना करके किसी ने भी आज तक उसके लिए विचार रोपा है? ईश्वर, जीव प्रकृति और परमेश्वर सम्बन्धी सिद्धान्तों में तो सब विचार रखें ही किन्तु क्या 'अपने' विषय में भी किसी को विचार है? क्या माना बुद्धों से प्रतिक्षण उत्पन्न होने में भी कोई संदेह है? तो फिर उसका प्रतिकार हम क्यों नहीं करते? अन्तःकार में पड़े हुए हम प्रकाश को क्यों नहीं छोड़ते? नहीं तो दर्शन को देना है। माना बुद्धों को सहते हैं अध्यात्म की अग्नि में निरन्तर जलते हैं ध्येय और समष्टि की असम्पन्न समस्याएँ हमें बेरे हुए हैं, अन्तःकार हमारे चारों ओर है तो फिर नाश को अपने अन्तः क्यों नहीं देसते। क्यों नहीं अपने ही सरीर में माना विपत्तियों और बेवलाओं को निवृत्ति सहते हुए हम उनके क्षमन के मार्ग को समझने का प्रयत्न करते? हमें क्यों नहीं कभी विचार आता कि क्या इनके निरोध का भी कोई मार्ग है? जिस अन्त यह विचार

'बहुजन वेदान्त' या जन वेदान्त के रूप में हमें मूल बुद्ध-दर्शन को देखना चाहिए, यह हम पहले निरूपित कर चुके हैं। उपनिषदों की सर्वोत्तम भावनाएँ

ही जन-साधारण के कल्याण के लिए अथवा पूर्व-अस्थापित 'बहुजन वेदान्त' द्वार-भाषा में भगवान् बुद्ध के द्वारा व्यक्त के रूप में मूल बुद्ध-दर्शन की गई, किन्तु उपनिषदों के प्रमाण के और 'बौद्ध वेदान्त' के रूप में आचार पर अथवा उनका शास्त्र से लेकर उत्तरकालीन विकसित बौद्ध नहीं बल्कि अपने ही साक्षात्कार के बल द्वारा न को देखना ही भारतीय पर। तथापि की बोधि पूरे अर्थों में मौलिक दर्शन में बौद्ध दर्शन के स्थान की उपनिषदों के ऊपर का यह ज्ञान या और महत्व का सम्मिलित और उसी पर बुद्ध-धर्म आधारित है। बुद्ध सर्वोत्तम अनुभाषन है

का मन्तव्य और प्राचीन उपनिषदों का मन्तव्य

एक या पर यह बताने का काम तथापि

का नहीं यह तो आचार्यों का काम है। तथापि सिद्धान्त बनाने अथवा उच्चारण के लिए नहीं जाये वे उनका माना तो लोक में प्रकाश फैलाने के हेतु ही था। प्रस्थापित 'बहुजन-वेदान्त' या 'जन-वेदान्त' शब्द में यह ध्वनि विद्यमान है कि बुद्ध धर्म औपनिषद ज्ञान के ऊपर प्रगति के रूप में है। उपनिषदों के अन्तिम जो तत्त्व है, अभ्यात्म है बुद्ध के अन्तिम वही मीति है जीवन है। उपनिषदों के अन्तिम जो ब्रह्म का साक्षात्कार है वही बुद्ध के अन्तिम जीवन का अभ्यास बन गया है, मीठी करुणा और मुनिता और उपेक्षा के रूप में वास्तविक 'ब्रह्म विहार' बन गया है। एक ब्रह्म को जानने की बात कहता है, दूसरा उसमें विहार करने की। उपनिषदों के अभ्यात्मवाद का बुद्ध-शासन में मानवीकरण है, अतः यह ज्ञान की एक उत्कृष्टतर स्थिति मानी जा सकती है। उपनिषदों का गुरुत्व आर्येय यहाँ बहुजनों के हितार्थ सूर्य और चन्द्रमा की तरह कमका है। उसने आचार्य-मुक्ति के स्वान पर माना जाति और मोक्ष के पुरुषों के अन्तिम आधुनिकी बुद्धि के आचार पर सत्य बुद्धि का मार्ग खोला है। अतः यह पूरे अर्थों में एक उत्कृष्टतम ज्ञान है जो सब जनों के अन्तिम है। इसी अर्थ में उसे यहाँ 'जन-वेदान्त' या 'बहुजन वेदान्त' कहा गया है। उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन के विकास को हम यही प्रकार 'बौद्ध वेदान्त' पुकार सकते हैं यह हम पहले देख चुके हैं। जिस प्रकार संकर जाति वेदानी आचार्य उपनिषदों के शास्त्र पर ज्ञान के चरम निष्कर्ष स्वस्व (वेदान्त) को निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार भीत प्रमाण का आश्रय लेकर बल्कि अन्य ही उपायों से मनीषी बौद्ध आचार्यों ने अन्तिम सत्य को देखने

है कि वे जीवन की गम्भीरतम समस्याओं पर अपनी परम्परागत भावनाओं पर विजय प्राप्त करके विचार कर सकें और उसे जीवन की साधना में पड़ा सकें उनके लिए शाक्यमुनि के उपदेशों के समान मननपूर्ण और कोई चीज नहीं हो सकती। उपनिषदों का स्मरण इस सम्बन्ध में अवश्य विद्यमान है होता है और वे भी निश्चय ही बुद्ध के प्रज्ञान के समान सभी मनुष्यों के लिए सदा विचारणीय हैं। मनुष्य के रोग की जिस प्रकार बुद्ध ने ठीक तरह से समझा है उस पूर्व पुत्र ने जिस प्रकार बुद्धिमान की समस्याओं की मूल्य पकड़ी है वैसे अन्य किसी महारथी या विचारक के विषय में नहीं कहा जा सकता। वही कारण है कि आज वैज्ञानिक युग में भी जब कि बर्म और कर्न के नाम से भी मनुष्य बिड़ने लगे हैं बुद्ध और बौद्ध धर्म का आकर्षण निरन्तर बढ़ रहा है और विश्व में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के लक्षण उदय हो रहे हैं। प्रथमान् बुद्ध विश्व इतिहास के एक युग निर्माता विचारक है। और सब से बड़ी बात तो यह है कि वे मानवता के सब से बड़े 'मित्र' हैं। जिस जीवन की समस्याओं पर सोचता होगा अपना और लोक का सम्मान करना होगा वह एक बार महासमझ की ओर अवश्य देखेगा इसमें सन्देह नहीं। किन्तु अन्त में संकल्प के महान् ही उनके प्रकार तेज के सामने ठहरेंगे निर्बल और अस्यक्ति तो कोई जबिक आस्वादनकारी बातें चाहेंगे जिसकी पीठ पर सवार होकर वे सब पार कर सकें और उन्हें वे भिन्न भी लगेंगे; किन्तु जो विचार के द्वारा साधना के द्वारा अपने ही 'प्रज्ञान' के द्वारा जीवन के उद्देश्य को सम्पादित करना चाहेंगे फिर चाहे वे किसी भी राष्ट्र किसी भी जाति जनजा किसी भी देश के क्यों न हों वे बुद्ध के 'सम्मसासाध' करने। कथित आचराम्य भारतीय याज्ञवल्क्य और शंकर के प्रज्ञान भी विचारकों के लिए कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं किन्तु शाक्यमुनि का क्षेत्र इनसे कुछ जिस प्रकार का है और वह यह कि शाक्यमुनि के स्वर में उपर्युक्त मनीषियों की अपेक्षा मनुष्य की गम्भीरतम समस्या बुद्ध और उसके शिरोव की लेकर जो गहन मनन है वह अन्यत्र उस प्रमाण के साथ नहीं मिलता। पूर्वोक्त मनीषी जब उत्पन्न हुए ही जबिक ओर देखे हैं और उनके व्यक्तित्व ऐतिहासिक रूप से इनके प्रभावशाली नहीं है। तथान्त का अन्तर्बही ज्ञान भारतीय विचार-धारा के इतिहास में ही नहीं सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान के इतिहास में अतुलनीय है और इन्हींलिए वह उतना प्रभावशाली भी है। उनके दर्शनों के मनन के समान सम्भीर और आस्वादनप्रद वस्तु विश्व के विचारधारा के इतिहास में दुसरी नहीं है।

सर्वों के पित्रपेयस से त्रिनका उत्पत्ति पहले हो चुका है कुछ विशेष काम न होगा ।

अपनी जीवन-बाण के अन्तिम क्षणों में भिक्षुओं को आमन्त्रित करते हुए मगधान् ने कहा था 'हस्त भिक्षुओ । अब तुम्हें बहना है—सब संस्कार ध्वस्तमर्मा ह अप्रमाद से (तपस) सम्पाद तत्वागत की 'पश्चिमा वाचा' न करो । यह तत्वागत की अन्तिम बाणी भी ही समग्र भारतीय दर्शन और समग्र भारतीय दर्शन की अन्तिम बाणी साधना का 'पश्चिमा वाचा' भी यही है । अप्रमाद से जीवन-मरम को (अन्तिम वाणी) है सम्पादन करना ही भारतीय दर्शन का सम्मिलित मन्त्र है मानव-जीवन के लिये ।

जिन ऋषिओं ने सत्य को प्राप्त किया वे सर्वों के शत्रु उगे हमें मरने से बचते । वे केवल उनकी अधिपति का मार्ग हमें बनाने हैं । उन पर चमकर केवल स्वानन्द से ही सत्य को जान शक्य है । इसीलिए हम कहते हैं कि जब मगधान् ने अपनी अन्तिम बाणी (पश्चिमा वाचा) में कहा कि संस्कार नष्ट हो जायेंगे अप्रमाद से तपस को सम्पादन करी तो उन्होंने भारतीय दर्शन की ही अन्तिम बाणी को ध्वस्त कर दिया । यह नीक सद्वर है आराधन-हीन है अ-दरप है । इसे ज्ञान बुरक समझकर साधना करनी है । तत्वागत की पश्चिमा वाचा समग्र भारतीय दर्शन की पश्चिमा वाचा है और यह है 'हस्त' शक्ति भिक्षु । आत्मनोपनिषद्, वसपम्मा मंगारा अण्णानेन मग्गानेवादि । ये सर्व त्रिकोण हृदय-गहन पर अति है समग्र भारतीय दर्शन का अन्तिम निष्कर्ष और निष्कर्ष उसके हृदय पर अति है । भारतीय दर्शन-साधना में इनके अधिक प्रेरणादायक पाठ गये कोई नहीं है ।

अब न मरक को बन्ध की अनुश्रुतिपूर्वक देना (समा-साधना) करनी पड़ेगी कि बन्ध-साधना पर टीक प्रकाश जैसे बिना उगम उसके विषय में विद्वत्ता दिना । अतः इन सब अदराप की साधना की इमना या अदराप के गौर पर उसे उन देवादेव के साधन समा-साधना साधना पढ़ना लक्ष्य यह उसके विर सम्पादन के लिए है । सम्पूर्ण 'दास' ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करो वादि वादि ब्रह्म की दीक्षा की शुद्धीकरण की बाणी इन निष्कर्ष के विषय में विनीत मन्त्र है । अविद्याम वापु को विद्याम के रूप में लिखने का कार्य सत्य के गौर दास सत्य । अदराप के सर्वों में सती हीन

की जो परम्परा प्रचलित की है वह बली प्रकार 'बौद्ध वेदान्त' के नाम से अभिहित हो सकती है। संस्कार के निर्विरोध' और मामाजुन के 'धूम' में विरोध करने के लिए, ऐसा कि हम पहले देख चुके हैं, कुछ विरोध नहीं है। इसी प्रकार बौद्धों का जो अनुष्कोटि विनिर्मुक्त काय रूप धूमता है वही वेदान्त का निर्गुण-निर्विकार है और वेदान्त के विज्ञानजन्य आत्मा और बौद्धों की विज्ञप्तिमानता या अक्षय-अक्षय राय न होकर एक ही चरम राय है। 'मृत तथता' के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। फिर यदि विरोध हों भी तो जिस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के सभी विभिन्न व्याख्याकार आपस में विरोध रखते हैं, उसी प्रकार एक सम्प्रदाय बौद्ध आचार्यों का भी माना जा सकता है, जो एक विभिन्न मार्ग से ही सत्य के वास्तविक स्वरूप को देखने का प्रयत्न करता हुआ परमार्थ के सम्बन्ध में समान निष्कर्ष पर पहुँचता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के एक अत्यन्त प्रभावशाली दर्शन अर्थात् वेदान्त दर्शन के साथ हम बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध का अंकन और अनुमापन कर सकते हैं। बौद्ध परम्परा की ओर से महा मनीषी बौद्धाचार्य जो इस सम्बन्ध के प्रथम दृष्टा अथवा आचार्य हैं, इस विषय में हमारे लिए भूरि-भूरि स्मरणीय हैं और भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के महत्त्व के प्रकृत स्वरूप को देखने के लिये हमें उनके लिए 'साधुजन कारिका' विशेष अध्ययन और मनन की वस्तु होनी यह सब पूर्व प्रकाशित किया ही जा चुका है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा के सम्बन्धकारी दर्शनकारों में हमें योग-वातिष्ठ के रचयिता की भी स्मरण रखना होगा। जहाँ तक उत्तरकाशीन धार्मिक विकास की बात है हमने अपने अध्ययन में उन प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया है जिनका उद्भावन योगवातिष्ठ के मनीषी रचयिता और आचार्य बौद्धाचार्य ने किया है। इसी प्रकार बौद्ध धार्मिकों में हमने अस्वभाव धान्तिदेव और अनुसूय के कार्य को अधिक महत्त्व दिया है। जब कि उत्तरकाशीन बौद्ध धार्मिकों में प्रायः सब ने भारतीय विचार को अनुपम मौलिक बन दिया है हमें उनके कार्य की ही अधिक प्रशंसा करनी पड़ी है जिन्होंने बुद्ध-मन्त्रव्य को औपनिषद दर्शन के साथ मिलाते हुए देखा है। इसी दृष्टि से बर्महोति और दिङ्नाय के कार्य को जो अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रतिभा सम्पन्न वा अस्वभाव धान्तिदेव और अनुसूय के कार्य से कम महत्त्व का समझ पड़ा है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा के आचार्यों में आत्मात्मन उद्बोधकर और श्रीहर्ष को संस्कार और योगवाद की अनेका कम महत्त्व दिया गया है। यहाँ मात्र

सूक्ष्मों के पिष्टपेष से जिनका सम्बन्ध पहले हो चुका है वह विशेष काम न होगा ।

अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम क्षणों में भिक्षुओं को आमन्त्रित करते हुए तपस्वान् ने कहा था 'इत्य भिक्षुभ्यो ! नव भुम्हे नह्यहं हूँ—यत्र संसारः
 ध्वंसवर्धो ह अग्रमाह मे (सत्य) सम्प्राप्तः
 तथागत को 'परिद्धमा वाचा न करो' । यह तथागत को अन्तिम वाणी थी
 ही समय भारतीय दर्शन और नवप्र भारतीय दशन को अन्तिम वाणी
 साधना का 'परिद्धमा वाचा' भी यही ह । अग्रमाह से जीवन-मर्य को
 (अन्तिम वाणी) है सम्प्राप्त करता ही भारतीय दशन का
 समीपित सग्रेहा हैं मानव-जीवन के लिये ।

जिन अधियों ने सत्य की प्राप्ति किया वे छद्मों के द्वारा उसे हमें नहीं दे सकते ।
वे केवल उसकी अभिवृत्ति का भाग हमें बनाने हैं । उस पर चलकर केवल
स्वानन्द ही हम सत्य को प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिए हम कहते हैं कि जब
मगवान् ने अपनी अन्तिम बाणी (पञ्चिमा वाचा) में कहा कि संसार
मल्ट है तबसे अन्तर्मात्र में सत्य की सम्पादन करो, तो अन्तर्मात्र भारतीय
दर्शन की ही अन्तिम बाणी को ध्वनित कर दिया । यह लोक नरवर है
आत्मसमन्वित ही है अ-सत्य ही । इसे ज्ञान पूरक सम्पन्नकर साधना करनी है ।
सत्वात्म की पञ्चिमा वाचा समस्त भारतीय दर्शन की पञ्चिमा वाचा है और
यह है 'हम्' दाति विष्णु । आत्मसमन्वित की वचनमत्ता संसार अन्तर्मात्र
अन्तर्मात्र ही । वे सत्य दिवस के हृदय-मन्दार पर अविनष्ट है समस्त भारतीय
दर्शन का अन्तिम निष्कर्ष और निष्ठा उसी हृदय पर अविनष्ट है । भारतीय
दर्शन-साधना में इनमें अविनष्ट प्रेरणा का यह गहरा बोध है ।

अब मैं लेखक को बड़ की अनुमतिपूर्वक इगता (समा-याचना) करना चाहती हूँ। बड़-इगता पर गीत प्रकाश कर दिया उसमें "मद दिवस" में श्रुता दिगम् । करने इन सब अग्राह्य की संग्रह की दमना या अग्राह्य के मोर पर उसे उन देश-निदर के माधन समा-याचना इगता करना लक्षि या उसके विर सम्पादन के लिए ही । सम्पूर्ण पाठ्य बृद्धि कोय बाध कर बाधनि बाधि बहारा की दोषदायी मुन्नीदाम की वाली इस लेखक के दिवस में श्रुती मध्य हूँ । अविद्यमान बाधु की विद्यमान के रूप में लिखने का पाने इगता के लक्ष्य हीय गया । अग्राह्य के लक्ष्य में लक्ष्य होकर

उसने विद्या-रक्षा को कहा ? नहीं कुछ । नहीं धर्म ! नहीं संन ।
 का उसने उद्गार किया पर तथा जीवन में कभी उस मन्मोर पानि
 का अनुभव भी किया जिसे पुनःप्रेष्ठ ने साक्षात्कार किया था ? क्या उसके
 अध्ययन के पीछे जीवन की साधना-भूमि में कुछ निबन्धन है ? इन प्रश्नों को
 कोई पूछेगा तो वह इनका क्या उत्तर देगा ? क्या यह सत्य के लिए उल्टी
 बसेवा हो तो नहीं हुई ? तथागत का उपदेश बाध रखने के लिए हो
 नहीं था पुस्तकों में प्रख्यापित कर प्रतिष्ठा लाभ करने के लिए तो नहीं
 था वह तो मध्य रात्रि में उठकर बोधिसत्वीय धर्मों की भावना करने के
 लिए था सुम्मागारों में जाकर ध्यान लगाने के लिए था बुद्धी प्रज्वालों
 को बुद्ध-निबृति के लिए अनुविद्ध पर्यटन करने के लिए था यैनी साधना से
 विद्याओं को बाधित करने के लिए था । तो क्या है धम्मी केवक !
 यह सब तुने किया ? तू अच्छी तरह से जानता है कि तथागत किन चीजों
 से संकट भुङ्गल और पूरित होते हैं तो क्या सबको के इन विद्याओं
 से तेरी उपासना सम्भव हो गई ? अच्छी तरह तुने अपनी स्थिति को
 प्रकट करना होगा ताकि यह लोक तुम्हसे भोला न जा जाय और तुम्हसे
 सावधान हो जाय । अधिक-से-अधिक तुने जानी से तथागत-धर्म की सेवा
 की है जो बुद्ध-शासन में जहाँ सम्पाद ही सब कुछ है, अधिक महत्वपूर्ण
 नहीं है । इससे अधिक यदि तू कुछ मानेगा तो बुद्ध-शासन की बसेवा
 ही करेगा अपना अकस्मात् ही सम्पादित करेगा । तो फिर यह सब तो कुछ
 नहीं हुआ । क्या तथागत के अथ भावक धर्मसेनापति शारिपुत्र के
 धम्म तुम्हें स्मरण नहीं रहे गीजा या सूता कुछ भी खाते हुए, चार या
 पाँच और बालों के बाद कुछ न मिसे तो पानी पी के धारमसंघत विभु के लिए
 बस नहीं काटी है तो फिर इस लोक में जहाँ सब संस्कार विनाशधर्मी हैं
 कर्मविश लोक की तरह पुम्बवित लोक का भी जहाँ दाम अकस्मात्मापी है तुम्हें
 किस चीज की इच्छा नहीं बाकी है । जिसे तू धर्मस्वामी कहता है अपना धारता
 कहता है, वह तो कापी के बुद्धों को छोड़ पाँचकृत्तिक बन कर रहता
 था कभी-कभी विज्ञान भी न पाकर लौट जाता था । कभी-कभी पैदा
 भिनाम्र जाने की पाता था जिससे उसकी अँठकियाँ पीड़ा से जैसे बाहर
 निकल पड़ती थी । क्या तेरी इच्छाएँ उसके अनुकूल हैं ? सम्मक सम्बुद्ध ने
 नन्दी (पुत्ता) को ही तो बुद्ध-समुदय का नाशिक कारण बताया था, तो
 फिर इस महापात्रिणी को क्या तक है मुक्त साधक ! रूप विना विनाकर

पोषित करेगा कब तक इसके फल की छाया तेरे लिए समर्थ होगी ? बर्म-स्वामी मे रूप को अनित्य और दुःख कहा था । क्या रूप की आसक्ति ठीकी गल्ट हो गई ? क्या दुःख-विमक्ति तू ने प्राप्त की ? तो फिर बड़-बामन पर लिखने का यह उपक्रम क्यों ? मुझमें यह कहने का साहस नहीं कि सम्पूर्ण सम्बन्ध जैसे घास्ता की पाकर भी मेरे समीप दुष्प्रत्यक्ष सीध हो गए, मेरे सभी मल विनष्ट हो गए । मार्ग निरवयव ही मेरे लिए बहुत कम्बा है । न जाने 'प्रम नाम हूँ पाप न बारणों' की विवशता कब दूर होगी । किन्तु मेरे जैसे नरकमय जनों के लिए तो ओठ में पड़ जाना ही कुछ कम नहीं है । इसी मानसिक स्थिति में इस कम्ब की रचना भी गई है यही निवेदन है ।

मैंने मागवान् बड़ के मन्तव्य को यहाँ अपने मन्मथन का विषय बना कर जम्ब भारतीय मनीषियों के मन्तव्यों के साथ उसके सम्बन्ध का निरूपण किया है । न जाने प्रमादवश कितनी चित्तभी नकलियाँ कीं कितने मूर्ख विचार उपस्थित किए । उन सब के लिए हे उच्चावह ! क्षमा चाहता हूँ । आप ही से नहीं सभी 'प्रतिबद्धों' से । हे मातृवन्धव ! हे जगति मैत्रेय ! हे औपनिषद् मनीषियों ! तुम्हारे वचन क्या हैं, इस पीव लोक के लिए समूह स्वल्प है । यदि ये आज हमारे लिए नहीं हों तो इस जीवन में विचार करने योग्य कोई चीज ही नहीं होगी । तुम्हारे गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य हमारे जीवन के आकाशमन के अग्रतम रहस्य भी हैं । ब्रह्मज्ञान का समूह फल उपनिषदों के ही उस को निरन्तर चुमते-चुसते घूट पड़ता है । मानवीय प्रमाण इनसे अधिक बड़ अधिक नहीं सवा । एक अज्ञानी पीव जो इन्हीं के सतत मनन यत्न और निदिध्यासन से अपने वस्तुगत की इच्छा रखता है इनकी सीमाशा भी विषय प्रचार कर । किन्तु फिर भी अनेक प्रकार से सम्पूर्ण सम्बन्ध के मन्तव्य के साथ इनके मन्तव्य के सम्बन्ध को निरूपित किया गया और यह है औपनिषद् मनीषियों ! हे विमल्य बाहिन् बड़ ! एक करोड़ों के रूप में नहीं किन्तु एक साथ लक्षकों के रूप में ही । जिन समूहमय वचनों में अपन उद्धार की आशा रसता है जिनके सतत आचरण से जाने लिए यही समूह करोड़ों नाम की सम्भावना देता है उनका करोड़ों में कहा की बुद्धि साधक वर्तमान विमल्य आकाश उनका आचरण ही तो मेरे लिए परम दुःखार्थ है । किन्तु हे पूर्व जन्मिया ! जाने जान के बाद बुद्धि आने की आज के सम्बन्ध में ठीक रूप विचार को ही सर्वश्रेष्ठ अधिक बताना, और हे सम्पूर्ण सम्बन्ध ! आज भी नामों

उसने बिराज-कथा को कहा ? अहो बुद्ध ! अहो बर्म ! अहो मृग !
 का उसने उद्गार किया पर क्या जीवन में कभी उस गम्भीर शान्ति
 का अनुभव भी किया जिसे पुरुषार्थ ने साक्षात्कार किया था ? क्या उसके
 सम्पन्न के पीछे जीवन की साधना-भूमि भी कुछ विद्यमान है ? इन प्रश्नों को
 कोई पूछना तो वह इनका क्या उत्तर देगा ? क्या वह सद्धर्म के सिने उल्टी
 असेवा ही तो नहीं हुई ? तथामत का उपदेश बांध रखने के लिए तो
 नहीं था पुस्तकों में प्रस्थापित कर प्रतिष्ठा लाभ करने के लिए तो नहीं
 था वह तो मध्य शक्ति में उठकर बोधिपत्नीय धर्मों की साधना करने के
 लिए था सुखानारों में जाकर ध्यान करने के लिए था दुःखी प्रजाओं
 को बुद्ध-निवृत्ति के लिए बुराईक पर्यटन करने के लिए था मैत्री साधना से
 विद्याओं की आत्मावित करने के लिए था । तो क्या है बर्मी लेखक !
 यह सब तूने किया ? तू अच्छी तरह से जानता है कि तथामत किन चीजों
 से संस्कृत गुणवत् और पूजित होते हैं तो बना पाद्यों के इन बिजनों
 से तेरी उपासना सम्पन्न हो गई ? अच्छी तरह तुम्हें अपनी स्थिति की
 प्रकट करना होगा यदि यह लोक तुम्हें बोधा न था या या और तुम्हें से
 नावधान हो जाय । अधिक-से-अधिक तूने वाली से तथामत-धर्म की सेवा
 की है जो बुद्ध-शासन में बड़ी सम्भाव्य ही सब कुछ है अधिक महत्त्वपूर्ण
 नहीं है । इनसे अधिक यदि तू कुछ मानता तो बद्ध-शासन की असेवा
 ही करता अपना अकस्मात् ही सम्पादित करेगा । तो फिर वह सब तो कुछ
 नहीं हुआ ! क्या तथामत के अथ भावक धर्मसेनापति शारिपुत्र के
 धर्म तुम्हें स्मरण नहीं रहे 'मीला या सूबा कछ भी खाते हुए, बार या
 बार कीरान के बाद कुछ न भिरे तो पानी पी ले आत्मसंयत भिक्षु के लिए
 बस बही काफ़ी है तो फिर इन लोक में जहाँ सब संस्कार मिताजबर्मा हैं
 कर्मविन लोक की तरह पुण्यविन लोक का भी जहाँ सब अव्यवस्थाही है तुम्हें
 किस चीज की इच्छा अभी बाकी है । जिसे तू धर्मस्वामी गृहण है, अपना शास्त्र
 कहता है वह तो वाली के बुद्धों को छोड़ पानुकूलिक बन बार चला
 या बर्मी-बर्मी मिष्टान भी न पाकर लौट आता था । कभी-कभी ऐसा
 विशास करने को जाता था जिसने उसकी भेंटकिया पीड़ा से जैसे बाहर
 निरन्त बहती थी । क्या तेरी दृष्टाई उसके अनुरूप है ? नम्रक सम्बुद्ध ने
 नहीं (तुम्हें) को ही तो दुःख-ननुदय का आदि कारण बताया था, तो
 फिर इन महानागिनी को वह तक है मुग्न साधक ! बुद्ध विता विताकर

पोषित करेगा कब तक इसके फल की कामना तेरे लिए सज्ज होयी ? बर्मे-स्वामो ने रूप को अनित्य और बुद्ध कहा था । क्या रूप की आसक्ति तेरी नाट हो गई ? क्या बुद्ध विमर्शित तू ने प्राप्त की ? तो फिर बद्ध-साधन पर विचार का यह उपक्रम क्यों ? भूमि में यह कहने का साहस नहीं कि सम्यक सम्बुद्ध जैसे शास्त्रा को पाकर भी मेरे समी दुष्कृत्य सीध हो गए, मेरे समी मल विनष्ट हो गए । मार्ग निश्चय ही मेरे लिए बहुत सम्बा है । न जाने 'प्रम नाम हूँ पाप न आरपो' की विवशता कब दूर होयी । विष्णु मेरे जैसे पतनस्त वर्तों के लिए तो झोठ में पड़ जाना ही कुछ कम नहीं है । इसी मानसिक स्थिति में इस ग्रन्थ की रचना की गई है यही निवेदन है ।

मेने जनवान् बद्ध के मन्तव्य को नहीं अपने अध्ययन का विषय बना कर अन्य भारतीय मनीषियों के मन्तव्यों के साथ उसके सम्बन्ध का निरूपण किया है । न जाने प्रमादवश कितनी कितनी गलतियाँ कीं बिठवे धर्मित विचार उपस्थित किए । इन सब के लिए है तबानत ! समा चाहता हूँ । आप ही से नहीं सभी 'प्रतिबुद्धों' से । हे मातृवत्स्य ! हे भगवति मैत्रेयि ! हे औपनिषद् मनीषियों ! तुम्हारे बचन क्या हैं इन जीवन शोक के लिए अमृत स्वरूप हैं । यदि ये आज हमारे लिए नहीं होते तो इन जीवन में विचार करने योग्य कोई चीज ही नहीं होती । तुम्हारे गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य हमारे जीवन के आराधन के अग्रतम रहस्य भी हैं । ब्रह्मज्ञान का अमृत कल उपनिषदों के ही रस का निरन्तर झुलते-बसते बूट बढ़ता है । मानवीय प्रज्ञान इनसे अधिक बड़ मरक नहीं बना । एक अज्ञानी जीव जो इन्हीं के मनुष्य मनन मन्त्र और निदिध्यासन से अपने वास्तव की दृष्टा रसना है इनकी मीमांसा भी किस प्रकार करे ! विष्णु फिर भी अनेक प्रकार से सम्यक सम्बुद्ध के मन्तव्य के साथ इनके मन्तव्य के सम्बन्ध को निरूपित किया गया और वह है औपनिषद् मनीषियों । हे विमल बार्हिस् बद्ध ! एक परीक्षक के रूप में नहीं विष्णु एक साथ एकाग्र के रूप में ही । जिस अमृतमय बचना न बनने उद्धार की आशा रसता है बिनके मनुष्य आचरण से अपने लिए यही अमृत परोने जान की सम्भावना देता है इसका परीक्षण मैं बड़ा ही बड़ तावर बड़ेगा विमल आनंद उनका आचरण ही तो मेरे लिए परम पुत्रार्थ है । विष्णु हे पूर्व जन्मियों ! अपने जन जाने के बाद यदि आपने भी ज्ञान के मन्त्रों में उन्हें रूप विचार को ही सर्वश्रेष्ठ ऋषि बताया, और हे सम्बन्ध सम्बद्ध ! आपने भी वास्तव

को ऐसा ही उपदेश दिया अतः मैं समझता हूँ कि बाबा कहीं नेने कभी-कभी परीक्षक का बोका पहनकर भी यदि विचार किया है तो वह दम्भ वा अविमान के कारण नहीं बल्कि आपके मन्तव्य के अनुकूल ही किया है। फिर भी इस आत्म-प्रवृत्तता के लिये क्षमा अवश्य चाहता हूँ।

हे निर्गन्ध मनीषियो ! प्रागैतिहासिक युग से आज तक सुनिश्चित आपकी उपदेश-परम्परा को मौखिक रूप में अध्ययन करने का अवसर इस अस्पष्ट विचारों को नहीं मिला अतः हे निश्चित ज्ञानवर्धियो ! यदि आपके मन्तव्य के प्रस्थापन में और कुछ-मन्तव्य के साथ उसके सम्बन्ध की विज्ञान में कहीं कोई अशुद्धियाँ हुई हों जिनकी कि बहुत सम्भावना है तो मैं आपसे भी क्षमा का प्रार्थी हूँ। आपने जिस गहनता के साथ मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार किया है उसके लिए मनुष्यता सदा आपकी ऋणी रहेगी। स्वतन्त्र विचार के इतिहास में बीड़ दर्शन के साथ आपका भी एक अत्यन्त उच्च स्थान है, अतः स्वतन्त्र नेता पुरवों के द्वारा आप भी सदा नमस्कार के पात्र हैं, इसमें संदेह नहीं। उन सभी निर्गन्ध अहंताओं को नमस्कार ! उन अनुत्तर दर्शी ज्ञानवर्धनपर वैज्ञानिक मयमान् अहंता मातृपुत्र को अत्यन्त नमस्कार !

हे मनीषी चार्वाको ! तुम्हारा भी भूख्ता मिथ्यत्वता का चिन्ह नहीं होगा अतः तुम भी मेरे द्वारा स्मरणीय अवश्य हो। फिर तुम्हारे साम्राज्य का डिंडोरा तो जगत् भर में पिट रखा है अतः मेरे द्वारा स्तुत लिये जाने की तुम्हें अपेक्षा नहीं है। तुम्हारे प्रति सहानुभूति की बाणी आजकल विद्वानों में बहुत कुछ सुनी जाती है। मेरे भी तुम्हें आजकल सहानुभूति बिछाई है, किन्तु यदि तुम्हारे मन्तव्य को स्पष्ट रूप से विज्ञान में कोई बकरी रह गई हो तो है 'पुरस्कार' दर्शन के उपदेश करने वाली। आपसे भी यही प्रार्थना है कि आप मुझे क्षमा करें और यह जान कर संतोष करें कि मुँह से बाहे जो कुछ निकला रहूँ मैं हृदय और मन से तो आपका ही सच्चा पर्यवसक हूँ आपका ही श्रित बाध हूँ और आपसे ही नित्य नवीन-नवीन प्रीति है। आपकी पंक्ति में से उठाकर यदि मैंने शास्त्रपुत्रीय धर्मों की वास्तविक जीपनिपर परम्परा में ही बिठकाने का प्रयत्न किया है तो हे बेवडियो ! आप इससे मुझ से दृष्ट न हो पायें। वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय परम्परा में आपको भी मैं एक स्वान का भागी समझता हूँ किन्तु हे अज्ञातियों ! हेतु पर आभित बर्ष का उपदेश करने वाले प्रतीत्य अनुवाद के उपदेशों समान पीतम को तो अपनी संज्ञा में बिठकाने का कभी प्रयत्न न करो इसी ही प्रार्थना कर मैं आपसे विराम लेता हूँ।

हे पद्मार्दनकाये ! हे बसपाद ! हे कमभुक् ! हे सिद्ध कपिल ! हे भयबन् पतञ्जलि ! हे बर्मोपदेष्टा जैमिनि ! हे बादरायण महर्षि ! आपके प्रज्ञानों को सन्तके सामग्र्य में समझना किसी मनुष्य के एक जीवन का काम नहीं है । आप सभी ने जिस गहनता से आन्तरिक और बाह्य सृष्टि के रहस्यों को छाना है, वह मनुष्य की बुद्धि से परे है । फिर भी कुछ की आत्यन्तिक निवृत्ति पर ही आपके सब ज्ञान की प्रतिष्ठा है । अतः वह मानवीय बुद्धि के द्वारा वचनमय भी है । इसी बुद्धि को लेकर बिरोधता मेने आपके मन्तव्यों का कुछ तुलनात्मक अध्ययन समान प्रवृत्ति वाले बुद्ध-मन्तव्य के साथ किया है और इसमें जहाँ भी में पहुँचा हूँ वह गलत भी हो सकता है और सही भी किन्तु यह निश्चित सा सीखता है कि जहाँ तक मानवीय जीवन में आप सब के मन्तव्यों के प्रयोगात्मक स्वरूप से सम्बन्ध है वहाँ आप एक दूसरे से विभिन्न नहीं हैं । आप सब के ऐतिहासिक पूर्वापर-सम्बन्ध की गवेषणा को मैं अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता हूँ । आप भी आपके तार्किक पक्ष पर ही मैं बिरोधता अपनी बुद्धि को निबद्ध करता हूँ और इस प्रकार आप सभी समान रूप से ही पूजनीय और महान् हों, ऐसी भ्रष्टा मेरे हृदय में जागी है । फिर आप सब के व्याख्याकार भी जिनमें से अनेक स्वयं बड़े विचारक और सिद्ध पुरुष हैं बहुत बान्-विवाद और विभिन्नताएँ उत्पन्न करके भी एक दूसरे से बहुत दूर नहीं गए हैं, ऐसा भी कहा ही जा सकता है । हे संकर ! हे बर्मकीर्ति ! हे 'यण्डन सङ्घ' के मनीषी रचयिता ! हे 'मूल माध्यमिक कारिका' के मनीषी विचारक ! आप सभी के उत्कट तर्कों तक मेरी गति नहीं ? हे दिव्याण ! हे वात्स्यायन ! हे वाचस्पति मिश्र ! हे भूतवपता के उपदेष्टा अकपीय ! हे विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि करने वाले मर्त्य ! हे काश्मीर वैभाषिक-नीति सिद्ध' कोश का पान करने वाले मनीषी समूह ! आपके तुलनात्मक विचारों का मैं क्या अध्ययन प्रस्तुत कर सकता हूँ जिसने कि ज्ञान-संसार के बहते दरवाजे तक भी प्रवेश नहीं किया है । यह मेरी बुद्धि ही है । मेरी अक्षिति और प्रमाद-वर्णा ही है कि मैंने आपके प्रज्ञानों को विवेचित करने का प्रयत्न किया है । आप इस बालक की क्षमाओं पर विचार मत करो । मत-मस्तक हाकर मैं आप सब की अत्यन्त भ्रष्टा से प्रभावित हूँ । आप सभी के आचारानुसारे के लिए तो संसार आराम नहीं है ही है । मनीषी आचार्यों और ब्राह्मणों ! आपकी आचरण सम्प्रदाय और उद्ये करने शक्य ज्ञानों की प्रतिष्ठा प्रस्थापित करने के लिए ही मेरी तो विभिन्न प्रणामाभ्यर्थित बिरोधता आरम्भ करती मैं जाती हूँ । जिस आरम्भ करे । अथर्व सङ्कर !

जापकी ओर तो दुबारा भी मेरी स्मृति गए बिना सकती नहीं। हे जगद्गुरु ! आप अपने व्यापार्यत्व के कारण नहीं बल्कि साधना-सम्पत्ति के कारण ही भारतीय हृदय के सिद्ध इतने गहरा और गहरा के विषय बने हैं। फिर आपकी ज्ञान की ध्वजा भी विश्व में जसी प्रकार विस्तारित है और जो आपकी प्रज्ञा की सीमा को नहीं न प सकते थे जो महापूर्वक आपके लिए अममस्तक होते हैं। फिर बीड़ दर्शन के साथ आपके दर्शन के सम्बन्ध के विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी अनेक विचित्रिस्तारें हुई हैं यदि मैंने कोई ध्यात्मक दृष्टिकोण रखा हो तो आपसे भी मैं क्षमा का प्रार्थी हूँ। 'सुहृत्सेन' के मनीषी रचयिता से भी उनके शार्ङ्गिक ज्ञान की इस जगत् में तुलना नहीं है मैं प्रकाशन्तर से इन्हीं धर्मों को पुष्टता हूँ ताकि वे मुझे क्षमा करें। नहीं कह सकता कि मैं 'ब्रह्म' 'निर्वृण' 'निर्विद्येय' अथवा 'अनिर्वचनीय' तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों को कहाँ तक समझ सका हूँ इसके लिए पर उपदेष्टा मनीषियों के प्रति अपनी ध्यातियों के लिए क्षमा मागना करने के अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकता हूँ। मैं इस बात पर और दिया है कि छंदर से सात सौ-आठ सौ वर्ष पूर्व 'प्रजापारमिताओं' ने धूम्रता को लक्षता या बड़ता कहा था जो सब वस्तुओं की प्रतिष्ठित है। अतः धूम्र न अप्रतिष्ठ है और न अभावावसान। जगत् सत्य में स्थित है यह धूम्रता बेशानियों के समान बीड़ों की भी है। अतः मैंने धूम्र को ब्रह्म से मिखाया है। महा मनीषी आचार्य गौडपाद को मैं इस प्रसंग में सबसे भूख सकता हूँ। बल्कि यों कहना चाहिए कि जिस दृष्टि को मैंने इन पृष्ठों में उपस्थित किया है वह सब इन्हीं मनीषी प्रथम वेदान्तार्थ की प्रेरणा का फल है। तबप भारतीय शार्ङ्गिक साहित्य में यदि किसी भी विचारक ने सभी तथ्य के लिए अनूतपूर्व धर्मों में बीड़ और वेदान्त दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रवृत्ति किया है तो वे 'अजातिवाद' के उपदेष्टा गौडपादार्थ ही हैं। छंदर के द्वारा धृष्ट, नृम्यामिन्तुय मनीषी आचार्य ! मुझे आपका बड़ा आश्चर्य है। आपके ही द्वारा निर्दिष्ट 'अविवाद और अविच्छेद' तत्त्व को मैंने अनेक प्रकार से यहाँ दिखाने का प्रयत्न किया है और मेरा विश्वास है कि आपनियत ज्ञान की बीड़ दृष्टिकोण से अध्ययन करने का अथवा बीड़ दर्शन को आपनियत ज्ञान के प्रकाश में रखने का जो मार्ग आपने हमें दिखाया है वह आज भी वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर तथ्य की अनुरता करते हुए बहुत कुछ विस्तारित किया जा सकता है। हे मनीषी आचार्य ! मेरे लिए यह प्रत्यक्ष विद्वत्त महत्त्वपूर्ण नहीं

कि आप बीड़ से या नहीं । जो बात मुझे बचती है वह यह है कि किसी भी प्रकार आप बुद्ध और उपनिषदों के मन्त्रियों में एकता देखने के पक्षपाती से और इसीलिए हे महान् वेदान्ताचार्य ! आपके लिए सहस्रसं अभिवादन !

वेदान्त दर्शन के वैष्णव आचार्यों ! आपको मूलना भी तो बहुतजाना होगी । आपके ही प्रज्ञानों के फलस्वरूप तो भाण्डार्यापी वह आन्दोलन बना जिसकी देन हमें तुच्छी कबीर, तुकाराम बालेस्वर और चैतन्य जैसे महापुरुषों के रूप में मिली जिनके आस्थागत मरे बचन हमारे लिए सदा प्रेरणा का काम करेंगे । जिन आधुनिक विचारकों ने उदात्त की बाणी या कर्म से सेवा की है, वे भी सभी नमस्कार के योग्य हैं । तान्त्रिकों को भी तो विस्मय करना नहीं होगा जिन्होंने बीड़ बम के सप्त विधाख मूढ़ प्रासाद में बुझ कर उस सुबुद्ध भवन को जिसे वाचस्पति कुमारिक और ज्योतिषकर के तर्कों भी न मिला उनके से क्षणमात्र में विध्वंसित कर दिया । सम्भव है है तान्त्रिकों ! यह तुम्हारा उचित मूल्यांकन हो और ऐसा कहना तुम्हारी एक निष्ठा ही मानी जाए और सम्भव है उपयुक्त रूप से व्याख्यात होने पर तुम्हारा भी जीवन और विचार के सिद्धे एक विशेष महत्त्व हो जैसा कि बनेक पारश्वात्य और पीरस्त्य विद्वान् आपके लिये देना चाहेंगे तो हे मनीषयो ! मैं भी उसे स्वीकार करता हूँ किन्तु आपके विचारों की अभिव्यक्ति तो मुझे बचती नहीं और आपके प्रतीक भी आपमन्त्र है जो सम्बन्ध में सन्धान अथवा नैतिक आदर्शवाद के प्रति अधिक प्रगति बुद्धि रखने के कारण भी हो सकते हैं ।

आज मैं तो फिर तपायत पर ही आता हूँ। जैसे उड़ि जहाज की पंछी पुनि जहाज पे आई । हे तपायत ! हे सम्पक सम्बुद्ध ! हे कल्याणमय महर्षि ! उत्तम विपक ! आपके किन-किन गुणों का मैं स्मरण कर । हे अनन्त है । हे समन्तवस्तु ! आपने हम जीव-लोक को बड़ दिया जो आज तक किसी ने नहीं दिया । आपने शान्ति के मार्ग को प्रकाशित किया और अपने बचनानुसारे जपन् को तात किया । हे बुद्ध ! हे बीर ! हे सर्वोत्तम प्राणी ! तुम्हें नमस्कार ! हम जीवन की पकड़ी को धूर करने वाले हे महाप्रज्ञ वास्ता ! आपने पूरा ज्ञान प्राप्त कर अनुकम्पापूर्वक प्राणियों के लिये उसे प्रकाशित किया है । अविद्या करी पड़े ग आप मुक्त हैं निर्मल रूप से संसार में मुजोर्जित हैं । हे अमर प्यानी ! आपका चित्त सम्यक्चित्त है आरता प्यान कभी रिक्त नहीं नहीं होता । आप सब प्राणियों के प्रति नमान है । बाब राग-विहीन आन बनों व दिवस में चरमान् है । हे मोक्षरहित है

संश्रयवित् ! हे सार्वबाह ! उज्ज्वल ज्ञान ! पर्वत के बिछार पर बड़े आप बुद्ध-नेत्रों से छोड़ प्रसन्न कोक का मनमोहन करते हैं। हे ब्रह्ममूठ ! हे वर्ममूठ ! आप कृतकृत्य और वासना-रहित हैं।

आप उस धर्म-शक्त का प्रवर्तनकर्त्ता हैं जिसे आपने ब्रह्मचर्य भी कहा है। हे महान् ! समस्त के दुःख को नाश करने के लिये आपका जन्म हुआ था आपने जन्मा शाप कोष को बीता था। निन्दा से आपके चित्त में कभी क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ और आपको देखकर इस कोक को शान्ति की शान्ति विदित हुई।

छोटे हुए जीव-लोक को आपने जयाया और स्वयं शान्ति प्राप्त कर आपने उन लोगों को शान्ति दी जो भुक्क थे। जो बद्ध थे उनको आपने मुक्त किया।

हे बभ्रुम्भान् ! आप बुद्ध हैं आप शास्ता हैं आप मार-विजयी मुनि हैं।

उपाधियाँ आपकी हट गई हैं। जन्मन आपके विधीर्न हो गए हैं। सिंह-समल मन की धीवन्ता से रहित आप उपादान रहित हैं। विस्व के सावक हाथ बौद्ध बड़े हैं।

हे वीर ! पाद प्रसारित करो निष्पाप प्राणी शास्ता की कन्दला करें।

नमो तस्स भगवतो अरहत्तो सम्मासम्बुद्धस्स ।

नमो तस्स भगवतो अरहत्तो सम्मासम्बुद्धस्स ।

नमो तस्स भगवतो अरहत्तो सम्मासम्बुद्धस्स ।

नम परम ज्ञपिम्मं नम परम ज्ञपिम्मं ।

इति धम्ममस्तु ।

अमुकबा १५६, २११ २३ २५४
 २५५, ३१४ ३१७, ३३२,—
 साहित्य और उस्ता बार्धमिक
 मूल्य ३३५; ५४९
 अमुकनापर-सुत ३२३
 अमुकानिनी ३३५
 अतर्कविहार (अतर्कान्वयो) ४८८,
 ५९, ५२१ ५७९, ७८९
 अतर्किकमनागुपीयो ८३ ८८, २२५
 ३७२
 अतर्कित-सुत ११६, ४५८, ४८२
 'अतर्कित विहार अतर्कित' ४५८
 अतर्कितपादान ३९९
 अता (आत्मा) १९ ४१५, ४२१
 ४३७, ४३८, ४४ ४८२, ५१७
 देखिये 'आत्मा' भी ।
 'अताग परोक्षव्यास' ४५९
 अतिवार ८९
 'अतिमात्र' १६, १४७, १४८,
 ३८२, ४९१ ५१९
 अतिवक्तव्य २४४
 अवर्ग (अवर्गवे ४) २ २२, २३,
 २४ २५, ३३ ४५, ४८, ५६,
 ५७, ५९, ७१ ७३ ७९, ११६,
 ११९, १३४ ७३४ ७५९, ७६५,
 ८३ १ ७५
 'अवृष्ट' ८७१
 अष्टपरा ५६१
 'अष्टपदय संघ' ५६
 अष्टत प्रकरण ९३४ ९६५
 अष्टतवार १ ८ ११७ ५६१ ६१४

७२१ ७२२, ७६०-७७२, ८१७,
 ९८८ १ ४६
 'अविमर्' १ ६, ३७९
 अविचित-विहार (बोधितत्व-भूमि)
 ३२
 अविपति (पञ्चम) ३३१
 अविषय समुप्यास (अवीर्य समुप्यास)
 २४ ५४१ ५४४ ८२६ १ ०९
 अविमोक्ष ४६६
 अविधिना (बोधितत्व-भूमि) ३२
 ३५५
 'अविच्छाल' ३१८
 'अव्यस्त' आत्मा ४३८
 'अव्यवसाय' ८८२, ८८९
 अव्यसन (ज्ञान) — का अविचारो
 कीन ? ३४-९७,—की आराधना
 (वारण की) ११२; १९ ९६
 १५५,—और विज्ञान १४१ १४३
 —रति १४३
 अव्यवस्थ रामायण ९४९
 अव्यास ६, ५ ४४३ ७२
 १ ३८१ ३९, १ ४१
 अव्यवस्था ३ १
 अन्तराय ८४३
 अन्तराष्ट्रक ५३३
 अन्ता (अन्तात्मा) ४ ११ ३५, ४९,
 ३९, १९ ३८ ४१४ ४१५,
 ४२२, ४२३, ४३ ५१५, ५४३,
 ६८४ ७ ७ १ ७७० ७७१,
 ८ ८ ८९८, ९९८ १ ९३
 अमनुवेग्यो ५२

अनपत्राप्त ६३३	अनास्थासन्निक (अष्टाध्याय) १९२
अनपत्राप्त-संयुक्त ३२८, ३९३	५४१ ७४८, ८३८
अनपत्र (नाथ) १ ५७	अनात्मन (वर्म) ६४१ ६४२,
अनपत्ररेम ५६	१ ४३
अनपत्र-समान (चित्त) ४६६	'अनिष्ठा वत्त संसार' ५२९ ७ १
अनाप्त भयानि ३१५	अनिष्ठासन्निक ५१५
अनापारिक्त बी यीनिष्ठ ४ १	अनीस्वरवाह ४१२, ५३६, ८४६
४०३, ४३९, ४६३ ५३२	८९१-८९५
अनापारिक्त-कृत २७८, ३४९	अनुचीता ८७९
अनापामी ५१९, ६२ ६३२	अनुत्पाद्य (निर्वाण) ४८, १ १
अनात्मवाह ४ ११ ११ १११	अनुत्तर धर्म (अष्ट) ६३२
१९ २ ४ २१६, २४४ ३२१,	अनुत्तरा तन्मयक सम्बोधि ६, ६ ५,
३२६, ३३४ ३४१ ३४३ ३४६	६४८
३८ ३९६, ४ ५, ४१ ४६	अनुत्तरो मिसन्नको (बुद्धो) ३८३
४६४ ४८२, ५ ९, ५१३	८४४ ८७५, ९ ४
५१४ ५१५, ५१६, ५८ ५८१	अनुपद-व्याप्त ३२५
६ ३ ६८३ ६८४ ७ २, ७२	अनुपावाणा (धम्मा) ५ २
अनिर आत्मीयत्व विज्ञान ७६-	अनुपादिना (धम्मा) ५१५
७७२ ७७३, ७८४ ८ ३	अनुपाविशेष निर्वाण ११८, ५१७
८ ७, ८ ८, ८१९, ८२२, ८२६,	अनुमिष्टक (अनुपासि) साक्षिण्य—
८४१ ८७ ८७४ ८७५, ८८८,	२११ ३ ४ ३३१ ३३२ ३३६,
९ ६ ९ ९, ९२९, ९७४ ९८७	३८७
१ ४९	अनुमान (प्रमाण) ७ ४ ७ ६,
अनात्मासन्निकतिवाही ३२९, ६३८	८५५, ८६ ८६२, ८८१ ८८२,
अनात्मासन्निक ३७७, २७९, २८३	९ ८, ९२६, ९२५, ९३८, ९९१
३२६ ४२ ५४७, ५६७ ५८	अनुमान-व्यङ्ग्यो २ १ २५१ ३३३
अनात्मासन्निकीवाह-मुत्तन्त ३२६,	अनुमान-मुत्त ३२१
४२ ५८१	अनुशासपुर ८४
अनात्मासन्निकनिमित्त विहार (बोधि	अनुवृत्त (त्वचिर) २७९, ३३२,
ताव मुनि) ३२	३२३
अनात्म ५६८, ५६९	अनुवृत्त-मुत्त ३२६

अनुच्छेद-संग्रह ३२९
अनुलोम (पञ्चम) ३३२—अनुल
३९१ ३९२—पञ्चमिय अनुल
३३२, ३९१

अनुव्यञ्जनप्रज्ञी ४२२
अनुवृत्ति ३५
अनुसय (सत्त) ४२६, ३३२, ३४१
अनुभासाग पर्व २६
अनुसय ७४७
अनुसय-वक्त्र ३३१
अनुपिमा (नियम) ३६२
अनेकास्तबाह १ ७, ८६१ ८४७,
८४९

अनेसाकि (मत्ताह) ३
अनीम १९९
अनीमवर्दी (बुद्ध) २८२, १ २
अनीमा (नवी) २६२
अनवय-सुतन्त ३२
अनन्तर (मत्पय) ३३१ ३९४
अर्धमह ८५६
'अवयव' ४८७ ५१५, ५२७
अवयव-सुत २२९, ३३३
अवयव ३१५, ३१६ ३२९
अपर मिथेयस ९८, ८७२ ९२३
अपरसीम (बीड सम्प्रदाय) ५५३
५५५, ५५६

अपरा विद्या १ २, ४३—वा भारत
वे निरादर मदी विद्या ४४-५४;
वेद विद्या ४४ ५१; ७५८,
८२७

अपरास्तकल्पिक (बुद्धिवा) २४८
३४०-३४२, ३४१ ५२४ ५७०
अपरामुख ५१५
अपरिपाप ५१५
'अपमूर्धाविकार' ९४ ९४२
'अ-प्रवृत्ति' ८८५
अप्रतिभवातिरीच ३४१ ३४२-
३४३, १ ७, १ ७, १ १९
'अप्रवृत्ति' ५२५, ५२७
'अपूर्व' १२५, ९३ ९३३
'अपूर्वता' ६५
अप्यमज्ज निर्मल ३३
'अपियरोन्त एष्य रिवाली' (वेदवे)
१ ८४

अक्षयानिस्तान ५७ ५७२, ५७२
५९७
अक्षयुत यम् ३१७
अक्षय (स्वविर) ३६
अक्षयमाता (मिथुनी) ३४७
अक्षयराजकुमार-सुत ३२३ ८३६
८३९
अक्षयत ३५
अक्षयत-वीराय ९२
अक्षय २१ ८८२, ९ ९७३
१ १९, १ ४२
'अक्षय' न विकल्पयेत् ५३२, ६९४
७

अक्षिमा ४८१
अक्षिमा (अक्षिमा) १९, ४३५
१४ ७५३ १
१ गह (७
१ १

संज्ञा) ३३६, ४६१ ४६२,
४६४ ४६५, ४६६, ४६७ ४७
४७१, ४८२

अभिधम्मत्तवहीयिका ३ ३

अभिधर्मकोश ६, ९२, १३३ ५५

५५१ ५५९, ५८५, ६३ ६३५-

६३७ ६३८, ६३९, ६४ ६४१

६४३ ६४५, ६६१ ९८१ ९९४

१ ११ १ १६, १ ६७, १०८६

अभिधर्मपातुकाय पाठ शास्त्र ६३१

अभिधर्मपापापानुसार ६३७

अभिधर्मप्रकरणपाठ शास्त्र ६३१

अभिधर्मप्रवृत्तिपाठ शास्त्र ६३१

अभिधर्मविभाषा शास्त्र ६३६

अभिधर्मविज्ञानक्रमपाठ शास्त्र ६३१

अभिधर्मसमग्रवहीयिका ६३७

अभिधर्मस्कन्धपाठ शास्त्र ६३१

अभिधर्मसंप्रतिपत्तिपर्यायपाठ शास्त्र
६३१

अभिधर्मज्ञानप्रस्थान शास्त्र ६३
६३६

अभिधम्म पिटक १३९, २९९, ३१५,

३१७, ३३०-३३२, ३३५, ३८९

३९५, ४६२, ४६५, ४६८, ४७१

५५२ ५५४ —की लक्ष्यतिबाही

अभिधर्म पिटकले तुलना ६३१ ६३३

'अभिधम्म किर्त्तिसौ' (बी भाग,

मिन्नु जगदीश कार्याय) ४६२

'अभिनिवेश' ९ ६, ९ ७ ८

अभिनुप्री (बीबिलिय-जूमि) ६२

अभिधत्ता धम्मा (निजुली) ३ ८

अभिधम्म-संपुत्त ३२७

'अभिधम्मयात्सकार' ६४९

'अभिधम्मयात्सकार-टीका' ६४९

अभिधर्मा (जम्) ९ ७

अभिज्ञान (जम्) ६३२

अभिज्ञान अभिज्ञान ७२

'अभ्युदय' ४४ १२२

अभ्युपगमपाठ ८९४

अभूत (अभूत) ४ ६२, १२६, ४५६

५ २ ५ ७ ५ ८ ५ ९ ५१

५११ ५१३ ५१५ ५१६ ५२२,

५३७ ५४३ ७६४ ७७ ९७४

९७५

अमनसिकरणीय (धर्म) ४४

अमरकोश ७१९, ८३५

अमरावती (स्तूप अभिलेख) ५५६

अमराविलेखपाठ २३८, २३९

'अमानुषी रति' ४८९

अमित (बुद्ध) ५७२

अमिताभ ५९८, ५९९, ६

'अनुचित-स्मृति' ३४

अम्बहु सुत १४ २२ २३६, ३१८,

३७० ५२५

अम्बपाली २८, २८४

अम्बरीष ५

अम्बकट्टिया (पन) २८४

अम्बकट्टिक-राहुलोबाह-सुतान्त २१७

३२३ ३४

'अनोत्तम' (निध्यान) ५ ६

अपोप्या ६३६ ६५९, ६६

अपोप्या काण्ड १८८, ३५३ ५६८

अभिधत्तौ (बोधितक-भूमि) ३२
 अङ्गु ३९, २३ ४११ ३८४
 ७८९, ७९ ७९१ ८१९, ९४५
 अर्धशिरःकारित्व ७ ३-७ ४,—तौ
 अर्धशिरः की सिद्धि ७ ४-७ ३
 अर्धशिरः ३५, १४ ९२
 अर्धतर्पण ११९, १३१
 अर्धपति (अर्धमात्र) ८८२, १३३
 अर्धसारथ (कीटिलीय) १९
 अर्धभायसी ३ १
 अर्धवैशाख १७८, १८१
 अरविन्ध (घोषी) १४९, १७५
 अर्धवा (तपावि) ११२
 अरब शिरः-सुतम् ३२३ ३३२
 अरुड—हेलिये 'मात्सर कात्मा' ।
 अरिप परिपत्तन-सुतम् १३ २१८,
 ३२१ ३३५, ४९२ ५७९ ८३४
 अरिपत्तनानि ३१५
 अरिष्टनेत्रि ८३१ ८३२
 अ-रूप-राज १११
 अरुणवर्ण (ध्यान) ४२ ४६८,
 ४७
 अर्ली हिन्दी और इंडिया (रिज) २२ १५३ ३३२
 अर्तु (बीजान्वय) ४ २१ ९८
 २१२ ३७८, ३ ८ ३११ ३४९
 ३७१ ४३५, ४८७ ५१९,—के
 लक्षण ३ ३ ८—आदर्श और
 बोधिलय आदर्श से उत्पत्ती मुद्रा
 ३ ४ ६१८, ६२,—आ आदर्श

हीन तर्ही ३४५-३४९; ८,
 ८३४ ८५
 अर्थात्-पम-सुतम् १२, १११ २९
 ३२१ ४२ ४२३ ४३८, ४४
 ४४९, ४५५, ५२ ५४९, ६०७,
 ७३९
 अर्धवेकरी ५७२
 अलवार्ध-आम-बर्धन १९
 अल्लकण २८८
 अकाशक ६८१
 अकाशधामि प्रकरण १६३-१७१
 ९८३
 अर्धतक सुत सम्प्रदाय ३३१
 अर्धवर्धन-साहित्य ३३७, ३३४
 अर्धवर्धन-सातक ३३७ ३३७
 अर्धयुत-यत८३
 अर्धवर्धन वृत्तिवापन ५४८
 अर्धवर्धन ३ १ ५३९
 अर्धवर्धन-वर्धन (बोधितक) ३ ९
 ५३४ ५९८, ६३४ ६३७, ६३८
 ६३९
 अर्धवर्धन (निर्धन वरिष्ठावर्धन)
 ८३३
 अर्धवर्धन (निर्धन) ४८ १ १
 अर्धवर्धन (प्रत्यय) ३३३
 अर्धवर्धन—वर्धनवा संतारा ३८७,
 ३९३,—अर्धवर्धन शेष अर्धवर्धन
 विराट-निरीका संतारा-निरीका
 ३८८
 अर्धवर्धन (अर्धवर्धन) १ ९, प्रेक्ष
 विषया १२ १७ १८ ८२ ११

११८, १८५, १८६, १८८ १८९,	अज्ञातस्तथा २३८-२३९, ४११
१९ १९२—१९५, ४	४४९, ७०२, ७७ १४
५२७ ६ ७ १७५, १८९, ७५	अशुचि भावना ८४३
७६२ ९८९, ९९७ ९९८ —	असुप्त भावना १४७ ४९१ ४९३
अविद्याविविध ३ ४ १९३	८४३
१ ४१ १ ४२, —सांख्य की	अशोक धर्म (रत्न) १३२
मूल प्रकृति से मिल १९२-१९४	अष्ट साहसिका प्रसा पारमिता ३३९,
८७५, ८८ ८८७-८८८, ९ ६,	३३ ५५५, ५८४ ६२३ ६२४
९ ७ १११ १७५, १९६, १ १	६२८, ६५८, ६८८
१ २ १ ३६	अजीक (मियदर्जी राजा) ९,—आ
अविचार-भूमि (निर्वाण) ५	तेरुवां क्षितालेख १ ; २२, ७२,
१७४	९१ १२ १४५, १९७, १९९,
‘अप्यन्ता’ ७७७, ७७८, ८८१ ८८७	१ ८, २११ २५१ २५७, ३ ०
अप्याहृत (वस्तुपूर्व) १५२, २ ५	३ १ ३१३ ३१४ ३१५, ३१६,
३२३ ३३ ३८६ ३९५, ४४	५१४ ५५२, ५५४ ५६७ ५६८,
रत्न ४४७, बीरह ४४८।	५६९, ६४६, ७४८, ८४ १ ७८
४६१ ४६२, ४६४ ४६५, ४७१	‘अशोकवृक्ष’ ६२७
५१५, ५४ ७३६, ७६ ८९	अजीवन (चित्त) ४६६
९ ५, ९७५	अष्टादश निक्षय १५२, २ ८, २१
अप्याहृत-संयुत ३२९	५५०-५५२
अश्वघोष ३६, १४३ १७ २ ९,	‘अष्टादश निक्षय शास्त्र’ ५५१
३५ ३५९, ३६ ३६८, ४१२,	अष्टादश साहसिका प्रसा पारमिता
५१७ ५५४ ५५५, ५५७, ५५९,	६२३
५८२, ५८३ ६ ६२७ ६३८,	अस्ति (अस्ति) ४ १७८, १९
६५७-६६८, ६७१ ६७२, ६७३	१९१ ३३२, ३९८, ५१ ५१४
६७५, ६७६ ६७७ ६८५, ७ ९,	५३७,—धर्म (धम्म) ५ ७ ५१५;
७११ ९८८, १ १ १ ४५,	७०२, ८१८, ९५४ ९७७ ९७८
१ ४८, १ ६९, १ ९६,	अत्यर्ग घोष ८७ २ ३ ७७९, ८०८,
१ ९७ ११ १	९६६, ९७१ ९७४ ९७५, ९८
अश्वत्थि (अस्तत्रि) ६४४ ७९९	अनन्तार्थवाह ८६७, ८६८, ९६७
अश्वमेध ३३७	अस्तव्यानिवार ८६

अस्तिबन्धक पुन ८३६
 असीरिया ५ ५७७, ७२४
 असुजा-अनुजा (बेदना) ४२६
 'असुराणाम् उपनिषद् ११ ४३३
 अस्तानायक-सुलता २३६, ३२४
 ३६८, ९४१, १०५८
 अस्तंजतं (अस्तंजुत) ४५३ ४५६
 ४६४ ५ २, ५ ८ ५ ९ ५१
 ५१९, ५१३ ५१५, ५१६, ५२२,
 ५३७ ६३२, ६४१ ९९२, १ ११
 अस्तंजत-संपुत ३२९
 अस्तंजितेन संपुतं विष्णुपुतं ३३१
 अस्तंगहिनः अस्तंगहितं ३३१
 अस्तंगहिनः संहितं ३३१
 अस्तंजुता पातु ४ ४ ९ ४३७, ५ ७,
 ५१५, ७०२
 अस्तंजकार्यं (निर्याज) ४८ १०१
 अस्तंग (महापात्री आचार्य) ३१४
 ४१२ ५५७ ५५९ ५६२ ५८३
 ६२४ ६२९ ६३६, ६४९-६५
 ६५८, ६६१ ६७ ६७२, ६७५
 ७११ ७११ ८६३ ८६४ ८७३
 ९८८, १ ४४ १ ४५ ११ १
 अस्तंजमान समाधि ९१
 अस्या ९२७
 अहो (अहीरिज) ४६९ ५१८
 अहो ५१५
 अहो ४६४ ४७१—विज ४६८,
 —चिया विज ४६८
 अहो ४७१ (नन) ३८३
 अहो ४७१ (निष्पान) ५३३

अहोमं (पर्वत) ५४८
 अहो मत्पय आत्मा ४३८
 'अहो एतत् न' ११
 'अहोकार' ८८८, ८८९
 अहोपाद (गीतम) १ ५, ६५९
 ७२२, ८५२, ८७२, ११ १
 अहोत्तरायम ६३३
 अहोत्तरा (अहोत्तरा) २२ ७३७
 अहोत्तर (अहोत्तरा निकाय) ४ ८
 २१ २९, २ २ २१८, २४८
 २६८, २७८, २७९, २८ २८१
 ३ ५, ३१५, ३१६, ३१७, ३२९
 ३३८, ३४ ३४४ ३५४ ३५५
 ३६ ३६५, ३६९, ३७१ ३७३
 ३९३ ४३४ ४३५, ४५५, ४६२
 ४६३ ४९३ ४९७ ५ २ ५२४
 ५२५, ५३ ५३३ ५४६ ६ ८
 ६३३ ६४ ७ १ ७ ३ ७३७,
 ७३८, ७४५, ७४७ ७५ ७५३
 ७७९, ८३९, ९१ १ ६१ १ ९७,
 १०७४—की अनुकृता ९७६, ८३६
 अहोत्तरा २८, ३७७ ४८ ७१७
 अहोत्तरा-सुत २८, ३३४ ४८
 ७१७
 अहोत्तरा (अहोत्तरा) २५
 ५५४ ५५६
 अहोत्तरा १५९, ७३७, ७८७
 अहो
 'अहोत्तरा-सुत अहोत्तरा-सुत
 अहो' (अहोत्तरा) १८९, ९१७

‘आन्तः साङ्गल भॉनं महुम्यात बुद्धिभम
(श्री श्री सुसुकी) ५६२

‘आकाश’ ६४१, ६४२, ६४३—के
सम्बन्ध में सर्वास्तिवादी बीर
बुद्धि का संकर के द्वारा प्रत्या
ख्यात १ १११ १४ —और
अथ सत्प्राप्ता ७७६; १ ६
१ ११ १ २

आकाशार्णसूत्र ६२८

आकाशानन्त्यायतन (ध्यान) ५ २
५ ८ ७७९

आकिञ्चन्यायतन (ध्यान) २६३
५ २ ५ ८ ७७९

आर्कभेद-सूत ३२

आपम १८४ ३७९, ७२६, ९ १
१ २७

‘आपम प्रकरण’ ९५९ ९६१

आपम-शास्त्र ९३७

‘आवाय-मुष्टि’ २८५, २९ ४४९,
५४४ ५७९, ५९७ १ ९५

आजीवक २२८, २७२, ३ ७, ५४६
८४

आत्मानादि-सूत २५२, ३२ ५६३

आत्मक्याप्ति ६७८, ८६

‘आत्मतत्त्व विवेक’ ७ ६

आत्मरीप (अतरीपो) ९६, ११६
२८५, ३६६, ४५६, ७९६

आत्म-ग्राह ५१३ ९ ७ ९७४

आत्म बुद्धि ५१३

आत्म-यज्ञ ७४९

आत्मवाद ४१२, ४३०-४३६, ४३६

४३७ ४५६, ५१३, ५२८, ६५२,
६८४ ७८४ ७८७ ८६३ ९३१
—उपादान ४४१ ४४४ ५१३
७२ ८४८ ८४९ ८६९, ८७५,
९ ७

आत्ममात्रमात्रता ११

आत्ममात्रादि परित्याग ६ २

आत्म-विषय १ ९ २६७ ८२

आत्म-विद्या १ १ ७२५, ७८५
१ ८४

आत्म-सारण ९६, २८५, ३६६, ७९६

आत्मा १ ११ २५, ४८, ४९,
५४ ५९, ६२ ८ ८६, १ ५

११ १३२, १३७, २२३ २३८,
२३९, २४ २४६, २४७, २४३

३१८, ४१३ ४१५, ४१९, ४२८,
४३ ४३३ ४३८, ४३९, ४५६

४५७, ४५९, ४७६, ४८१ ५१६,
६७ ६७६, ६७७ ६८४ ६९८,

७५४ ७५६, —श्री एकता का

विज्ञान उपनिषदों का ४३७-४३८,
७६०-७७२,—ध्याय का आत्मा

८६९-८७ —अनुष्णान् आत्मा

९५९-९६१; ७९६, ७९८ ८ ३
८ ५, ८१२, ८१६, ८१८ ८२३

८२६ ८५ ८५५, ८५९, ८६६
८७ ८९३ ८९८, ९ ६, ९ ८

९३२, ९५८, ९६३ ९६४ ९७५,
९९६, १ १२ १ ४३ १ ४५

आत्मविनिर्वा ५१३ ७८३ ८७५,
९ ७-९ ८

आत्मैक्यविज्ञान १३, २५, २६
१ ८११७

आशितवर्तिमान-सुत ४ ५ ५२९

आशित्य ((वेदा)) २४

आदि वर्ष ६, १४

आशित्य (वेदा) ५५६

आधुनिक भारतीय विचार १७४

१७५—गीत गीत दर्शन १ ७७

१ ८४

आत्म (बुद्ध-विषय) २५७, २७९

२८ २८४ २८७, २८८

२९७ ३ ९ ३ ९ ३ ८ ३ ९

३१ ३२३, ३२५, ३३७, ३४

३४४ ३७७, ३७७, ३९७, ३९७,

४ ४१९, ४३९, ५१७, ५२

५४८, ५७९, ५९५, ६४७, १ ६६

आत्म्य कीतव्यापन (यवता) २९७

२९७, ४७८, १ ५५, १ ७१

आत्म्यकीर्ति १३७, १३७, १ २२

आत्म्यकीर्ति-सुत ३२६

‘आत्म्यकीर्ति’ ८६

आत्म्यापन वरि २९७, ३४९, ३४२,

३५२, १११

आत्म्यापनवर्ति-सुत ३२५, ३४९,

१११

आत्म्यापन-सुत ३२९

आधुनिक ३ १८३ ७२७,

७४८, ८८

आत्म्यवर्ति-सुत ३२५, ८७७

आत्म्य (वेदा) ५५७, ५६७, ५७

५८८

‘आत्म्यकीर्ति’ १९, १ १ १९८

आपस्तम्ब (वेदि, वर्मसूत्रकार)

७९

आपस्तम्ब (आपस्तम्ब वर्मसूत्र) २-

५ ५५ ७८

‘आपस्तम्बकी’ ८७७

आपस्तम्ब (प्रमाण) ८८१, ८८२,

८८३

आपस्तम्ब ((वेदा)) ४४, ३२४,

३३७,—यमक ३३१,—विमल

३३; ९७४

आपस्तम्ब—७०३ ७०४ १ ८१

आपस्तम्ब (प्रमाण) ५४

आपस्तम्बकी-सुत (अरिषो अरिषो

विषी मणो) २५१ २७७, २७७,

२८५, २९४ ३ ८ ३३७, ३३७,

३३८, ३४३ ३५८, ३६२-३६७,

३७२, ३७३ ३८९, ४ ९, ४ ९-

४१९, ४९ ४९९, ५२९, ५२९,

५५९, ५८१ ६ ७ ६३९, ८४९,

९१

आपस्तम्बकी-सुत ३३९, ३३९

आपस्तम्ब ३ ५५७, ५५९ ५५७,

५५९ ५५७

आपस्तम्ब (अरिषो अरिषो) १९४-

२ ४ २१८, २९७, ७९४ ७८८,

८ ७, ९८७, १ १

आपस्तम्बकी-सुत ३९८

आपस्तम्ब (बुद्ध-वर्ति) ३३७, ५२३

आपस्तम्ब (अरिषो विमल) २८

१९४ २ ४ २१८, २३३ ७२४ ८ ७	आत्मबन्धार (स्तोत्र) १ ४६ १ ४७
आय-विमुक्ति ४९२	आकार काजान (मराठ) २१८
आर्य-वंश २१७	२१९, २२५, २६ २६१ २६२
आर्य-वीर्य ४९२	२६३, २७१ ५४४ ७५९—आ
आय-आन-वसन ४८८	वर्षान ८७३-८७७
'आर्यों का आदि वेस' (सम्पूर्णान्त)	आवृत्ति (माया) ५२४
५४	आवाह-बिबाह (वयन) १४ ६७
आर्यगुरु ६२७	'आसय' १९५
आर्य सत्य (आर-वृत्तारि अरिय सन्धानि) २५ २६८ २७३-	आत्म (आत्मन) ८२, १ ३ २६९
२७४ २७५, २९१ २९५, ३१९,	३२ ३६१ ३६९, ३९२ ४२८
३२६, ३४३ ३४९, ३८ ३९३	४८८ ४९४ ५ ५, ५ ६, ५३८,
३९४ ४१३ ४२१ ४२५, ४२६	६ ७ ८४४ ८४६ ८५९
५३६, ५६ ५८ ५८१ ६२३	आत्म (आत्मन) ५९ ८३६
६३२, ६३३ ६४८, ७१८, ७३४	१ ५३
८४ ८८ ३ ९४ ९ ६	आसेनन पञ्चय ३३१
१ ६७	आस्तिक (वर्ग) १ ४ १ ५
आर्य ८३३	१२३, १२४ १२६—मीर
आर्यती वृष्टि १ ३ ८४४ ८५	आस्तिक दान १७७-१९५
आर्योत्तम (सर एडविन) ८ ९	५४१ ७२ ७२२ ७२६ ७२९
आर्यपत्र ७३१ ७४६, ७४९	८ २, ८२२, ८४६, ८८५ ९३
आर्यमय (पञ्चय) ३३१	९७९, १ २७
आर्ययि २२७ ७१९, ७५९	आहार पञ्चय ३३१
आत्मन परीक्षा ६५१ ६६९—	आह्वय ६३३
'वृत्ति' ६५१	आहुतय ६१६
'आत्मन प्रत्यय ध्यान शास्त्र व्याख्या'	आश्रय (वृत्ति) ५६
६५१	आश्रय (जीवनलात, आ) १४३
आत्म विज्ञान २१ ६७ ६७१	१४४ १४७
६७२ ६७५, ९३२ ९९५, १ २४	आश्रयी ८
आत्म-मुक्त ३५६, ५३३	इ
बी ७१	इ-बिह (बीनी यात्री) २ २, ५५९,
	५६९ ५७१ ६५६, ६६ ६६३

इन्द्रोदकस्तन दू नम्यरेष्टिय किन्नोत्तरी
मौन इन्द्रो आर्यन सैम्बेजेज (अह-
पीरवार) ५४

इतिमुक्तक ४ २८, ११६, २८९, ३१५,
३१६, ३१७ ३२९, ३४१ ३५७
३८१ ४११ ४४१ ४७६, ५ ९
५८५ ६ ८ ९ ११६

इतिहात (—गुराण पंचम खे)
५९—की नीतिकवाली व्याख्या
३३

इजील ६

इन्द्र २, ५, १७, ७९—विज्ञातु ९५
१६१ १६३ १७३ २२, ३१९
३५७, ७३ ७३२ ७३३, ७४५,
७५४ ७५५, ७५९, ७८५, ९२७
१ ६३

इन्द्रजातोपस्थान ९५२

इन्द्रिय (पाँच) २३१ २५१ २८५,
३३६ ३३७, ३३८, ३४२ ३५४
३६ ४ ७ ३३९, ३४१ ३४२,
—आप्लान ४९३ ३४३,—

पञ्चम ३३१ ; ८५५, ८५८,
ग्याह ८८५, ८८८, ९३९

इन्द्रिय भाषणा-सुत ३२६, ४२७,
४७७

इन्द्रिय-वमक ३३१

इन्द्रिय-विर्वाप ३३

इन्द्रिय-संयुत ३२९

इन्द्रियार्थ संविकर्ष ८५८-८६

इन्वीनेसिवा ५६९

इर्ब प्रत्यक्ता ३७५

इन्द्रोदकस्तन दू अर्हत किन्नोत्तरी
(कोटिलेस्वर शास्त्री) ११७,
१ ४

इन्द्रियन आइन्द्रियनिगम' (रात
मुत्त) ९४३

इन्द्रियन पेन्द्रिय (परली भागन)
५८

इन्द्रियन किन्नोत्तरी' (रावाडुम्बानु)

४२, ५ ५५, ६ ७५, ८१
८४ १ १ १ ९, १११ ११४
१५२, १६ १६९, १८७ २१६,
३१७ ३३४ ३९५, ४ १ ५४१,
३३८, ३४७, ३५४ ३५८ ७३
७४६, ७५५, ७५८, ८३५, ८४८
८६२, ८६३ ८६६, ८७९, ८९४
९ १ ९ २ ९२२, ९२५, ९२८,
९३६, ९५७ ९७८, ९८३

इन्द्रियन लोचिक' (सतीशचन्द्र
विद्याभूषण) १७

इन्द्रियन विक्रम' (मोनियर विलि-
कम्स) ५५

इन्द्रिया यू वि एषेज (पनुवाव
सरकार) ५७६, १ ५१ १ ५३
१ ५४

इन्द्रियाव विर्वाप ३३

इन्द्रियाव-संयुत ३२९

इज्जत ३४६

इम्हात ५७

इन्सिप्ट (सर चार्ल्स) १ ७९

इन्सिप्ट स्निच ५३

इति (अर्बि) २१६

इस्सर (ईश्वर) १९७
 इतिमिलि-सुत ३२५, ८३६
 इतिपत्तन ४१३
 इतिवासी (मिथुनी) ४०३
 इस्लाम १९४ ५७२
 इस्वाक ५, ३ ९४९

ई

ईराक ५७२
 ईरान ५३ ५७२, ५७६, ५९७
 ईश (ईशावास्योपनिषद्) १५,
 २५, ८३, १ १६८, २३१
 ५८९, ७६५, ७८१ ७८२ ७८६,
 ७९३

ईश०—शांकर-भाष्य (ईशावास्यो-
 पनिषद् पर शांकर भाष्य) ४४
 ८३ ७९६, ७९४

ईश्वर ४८—के साध्यस्य म विभिन्न
 वार्तनित मत १२४ १२७; १८
 १८१ १९१ १९७, ३७३ ३८३
 ४१२, ४७४ —कर्मवाद ४८१
 ५३ ५३७ ५३८, ५४ ५८४
 ५८९, ५९७, ८४६, ८६६, ८९१
 ८९२—निर्वाण ३८३ ५३९,
 १ १६,—प्रतिपाद १२५, १३०
 ८८६, ९११ ९१२, ९१७—वाद
 ४१२, ४७४ ५२८, ५३६,
 ५३८, ५४६, ६५२, ७३९,
 ७४५, ७६३ ७९८, ८१ ८११
 ८१७, ८१८ ८१९, ८२

८३२, ८४६, ८५३ ८६३ ८६७,
 ८७१ ८७६, ८९२, ८९३ ८९४
 ९१६, ९२४ ९२५, ९३ ९६
 ९६६, १ २२, १ ६ १ ६१
 १ ८ १ ९२

‘ईश्वर’ (मयनमोहन मातलीन) २७

ईश्वरकृष्ण १७१, ३३६, ८७९

ईशान (ईशान) २२ ५८८, ७५४

ईसा (मसीह) ८९, ९१ ९९, २१८

२३१ ३१५, ४५९, ६१२, ७ ६

७२९, ९ २, ९५७

ईसाई धर्म १५६, ५७३,—जीर महा-
 मान बीड धर्म ५७५, ५७७, ६१२

उ

उत्कावेत्त-सुत ३४६, ५३३

उत्सव ५६

उत्तम १९, १ १

‘उपशत परिपुष्ठा’ ६२८

उपश्रवण २४१ ३८ ४३६

४४१, ४४९, ५२१ ५२५, ५२६

५४४ ८२२, ८२५, ९६८, ९७६

९७४

उग्रमित्री (उग्रसेनी, उग्रसेन)

३ १ ५६६, ५७

उड़ीसा ६५१

उत्तम (मिथु) १ ७९

‘उत्तम निबन्ध’ (बुद्ध) ४ ८

‘उत्तर’ (उत्तरकाशीन) बीड धर्म

५४७-७१३

उत्तर (स्वधिर) ५६७, ५६८

उत्तर कुल ६
 उत्तर गीता १५७
 उत्तर-मनुष्य-वर्म १९, ४८८
 उत्तर मीमांसा १ ४ १ ५ १३
 १६७ १६९, १८ वेत्तिये 'वेदमत्' ।
 'उत्तर रामचरित' ८, ७३, ८३ ९८
 उत्तरा (मिथुनी) ८
 उत्तरा मन्त्रमाता (मिथुनी) २८
 उत्तरापथक (बीड सम्प्रदाय) ५५३,
 ५५४
 'उत्तरी बीड वर्म' २१३ २१४
 'उत्तरी भारत की सप्त परम्परा'
 (परमुराम बतुबेरी) १ ६
 उत्पत्तवर्ण २७९
 उत्पन्न (आचार्य) १७१ ७ ६,
 ८५३ ८६७ ८७३ १ २२
 उषान ४ १ ९, २७ २९१ ३१५,
 ३१६, ३१७ ३२९, ३४७ ३७१
 ३७६, ३८१ ३८५, ३८७ ३९
 ४८८, ४८९, ४९५, ५ ९, ५ ३
 ५ ९, ६३४ ७४२, ७७२
 उषार्ण ५१५
 उषान-मनुष्य २९१
 उषान-मुत्त ४२७ ४९६
 उषापी ५६ ६७३
 उषीष्य ५६
 उषुम्बरिचमौलाना-मुत्त ३१९, ३६८
 ८३६
 उद्गम (उद्गत उद्गमक) २७
 उद्गीच १ १

उद्गीत राममुत्त (उद्गीत राममुत्त)
 २६ २६१ २६३, २७१ ७५९
 उद्गीहृत्त (प्रमाण) ८६
 उद्गीहृत्त १५६, २२७ २४९, ७५२
 उद्गीत-विर्नय-मुत्त ३२६
 उद्गीतकर १७१ ६५१, ८५३, ८५६
 ८५९, ८६१, ८७२, ९५७ १ १६
 ११ ३
 उद्गीत-वर्ण १६, २६
 उद्गीमापातनिक-सञ्ज्योवाव २४१
 उद्गीमापातनिक-सञ्ज्योवाव २४१
 उद्गी (माधीवक) ९४ ९७२, ४२८
 ८३४
 उद्गीमोष (प्रदेश) ७१९, ७५९
 'उद्गीमोषसंहारी' ३५
 उद्गीमोष-मुत्त ३२६
 उद्गीमुत्त ५६९, ५७
 उद्गीचार समाधि ९१२
 उद्गीतिष्ठ ८७७ वेत्तिये 'सारिपुत्र' ।
 'उद्गीतिष्ठपत्तिने' ३१५
 'उद्गीमोषात्मना' १४
 'उद्गीमोषात्मनी' ९६
 उद्गीमय ८६
 उद्गीमिताय (वज्रवय) ३३१, ३९४
 उद्गीमिद् २ ८ ११ १६, २ २५,
 ३५, ३८, ४९ ६६, ७४ ८२,
 ८६ ८८, ९९ १ १ ४ ११२
 ११३ ११४ ११५, ११६,
 ११७, ११८ ११९, १४ १४३
 १६४ १७७ १८४ २१ २२४
 ७१२, ७१५, ७१९, ७२ ७३५

७३४ ७४२, ७४९, ७५ ७५६,
 ७८१ ७८९, ७९ ७९४ ८४२,
 ८५९, ८७८, ८९३ ९ २, ९२९,
 ९३५, ९३६ ९३७ ९४
 ९५३ ९५९, ९७३ ९७६, ९८
 ९८७ ९८८, ९८९ १ २४
 १ ४९, १ ६ १ ९९, ११ ३
 उपनिषद्-वर्णन १६८,—के बार
 पाग १६८,—मीर बुद्ध-रसात
 ११५-७२४ ७५ ७८८
 उपमान (प्रमाण) ८५५, ८८२, ९२३
 उपपत्ति भव ३९९, ४ १
 'उपपत्ति' ६५
 उपवर्ण ९२२ ९३१ ९३४ ९३६
 उपगम—मोस का लक्षण ५ १३
 उपसमानुस्तति ३९९
 उपतोष (मात्र) ४५७ ४७८
 उपतीव्रभावक बुद्धि ५ ३ १ १४
 उपादा (धम्मा) ४७२
 उपाराग ६२, ४ १ ४ ३ ६९८,—
 रसक (वाच) ३७३ २९२,
 ३४९, ३८९, ३९९, ४
 ५ —वचनका मही ३८८,
 ३९९,—निरोपा मन्निरोपी
 ३८८ १ ४१ १ ८३ ११ ४
 उपगह-संयुत ३९८
 उपानि ६८, २३५, २७५, २९५,
 ३१ ३२३ ८३६, ८४
 उपानि बहिर्दृष्टा ६ ८
 उपनि-जल २३५ २३६, ३२३
 ३६५ ५२५ ८३५, ८४ ७

उपाय-कीर्तन ५६९, ५७८, ५८१
 ५८२, ५८३, ६१९, ६२९, ६५५,
 ८५२

उपाय कीर्तन-सूत्र ८६१
 उपासना (माय) ११७ ८१२
 उपासनाति (आचार्य) १२१
 उपेक्षा (भावना) २९६, ३६१
 ५ ४ ९१ १ ९५
 उरबेल कस्तप (उरबिल काष्मप)
 २२२, २७६, ७१६, ७४३, ८ २
 उरबेला (उरबिल) १७ ४,
 २ २, २१६, २५८, २५९, २६४,
 २७२, ७१५, ७४३ ९ ८

'उवातागवतामो' २२८

उग्रना ५६

उग्रोर (वर्षत) ५६६

श्रु

श्रुमेव (श्रु) १ २, ८, ९, १४
 १५, १७ २ २१ ३३, २३
 ३४ ४ ४४ ४८, ५४ ५९
 ६३, ६६ ७३ ७४ ७८, ८६
 ९३ ९५, ९८, ११६, ११७ ११९
 १२२, १२९, १५८, १५९
 १६१ १६२, १६३ २ २१६,
 २२ २२२ ५८८, ७१९, ७२८
 ७२९—वा हानि मीर बोद्ध
 हानि के ताव गम्माय ७३०-
 ७३८ ७३९, ७५ ७५८,
 ७६ ८३ ८३१ ८४ ८७८,
 १ ९० १ ४

अन्त १६, ७३ १६४ २४४, ५४

७३९—स्पर्शा ११

अतन्मरा (प्रसा) १३७

‘अतन्मरा’ (सुनीति कुमार

बन्धुर्वा) १४६, १४७

अदि भासिहार्त्त ३१९, ११९

अदिपाव (कार) २३१ २५१

२८५, ३३६, ३३७ ३३८, ३५४

अपमवेव १५३, ८३१

अधि—की परिभाषा ९८; २१३

अधिकतम मुचडाव (इतिपत्तन निब-

धाय) २५८ २६६, २७२, २९१,

७९५

अधिवासी (इतिवासी निबन्धी)

६१३

ए

एकमात्र १७३

एक निपात ३२९

‘एकमेव इत्येवम्’ १७५, ८ ८,

१ ९१ १ ९२ १ ९३

‘ए’ किटीकल लब्धी और वि लक्ष्य

निरुद्ध’ (लीवनी) ८८१

एकम्याकहारिक (बीज सम्प्रदाय)

५५ ५५१

एकम्यवाव (उपनिषदों का) ७३

७७२; ८७

एकादशक निपात ३९९

‘एकान्तिक’ (वर्णित) ८१३

एतदाय धाम ८ २७९

‘एन’ धातु लब्ध और वि रिनीयक

लिखरेवर और इतिवा’ (फार्क-

हार) ९४३

एनी बीसेष्ट (भीमती) ५८३

एपीरत ५६१

‘ए’ बुद्धिस्त मेनुजक और लक्ष्मी-

लीबीकल ‘एवित्त’ (बन्धु

सगति का भीमती रायक डेविड्स

—कृत मंगेबी अनुवाद) ४६३

‘एम्बेकनीज इतिवा (बन्धु) ५७२

एहिपत्तिनी (बन्धु) ९८ ९ ९-

५१८

‘ए’ हिस्टोरीकल लब्धी और वि हर्म

हीनयान एव नहायान’ (रपुकन

किमूरा) ५८२

एववरन १ ७८

‘ऐतिपन्व इतिवा’ (नैककिडल)

५८९

‘एन्साइक्लोपेडिया और रिक्किज

एव एवित्त’—द्विचये ‘हिंस्तिग

एन्साइक्लोपेडिया और रिक्किज

एव एवित्त’ ।

ऐ

ऐतरेय (ऐतरेयीपनिषद्) १

१६८, २२४ ७६३

ऐतरेय आरण्यक ७५६, ७८५

ऐतरेय ब्राह्मण ८३ ७२४ ७३९,

७४९, ७५

ऐतिह्य (बन्धु) ८८२ ९२३

ऐप्सिडेटस (ग्रीक महात्मा) ८६
 'ऐस्वीकृत्स् ओब महापान बुद्धिम् एच
 इदत् रिसेप्न टू हीनयान' (नलि-
 नास वत) ५५६, ५५७, ५५८,
 ५७ ५८२, ५८५, ६१४
 ६२३, ९७६

'ऐसेड इन चीन बुद्धिम् (डी हो
 लुबुकी-पर्ड सीरीड) १ ७६
 ऐगिस्त ३३

ओ

ओक्कन्तिक-संयुत ३२८
 ओक्काट (इक्काट) ३ ऐकिये
 'इक्काट' ।

ओम्मा (गीरीर्नकर हीराचम्ब) ४७
 ओपम्मह-भापम्ह ४ ३३३
 ओपम्म बग २२, २८, ३२१
 ओपम्म संयुत ३२८
 'ओम् नमो बुद्धाय' ५६९
 'ओम् मणि पद्मे हु' ६१८
 ओम्हनबर्ग (एच) ३ १ १ ७८
 ओम्बेड स्टेपहन ३३, ३४

औ

औडाय-कौट्य ३४९, ४६६, ५१८
 ९११
 'औन आन् बुमाइत ट्रेविस्त इन
 इण्डिया' (पामम बाडर्न-सिगित
 —डा रायत डविडत और बुडाल
 द्वारा सम्पादित) २८६, ५७३
 ६३५, ६५३ ६५४ ६५७ ६६१
 ६६३

और्यबाम ५६
 औपगिभि ५६
 औपनयिक (औपनयिकी) २ २
 २९
 ओमी (नवी) २६२
 'औरोजिन ओब बि बिलीफ इन पीड'
 (नावन सोडरओम) ५४५
 'औरीजिनल सस्कृत टैक्नूटस (म्यूर)
 ८६६
 मौलकाट (एच एस कर्नस)
 ५८३

क

ककभूपम-सुतस्त ३२१
 कक्काम ३२१
 कर्जयत्ता (निगम) ५६६
 कर्जयत्ता (मिलनी) ३१२
 कठ (कठोपनिषद्) ३ १ १२,
 १४ २ २५, ३७, ३८ ४८, ६६,
 ७३ ७७ ७८, ८७ ९ ५,
 ९६ १११, ११२, १६८, १८
 १८१ ७५१ ७५६ ७५८ ७६३
 ७६४ ७६५, ७६६, ७६७ ७७१
 ७७५, ७७७ ७७८, ७८१ ७८२
 ७८५, ७८६ ७८७ ८२५, ८७८
 ९ २, ९३९, ९८२
 कठ टांकर भाष्य (कठोपनिषद्
 पर टांकर भाष्य) १ ३७ ६९,
 ७७ १३१ १८ ४५४ १ ३८
 कम्पन्तव-मरा ३२४ ३७ ७५४
 कम्ब (प्रेडि) १७७

कालाम-सुत २९

कालाशोक २ ७ २१

कालिदास १५५, १५९ १६४ १६५,
१४३, १४७

कालेन्दकर (काका) ७२

कावच (ई बी) ५८

काश्यप (परिब्राजक) १४८, हेमिय
कस्तुर्य भी ।

काश्यप (श्रुति) ५६ २२ ७३७

काश्यप-बन्धु २२२

काश्यप स्वाम्य ८३१

काश्यपीय (बीड सम्प्रदाय) ५५१

काश्मीर ७ ५२, ५५८, ५६९, ५७

६२९, ६३ ६६ ११ १

काशिका वृत्ति ५५

काशी २७२

कार्यायिनि (श्रुति) ५६

कांड (वर्मेन वार्त्तिक) ४४ ८७३

कांडीक जांब प्योर रीजय (कांड)
४४

कान्ति-सुतन्त ३२५, ४७७

कान्तिवत (भिक्षु) ३३२

कान्तिरा (रघुकृत) ५८२, ६३०
६३५, ६५८

कान्ति (क्लेश) ५१८, १ १

काच १ ६

कान्ति-नंदुत ३२८

कान्ति-चित्त ४६४ ४६८, ४६९
४७ ४८७

कान्ति-नरेगुड चित्त ४६५

कान्ति-विशेषात् १२ २१

कान्ति-विशेषा (कान्ति-विशेषा काव्य) ७२
कान्ति गौतमी (कान्ति गौतमी) २७९
२९५, ४९४

कांडाभिर-सुत ३२३ ३६८

कांड (ए बी गा) २८६, ३ ६,
४५ ५८८, ६२४ ६२६, ६५४

कांडाभिर-सुत ३२३, ३६८

कांडाभिर-सुत ८३६

'कांडाभिर' ३९, ७६

कांडाभिर ५७१ ६३५, ६५६

६५४ ६५५, ७११

कांडाभिर ६३५, ६५३ ६६४

कांडाभिर ६३५, ६५३ ६६४

कांडाभिर (कांडाभिर) २५ ४५६,
४५८ ४५९

कांडाभिर काश्यप ८२२

कांडाभिर ३१ १२५, १३४ १७२

१७८, १८३ १८५, ३ ५३७,

५८३, ६५१ ६५२, ६९ ७१८

७२ ८९२, ८९३ ९ ३ ९१९

९२१ ९२२, ९२३ ९२४ ९२५

९२६ ९२७ ९२८, ९२९ ९३

९३१, ९३३ ९३४ ९८२, ९८३

९९२ १ ३९ १ ४ १ ८८,

११ ३

कांडाभिर ३

कांड (वेद्य) ७ ५६६

कांडाभिर १ ११३ ३ ५८ ८ ३
१ ४४

'कांडाभिर' (कांडाभिर) २४५

कांडाभिर ४८

कमोत्तुंग (चोतराज) ७५
 कुयक (चित्त मूल विपाक, कर्म)
 १४१ १४२, ३३ ४६१ ४६२,
 ४६४ ४६५, ४६८, ४६९, ४७०,
 ४७६, ७५७, ८ ९, ८९ ९ ५,
 ९ ६

कुवाथ ५७३

कुसुमागारा २८५, २८६, २८८

'कुसुमाञ्जलि' ८५३ ८६७ ९२५

कुवा ५७३

कुटबन्त (बाह्यन) ८३ २२४

कुटबन्त सुत २२१ २२४ ३१८

३६४ ७४२, ७४३

कुय साङ्कृत्य ८४१

कुय्य ६९, ७७ ८०, ८७ ८८, ९६,

११३ १२९, १७३, ४३९, ५७

५८७ ५८९, ५९१ ५९२, ५९३

५९५, ५९७ ६८४ ७२

७८८, ७८९, ७९ ७९१ ७९५,

८ ९, ८ ७ ८ ९, ८२ ८२१

९४५, १ ४३ १ ५३, १ ५८

१ ६३ १ ६५

कुय्य भागिरत्त ५८८, ८ ४

कुय्य वैद्यकीपुत्र ८ ४

कुय्य बालुदेव ५८९, ८ ४ ८१३

कुय्य हृपायन १ ५

कुय्य यजुर्वेद २

कुय्या (नदी) ५५६

'कुदेलाग भाग दि बाइनीज बुद्धिस्ट
 त्रिनिटक' (बुनियो भूमिनी-
 कण्यासित) ६२२, ६२३ ६५५

कुय (कुनीपनिवद्) ३५, ८८,

११ १६८, ७५९, ७६ ७६३,

७६५—पर साङ्कर माय्य ८८

कुय्यपुत्र (वेस) ५६७

कुय्य-सुत ३१८

कुय्यसुत १ ९, १७२

कुय्य पुत्र (ग्राम) ३५५

कुय्य निम ८५२, ८५६

कुय्यी सुत ८३

कुय्यपुत्रिय सुत ७४७

कुय्यपुत्र प वेरीरा १ ८३

कुय्य १२, २ ४८, ११८, ७६५,

७६६, ८११ ८८६, ८९८, ९ ९,

९१३

कुय्यलेश्वर शास्त्री ११७ १ ४

कुय्य ग्राम २८४

कुय्यलेश्वर (भार एत विद्यय) ८२

कुय्य २ ७ २१२ ५६९ ५७

५७१ ५७२, ५७४

कुय्य (बाग्य) २५६, २५९,

२८८, ५६६

'कुय्य करका' ६३७

कुय्य (प्रवेश) २५६, ३ १

कुय्यलेश्वर (प्रवेशिन्) २५९,

२७८, ४५५

कुय्यलेश्वर सुत ३२७

कुय्यलेश्वर-सुत ३२३

कुय्य-लेश्वर २७७ ३ २, ३ ५

कुय्यलेश्वर १ ३

कुय्यलेश्वर १८, २५८, २६४ २७१

२७२, २७६, ४८९

सहस्रीपायन जातक २२७

कर्मभूत ११ १

कर्मभूत १ ५ १७ १८२

कर्मभूत (पञ्चम) २ ८ ३ २

११५ ११६ ११ १११ ५४१

५५२ ५५३ ५५४ १११, ७५२

—की मनुष्या ५५

कर्मभूत-मुक्तता १२३, १४४

कर्मभूत (कर्मभूत) ४७

कर्मभूत २ ८ २ ९ २१ ५५७

५५९ ५७ १२९ १३ १३६

१५८ १५९ १६० १७५

कर्मभूत महाविहार १६१

कर्मभूत (जीनी शार्मिक)

२३१ १ ५१

कर्मभूत ७

कर्मभूत-मुक्तता ४९८ ४९९

कर्मभूत ८१ ९८ ९९ १ ५ ११४

११८ १७ १८२ १८३ २१३

२४९ ४१ ८७५ ८७६ ८७८

८७९ १ १ १ १ ८७

१ ११ १ १४ ११ १

कर्मभूत २१७ २५६ २५७

२६२ २७८ २८८ ८७६

कर्मभूत १८ १३ १८ ७ ८८ १

१३ १४ १५५ १७३ १४८

१५२ १५५ ७२७ १ ५ १ ५२

१ ५४—कीर कीर कर्म १ ५६

१ ६३ १ ७ १ ७१ ११ ३

कर्मभूत १३४ १७३ ४१२ १५

१५२, १५७ ७ ३, ७१६

१ ४८

कर्मभूत ५६८

कर्म (पञ्च) १८५ ४ ७ ५९१

१ ७८

कर्मभूत १३७

कर्म भूत ११९

कर्म (कर्म) १८—म कर्म और

म कर्म में कर्म देखने का ताग

४५१ १ ५ ११७ —कर्म

११ —पञ्चम १३६—म

१९९ ४ १ ४५४ ४७४—

शामा ४६३, ४७५—कर्म

४७५—पानि ४६३, ४७५—

पञ्चम ४७५—कर्मभूत

४६३, ४७५ ४७१ ४७३—

कीर पुनर्वसन ४७२ ४८७—

पानि ८ ५-८१ १ ७३२, ७४९

७९५, ७९६, ७९७, ७९८ ८ ५

८१२, ८१३, ८१४, ८१५ ८१६

११५, ११६, ११७

कर्मभूत ७९ ७९१ ७९४ ७९८

८ ३ ८ ५ ८१४

कर्म पुनर्वसन ८४४

कर्म जीर्णता १७७ १८ देखिये

‘पूर्व जीर्णता’ ।

कर्म (शार्मिक) १९६ ४६७

५ ४ ८९३, ९१ १ ९५

कर्म २ ५५ ५६

कर्मभूत (शार्मिक) १३३

‘कस्यान-वार्म’ ३६२, ७१

कश्यपाची (वर्मा) ७१३

कलकलता रिम्बू ३३३

कल्पद्रुमावधान ३२७

कत्सप पंचम (कंकाविपत्ति) ४७१

कत्सप (परिवाचक) ३१८

कत्सप-सुत २४८

कत्सप-संतपुत ३२८

कत्सप सीहनाथ-सुत ४ ८३, २३४

३१८, ३६४ ३६८, ६ ७

कसिनायडाव सुत ३५

कवाय ८२, ३१९, ३९८, ८५

कबीरान् (कवि) १७

कंसा बितरकी बितुडिनिहेसो ४७८

काजट कितरकिय १ ८४ १ ९३

काञ्चीपुरम् ३५१

काठियावाड़ ७

काव कच्छप (काल कच्छप) की

पञ्चमा ३५ ३६

कावदेव ३५६

काव्य ५६

कात्यायन ५६, ३४७ ४३८

कात्यायनी २८

कात्यायनीपुत्र (आर्य) ३२९, ३३

देखिए आर्य कात्यायनीपुत्र ।

कामताप्रसाद धौन ८३६

काम—तण्डा २९३, ३३९, ३९८—

मिन्वा ३६८—मय ४९८

कामजङ्गल ३४९, ९११

कामरूप ७ ५७

काम राम २११

काम-सुत ३६८

कामावधर (मूमि) ४६२, ४६८

कामूपादान (काम-उपादान) ३९८,

३९९

कामेसु कामसुबस्तिक्कालुयोपी ८८

३७२

कामेसु मिच्छाचार ४८

काम्बोज ५६७

काय ४२४ ४३६, ५ —बिमान

४२५, ४३६—आमतन ४२५,

—अनुता ४६७,—मुद्रता

४६७,—मयविष ४६७—कम्म

८३८

कायगता सति (कायपता स्मृति)

२९९, ३४७-३४८, ३५

कायपता सति-सुत्तम् ३२५, ३४७

३४८

काये कायानुपपत्त्या (काया में काय

को विकास) ३२५, ३३९, ३४४

३४५ ३४८, ३६६, ४५७

कारवाँ लराय ३६१

कारपेकर (को ई) १ ७८

कार्ल मार्क्स ३३ ३४

‘कार्ल मार्क्स’ (लारकी) ३४

काल प्रिया ८३६

कालिदा ५

काल (कारण) ३८३

काक (मिकु) ५७

काल बैल (तपस्वी) २५७

कालाम (लजिय) १३ २७८,

३५५, ४४७ ५४ ७४७ ८७३

काशाम-सुत २९
 कासाजोक २ ७ २१
 कालिदास १५५, १५९, १६४ १६५,
 १४३, १४७
 कालेत्तकर (काका) ७२
 काबल (ई बी) ५८
 काश्यप (परिब्राजक) १४८ देखिये
 'कस्तुर्य' भी ।
 काश्यप (ब्रह्मि) ५६, २२ ७३७
 काश्यप-बन्धु २२२
 काश्यप स्वयम्भू ८३१
 काश्यपीय (बीज सम्प्रदाय) ५५१
 कास्मीर ७ ५२, ५५८, ५६९, ५७
 १२९, १३ १३ ११ १
 काशिका वृत्ति ५५
 काशी २७२
 कार्त्तमणि (ब्रह्मि) ५६
 काट (अर्पण दार्शनिक) ४४ ८७३
 किरीट ओष प्योर रीजुन (काट)
 ४४
 किन्ति-सुतान्त १२५, ४७७
 किम्बिल (मिन्नु) १२२
 किमूरा (रघूकन) ५८२, ६३
 १३५, १५८
 किलेस (क्लेस) ५१८, १ १
 पाष ९ ६
 किलेस-संयुत १२८
 किमा-चित्त ४६४ ४६८, ४६९,
 ४७ ४८७
 किमा-तहेतुक-चित्त ४६५
 किमाविधिघोषत्व ९२ ९२१

किष्किन्धा (किष्किन्धा कण्ड) ७२
 किता गीतमी (कृशा गीतमी) २७९
 २९५, ४९४
 कीटागिरि-सुत १२३ १६८
 कीव (ए बी डा) २८६, ३ १
 ४५० ५८८, १२४ १२६, १५४
 कुन्तरवसित-सुतान्त १२३, १६८
 कुनाल जातक ८३६
 'कुम्भीबान' १९, ७६
 कुमारकीव ५७१ १३५, १५६,
 १५४ १५५, ७११
 कुमारकन्य १३५, १५३ १६४
 कुमारसात १३५, १५३ १६४
 कुमारस्थानी (आत्म) २५ ४५६
 ४५८, ४५९
 कुमार काश्यप ८२२
 कमारिल ११, १२५, १३४ १७२,
 १७८, १८३, १८५, ३ ५३७
 ५८३ १५१ १५२, १९ ७१८
 ७२ ८९२, ८९३, ९ ९, ११९
 १२१ १२२, १२३ १२४ १२५
 १२६ १२७, १२८ १२९, १३
 १३१ १३३, १३४ १८२, १८३,
 १९२, १ ३९, १ ४ १ ८८
 ११ ३
 कुरान ३
 कव (वेम) ७ ५६६
 कुसुम ९ ११३, ३ ५, ८ ३
 १ ४४
 'कुम्भूपम' (बम्म) २४५
 कुम्भूक मङ्ग ४८

कलोलुप (कोलराज) ७५
 कुशाक (बिल मूक विपाक, कर्म)
 १४१ १४२, ३३ ४६१ ४६२
 ४६४ ४६५, ४६८, ४६९, ४७१
 ४७६, ७५७ ८ ९, ८९ ९ ५,
 ९ ६

कुशाव ५७६
 कुशोमारा २८५, २८६, २८८
 'कुमुदावलि' ८५६, ८६७ ९२५
 कुशा ५७३
 कुटवन्त (काह्वाय) ८३ २२४
 कुटवन्त सुत २२१ २२४ ३१८
 ३६४ ७४२, ७४३

कुघा साहय ८४१
 कुम्भ ३९, ७७ ८२ ८७ ८८, ९६,
 ११३ १२९, १७३, ४३९, ५७
 ५८७ ५८९, ५९१ ५९२, ५९३
 ५९५, ५९७ ६८४ ७२
 ७८८, ७८९, ७९ ७९१ ७९५,
 ८ १, ८ ७ ८ ९, ८२ ८२१
 ९४५, १ ४६, १ ५३ १ ५७
 १ ६३ १ ६५

कुम्भ जागिरत ५८८, ८ ४
 कुम्भ शैवलीपुत्र ८ ४
 कुम्भ बामुदेव ५८९, ८ ४ ८१३
 कुम्भ ईशायन १ ५
 कुम्भ यन्त्रुर्व २
 कुम्भा (लबी) ५५६
 'केटेलीग ओष वि काइलीज बुद्धिस्ट
 त्रिपिटक' (बुद्धिपौ भंजिपौ
 सम्पादित) ६३२, ६३३ ६५५

केन (कोनोपनिषद्) ३५, ८८,
 ११ १६८, ७५९ ७६ ७६३
 ७६५—पर छाकर माध्य ८८

केरलपुत्र (वेद्य) ५६७
 केवद्व-सुत ३१८
 केवकाईत १ ९, १७२
 केदा पुत्र (ग्राम) ३५५
 केद्यव मित्र ८५२, ८५६
 केझी सूरत ८३
 केसपुलिय सुत ७४७
 केसियत ए पेरीरा १ ८३
 केवस्य १२, ९ ४८, ११८, ७६५,
 ७६६, ८११ ८८९, ८९८ ९ ९,
 ९१३

कोटिलेश्वर शास्त्री ११७ १ ४
 कोवि ग्राम २८४
 कोपस्तन(भार पुत विषय) ८२
 कोरिया २ ७ २१३ ५६९, ५७
 ५७१ ५७२ ५७४
 कोन्मिय (लत्रिय) २५६, २५९,
 २८८, ५६६

'कोरा करका' ३३७
 कोतल (प्रवेद्य) २५६, ३ १
 कोतलराज (प्रलेनकिन्) २५९,
 २७८, ४५५
 कोतल नपुत ३२७
 कोतलिय-सुत ३२२
 कोतल-नदलो २७७ ३ २, ३ ५
 कोन्मिय १ ३
 कोन्मिय १८, २५८, २६४ २७१
 २७२, २७६, ४८९

कोत्त (कवि) ५६

कोत्तस्या १ ५२

कोत्तामी ३२३, ५४८, ५४९, ५६६
५६७

कोत्तकी ५३

कोत्तकी (कोत्तकी वास्तव्योपनि
५५) ११८, ४ ८, ५८८, ७२४

७५१ ७५७ ७५८, ७८५

कोत्तवापन— देखिये आनन्द
कोत्तवापन ।

का

काव्यविद्या—सुत १ ८, ३४३

‘काव्यविद्या’ १३ १ ३३,
११ १

काव्य—आमल—आमल—काव्य ३३१

काव्य ३३५, ३३ ५५३

काव्य धर्म ३३१

काव्य विनय ३३

काव्य संयुत ३२८, ३ ८

काव्य विनय ८५

‘काव्य’ ११ १६ ८७५, ८९६
८९८, ९ ६

काव्य (काव्य) २३

काव्य (काव्य) २७९, २८

काव्य—विनय २७ ३१७ ३२९,
३३३, ३३४

काव्य—पाठ २४७, ३१५, ३१६ ३२९,
३४७, ३९४—की मनुष्य २४९

काव्य—विनय ३३

काव्य ५७३

कोत्त (विनय) २७९, ३५५, ५२
देखिये ‘कोत्त’ की ।

का

काव्य ३२३ ३२४ ३२८

काव्य—विनय ३३४

काव्य—विनय—सुत ३२५, ३४१

काव्य (काव्य) ३३२

काव्य २९३ ४२२, ५ ७,—आमल
४२५, ४३६—की ५२६—

काव्य ५२६—संयुत २९३

काव्य—विनय ७७३

काव्य—विनय (काव्य) २८२

काव्य—विनय—संयुत ३२८

काव्य ५३७ ५३९, ५७ ५७६
५३ ५३६ ५३

काव्य ८४

काव्य ५६६

काव्य—विनय ३२३

‘काव्य—विनय’—देखिये ‘काव्य—विनय’ ।

काव्य ३९, ५४ १८५, २ ५, २७८,
३६२, ४३४ ४३६, ७२४ १ १९

काव्य १७१

काव्य २ ५

‘काव्य—विनय’—देखिये ‘काव्य—विनय’

(काव्य—विनय) ३८५, ३९

३९१ ३९५, ३९७ ३ ८, ४ ८,
४६७ ४७१ ४७३, ५४७, ५५

५५२, ५५३ १ ८३

काव्य—विनय ३२९

काव्य ५७७

काव्य ५६, ७७३

गार्ग्योपनिषद् ७५३, ८९७
 गार्गी ८, १४७ ५ ४ ७५२
 गार्गा ३१७
 गार्ग्य (बिल्हेस्म का) ३ १
 ३१६ १ ७८
 गार्ग्य (रिचार्ड) ५९ ८६६, ८६६
 गार्ग्य ५६
 गार्ग्यी (महात्मा) १८, ३२, ३३
 ७५, ८१ ९ ९६, १४९, १७५
 ७९ ८ ८, ८१३ १ ८१
 गिरि (सम्प्रदाय) १ ५१
 गिरिप्रिय (पर्वत) ६९, ५२९, ८२
 प्रियतम (का) ३ १
 गीत गोविन्द ३ २ ३
 गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) ९, ३
 ४ १४ १५, १८ १९, २१ २५,
 ४ ४४ ४५, ४६ ६६, ६९,
 ७३ ७७ ७८, ७९, ८२, ८३,
 ८७, ९२, ९३ ९५, ९६, ९७
 ११२, ११३, ११७ ११८, ११९,
 १२०, १२९, १३२ १३७ १४१
 १४३ १४४ १४९, १६७ १६९,
 १८७ १९२, २१८, २३७ ३५१
 ३५२, ४ ३ ५१३ ५१४ ५१९,
 ५३२ ५७५, ५७६, ५९ ५९१
 ५९२ ५९५, ५९७ ६९७ ६९८,
 ७ १ ७१६ ८२९, ९३५—के
 भक्तिवाक्य का महापान बीजपर्य
 के साथ सम्प्रदाय ५९ ५९७
 ७९६, ७९९, ७६३ ७९५, ७७१
 —और बीजार्थ ७८८-८९१

८९७ ९ १ ९४५, १ ४९,
 १ ५ १ ६ १ ८५, १ ९०
 श्रीलक्ष्मी (श्रीलक्ष्मी) ७९
 'गीता रहस्य' (कर्मयोग शास्त्र भाष्य
 परमाण्वर तिलक) ८९२
 गीता-नाटक भाष्य ४५, ६९, १२२,
 १८२, ७९ ८ ८, ९९१ १ ३८
 गीत (कथा) ५७५, ५७६
 गीत ५७६ १ ७९
 गुप्तकाल २१ २११ ८४८
 गुणवत्त (भाषा) ५७१ ६२५
 गुणवत्त (भाषा) ६३७
 गुणवत्त (भाषा) १७१, २१३,
 २१४ ८४६
 गुणवत्त (सिद्धान्त विज्ञान) १ ७९
 गुणवत्त (भाषा) ५७१ ६५६
 गुणवत्त ९२२
 गुणवत्तानि-गुणवत्त ३२३
 'गुणवत्तानि-गुणवत्त' ५६४
 गृह्य भाषा ७१९
 'गृह्य विनय' ६४ २९४ २९७ ३२
 ३७१
 गृह्य ३१७
 गृहीतव्य १४८
 गोविन्द (श्री १०८ नाम स्तोत्र) ५५
 ५५१ ५५२
 'गोविन्द दि मेन' (श्रीमती रायल
 इतिहास) ८७७
 गोविन्द ग्याय ६५२
 गोविन्द ५६६
 गोविन्द काव्य ८३१

कोरस (अपि) ५६

कोरसपा १ ५२

कोरसम्बी ३२२, ५४८, ५४९, ५६६

५६७

कोरसकी ५६

कोरसकी (कोरसकी अष्टमोपनि

५६) १६८, ४ ८, ५८८, ७२४

७५६, ७५७ ७५८, ७८५

कोरसपायन— देखिये आनन्द

कोरसपायन ।

क

कालाविद्यान-सुत ६ ८, ६४६

'कालाविद्यान' १३ १ ३३

११ १

काला-आनन्दन-आनु-कथा ३३१

कालक ३१५, ३३ ५५३

काल पमक ३३१

काल निर्मप ३३

काल संयुत ३२८, ६ ८

कालीन विद्यान ८५

'कपाति' ११ ८६ ८७५, ८९६

८९८, ९ ३

काली (पीठ) २३

कालीतरा (उपासिका) २७९, २८

काली-निष्ठाप २७ ३१७ ३२९

३३३, ३३४

काली-पाठ २४७ ३१५, ३१६, ३२९

३४७, ३४८,—कौ मङ्गलवा २४९

काली-निष्ठाप ३३

कालीन ५७२

काली (मिथुनी) २७९, ४५५, ५२

देखिये 'अमा' की ।

क

काली-पाठ ३२३ ३२४ ३२८

काली-स्तोत्रगाथा ३६४

काली-मोक्षस्तोत्र-सुताला ३२५, ३४१

काली (पाठ) ३३२

काल २९३ ४२२, ५ —आनन्द

४२५, ४३६—सोप ५२६—

रस ५२६—संकेतना २९३

काल तन्मात्रा ७७६

काली-कूटी (सूत्र) २८२

काली-कथा संयुत ३२८

काली ५६७, ५६९, ५७ ५७६

६३ ६३६ ६३

काल ८४

काल ५६६

काली-पाठ ३२३

'काली-विनय'—देखिये 'काली-विनय' ।

काल ३९, ५४ १८५, २ ५, २७८

३३२, ४३४ ४३६, ७३४ १ ३२

काली १७१

काली २ ५

काली २ वि अष्टमोपनिष्ठा

(आनातिशोका) ३८५, ३९

३९१ ३९५, ३९७ ३९८, ४ ६

४३२, ४७१ ४७२, ५४९, ५५

५५२, ५५३ १ ८३

काली-समुत ३२१

काली ५७७

काली ५६ ७७३

माय्यादि ७५२, ८१७
 भास्वो ८, १४७ ५ ४ ७५२
 भावा ३१७
 भाववर (विस्तेरुम, डा) ३ १,
 ३१६, १ ७८
 भावो (रिचार्ड) ५९ ८६६, ८६६
 भावव ५६
 भावनी (महात्मा) १८, ३२, ३३,
 ७५, ८१ ९ ९१, १४९, १७५,
 ७९ ८ ८, ८१३ १ ८१
 भिरि (सम्प्रदाय) १ ५१
 भिरिप्रज (पर्वत) ६९, ५९९, ८२
 भिरिस्तन (डा) ३ १
 भीत गोविन्द ३ २ ३
 भीता (श्रीमद्भूमयव्युत्ता) २ ३
 ४ १४ १५, १८, १९, २१ २५
 ४ ४४ ४५, ४६, ६६, ६९
 ७३ ७७ ७८ ७९, ८२, ८३,
 ८७ ९२, ९३ ९५, ९६, ९७
 ११२, ११३ ११७ ११८, ११९
 १२२, १२९, १३२, १३७, १४१
 १४३, १४४ १४९, १६७ १६९
 १८७ १९२, २१८, २३७ ३५१
 ३५२, ४ ३ ५१३ ५१४ ५१९
 ५३२, ५७५, ५७६, ५९ ५९१
 ५९२, ५९५, ५९७ ६९७ ६९८
 ७ १ ७५६ ८२९, ९३५—के
 भक्तिवाद का महायान बौद्धधर्म
 के साथ सम्मेलन ५९०-५९७
 ७२६, ७३९, ७६३ ७६५, ७७१
 —कीर बौद्ध धर्म ७८८-८२१;

८९७, ९ १ ९४५, १ ४९-
 १ ५ १ ६ १ ८५, १ ९०
 श्रीताबीय (पांसीबी) ७९
 'गीता-रुद्रस्य' (कर्मयोग धातुन बाल
 पंचावर तिलक) ८९२
 गीता-वांकर भाष्य ४५, ६९, १२२,
 १८२, ७९ ८ ८ ९९१ १ ३८
 ग्रीक (कला) ५७५, ५७६
 ग्रीक ५७६, १ ७९
 गुप्तकाळ २१ २११ ८४८
 गुप्तनर (भाष्य) ५७१ ६२५
 गुप्तमति (भाष्य) ६३७
 गुप्तनर (भाष्य) १७१ २१३
 २१४ ८४६
 गुप्तनर (तिहली विज्ञान) १ ७९
 गुप्तनर (भाष्य) ५७१ ६५६
 गुप्तनर ९२२
 गुप्तिस्तानि-गुप्तनर ३२३
 'गुह्यतमावतम्ब' ५६४
 गुह्य आदेश ७१९
 'गृह-विनय' ६४ २९४ २९७ ३२
 ३७१
 गद्य ३१७
 गेलोसियो १४८
 गोमतिक (बीड सम्प्रदाय) ५५
 ५५१ ५५२
 'गोमति दि गैक' (श्रीमती रायत
 डेविडन्) ८७७
 गोमतीय ग्याय ६५२
 गोमतीय ५६६
 गोमतीय काव्य ८३१

बीचक मोम्पस्तान-सुत १ ९ ३२५

४८

बीवीनाथ कबिराज ८३३, ८३४

बीवा २५८

बीबी (रेमिस्तान) ५७३

बीजिल गृह्यसूत्र ७

बीज्यान ८२

बीरबानाथ ८८, १०५४

बीरबिन्द सगवत्पूज्यपाद ५१०

बीरसिंह बन् ३२२

बी सुक्त २२

बीजबाद (बन्धन) १४ ३७ १ २

बीड (बेस) १५७

बीडपाद (आचार्य) १ ९, १२२,

१२४ १७२, १९५, ३३३ ४५६

५१ ३३८, ३३९, ३७२, ७२०

७७२, ७८३ ८ ८, ८८२, ८९३

९३७, ९४४ ९५२, ९५३, १ १

—का धर्मन और बीड धर्मन के

साथ उसका सम्बन्ध ९५७-९८७

१ ५, १ ३७ १ ३९, १ ४८,

१ ९६, ११ २

बीबीय बीजबाध बर्म १९१

बीतन (मजपाद) १ ५, १२७,

१७ १७१ १८२, २४२, १ ९१

बीतन (बुद्ध) १९७, २१६, २२१

२३४ २२५, २५७ २५८, २६

२६५, २६६, २६४ ३१९, ३७१

४५९, ४७४, ४७५, ४७६, ४८८

४९५, ५२४ ५२५, ५२६, ५३४

५४५, ७३७, ७५ ७५२, ७६६,

८३१ ८५ ८५१, ८५२, ८५६

१ ५२

बीतन (अवि) ८१

बीतन (शिला-बास्थ के आचार्य)

५

'बीतन दि बुद्ध' (राधाकृष्णन्) १९७,

४५४ ४५६, ४५८, ५२१

बीतन बर्म सुब १७ १८८

बीतन संवरैव ६३

बीरवि १७३

घ

बड आतक ८ ४

घटिकार-सुत ३२४

'धरावायो रथापयो ३१६

बमून्धी (—सिलालेख) ५८९

घरौ (बी एस डा) १७८

घाव ४२२, ४२४ ४३६, ५ ३,

६३३, ७७६, —मापतन ४२५—

विज्ञान ४२५, ४३६, —सर्व ४२५

बलीय बर्म ८४३

बीडमुज (परिभाषक) ८३

बीडमुज-सुत ३२४

बीर आभिरस ८ ४

बीरबानी ३३१

'बीरबिन्' ३३

बीचक (बरगल) ३३८, ३४

बीधिताराम ५६७

ब

बनकवतिबीहनाथ-सुत ३१९, ७७६

५३५

अत्तारि-सुत ६१६
 अतुरक-निपात ३२९
 अतुरार्य सत्य—वेजिये आव सत्य
 (चार) ।
 'अतुर्बूह' (घातक) ७१८, ९३
 ९४
 अतुर्बूही (परसुराम) १६
 अतुन्नातक २७, ६५७ ७७२
 अतु शातक-मुक्ति ६५७
 अतुष्कोटिबिनिर्मुक्त सत्य ६८
 ६८४ ९५४ ९६९ ९७३, ९७७
 १ ५८, १ ९६
 अतु स्तव ६५५, ६७८
 अग्रकीर्ति १९४ ४४८, ५३१ ५८३
 ६५३, ६५७ ६९४
 अग्रिका ८८२
 अग्रीवास ८ ३, ८२
 अग्ना ५६६, ५६८
 अग्ना नगर ५६८
 अग्नापुर ५६८
 'अरम' ५६
 अरियापिठक ३१५, ३१६, ३२७
 ३१९
 अरम मिराल ५६
 अरमान-मुत ११६, ३५७
 अरु (इतिहास) ४२ ४३६, ४३८
 ५३ ६३६, ८५५, ८५८, ८५९
 —आयन ४२५, —विमान ४२
 ४२३, ४२५ ४२६, ४३६,
 ५ —अरु ४२५
 'अरुमान' (मुत) १९९

अरु-सुत ९२, २२१ २३६,
 २३७ ३२४ ३५३ ३५७ ३६६
 ५६६, ७३७, ७४५—की मट्टनवा
 ७४३
 आइकर्स ४ १ १ ७८
 आइर्या (सुनोति कमल आ)
 १४६
 आतुम-सुत ३२३, ६१६
 आतुर्बूही शक्ति १४ २२, ८९, २९५,
 ३७ ४७५, ७४९, ९४१ १ ९५
 आतुर्बूही संवर २३ ३२४ ८३५
 ८३६
 आग्राम (मत) ६७
 आपा ४९४
 आमर्ष (लीट)
 आर्वाक (मत) ४ १ ४ १ ५
 ११८, १६७ १७७ १८ १८१
 १८९, २४३, २४४—मीर बीड
 बान ८२१-८२९, ११
 आतु कुनी १४८
 बिल ३३ ४३३ ४६१ ४६२,
 ४६४ ४७६, ७ ८, ८३९, ८९
 ९५, ९१ ९१६, ९४२, ९५२,
 ९७९, ९९४ १ ३६—अजना
 ४६७,—अर्बुता ४६७,—अनुना
 ४६७,—अनुना ४६७,—अनुना
 ५१५, ६३३, ६४३ —अनुना
 ५१५, —अनुना ६४३,—
 की आर भूमि ४६३ ७ ८—
 की आर भूमि ९ ५—की आर
 भूमि ९ ५

चित्त-यमक ३३१

चित्तवर्मा ५५९

चित्त-संभृत ३२८

चिद्विज्ञास (सम्पूर्णानन्द) १२६

चित्त-सुत ४७६

चित्तपुत्र ३३७

चित्ते चित्तानुपपत्त्या (चित्त में चित्त
को वेलना) ३३९, ३४४ ३४८,
३६६, ४५७

चित्त (गृहपति) २७९, ८३९

चीन २९, ३, २, २, ७, २१३ ४१२,

५४८, ५६९, ५७ ५७१ ५७४

५७६ ५९८, ६२२, ६२३ ६२५,

६३६, ६५३ ६५४ ७१३ १ ५५,

१ ७६

चीनी मुस्लिमान ३, ९, ५७३

चुम्ब कर्मरिपुत्र २८६, ९८७

चुम्ब सुत ११६, २८२ ३६६, ४५७

चुरस तिहैस ३१६, ३२९

चुस्तबाम २८, ३७ २५७, २६३

२७८ ३, २, ३, ६, ३ ८ ३१६,

३३ ३४२, ४८९, ४९ ५३२,

८३३ १ ३७

चुल अस्तपुर सुतान्त १४ २९६,

३५२, ३७ ८३३

चतुर्वर्गविभाग-सुत ३२६, ४७५

चत गोपाल-सुत ३२३

चुल गोपिय-सुत ३२२, ३६८

चुल तन्हामक-सुत ३२२

चुल बुलस कर्म-सुतान्त ३३१ ४८९,

५३१ ८३१

चुल बम्भसमाधान-सुत ३२२

चुल पुम्भम सुत ३२५

चुल माल्मन्प-सुतान्त ३२३ ४४७

चुल माल्मन्प सुत २४४ ४४९, ४५२

चुल मयक बग ३२२

चुल रज्जुलोबाह सुत ३२३

चुल विग्रह सुत ४८८

चुल बेरन्क-सुतान्त १४८, ३२२,

३५४ ३६४ ३६७, ४२ ४९१

५ ४

चुल लक्ष्मिबाहि-सुतान्त ३२४ ८३९

चुल सन्धक-सुतान्त ११ २३५, ३२२

चुल धारोपम-सुतान्त ३२२, ४९

चुल लीहनाह-सुतान्त ३२१ ३८७

चुल सुम्भाना बग ३२५

चुल हृत्विषयोपम सुतान्त २३५, ९९

३२१ ५ १ ६१६, ९१६

चेतना ४६३

चेतसिध ३३ ४३५, ४६४ ४६५

८९ ९९४—कम ४८६—

कम्भो ४६५

चेतिव (चेत्यक) ५५८, ५५६

चेतोचित्त-सुतान्त ३२१ ६ ८

चेदि (चेता) ६

चरबात्की (रती विद्या) ६३६

६४९, ६५२, ९ ४ १ ७९

चेतम्य (महम्म) १८, ३९, ३९

६९, ७२, ८९, ८ ९ १ ५४

१०७२ ११ ३

'चेतम्य चरितासुत' ३९, ७

बाल्यवाही (बौद्ध सम्प्रदाय) ५५०

५५६, ५५५

बोल (देश) ५६७ ६५२

बौधरी (सूर्यनारायण) ६५९

बोयली सिद्ध १ ५७ १ ६२

छ

छाक निपात ३२९

छाक-मुत्त ३२६, ४२६, ४३२

४३३

छा २ ४६६, ७४८

छाक-मुत्त ७५३

छाया काष्ठ २२४ ७

छाया काष्ठ २२४ ७५

छा (स्पर्श) ३२६ ४२

छायागति (बौद्ध सम्प्रदाय) ५५१

छाया-सत्ता ३२६, ४२ ४२१

छाया-सत्ता ३२६, ६ ८

छा ८५४

छा-मुत्त ३७१

छाया (छाया उच्चनिष्ठ) २

४ ५ ११ १४ १५, १६ ४५,

४८, ५९, ६ ६१ ६५, ६६

६८, ७३ ९३ ४ ९६ १

११९, १४३ १६८, १८४ २२३

३७३ ५८८ ५८९, ६ ७२८,

७३ ७५५, ७५६ ७५८, ७५

७६ ७६७ ७६८ ७६९ ७६५,

७६६ ७७१ ७७५, ७७८,

७८१ ७८२ ७८६ ७८५, ७८६

७८७ ८३८ २—४४ ८३४

७३ ७३

भाष्य ३ ४६, १ २६, १ ३

१ ३८, १ ४

ज

‘जयत्यसि’ (बद्ध) ६६२

जयतीति काष्ठ २२, ९२

२८६, ३३५, ३४४ ३७६, ४६२

४८९, ५ ३ १ ६८ १ ७९

जगन्नाथ (मगधान) १ ५१ १ ५३

‘जगन्नाथ वदत्यसि’ ५६९, १ ५६

जगत्त काष्ठ २२२

जगत्त मुत्त ७४२, ८३१

जनक (ब्रह्म राजा) ५, १७ ६५

७६, ८३ १७३ २२७ ७६५

७८५, ७९२ ८ ८, ९७९

‘जन वदत्यसि’ ७१९, १ ९५

जनवत्त-मुत्त ३१, ३५४ ३५६

जम्बुद्वीप-संज्ञा ३२८, ४९५

जम्बु द्वीप ५, ६

जय निम्न (सर वदत्यसि) १ ७३

१ ७९

जयपरागा ८८२

जयन्त बद्ध ६५२ ७ ६, ८५६

जयन्त ४९, १ ५१

जयन्त भाष्य दि भाष्यगणित मोक्षगणी

५७३

जयन्त भाष्य भाष्य दि भाष्यगणित मोक्षगणी

५५ ६३ ६५६

जयन्त भाष्य दि भाष्यगणित मोक्षगणी

७५ ५८८, ६३१

अथर्व ८ ?	सायनाचार्य (काशी प्रताप, डा०)
आत्म ८५४	४७, ५७ ८३२
आश्विन (जे मार) ८ ९	आयसी ७२८
अरा सुत २८३	आत्मनर ५७
अश्विनीवार (प्रोक्सेर) ५४	आत्मि-सुत ३२८
अरुण २३१	आवा ५६९ ७१३ १ ५९
अम (आर्त मार) ४७५ १ ८३	आवालोपनिषद् ६४
आपरिप सुत ३४१	जिन (मयवान्) ८२, ८३४ ८३५
आवत् अवस्था ९६३	८३७
आत्म २२७ ३१५ ३१६ ३१७,	‘जिनसंकरयोः ५३८ १ ५५
३२९ ३४५, ५७३ ६ ४ ३१	जिह्वा ४२२, ४३६ ५ ६—आम-
६१८, ८७३	तम ४५५—विमान ४२५
आत्मकृष्णदा ६ ९, २५८ २६२,	४३६ ८५५
३६६ ५ १ ६१	जीव ९४
आत्मक निदान २१७	जीवत-सुत ३२३
आत्मकमाता ६२७, ६३७	जीवमुक्ति ११८, ८४६ ८७७
आतिवाद (—बन्धन) १४ ३७	८९८ ९३३ ९४१ ९४२
७४९	‘जीवन साहित्य’ (काका कालेस्कर)
आति-निरोध अरा-मरण-लोक-	७२
परिवेष्ट-मुद्रा-बोधनस्तुपायाता	‘जीवन-साहित्य’ (‘डी प्रोक्सेर’ का
निवर्तक ३८८	हिन्दी-अनुवाद) ८५
आति-पञ्चम अरा-मरण-लोक-परि-	जीवित-सुत ६१६
द्वेष्ट-मुद्रा बोधनस्तुपायाता	‘अनुपम’ ५२५, ५२६
सम्पन्न ३८८	अवज (बर्नस) ६९ ८६
आत्मधति ७१९, ७५९, ७८५	अवतन (आराम) ५४७ ५६७
आनुकर्म्य ७६	अवत पश्चित १ ९, १ ७८
आवा २ २, २ ७ ३१३ ४१२,	अश्विनी (हरमन प्रो) ५१४ ९५७,
५४८, ५७ ५७१ ५७४ ५८२,	१०७८
५९७ ५९८, ५९९ ६१२, ६१५,	अम दास—जें सार्वभौमिक बन्धन
६१२, ६१५, ६१६ ६५५ १ ७६	अंतमा ३१; ४३ १ ४ ११५

११७, ११८, १२६, १२७, १५३
 १६६, १६७, १६९, १७७, २ ९
 २३, ६८६, ६८७ ७ ८ ७ ९
 ८३, —बीर बीड़ धर्म ८३

८५१

बीर बीड़ धर्म (बीड़ धर्म का ध्यान
 सम्प्रदाय) २ ७ ४१२, ५७४,
 ६२५, ६५५, ६६१, ७१७, ९५६
 १ ५७ १ ७६

बीर (बापाजी बीड़ सम्प्रदाय) ५९८
 बीरिनि १२२, १२७, १३५, १३८
 १७ ११९, १२२ १२६, ९३
 १३४ ११ १

बीरिनि १५६, २२७, २४९, ७५२
 बीर-सु (बापाजी बीड़ सम्प्रदाय)
 ५७२, ५९८, ५९९

बीरकृत (ताल) ५७३
 बीर (की ईबील) ४
 बीरमल (ई एच) ६४ ६६२,
 ६६४ ६६६, ८७७

बीरिनि २, ५५

बी

बी (गंगाधर डा) ८५६ —बीर
 धर्म ८६३ ८६४ ८९६
 बीर—७७८, ८७७ देखिये 'ध्यान'।

बीर बन्धन ३३१

बीर विर्मन ३३

बीर संयत ३२८, ३३९

बी

बीर बन्धन ४५

बीर बन्धन ६३२

बीर विर्मन ३३

बीरबन्धन—देखिये 'बीरबन्धन'।

बी

बीरुनिन (बीर) ५४८

बीरुनर १०७८

बीरुन १ ६६

बी

'बीरबन्धन बीर बि बुद्ध' (रायस
 देखिये) ३९१

बीरतन (पोल, डा) २३ ११५,
 ७५५, ७५९, ७६१, ८७८

बी

बीरके (पोल, डा) ८५, ३२
 ३८५

बीरकृपा (बीर सिद्ध) १०५७
 १ ६१

बी

बीरकी (तारिक) २२५, २३४

बीरु (तृप्या) ३८८, ३८९, ३९९,

४ ४ ९, ४२६—बीरुया

बीरुयानिबीरुबी ३८८,—बीरुया

बीरुयान ३८८

बीरुकीबीरु (तारिक) ८८ ८८९

८८४ ८८९, ८९ ८९२

बीरु प्रदीपिका ६३७

बीरुतलाबी ५६१

बीरुबीरुबी १०७५

बीरुतला ८७९

बीरुबीरु ९३४

तत्त्व संग्रह १३४ ६५७
 तत्त्व सग्रह पञ्चिका ६५७, ६९८, ६९९
 तत्त्वार्थसूत्र ४ १ ३ १२२, ३३७,
 ८४८, ८४३ ८४४ ८
 तत्त्वता ३७५, ४ ९ ५४४ ५७८,
 ५८८, ५८४ ६२ ६२२, ६८५,
 ६९५, १ ४५, ११ २
 तत्त्वगत ५, ११ १४ १७ २१ २७
 २८, ३ ३६ ६९ ८८ ८७ ९८
 ९९ ११८, ११९ १०४ १३८,
 १८४ १८५, १९८, १९९, १९४
 १९५, १९८, २ २ २, २ ३
 २ ४ २१६ २१७ २३२ २३८,
 २४३ २४४ २४५, २४६, २४८,
 २४९, २५१ २५३ २५४ २५८,
 २६१ २७२, २७३ २७७ २७८,
 २८ २८१, २८२, २८३ २८४
 २८५, २८६, २८७ २८८, २९१
 २९५, २९६ २९८ २९९, ३
 ३ ३ ४ ४ ७ ३ ८, ३ ९
 ३१ ३१ ७ ३२१ ३२२, ३२५,
 ३३१ ३४२ ३४४ ३५५, ३५८,
 ३६७ ३६८, ३७ ३७२ ३७६
 ३८१ ३८३ ३८४ ३८५, ३८७
 ४ ५, ४ ७ ४ ८, ४ ७ ४१
 ४११ ४१० ४२१ ४२२ ४२६,
 ४३४ ४३५ ४३७ ४३८, ४३९
 ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४६,
 ४४७ ४४८ ४४९ ४५ ४५२
 ४५५, ४६ ४६३ ४७७ ४७८,
 ४८ ४८१ ४ १ ४ ३ ५ ८

५१३ ५१४, ५१६ ५१८, ५१९
 ५२ ५२४ ५२५, ५२६, ५३
 ५३८, ५३९ ५४१ ५४८, ५४९,
 ५४४ ५४५, ५६ ५६८
 ५६५, ५७८, ५८२, ५८५, ५८६
 ५९१ ५९२, ५९५, ६१४ ६७४
 ६७५, ७ १ ७१ ७११ ७१६
 ७१७ ७१९, ७२९, ७३३ ७३६,
 ७३८, ७४८, ७५१ ७५२, ७५५
 ७६ ७६९, ७७ ७७८, ७८१
 ७८७ ७९४ ७९९, ८ १, ८ २
 ८ ३ ८ ५, ८ ६ ८ ८, ८१८,
 ८२ ८२१ ८४४ ८८७ ८९१
 ८९९, ९ ९११ ९३८ ९३९
 ९५७ ९७४ ९७५, ९७६ ९८७
 १ ४३ १ ४८, १ ५४ १ ५५
 १ ६१ १ ६४ १ ६७ १ ८
 १ ८१ १ ८२, १ ९३ १ ९५,
 १ ९७ १ ९८, १ ९९ ११ ३

तत्त्वगतमर्म ६०६

तत्त्वगत-गुणपद ६२३ ६२५

तत्त्व-मर्म ४३३

तत्त्वगत-मार्ग ६ ६

तत्त्व (तत्त्वता) १ १६, ६८-७७
 ७८५

तत्त्व (तत्त्वता) २४७ २७
 २७९, ३७१ ४९२

'तत्त्वता' (तत्त्वता-मार्ग) ७२

तत्त्वता-मार्ग ८५३

तत्त्वता-मार्ग ६१३

'तत्त्वता' ५९, ६३७

तंजुर ६६४

सम्भाषण ४ ७ ८८८

सन्ध (वर्धन) १८, १ ३, १ ५

७२७, १ २५, १ ५३ १ ७५

—मीर बीड़ वर्धन १ ७५

१ ७७ ११ ३

सन्धयान ५५४

सन्धवर्धन १२५, १७२, १७८

१८३, १८५, ७१८, ९१९, ९२५

९२७, ९२७, ९२९

समिध (वेध) ९३७

समिधिका ५६७ ६६४

सकाकसु (खे) ५६२, ६३

६३१, ६३२, ६३७, ६५८

साङ्गिका ५९३

सात्पर्य परिसुद्धि १ २

सात्तार (जाति) ५७७ ५९७

साध्यानि द्वीप ३१४ ५७

सारा (वेधी) १ ५३ १ ७६

सारानाव (सामा) ५५५, ५५७

५६९, ५७ ६२७ ६५४ १ ५४

साक्ष्य (ब्राह्मण) ८३

साक्ष्य ब्राह्मण ९४

'समी' (बुद्ध) ९७५ ९७६

सान्निह्य बीड़ वर्धन ५५७, ५७४ १ ७५

—१ ७७

सिक्क-निपात ३२९, ४९७

सिक्कत २ २, ५६९, ५७ ५७१

५७४ ५७७ ५९८, ६१५, ६२२

६२६, ६२५, ६२९, ६३४ ६३७

६५६, ६५४ १ ५५, १ ७६

सिक्क (बाल गंगाधर) १८९

७९ ७९३ ८१४ ८९३

सिक्कबन्धन (मय) ५२९

सिक्क (कुमार) १

सिक्का (विमुक्ती) ३५, ४८७

'सिक्को विक्का' (तीन विद्या)

४७३, वैदिकी 'विद्या' ।

सुकाराम(सन्त) १४ १५, १८, ३२

६ ७ १७७, १ ७० ११ ३

सुबार (वेध) ५७

सुवीर (भारमा) ९७४ ९७५, ९७६

'सुलसी वर्धन' (बन्धन प्रसार मित्र)

१ ६२

सुलसीवार्धन ११, १५, १८, ३२, ६५

३७ ३८, ६ ३८, ७ ७५, ८

८३, ८८ १३७, १५५

१७३, २ ३ ३५२, ५३१ ६

६ १, ६ ३ ६१४ ७२७ ७५५

८३२ ८७२, ८९७, ९४७

१ ४९, १ ५ १ ५१ १ ५४

१ ५५, १ ५७, १ ६ १ ६२

१ ६३ १ ६४ १ ७२, १ ७३

१ ९७, ११ ३

सुषी (डा) ६४९

सुषित (लोक) २ १, २५२, ५८४

सुषु-सु-सु ५७३, ७१२

सुषुनी (जाति) ५४८, १ ७६

सुषुनिय (तैविक) २२७, —अम्मा

२२७-२३

सुषुनिय सुषुनिय (तैविक बुद्ध

मन्त्र) ६६, २९९, ३ ३ ४
३१४

तत्त्व (प्रवेश) १३७

तैत्तिरीयब्रह्मसूत-सुत २१७ ३२६,
३७१ ४७३ ५३७, ८४

तैत्तिरीय-सुत २९, २२ २२५, २७७,
३१८, ५३९, ७३९, ७४४ ७५

तैत्तिरीय ५६

तैत्तिरीय (तैत्तिरीय उपनिषद्)

१४ १७, ३६, ४८, ५५, ६६,
७३ ७९, ८६, ९१ ९३ ११

१२२, १२८, १७७ २२४ ७३९,
७५१ ७५३ ७५७, ७५८, ७६

७६२, ७६५, ७६६ ७८४ ७९४
८२५, ९ ९, १ १२ १ ४

तैत्तिरीय—दार्ढ्य-भाष्य (तैत्तिरीय
उपनिषद् पर दार्ढ्य भाष्य) ३

४ ३४ ४६ १२३ १ ३८
१ ४

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ६५, २२४
७४९ ७५ ९ २

तैत्तिरीय ब्रह्मसूत ७५

तैत्तिरीय भाष्य ५३

घ

वपति-सूत ३७१

वृत्तपदा (विलम्बी) ३ ८

वृत्त (ब्राह्मण-भाष्य) ५९६

वेदपाठा ४ ३१५, ३१६, ३२९,
४ १ ५ ४ ६ —की मू
जवा ३६

वेदपाठ २ ७, ५५ ५५१ ३२९
वेदमे 'स्वविराट्' ।

वेदी व्यवधान १९५

वेदी पाठा ८, ९ ३५, ३६, २४८,
३१५, ३१६, ३२९, ३४७ ३६८

४७३ ४८७ ४८९, ४९ ४९१
४९४ ४९६, ४९७, ४९८, ४९९

५३६ ७ १ ८३४

घ

वलिषावाविर्मन्त्र-सूत २९, ३२६

वत्त (वलिषावा वा) ५५६,
५५७ ५५८, ५७ ५८२, ५८५

६१४ ६२३ ९७६, १ ७१

वत्तमूर्ति-सूत ३२५

वत्तिसाकार ३४७

वत्त ३ ८

वत्त ५६

वत्तान्त सारस्वती ८९, १३४ १७५,
१७८, ७२८, ८४१ १ ५७

वर्तन—के स्वभाव, विषय, प्रयोजन
और महत्त्व के सम्बन्ध में प्राचीन

भारतीय दृष्टि १७-१ ४—की
उत्पत्ति १५८ १६७

'वर्तन का प्रयोजन' (डा. भवदान
दास) ६ १ ३

'वर्तन-विशेष' (राहुल साह्यायन)
७ ३८ १४ ६५ ६६२

'वर्तनोदय' (ल. बी. पूरुषोत्तमभाष्य)
६८ ६८७ ६९९, ७ ८३

९१८

'वर्गन-हृय-कौस्त' ५१८
 वस पीरमास ७५६
 'वसभूमिक-सुख' ३५१ ३५८, ३६१
 ३२ ३२५
 'वस भूमि विभावा शास्त्र' ३५५
 'वसभूमिगर्भ' ३२३ ३२५, ३६८
 वसव १ ५२
 वसवक (बुद्ध) २८२
 'वस साङ्गिका प्रज्ञापरमिता' ३२३,
 ३२४
 वस भूमिपी (बोधिसत्त्व की) ५६२,
 ६२ ६२६ ६५५
 'वस स्त्रोक करेबुद्धा' (नीसे-कृत—
 टिकी और बोधमेन का संदेशी
 अनुवाद) १ ८, १४५, १४६
 २ १, ३२१
 वसक-निपात ३२९
 वसिष्ठ कौसल ३५३
 वसिष्ठाय ५५६
 वसिष्ठी बोध वस २१३ २१४
 वसुधर-सुत २९१, ३२ ३४४
 वस्यसत् ४२९
 'वृष' १८३ ८८ ८८१ ८८७
 वृष्यती (गरी) ६
 वाह १४ ३२, १०३
 वात-कवा ५८
 वाघरथि (राम) ५९३
 वासपुष्ट (सुरेन्द्रनाथ का) ६
 १ १५१ १५२ १७ १७५,
 १७८, ३६२, ३६४ ३७३ ७८४
 ७८७ ८१३ ८६४ २, ९ ३

९३६ ९४३ ९७१, ९८४,—और
 वे (सुशीलकमार, का) ३६२,
 ३६४
 'वासवोष' १ ७१
 वास्य भक्ति ६ १
 वावशापि प्रतीत्यसमुत्पाद ३९
 ३९२, ९९६
 'वि अमिबर्म लिखरेणर' (तकाकनु)
 ३३१
 'वि अवेकनिप ओष फेय इन बुद्धिजम
 (सुबुद्धी) ५८२, ६७७
 'वि आगमशास्त्र और बीडपार'
 (विपुगोवर भट्टाचार्य) ९६६
 'वि औरीजिनक एण्ड डिबेलण्ड
 ओसिदुस्त और इण्डियन बुद्धिजम
 (विमुरा) ६३ ६३५, ६५८
 'वि पोत्यक और एशिपा' (के ओ
 साईर्स) ५९१
 विद्याप (आचार्य) १७१ १७२,
 १८५, २१४ ३ ५८३ ६३७
 ६५ ६५१, ६६५, ७ ३ ७११
 ८५२, ८५३, ८५७ ८६१ ८६२,
 ८६३ ८७३ ९७६, ९९
 १ १ १ ६ १ ४५, १ ८८,
 १ ९६, ११ १
 विदुष घम्भ ४८८,—मिथ्या २४
 विदुषम्माभिनिष्पत्ता ४९७
 विद्वि १९ १ ५१८
 विद्वियत-सुत ४४१
 विद्विषय-जल ३६९, ५२४ ५२५,
 ५२७

विष्णु-संयुत ३२८

विष्णुपावन ३९९

‘वि कन्तेप्यान ओष बुद्धिस्त निर्वाण’
(खरवास्की) ९४

‘वि डॉकिडुम्भ माव वि सर्वास्तिवासम्’
(तकाकसु) ६३

‘वि फिलातकी ओष वि अपनिबद्ध’
(वण) ८५

‘वि फिलातकी ओष वि अपनिबद्ध’
(डायसन) ७५५, ७५९, ७६२,
८७८

‘वि युद्धिस्त’ (मातिक) १९३

‘वि बुद्धिस्त फिलातकी’ (कीव) ६३४

‘वि बुद्धिस्त फिलातकी ओष वि खर
पाव स्कूल (एग के भागवत)
४ ७

वि बोपिस्तव डॉकिडुम्भ इन युद्धिस्त
संस्कृत लिटरेचर’ (हूरव्याल)
३३९, ३४३, ३६८, ३६७
४४८, ५७५, ५७६, ५७७, ५८३
५९, ५९१, ५९४, ५९६, ६१५,
६१८, ६२४, ६२७, ८४३

वि रिक्कीजन्त माव हण्डिया’ (बाव)
८३५

‘वि लिबिन पांड’ (मावन लोडर
वलोम) ३६, ५४५

‘वि लिबिन पांडम् ओष वोलम वि
बद्ध’ (मावन कमारवामी)
२५, ४५८

हिर्मीव ५

हिर्मीवदान ३५, ३३८, ५५९

५६६, ५८, ५८५, ६ ७, ६१९,
६२७

‘वि धावकोलोबीकव एटैट्पूड ओष
वि अर्ली बुद्धिस्त फिलातकी’
(अनापारिक बी गोबिन्ध) ४ १
४ ३, ४३९, ४६३, ५३२

‘वि लैन्डुल कन्तेप्यान ओष बुद्धिस्त
(विमुञ्जवर नहुआचार्म) ३९५,
४२९, ४५४, ५१२, ५६८, ६६८,
६९८, ६९९, ९ ७

‘द्वितीय बुद्ध’ (वसुवापु) ६३६
द्विबेबी (एजारीप्रसाद, आचार्य)
११५, ११६, ६१२, १ ६१

बीय तपस्ती ८३६

बीधनप्र-सुत ८३, ३२६, ३६८

बीय (बीय तिकाय) ४ ७, १४

२८, २९, ५६, ८३, १३८, १९

२ २, २२, २२१, २२४, २२८

२२९, २३३, २३४, २३६, २४

२४१, २४६, २५२, २६६, २७७,

२८४, २८५, २८६, २८७, २८८

२८९, २९१, २९२, ३११, ३१५

३१६, ३१७-३२, ३३६

३३७, ३३८, ३४, ३४८, ३४९

३४४, ३४६, ३४८, ३४९, ३५४

३५८, ३५७, ३६, ३६८, ३६४

३६६, ३६८, ३७, ३७१, ३७७,

३८३, ३८४, ३९४, ४, ४११

४१९, ४३१, ४३८, ४३९, ४४७

४७६, ४७९, ४९४, ५२५, ५३८,

५३२, ५३७, ५७९, ५८५, ५८८

६४ ६७, ६३३ ६७४
 ७१७ ७३२ ७३३ ७४२, ७४२
 ७४४ ७४५, ७५ ७५४ ७५५
 ७७८, ८३५, ९११, १ २,
 १ ३६

बीषिक (स्वविर) ५७
 बीमरपालु गिरि (बाबा) ८
 बीषर्ष ५४९, ५५ ५३७
 बीषंकर बीमान (आचार्य) ५७१
 बीषंतमसु (श्रुति)
 बीषपिप ६३३
 बुद्ध (आय सत्य) २७३ ६८६—
 समुद्रय २७३ २७५, ५३ ५३१
 ६३३,—निरीय १३, १६१
 २७५, २९१ २९२ ५२३,—
 सारिप में ८७४-८८४—निरीय
 गामिनी प्रतिपद् २७५, २९१
 २९२, ५३ ६३३—निबृति
 बान का प्रयोक्त ४३; ७५१
 ८२७, ८९९, ९ ३ ९ ३

बुद्ध बित्त-मुत्त ४७६
 बुद्धत अपराध २८६, ३१२
 ब्रह्म (बोधितस्व-भूति) ६२
 ब्र (गुणीतरमार का) ६६२,
 ६६४ १ ७२
 ब्र (आचार्य) ६५५, ब्रह्मि 'आयं
 ब्र' ।
 ब्रह्मपुत्र (ब्रह्म) ५८८, ५८९
 ब्रह्मा बाग ६ ८
 ब्रह्मा सत्त ३३७
 ब्रह्मत २८ ३ ७ ३२२ ३४२, ५३३

ब्रह्महृ ब्रह्म ३२५
 ब्रह्महृ-मुत्तमा ३२५, ५३९, ८३७
 ८३८, ८४२, १ ३६
 ब्रह्महृ-मुत्त ३२६
 ब्रह्महृ-मुत्त ३२७
 ब्रह्महृ १४ ४४
 ब्रह्महृ-मुत्त ५९
 ब्रह्महृ ५९
 ब्रह्महृ (स्वविर) ५८३ ६३१
 ७११
 ब्रह्महृ (आचार्य) ८४७
 ब्रह्महृ विद्य तिरात २ २, ८३३
 ब्रह्महृ-मुत्त ३२१
 ब्रह्म १७२, ८१७ ८७८, १ ४९
 ब्रह्म १७२ ९३६
 ब्रह्म २२७
 ब्रह्म (ब्रह्म) २२ २८८
 ब्रह्म ७३७ ७४५, ७५
 'ब्रह्म' ७२७

घ

घननाल (हाथी) २८
 घन २ ८ —बी अनुस्मृति २८९
 २९५, ३ ९, ४५४
 घनमुत्तिका (घनमुत्तिर—बी
 समुद्राय) ५५१
 घनपराध-वत्त-मल १३ १८,
 २१८, २७२ ३७६ २९१ ३६२,
 ३६४ ४८९ ७९५
 घनपराध-मुत्तमा ३२४ ५३१
 घनपराध ५३८

बन्मद्विधा-सुतता १२१, १२ ४७७
 ४७९, १ ९४
 बन्मद्विधा (निजुबी) ८, १४८,
 १२२, १५४ ४५५, ५ ४ ५१९
 बन्मद्विधा (बर्न निपासता)
 २८९ १७८, ५३८, १ १
 बन्मद्विधा १० १२, २९ १५, १८, १६,
 ८१ १४ १३९, १४४ २३६,
 २४८, २७ २९५, ३१५, ३३६,
 ३३९, ३६२, ३७ ४१ ४३३
 ४७४ ४७९, ४८५, ४८९, ४९२,
 ४९४ ४९८, ४९९, ४९७ ५
 ५ १ ५३४ ६ ८, ७ १ ७ ९
 ७२६, ८२ ८४४
 बन्मद्विधा (बन्मद्विधा) १ ७
 बन्मद्विधा (बन्मद्विधा) १३५,
 ५८३ ७११
 बन्मद्विधा १३१
 बन्मद्विधा—बन्मद्विधा 'बन्मद्विधा' ।
 बन्मद्विधा १३ १३५, १५४
 १६ १९२ ४३२ ४३४ ४३७,
 ४७१ ५१८, ५३१ ९८१
 'बन्मद्विधा सन्मद्विधा' ४८४
 'बन्मद्विधा' १३
 बन्मद्विधा-सुत ११६
 'बन्मद्विधा बन्मद्विधा' १२
 बर्न ६, ७, ९ १६, १८, २ २७
 ३४ ३७, ८२, ११८ १२४,—
 की व्युत्पत्ति ११९, १२१ १२२
 —के विभिन्न अर्थ ११९—की
 सत्य के साथ एकता ११९ १२

१२३ १२४ —की व्युत्पत्ति सत्य
 से १२, —से बर्न सत्य १२ ;
 १८९, २ ७ ४९२, ११९ १२०
 बर्न-बन्मद्विधा ४२५, ४३६ ४४१
 बर्न-बन्मद्विधा १२१ ५८४ ५८५, ५९२
 ६२४ ६३६, ६३७, ६३८, ७८८
 बर्न-बन्मद्विधा (बन्मद्विधा) १२५, १३४
 १७१ १७३ १८२, १८५, २१४
 ३ ४४७ ५८३ ६३७, ६३
 ६५२, ६६४ ६६९, ७ ६, ७ ६
 ७११ ७२१ ७४३ ८३८, ८४६
 ८५३ ८५५, ८५६, ८५७, ८५९
 ८६३ ८७६, ९९ १ १
 १ ६, १ ४५, १ ८८ ११ १
 बर्नता ७ १ १ ५२
 बर्न-बन्मद्विधा (सत्य) १५
 'बर्न-बन्मद्विधा' २१२ २१४ ५२७, ६१३
 बर्न-बर्नता-बर्नता ६४९
 बर्न-बन्मद्विधा ६७६, ६७७
 बर्न-बन्मद्विधा ४४६, ६७९ ६८८
 बर्न-बन्मद्विधा ६३४
 बर्न-बन्मद्विधा (बन्मद्विधा) ५८६, ६५१
 बर्न-बन्मद्विधा ६७८
 'बर्न-बन्मद्विधा' १५, १९९, ६ ७, ११ ४
 बर्न-बन्मद्विधा (सन्मद्विधा बन्मद्विधा) ११३
 बर्न-बन्मद्विधा (बन्मद्विधा बन्मद्विधा) ६२
 बर्न-बन्मद्विधा (बन्मद्विधा) ५७१ ६२५, ६३३
 बर्न-बन्मद्विधा (बन्मद्विधा—बन्मद्विधा के
 पुत्र) ६३
 बर्न-बन्मद्विधा (बन्मद्विधा बन्मद्विधा)
 ६३५, ५२७

धर्म-विषय ३६१
 धर्म-विषय १
 धर्म-विषय (धर्म और विषय) ६३
 २८९, २९८, ३१० ३१२ ३१३
 ३१७, ३५८, ४९
 धर्म-सुखता ६२ ३२२, ६८२
 ८४१ १ ५२
 धर्म-समता ५८२, ६२ ३२२
 धर्म-स्मृति (अनुस्मृति) २८८, ३४४
 धर्म संवीतिर्या (तीन बीड़) ३ ३
 ३१४
 धर्म-स्वभाव ३६४
 धर्मस्वभावपाद शास्त्र ३३१
 धर्म-सन्तति ४८४
 धर्म-संभारता २९३
 'धर्मसंग्रह' २४७ ३३९, ३५१
 ३५८, ३६१ ५१२ ५५९, ६२८
 धर्म-सूत्र ३७
 धर्मशास्त्र (आचार्य) ३३५
 धर्मानुपपत्ति (धर्मों में धर्म को
 रीतिना) ३३९, ३४४ ३४९,
 ३६६ ४५७
 धर्मान्तर कोतम्बी (आचार्य) २५८,
 २५९, २६१ ३१४ ३३५, ४ ६
 ४७१ ५२७, १ ७९
 धर्मास्तिकाय ८४५
 धर्मांतर (आचार्य) ३३७ ३३८, ८५३
 धर्मांतरीय (बीड़ सम्प्रदाय) ५५१
 धातुपद (छह, अठाइह) ४२५, ६२४
 ६३९, ६४१ ६४२, ६४३ ६४५
 धातुका ३१६ ३३ ३३१, ६३१

धातु काय पाद शास्त्र ६३१ ६३३
 धातु धमक ३३१
 धातु विभाग ३३
 धातु विभाग-मुल्लत ३२६ ४४१
 ४९१ ५०६
 धातु-संयुक्त ३२७
 धातुवाचि-मुल्लत ३२४ ५ ५
 धातुवृत्तक ५५३ ५५८, ५७
 धारणी ५६३
 ध्यान १९, ७८—धार २६८, ३४३
 ७७८ ७९४ ८१२ ८७३ ९ २
 ९ ५, ९ ९९१ ९५६, १ ७६
 ध्यानी बुद्ध १ ५१
 ध्यान-बीड़ धर्म—हेलिये 'जल बीड़
 धर्म' ।
 धीरा (भिक्षुकी) ४९७
 धृत्य ८३
 धृत्य तथा ३३३
 धृष्ट (मल्ल) ९, १ ५७
 'धृत' आचार्य २४१
 धीतकमापद-गुच्छा २३६

न

नगर-मुल्ल २१९, ७८७
 नगरविश्वप्य-मुल्ल ३२६
 'न क ली न क अम्भोनि' ४८३
 नक्षिरेतत् ६९, ७५९, ७८५
 नक्षि ३३२
 नक्षिक्काव (नास्तिकवाद) १९२
 'नाचक निध्यान समवितापनिव' ५२३
 नदी काटप २२२

मन्त्र ३५ ३५९, ३६ ३६३ ३६७
७४१

मन्त्र वातस्य ८४१

मन्त्रक ४२१

मन्त्रकोवाह-सुतान्त ३३६, ३३१ ४२१

मन्त्रमापक-मुष्का ४९९, ७४१

मन्त्रमाता ३७९

मन्त्रा (निम्बुषी) ८३४७

मन्त्रिय (मिन्नु) ३२२

मन्त्री (तुम्बा) ३८३ ४२४ १ ८२
१ ९८

'मन्यो ही रेंप्ये न्यो' ५७२

मन्त्रपात-सुत ३२३

मन्त्र-मिपात ३२९

'मन्त्रीत' (बीका 'अभिधम्मन्त्र संग्रह'
की, बर्मान्त्र कोलम्बी कृत) ४७१

मन्त्र न्याय १७१ ८५१ ८५२

मन्त्रिय बुद्ध-वचन ३१७

मन्त्री (मन्त्र) ३२, १७३

मन्त्रि परलोकवादा ३१९, ८२२

मन्त्र-विद्या ९, ५९

मन्त्रोत्तम ३६, ३५१, ३ ९, ३ ३, ३३२,
३३३ ३३४ ४४४ ४४५, ४४७,
४४१ ४८२, ४८४ ५१ ५१७

५२२, ५२८, ५३९, ५८३ ६७१
९७५, ९७७ १ ११ १ ३९

मन्त्र-संयुक्त ३२८

मन्त्रार्जुन ७५, १७ १७१ १७२, २१४
२४७, २५२ ३ ३३३, ३६
३७९, ४ ३, ४१२, ४४७, ४४८,
४५४ ५ ७, ५१७, ५५४ ५५५,

५५६, ५५७, ५६४ ५७ ५८२

६२४ ६२६ ६२८, ६३५, ६५१

६५२, ६५२-६५६ ६५७ ६५८,

६६१ ६७९, ६८ ६८४ ६८६

६८७, ६८८, ६९१ ६९२, ६९३

६९६, ६९९, ७ ७११ ७२१,

८५२, ८६१, ८६३ ८६४ ८६५,

८७३ ९५४ ९६९, ९७३ ९७५

९७७ ९८८ १ १ १ २

१ ५, १ ९, १ ४४ १ ४८,

१ ७१ १ ८८ १ ९६

'नामानुम बोधितर' के मुत्से ३५४

नामानुमी कौंड ३५४

नामोर श्री बर्मराज ५६८

नामपत्न्य १ ५४ १ ६ १ ६२,
१ ७७

नामक (गुण) १५, ३२

नामावात १ ५८

नामत्त्व सँका (का ग्रहाण) ९७१

'नाम' ४१, ३२, ४२८, ४३६

'नाम एव' १ २,

नाम साधना (महापाल में) १ ७४

नामदेव (भक्त) ९, १७३

'नाम-कर्म' (नाम और कर्म) ३८८,

३८९, ३९१ ३९५ ३९८, ४

४ १ ४ ७, ४३१ ४७१ ४७२,

४८४ ३३२, ७६ ७७१ ७८३

८८८ ९७५, १ २

नाम कर्म-निरोधा लक्ष्मयतननिरोधी
३८७

नामकर्म-पञ्चवा लक्ष्मयतन ३८७, ३९७

‘नामकर्म को महाराज पतितम्बुहति’
४८४

‘नाममार्ग इव धनुत बुद्धि’ ५५८
नामु समिता कुत्तु (नामः समित
बुद्धाय) ५७२ ५९८, ६

न्याया (जल प्रपात) ३९

न्याय (वर्णन) १८१ १ ३ १ ४ १ ५,

११८, १२७, १२८ १२९ १३

१३८, १३९, १५२ १६७, १६९

१७१ १७७ १८ १८२ १९४

२१ २२५, ४ ७ ७ २, ७ ६,

७२२ ७२६, ८७८

—मीर बीर वर्धन ८५१-८७१

न्याय कम्बुजी ८५९

न्याय कुसुमावलि ८२४ १ २८

‘न्यायकोश’ १७९, १८ १३३

१ २९

‘न्याय प्रवेश’ ६५१ ८५२, ८६१

‘न्याय प्रवेश तर्कशास्त्र’ ६५१

‘न्याय प्रसादिनी’ ६३७

‘न्याय प्राप्य’ १९ ११ १ १ १२८,

१६१ ८५२, ८५३, ८५५, ८६१

८६२, ८६३ ८६४ ८६५, ८६६

८६८, ८६९, ८७ ८७२ ८७३

८७४

न्यायचक्रवर्त १ ३१ १ ३२

‘न्याय मञ्जरी’ ६५२, ७ ६ ८५३

‘न्यायवास्तिक’ १७१ ६५१, ८५३ ८५७

८६१ ८६५, ८६९, ८७ ८७२

‘न्याय वास्तिक तात्पर्य टीका’ ७ ६,

८५६, ८६२, ८७

‘न्याय विष्णु’ ६५२, ८५३—टीका ८ ९

न्याय-बीरोपिक ११८, १२४ १४

१७१ —मीर बीर वर्धन ८५१-८७५

न्याय-सूत्र ४ १ ३ १२७, १७७

६४१ ६८ ६९३ ७२

७२१, ७२२ ८५१ ८५२

८५५, ८५६ ८६३ ८६४

८६५, ८७ ८७२, ८७३

न्यायसम-बुद्धि १८२, ८६६

न्यायान्तार ८४७

नारद ५९, ६ ६५, ६६, ७५९

नारद (मिश्र) १ ६९

नारद पुराण ७२५

नारद-सूत्र ६९, १७४

नारायण ६१८, ८ २, ८ ४ १६६

१ ४३

न्याय (सम्प्रदाय) १ ५४

नालक (काल बेगल का मानका)

२५८

नालक (घाम) ९८१

‘नालक मान’ २५८

नालक्या १४६, २ ६, २८४ ५५७

५५९, ५६६, ५७१ ६५१ ६५४

८३७

‘नालकिका’ (टीका ‘अभियम कोश’

पर, राहुल साहस्रपायन-लिखित)

६, ६३९

नासदीय सुक्त १२४ १५८ १ ७१

नास्तिक (मत) १ ४ १ ५—

बनाम नास्तिक मत १७७-१९५;

३८३ ७२२, ७२९, ८ २—मीर

बीड बार्नि ८९१-८९९; ८४१
 ८९४ ९३१ १ २७ १ ३८
 १ ८७
 'नास्मि न मे नाहम्' ११ ४४३, ४५५,
 ८९६, ८९७
 निपष्ठ (निर्णय) ९९, १७८, ५२४
 ५२५, ७२३ ८३४ ८३५ ८३६
 ११
 निपष्ठ नास्मिन् (निर्णय आनुप्रास)
 १८४ २२८ २३ ३१९ ३२४
 ५३७, ८३५-८३९
 'निर्णय प्रथम' (मुनि शौचमन्त्रजी)
 ३२
 निपष्ठ-स्वात २२५, २३६, ८५४
 निबिरेत् (आपानी बीड सन्त)
 २ २, ५७२
 निप कर्म (बुद्ध-सासन) ४२
 निपता-निपताबाह २३८, १ ४५,
 देखिये 'आवृत्तबाह' और
 'आवृत्तबाह'।
 निबल-कथा २३२, ३३९, ५ १ ३१
 निबल बन्ध ३२७
 निबल-संपुत ३२७, ३८ ३८५,
 ३८७ ३८८, ३९ ३९१ ३९५,
 ३९६
 निबेस ३१५
 निबेस (निर्णय) ४ ९, १२, १३
 २ ४८ ११६, ११८, १२७,—
 और बहलोक १४८, १८४
 २८२, ३२५, ३३७, ३३९, ३४७,
 ३४९, ३६६, ३६८, ३७ ४ ९

४२९, ४४३ ४४७ ४५३ ४५४
 ४५५, ४६४ ४८७-४२३ ५३६,
 ५८७, ६ ४ ६ ५, ६११ ६२५
 ६४६, ६४७ ६७१, ६७६, ७८४
 ६८६, ६८८ ७ ९, ७ ८, ७४६,
 ७४६, ७६९, ७७ ७७२, ७८१,
 ७९५, ८५ ८७२, ८९८, ९३६,
 ९४१ ९७३ ९७४ ९९५, १ २
 १ ३८ १ ६९, १ ७ १ ७४
 १ ८५—और बहलोक ८१०-
 ८१२

'निर्णय' ५२६
 निर्णय-काय ५७८, ६७८, १ ५२
 'निमित्त' ४२३
 'निमित्तवाही' ४२२
 निम्बार्क १७२, ७२७ ९३६, ९३७
 निबाप-सुत ३२१
 निर्वृत्ति ६५
 निर्वेरा ७४ ८४४ ८४६, ८५
 निर्विषेय १७३ ३१४ ३९९, ८२८
 ९३६, १ ३५, ११९६ ११ २
 निर्विषेय निबाह ७८१, ७८३, १ २
 १ ७, १ ८, १ ९, १ ११
 १ ४ १ २
 निर्व्यापिषेय (निर्णय) ५१८, ५२
 निर्वृत्त २, १९, ५६, ६६ ९८ ७३
 निर्वेय (समाधि) ३३२, ३४३,
 ७७९, ९ ६, ९ ८, ९३३ ९९७
 १ ५, १ ७
 निर्वेयस ४ १८, ३४ ३६, ४४ १ ६

१२२ १२७, ७९ ७९८ ८३३,
८ ५ ८७३, ८७४ ९३३

निबेकाविहमसानात्त संस्कार ६७

मित्रवाच (बर्म) ६८२, ६८६,
६८८, ६९ १ ४१ १ ५२

मित्रवय (पञ्चव) ३३१ ३९६
मौवरज (पांज) ३४९, ३५५, ५३२,
८४६, ९११

मीत्रे (बर्मन बार्मनिक) १ ८, १४५,
१४६, १९३ २ ६२१

'मीतार्य' ६५

मुद्रिहतापनीय अपनिबद्ध ९५८

'मेस्ति-नस्ति' ५ ३

मत्तिपकरण ६५, ३३२, ६१८

'मयार्य' ६५

महक (बचाहरकाल) १९२ १ ८१

मेरंकरा (मरी) ४

मैवाल २१३, २५६, ५९ ६२२,
६२३ १ ५१ १ ७६

मैपोलियन १५५

मेरात्म्यवाह ४४६, ५१६, ६४५,

६६९, ६८२, ६९४ ६९५, ६९८,

७८७, ८९८, ८५३ ८६६, ९४

१ ४३

मैव संज्ञानातंज्ञाप्यतन (म्याल) २६३

५ २, ५ ८, ७७९

मैवसम्झीलासम्झीवाह ३४

मैवस-वर्णित १ ९

मैवर्कर्म तिष्ठि ६५

मौवाहा (बम्मा) ४७१

मौवाहा ५

मंथियो (बुमियो) ६२२, ६२३
६२८, ६५५

प

पकृष कण्वायन (प्रकृष कण्वायन)
२२७,—महत्ततावाही २२८

२२९ २३ २४५

पञ्चवय (प्रत्यय) १२, ३३१ ३७३
३७४ ३७५, ४ ७ ४ ८, ४३२,
६८९

पञ्चमिय पठान २३३ ३९१

पञ्चमिय अनुलोम पठान ३३२ ३९१

पञ्चमियवदीयो (बम्मी) ७८९

पञ्चमयाकार विमंग ३३ ३९१

पञ्चमात्रा पञ्चम ३३१

पञ्चिमा वाचा (तवापत्त की) ६९,
३३७, १ ९७

पञ्चाक्षी-पञ्चगमा सुत २ २३२

२५७, २७८, ३७२, ७४७

पञ्चाचार (भिक्षुजी) ८ २७९

३६८, ४९१ ८३३

पञ्चिस्तान-सुत ६ ८

पञ्चिस्तान-सुत ३१५, ३१६, ३२९,

३३ ४२३ ४२४ ३२

पठान ३१६, ३२ ३३१ ३८७

३९४ ३९६, ३३१ १ ८४

पणि ८३

पणिदुल ५६६

पतञ्जलि ८९, ८७, १ ५, १२५,

१२७, १७ १७३, २२५, ३५१

५९ ८४२ ९ २, ९१३, ९१२,

११ १

पद्मपुराण १ ३४

पद्मानीय-सुत ३३८, ३५४ ३३९

परमिन्मयस ८७२, वैजिये 'निन्मयेस' ।

परमत्त्व—ब्रह्म ५—सत्त्व ३२१

—वचन ३३

परमत्त्व दीपनी ३६

परमार्थ सत्य ४५, ६७ ८ ८२,

१ ७, ११ १२४ ४ १ ५ १

५६२, ५७१ ५७८ ५८३ ६३७

६५१ ६७६, ६७७, ६८८ ६९१

७ २, ७२८, ७५५, ७७१ ८४९,

९५ ९६१ ९७२, ९७८,

९८ ९८२, ९८३ ९९१

९९२ १ ३९१ ४ १ ४४

१ ४९, १ ५२

परमत्त्वबौतिका २४९

परम बिहार (बोविसत्त्व-भूमि)

६२

परमार्थ (आचार्य) ५७१ ६३७

'परमार्थ सप्तति' ६३६ ६३७

परतीत ५७२

पराधीनमान ८६

पराशर स्मृति ८९

परा विद्या ३९, ४३,—सम्बन्धी

अग्निनिवेद्य भास्व के अपरा विद्या

सम्बन्धी निराकर का सूचक नहीं

४४-५८ ७१९, ८९७

परिष्कारक भाष ३३३

परिहारपाठ ३१६ ३३

परीक्षामुद्रा ८४७

पद्मपुराण (अन्त) १५

पसुर-सुत २३६

पम्ह ५७६

प्रकृति १ ९, १० ११ १८ ४९,

५४ ६१ ६२, ११८ १३९

६९९, ७३ ८ ६, ८१८, ८७५

९ १ ९१२, १ ९२

प्रकरणपाठ शास्त्र ६३१ ६३२

प्रकरण पंचिका ९२५, १ २९

प्रजापति ४६, २२ ७५९, ७८५, ९२७

प्रजापति परमेष्ठिन् ((भूवि)) १ १

'प्रजिवात' ६१९

प्रतर्जन २४९, ७१९, ७५२, ७५९, ७८५

प्रतिपद् ५४३ —जीर प्रपति १ ६३—

१ ६९, १ ७४

'प्रतिपद्' १९८, १ ९९

प्रतिसंख्यामिरीय ४२४ ६४१ ६४२

६४३ ६४७ १ ६ १ ७

१ १९

प्रतिसंविद् बिहार (बोविसत्त्व-भूमि)

६२

प्रत्यभिज्ञा ७ ७-७ ८

प्रत्यभिज्ञा (सम्प्रदाय) १ ७५

प्रत्यय संय ८८८

प्रत्यय (प्रमाण) ७ ६ ८५५, ८८२,

९ ८, ९२३ ९३८, ९९१

प्रत्येकमुद्र (पञ्चेक मुद्र) ३२५,

५६ ५८१ ६ ५, ६४५, ६४६

८४५—पाठ ५६१ ६६३—

बोवि ६ ५, ६४८

प्रतीत्य समुत्पाद (बटिबतसमुत्पाद)

४ ४१ १११ १९ २ ४

- २१६, २२९, २३१, २३८, २४४
 २७ ३१९, ३३१ ३४१ ३७३
 ४१ ४१७, ४२१ ४३१ ४३७,
 ५ ६, ५१९, ५४६, ६३२, ६५२,
 ६५६, ६८ ६८५, ६८९, ६९२
 ७ २ ७३२ ८२ ८२६, ८७३
 ८८८, ९ ६, ९८९—का प्रया-
 ग्याय संकर के द्वारा ९९६-
 १ ११ २, १ ६, १ ९,
 १ १७, ११
 'अर्धोपसर्ग शिख' ७८ ९५८, ९७२,
 ९७३ ९८४
 प्रमायनीमांसा—श्याय की ८५४
 ८६६, छांत्प की ८८१-८८४,—
 पोष की ९ ८—पूर्वनीमांसा की
 ९९३-९९७,—संकर की ९९१
 १ ४१ १ ४२
 पूवप्यन ९९, २७२, ४३ ८१
 ८२३
 पूव ५
 पयसाह १ २९, १ ३२
 पयसप्यन ६१४
 प्रकाशतम (आचार्य) १ ३२
 'प्रकाश' ७ ११६, १८४ १९७
 २६४ ३५७, ३६६, ३७ ३८४
 ३४५, ७ २, ७४५, ७५८, ८ १
 ८ ९, ८२ ८८१ ८८७, ८८८,
 ९ ३ १ ६४, १ ६५, १ ९४
 प्रसति ५४३ १ ६३ १ ६९, १०७४
 प्रवीण अनीदय ८२४ १ ३८
 की ७३
 प्रमाकर ९२२, ९२३ ९२४ ९३३,
 ९३४
 प्रमाकरी (बोधिसत्त्व-भूमि) १२
 प्रभुति ४४ ४५, ७१२, ७१३
 प्रमा ४ ८, ८५५, ८६६
 प्रमाचनपत्तत्वालंकार ८४७
 प्रमायवातिक १२५, १८२, ३५२,
 ७१८, ८२८
 प्रमाय विध्वंसन ३५५
 प्रमाय विनिश्चय ३५२, ३६९
 प्रमान समुच्चय ३५१ ८५२, ९७६
 प्रमान समुच्चय-भूति ३५१
 प्रमुद्रिता (बोधिसत्त्व-भूमि) ३२
 ३५५
 'प्रबचन सार' ८३८, ८५
 'प्रवासी' ५१ ५२, ५३ ६६९, ९६६,
 ९७३ ९८२
 प्रवाह्य २२७, ७५९
 प्रस (प्रज्ञोपनिषद्) ४ २
 ४८, ७३ ९५, ९६, १६८, ७४८,
 ७५५, ७७३ ७७५, ७७६, ७७७,
 ७८१ ८७८, ९ ६,—पर छांद्-
 माय्य ७७५, ७७६, १ ४
 प्रसस्तपाह भाव्य १७१
 प्रस्वानमोह १७७
 प्रसन्नपदा ३५७
 प्रसेनसिन्धु (पत्तेनदि, कोठकराज)
 २७८, ४५५, ५२ ५३१
 ५९५
 प्रह्लाद ४ ८ १ ५७

प्रकृतिपात्र शास्त्र ६३१

प्रकृतिपात्री (बीड सम्प्रदाय) ५५

५५१

प्रज्ञा—१३—का लक्षण १२९,

१४ १४१ १४२, २ १—बाह

२३४; ३५१ ३५४,—स्वप्न

३६३,—बी परिभाषा ३६४;

४६७, ४६८,—काय ५८४,—

अन्धमा अज्ञा ३५३; ७१९,

७११ ७१४ ८१५, ९१०

प्रज्ञापरमिता १९, ५५३, ५६९,

५८४ ६ ६१८ ६२३-६२४

६४९, ६८८, ६८९, ६९३, ९३९,

१०७६, ११ २

प्रज्ञापरमितासूत्रवस्तु १ ७६

प्रज्ञाप्रवीण ६५७

पञ्चक निवृत्त २२९

पञ्चनेत्रात्मिक ३१६

पञ्चपञ्चिका' १ २९, १ ३२

पञ्चप्रतिष्ठा (संपीति) ३१३

पञ्चप्रतिष्ठा (प्रज्ञापरमिता) ६२३

पञ्चप्रतिष्ठातत्त्विका प्रज्ञापरमिता

३२३ ३२४

पञ्चवर्णीय भिक्षु २५८, ३७२, ३६२,

४२३

पञ्चविध (अवि) ११ ८ ८,

८७५

पञ्चमीक २९, ६३३

पञ्चसप्त-सुत ३२५

पञ्चसप्त १११ ३२२

३२५, ३३ ३९६—और अना

त्यबाह ४२८ ४३६; ४३७,

४४ ४४१ ४५ ४५३ ४६३,

४९४ ५११ ५१३ ५१८ ५३८,

६३२, ६४३, ७७ ७७१ ८९१

८९७, ९ ६, ९ ७ ९९३, ९९४

९९५

पञ्च तत्त्वाभासे ८८७

पञ्च महाभूत ८८७

पञ्चालि (तप) ८६

पञ्चाव ५२, ८३१

पाहवतोरस (प्रीक बार्थनिक) २३१

पार्थिव (प्रायश्चित्तिक) ३३

६३४

'प्राक्च बर्धन लमीका' (बावू

जातिनाथ) १ ८८

प्रायश्चित्त २८४

प्रायश्चित्त ३१३,—बी बंधीति ३१३

३१४ ५५२, ५६६, ५६७

प्रायश्चित्तमिय बुद्धा ४९९

प्रायश्चित्तमिय बन्धो ४८८, ४९५

५ २, ५ ३ ५ ८ ५१५

प्रायश्चित्त (पापेय) बाप ३१८ ३१९

प्रायश्चित्त बाप ४७६

प्रायश्चित्त ५६, ३५८, ५८७, ७५६

८५३ ९१८

प्रायश्चित्त (प्रायश्चित्त) ३१३,

३३ ३३,—सर्वर ३३३)

३६४ ३२८, ३३४

प्रायश्चित्त (पीय) ४९, ३६५

प्रायश्चित्त ५३७

पायसि रामञ्ज सुत १९ ३१५
८२२

पारमिताएँ २८१ ५५७ ३१८ ३१९,
१ ३८

पाराजिक (पाराजिका) २ २१८,
२३८, ३ १ ३१७, ३३ ५२४
५२५, ५२७, ३३४

पारायण बग्यो ३४ ४७८, ४९६,
४९७ ४९८, ४९९, ५ १ ५ ३

पारिलेय्यक (बल) ४२ ३ ८
पाण्डप ५३७

पाणिपन (बाति) ५७३
पाण्डित ४७, ८३२

पार्वती ७
प्रातो (पौरो) ११३ ११८, ३१७

प्रात (बस) २ ७, २१ २११
१ ५४

प्राचामाम ७५७, देखिये 'आनामान
सति' ।

प्राति—निकाय ३१४ ३२५, ४२
४२१, ५३७, ५९६, ८४१,—का

बर्गन १९७-५४६, ८३५, ८३७,
८३८, ८३९,—बम्म २१३,

२१४ ३३ ५७९ ५८६ १९७-
५४६,—मावा और साहित्य

२९९ ३३६,—त्रिपिटक ८ १९
१२७, १५६ १८४ १८६, १९२,

१९३ २ ८ २११, २१६, २१९,
२२२, २२३ २२६, २३ २३७

२३८, २४२, २५२, २५४ २५६,
२५८, २६४ २६६, २७१ २७९

२८६, २९९ ३३२, ७३६, ७३९,
७५९, ८१४ ८३३ ९९७,—मूल

बुद्ध-वर्णन को जानन का एकमात्र
मार्ग २९९ ३ ४ —के प्रबों का

सम्बन्ध विस्लेषण ३१४ ३३२
३३५, ३३६, ३३८, ३३८, ३८२,

३८७, ३९ ३९१ ३९९, ४३९,
४९१ ५३५, ५७८ ५७९ ५८२,

५८३ ५८४ ५८५ ३३९ ७१
७१२

'प्राति विज्ञानरी और प्रोवर नेम्स'
(मल्लसेकर) ८४

प्रातिपाय ३ ४
प्राता २८६ २८८, ८३६

प्रावेयक ५४८, ५४९
प्रावितारवि (आचार्य) ९२३

प्राज्व (स्वविर) ३३ ३३१
प्रावर्तनाथ (जैन तीर्थंकर) ८३२

प्राभुवत सम्प्रदाय ५९
प्रासप्राति सुत ९४

प्रासादिक-सुत ३२ ३४१ ४११
४४७, ५३१ ३ ७

प्राञ्जवराज (सम्प्रदाय) १७४
१७८, १ ७५

प्राकुनेय्य ३१६
पिठरपाक ८५२

पिण्डिपत्तपारितुद्धि-सुत ३३६
पित्तिक (रोग) ५६७

पिनुयान ४४ ७३५, ७५५, ८१०
पिण्डिपत्त ९५, ७७१ ७७४

पिण्डिनी बत २८८

निवीतिशत मध्य (तप) ८६
 स्थितशतक तुल ३२४ ५३४
 पितृ १०७८
 पित्रु (श्रुति) ५३
 पीतुपाठ ८५२
 पुष्पाभिर्लसत् ३९४
 पुष्पपात्र (मित्र) ६६ ७११
 पुष्पाभुजोचना ६ २
 पुष्प-सुत ४२४ ४२७ १ ८२
 पुष्पकनाभ-पुष्पा २२२ ७४
 पुष्पोबाह-सुमत्त ३२६, ४१९
 पुष्पवर्णन ५६६
 पुष्पक (पुष्पक) ४२८, ४४६,
 ६३२, ६३६, ६४१ ६९२
 पुष्पकपञ्चमसि ३१५, ३१६, ३३
 ३३१ ३३१
 पुष्पकवयो ६३१
 पुष्पक-नीरात्म्य ६७ ६८३ ६८६,
 ६९६ ६९७
 पुष्पक कृष्णता ६२ ८४१
 पुष्पक-बीज वर्णन ४८२-४८५,
 बीजा ४८१-८११
 पुराण (मित्र) ३१२
 पुरातन मिश्रवाणी (रात्रि लोका-
 त्याग) १३४ १३५, ५५
 ५५२, ५५३, ५५४ ५६३ ५६४
 ८२६, १ ७६
 पुरातनवाच १७३
 पुष्प १ ११ १८, ४५, ५४ ७७८,
 ८ ६, ८१८, ८७५-९ १ ९ ३
 ९१२

पुष्पाब्धि ४, १६, ९७, ७९६, ८७२,
 ८९० ८९८, ९४८, ९७६
 पुष्प-सुत ७३ १२२, ७२४ ७३९
 पुष्पपुर ६३६, ६६१ ७१२
 पुरेवात (पञ्चम) ३३१ ३९८
 पुष्पि ५६७
 पुष्करसाहि (पोष्करसाहि, ब्रह्मण)
 ८३
 पुष्पिमार्य १ ६६
 पूर्ण (मित्र) ४१६, ४२४ ६३१
 पूर्ण कस्तुर (पूर्ण काश्यप) २२७-
 २२८,—का मत अक्षिपात्र
 २२८,—का जीवन-सुत २२८
 पूर्णप्रव वर्णन ६५
 पूर्णिका (मिश्रजी) ८
 पूर्वनिवासानुत्पत्ति ४७३
 पूर्वमीमांसा (वर्णन) १८, ३१ १ ४
 १ ५, १२३ १३७, १३९,
 १७० १७१ १७२, १८ ५३७,
 ६९ ७२६, ८६६ ८७१,—मीर
 बीज वर्णन ९१८-९२५
 पूर्वदीर्घ (बीज लम्बाय) ५५३,
 ५५५, ५५६
 पूर्वान्तरिपिक (बुद्धिर्मा) २३८-
 २४ ३४१ ५२४
 पूर्वाराध ५६७
 पूर्ण (अक्षिपत्र विद्वत्) ३७४
 ३८५, ५९१ १ ७८
 पेरुपेरु ३३२
 पेरुकी ३१६

बेतवत्तु ३१५, ३१६, ३१९

वेमपारव वण्णो ३३२

अथ १२ ४४

वेरिरा (वेसिमस ए) ४७१ ४७२

वेम्वार ३३ ३३१ ७१२

वेम्पार-सुत्त ४ २९२, ३ ८, ३३४

३८३ ४३५, ४४७

वेत्तम्मिमुत्त (परिवाक) ८३

वेत्तम्मि सुत्त ३२३, ३३८, ४७३

पो-लि-सुत्त ५७२

पोरावाचरिय ३

प्रीतेयोमेता इ ए हिस्ती ओव बुद्धि-

रिक्क छिलोच्छकी (वेनीमाव

वात्त आ) २११

पोत्तिक्कल हिस्ती ओव एग्गियम्ह

इग्गिया (राय बीयरी) ३३३

फ

'फत्त' ३५

फत्त-निरोवा वेदनानिरोवो ३८८

फत्त-पञ्चमा वेदना ३८७, ३९८

फार्हुहार (वे एन) १४३

फात्तवात्त (बी) १ ७८

फामुकारि-सुत्त २३७ ३२४

फारि ५३

फाह्पाव २ २, १ ५१

फिनीप्पिया ५

'फिनीप्पि एण्ड तिग्गि' (ओत्ते

एण्डम्ह) ३३ ३४

'फिनीप्पि ओव एग्गियम्ह इग्गिया'

(नाव) ८६६

फोत्त ४७

ब

बन्धुत्त सुत्त ३२५, ३ ८

बर्बत्ता ४१ १ ८४

बर्बत्त (बे) ५५३

बर्बत्त १ ३३

बर्बत्त रत्त १०८४

बर्बत्तियम्ह १०५३

बर्बत्त (ई) ३८५, ८७९

बर्बत्त २ २, २ ८, २१३, ३ ४

३३३, ४१२, ५३७ ५३८, ५३९

७१३

बर्बत्त (पाँच) २३१ २५१ २८५

३३३, ३३७, ३३८, ३४३ ३५७,

३६ ४५२, ६३२, बर्बत्त ६१७

बर्बत्त सुत्त ३२९

बर्बत्त १ ५१

बर्बत्त १७७९

बर्बत्त-सुत्त ३२८

बर्बत्तियम्ह ५३

बर्बत्त निवात्त वण्णना ३१४

बर्बत्त वेत्त २ ४ ७१९, ७२

७२२, ७८७-७८८, १ ९५

बर्बत्त-सुत्त २२५, ३५३, ३७४

४९३

बर्बत्तिय-सुत्त ३२३

बर्बत्तिय-सुत्त ३१३

बर्बत्त-सुत्त ३१३

बर्बत्त-सुत्त ३१३

बर्बत्त-सुत्त ३१३

बर्बत्त-सुत्त ३१३

बर्बत्त-सुत्त ३१३

८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ९२
 ९३४ ९४० ९४२, ९४५,
 ९४६, ९९१ १ २२, १ ३१
 १ ३५, १ ४२ १ ४३ १ ४५
 १ ५५, १ ६१ १ ९५

ब्रह्मचर्य २३६, ११ १

ब्रह्मचर्य ब्राह्मण ७५०

ब्रह्मचार-सूत २३४ २३७, २४
 ३१८, ४३७, ७५४ ८२६

ब्रह्म निम्नगतिक सुतगत ३२३ ५३७

ब्रह्मनिर्वाण ८१ ८१२

ब्रह्मभूत १५, ११२, १९९, ३ ७,
 ७६९, ७८१ ७९७, ८१ ८२१,
 ११ ४

ब्रह्मलोक ९६, १४८, ५ ४ ५ ५

ब्रह्म-विश्व ९

ब्रह्म विद्या—सब विद्याओं की प्रतिष्ठा
 १८१९ ५९, ६१ ६३ १ ३
 १ ६, १६५, १३८

ब्रह्म-विहार (चार) ५ ४ ५ ५,
 ५६६, ६०७ ९१ १ ९५

ब्रह्मसम ७४५, ७५

'ब्रह्मसिद्धि' ७४४

ब्रह्मसूत्र ३५, १३ १३४ १८२,
 १८४ ६२५, ७२१ ७२५, ७२६,
 ७५२ ८१५, ८१८, ८६७ ८९९
 ९२२ ९३५,—का दर्शन और
 बौद्ध दर्शन के साथ सम्बन्ध ९३६
 ९४२ ९५७, ९५८, ९८८,
 १ ४ १ ८ १ १४ १ १७,
 १ २४ १ २७ १ ९६

'ब्रह्मसूत्र-बोद्ध' (श्रीपार कृष्ण वेत्त-
 बलकर) ९९३ ९९४ १ ४
 १० ७, १ १ १ १६, १ २५

ब्रह्मसूत्र-शंकर माध्व ३ ४ ११ १३,
 १४ १८, ४४ ४५, ४८, ६५,
 ९५, १२५, १४ १७८, १८१,
 ३७८, ४३८, ४४३ ४५२, ६७०
 ७५१ ७५२, ७७१ ७८२, ८६६,
 ८९६, ९१८, ९४१ ९४६
 ९७२, ९८९, ९९ ९९१ ९९२
 १ १ २ १ १ १ २६
 १ २७, १ ३ १ ३६, १ ४१
 १ ४२, १ ७५

ब्रह्मा ८, ६२,—आदि पत्नी ६८ १२६,
 १३३, २१८, २२ २२२, २३९,
 —की मायना के परिणाम-स्वरूप
 बर्ण-प्रचार २७१-२८३; ३८६,
 ४ ५, ४०६, ४५५, ५४१, ५८८,
 ६१८, १ ५८—का एक दिन
 ४६,—की लज्जाकता (लह्यता)
 का मार्ग २६, २२२ २२५, ५ ५,
 ७१६, ७४४ ७४५, ७५ ७५४
 ७७२, ७८७ ७९८, ९४२

ब्रह्मा संयुक्त ३२७

ब्रह्मसु-सुत ३२४

ब्रह्मवर्त (प्रवेष्ट) ६, ७२४

ब्राह्मिक ४८

ब्राह्म (महाकवि) ५२२, ६३६

ब्राह्मरायण १ ५, १७ २४६, २३६,
 २३७, २३८, २३९, २४१ २८९,
 १ ९१ १ ९४ ११ १

बामन ४५२

बापट (प्रोफेसर) ७३३ १०७९

बाबुल ५

बामिषान (घाटी) ५७३

बाप (ए) ८३५

बारनैट ३३२

बाहुत्तारय लुन ८२४ ८२६

बाळ पण्डित लुन ३६३ ३२६

बाली (द्वीप) ५६९

बावरि (बाह्य) २२ २२२,

२३७, २७८, ४५७ ४९८, ५६६

७४ ७४१ ७४३, ७४६, ८२७,

१ ६४

बाबेर आतक ५७, २३ ८३९

बाबकलि ४५२

बातठ मिथ्या बुद्धिवा २३८-२४३

—के प्रति तबापत की बुद्धि

२४३-२४७

बाह्यिक लुन ३२४

बाहिर कवा ३३३

बाहुलिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ५५

बाहुमुलिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ५५

३६२

बाउम (परती) ५८

बाह्य-वर्णन ७३९-७४९

बाह्य पण्डित सुतल ६, ३ २१९

२२१ २३७ ७३८

बाह्य बन्ध ३३६ २९५, ३२४ ३७

बाह्य-संयत ३२७

बाह्य ८३ ९६९ १ ५

बाह्यी रिचरि ७६९, ८१

बिमोघेट १ ७८

बिम्बितार (अधिक मगबरात) २ ७,

२१ २९५ ४८९ ५३१ ५६७

बील (एत) ५४८

बुद्ध और एकलेखिपास्ती ६ ६६

बुद्ध (मगवान्) ५, ६, ७, ८, ९, १४

२२ २८, २९, ३ ३१ ३५

३७, ३८, ७४ ७७ ८१ ८२,

८३ ८४ ८५, ८७ ८८, ९१,

९४ ९६ ९८, ९९, १ ४ १ ७,

१ ९, ११ ११६ १२१ १३९,

१३ १३२, १३९, १४४ १४५,

१४८, १५३ १६५, १६६, १६९,

१८१ १८४ १८६, १८७ १९२,

१९३, १९४ १९५,—और बद्ध

बर्न की महिमा की कुछ कवा

१९७-२ ५ २ ६, २ ८,—

और उनके पिछों का युग २१ ;

२१३ २१४,—का भावित्व

२१६-२४७,—की अनुसृष्टि

२४७-२५४,—की जीवनी के

उपादान और उनका आध्यात्मिक

महत्त्व २५४-२५६,—की जीवनी

२५६-२८८,—का जन्म जीवन

और महाभित्तिम्भन २५६ २६२,

—की तपस्या, मार विजय

और अन्तिमोपि-प्राप्ति २६२

२७१,—का महापरिनिर्वाण

२८३-२८८ २८९, २९७,

२९८, ३ ५, ३ ६ ३११ ३१७,

३१९, ३२१ ३२२, ३२३ ३२४

३२५, ३३८, ३३९, ३४ ३४२,
 ३४९, ३५२, ३५३, ३५५, ३५९,
 ३६ ३६८, ३७ ३७२, ३७३,
 ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३८२
 ३८३ ३८४ ३९१ ३९३,—की
 प्रमाण सिध्य-सिध्याएँ २७९
 २८ ; क्या बुद्धबाही अनीयकर
 बाही और अन्धकारबाही हैं ५२४
 ५४६; ५४७-७१३,—और बीह
 बर्म की भारतीय विचार की वैन
 ७०९-७१३,—की तीन काम्याएँ
 ५८४-५८५,—और कुम्भ ८ २
 ८ ५ और पांथी १ ८१ १ ८२
 —अथवा ११ ३-११ ४;—का
 मीन ८१८, ९१३ ९७६-९७७,
 १ १; ७१५, ७१६, ७१७,
 ७१८, ७१९, ७२१ ७२२ ७३८,
 ७३९, ७४ ७४१ ७४८, ७९८,
 ७९९, ८ ८ ६, ८ ९ ८१२,
 ८१४ ८१८, ८२ ८२१ ८३७
 ८७० ८७६, ८७७, ८७८, ८७९,
 ८८१ ८९१ ८९३ ८९५, ८९७,
 ८९९, ९ १ ९ २ ९ ३ ९ ४
 ९ ८, ९१ ९१२ ९१३, ९२२
 ९२६, ९३ ९३३ ९३६ १ १६,
 १ १५, १ २७, १ ४६, १ ४८,
 १ ४९, ११ ३ ११ ४

बुद्ध-पूर्व वैदिक प्रमाण २१६-२२७

बुद्ध-पूर्व और उसके समकालिक बुद्ध
 विचारक २२७-२३

बुद्ध-पूर्व भारतीय दर्शन २१६ २४७
 ७२४

बुद्ध-काम ५८४ १ ४८

बुद्धगीत (आध्यात्म) ६, ७ ९ ८,
 २११ २४९, ३ १ ३ २, ३२९,
 ३३४ ३३५, ३३६, ३३४ ३७४
 ३७९, ३८१ ३९२, ४ ५, ४ ६
 ४१२ ४८२, ४८८, ५२३, ५२८,
 ५८५, ५८६, ७११ १ ६८

बुद्ध-वर्णित २७, ३६, ३४ २१८,
 २५ २५५, २५६, ३६८, ५५९
 ६३७, ६५८, ६५९, ६६२, ६६३
 ६६४ ६६५, ६६६, ६६७, ६७३
 ६७४ ६७५, ८२५, ८७६, ८७७,
 ८९२, ८९३, ८९९, १ ७७,
 १ ९

बुद्ध-कर्म (राहुल साहस्रनाम) ६
 ७, ९, १, २९, ३ ३७ १४८,
 २३८, २३९, २७२, २७९, २८
 २८२ २९६, ३ ५, ३१७, ४३७,
 ४२८, ४३ ४९६, ४९८, ५३
 ५३२, ५३३, ५४७, ७१६, ७४३
 ७४५, ७४७, ७४८, ७५ ७५५
 ८३८, ९८८, १ ७४

बुद्धता ११ २

बुद्धवत्त ३३५, ५८३ ७११ १०७९

बुद्ध-वर्णन (मूल) १९७-५४६

बुद्धपान्ति ६५७

बुद्ध-नन्ति २१२, ४ ८, ५८६

६ ४ ६६२, ९८७

बुद्धनर ५७१

बुद्धपद्म ५७१, ७११

बुद्धपाप ५५९, ५७८, ६५, ६६,
६२२

'बुद्धवचन' (भगवत् वचनम् कील-
स्याप्य) २९२, २९३ २९४
३६५, ३६६, ४७८

बुद्धवर्णो ४८५

बुद्धवेद ५६९

बुद्धवंस (बुद्धवंश) ३१५, ३१६
३८९, ३९४

बुद्धानुस्मृति १९७-२५, २४७-२८८

बुद्धानुसामुत्सिका धम्मवत्तना

(बुद्धों की घणानवासी वर्ण-वैधना
२९१ ३८२

'बुद्धिग्न इन्द्रिया' (एत कील)
५४८

'बुद्धिस्त इन्द्रिया' (एतस इन्द्रियम्)
५६, २१३ ३१४ ३१५, ३१६

'बुद्धिस्त एतेज' (इन्द्रिये) ८५

'बुद्धिस्त लोकिज' (चेरवात्की)
३३६

'बुद्धिस्तिक स्टडीज' (लाहू-सम्पा-
शित) २३ २३४ ८३६ १ ५६

बलिय (बालि) २८८

बहुज ७१९, ७५९ ७८५

बुहवारम्पक (बुहवारम्पक उपनिषद्)
३ ४ ८, १३ १४ १५, १७

२ २५, ३७ ४५, ५६, ६ ६१
६५, ६६ ६९, ८६, ९३

९५, ९६ ११ ११४ ११९,
१२ १३९, १४० १४८, १६८

१७७ २१७, ४ ७ ४४२, ५ ४

७२४ ७३९, ७५५, ७५७, ७५८,
७५९, ७६ ७६२ ७६३, ७६४

७६५, ७६६, ७७३ ७७५, ७८१
७८२ ७८४ ७८५, ७८६, ८७८,

९ ९, ९३९, १ ४०

बुहवारम्पक—घांकर भाष्य (बुह-
वारम्पक उपनिषद् पर घांकर
भाष्य) ३४ ६७ ७१९, १ ३८
१ ३९, १ ४ १ ४१

बुहस्पति १६, २४ ५६ २२७ ८३४
८२७

बेडले १ ८८

बेबीलान ७२४

बेबेलतकी (नाबम) ५८३

बेत्तवत्तकर (बीपाव इत्यत्र डा)
९९६, ९९४ १ ४ १ ७

१ १ १ १६, १ २५

बेत्तवत्त शिलाबेड ५८८, ५८९

बेत्तुपा ५६७

बेत्तुपा एत्तिग १ ८१

बेत्त (प्री) ५३

बेत्त (एव) ८७९

बीजमंग विजय ३३

बीजमंग संयुक्त ३२९

बीपावन ५६ ९३६

बीपि ३३९, ३६९, ४७३ ४७४
४९९, ५६२, ५७९, ५९१ ६ ५

६ ९, ६७८, ६९६, ६९९—
भाष्य ५८४; ८४१ ९८७ १ ९५

बीपिबर्षानिर्देश ६२८

बोधिचर्यावितार ३ ३१ ३५ ३६,
 ३४६, ३५ ३६ ३७४ ५७७,
 ३ ३ १ ६०२, ३ ३ ३११
 ३१२, ३१४ ३१९, ३५७ ३७०
 ३७७ ३८२, ३८३ ३८९, ३९
 ३९१ ३९७, ७५ ८२८ ९७६,
 ९८४ ९८५, ९८६ १ ४
 १ ४६, १ ५४

बोधिचर्यावितार पञ्चिका ४६३,
 ५१२ ६६९, ८२४

बोधिचित्तीत्याह ६१९-६२ ७५२
 बोधि-चित्त ३ १ ३७६—ग्रहण
 ६१९

बोधिपरम (आचार्य) ५७१ ५७२,
 ७११ १ ५६

बोधिपरीक्षणीय धर्म २ ४ २३१ २८७
 २९४ ३ ५, ३ ७—बुद्ध-प्राप्तन
 की प्रतिष्ठा ३३६ ३७३ ४२१,
 ४४६ ४५४ ४५९ ४७७ ४८
 ५४४ ५९५, ६२२ ६४८, ६६८,
 ६७४ ७८८, ९१ १ १, १ ७४
 १ ९

बोधिराजकमार-मुत्तम ७ ९ १३१
 २६३ २६४ ३३४ ३४ ३५७
 ३६९, ४७३ ८९९ १ ६७

बोधिविधि (आचार्य) ५७१ ६३५
 बोधिपद्म १ ९, ३८७ ४८९

बोधिपुत्र २६७ २७

बोधिपताव (आचार्य तिब्बान) ६
 ३ १३ २१२ ३१९, ३३५,
 ३६ ५३५, ५५४ ५५७ ५६

—की वस्तु भूमियां ५६२ ५६४
 ५७० ५७३ ५७६, ५७७, ५७८,
 ५८१ ५८२, ५८३ ५९७, ६ १
 ६ २—और बर्तु आचार्य से
 पसकी तुलना ३ ४ ३१६—के
 विकास की अवस्थाएँ ६१७-६१८;
 ६४७ १ ५१, १ ५६, १ ५९

बोधिसत्त्व-भूमि ६२

बोधिसत्त्व-मान ५७८, ६६३

बोधिसत्त्वानुवाक ६२७

बोध्यप (सप्त) २५१ २८५, ३३२,
 ३३७ ३४१ ३४३ ३४९,
 ३६१ ३६२ ६ ७

बौद्ध धर्म और धर्म ३८ १ ४ १ ५
 १ ८ ११५, ११६, ११७ ११९
 १२ १२१ १२४ १२६ १२८
 १३५, १५२, १५३ १६५, १६६,
 १६७, १६८, १६९, १७२ १७५,
 १७९—नास्तिक नहीं १८०—
 १९५, १९७-७१३—का भारत
 में उद्भव और विकास १९७-२१

—के विकास के चार युग
 २१०-२११,—के विकास की दो
 मुख्य अवस्थाएँ २११-२१६,—को
 वैदिक प्रमाण की रीति २१६
 २३७,—से पूर्व का भारतीय धर्म
 २१६ २४७,—का उत्तरकालीन
 विकास ५४७-७१३,—और अन्य
 भारतीय धर्म ७१५ ११ ४,—
 का भारतीय धर्म शास्त्र में स्थान
 और महत्व १ ८७-११ ४

‘बीडाबिकार’ ७ ६

बीड मनोविज्ञान १३८, १३९, ४६१
४७२

‘बीड बेवास्त’ ७२१-७२२ १७८,
१ ९६

बंघ (बंघाल) १३१ ५९ १३१
१५७ १ ५३ १ ५४ १ ७६

भ

भक्ति (साधना) ११७ १५३,—
शब्दे भ १६२-१६४; १७४
२२६, ५९४,—महायान बीड
धर्म में ५८६ ६ ४,—गीता में
७९५-७९९,—सम्प्रदाय बीड
बीड वर्णन १ ४९ १ ७४

भक्ति उपनिषद् ७९८

‘भक्ति सत्कर्म’ १ ५५

‘भक्ति सम्मर्भ’ १ ७२

भक्ति १ ६८

भववती लुब्ध २२८

भयबालास (का) ६ १
१ ३ १७५

भय (दोष) ५६६

भयार्थ (विमुक्तिकार, आचार्य)

३ ३ ३९५, ४२९, ४५४ ५१२,
५६१ ६४९, ६५६, ६६८, ६६९,
६९८, ६९९, ७ १ ७, ९५७,
९६६, ९७३ ९८२

भयानिक (बीड सम्प्रदाय) ५५१
५५२

भयवर्णन (धितु) २७८, ४५८,
४५९, ५३८

भयवस्तु ८४७

भय कृष्णलक्षणा (मिमुषा) ८

भयानुबन्धमानवपुष्पा १ ८२

भयानि-सुत ३२३

भयिय ४८९

भयकरत-सुत ३२६

भयमेरव-सुत २९१ ३२

भयमिष ९२२

भयहृति ७६, १४३ १४३ १४४

भयान (बीडिक भयि) २ २२ २
७३७ १ ९४

भयानुत ५७६

भयानुत ५७

भयानिक (उपासक) २४७, २७०,
२७९, ३७१ ४९२

भय ३८९, ३९९, ४ ४ १, ७५९,
८४४ —वय ४ ३,—सन्ध्या

२९३ ३९८,—भेरी ३९४,—

मिरीचा भातिमिरीची ३८८,—

पञ्चवा भाति ३८८, ३९९

भयवास ९२२

भय (आचार्य) ५४९, ६५७

भयवत (भीमवृत्तावत) १ १५

२६, ३१ ३४ ४४ ६९, ११५,

१७४ २ २ ३ ४ ८ ५९२,

८ ४ ८३१ १ ७२ १ ७५

भयवत (धर्म) १५९, ५८८, ५८९,

५९ ५९१ ५९६, ५९७ ८१७

१ ४९, १ ५

३१७, ३२०-३२६, ३२७, ३३७,
 ३३८, ३४ ३४१ ३४२, ३४४
 ३४७, ३४८, ३५३ ३५४ ३५६,
 ३५७, ३६ ३६१ ३६२, ३६३
 ३६४ ३६५, ३६६, ३६७, ३६८,
 ३६९, ३७ ३७१, ३७४ ३७८,
 ३८६, ३८७, ३९२, ३९६, ४१९,
 ४२ ४२१, ४२२, ४२६, ४२७,
 ४२७, ४२८, ४३ ४३१ ४३२,
 ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४३८,
 ४३९, ४४ ४४७, ४४७, ४४९,
 ४८ ४८५, ४८८, ४८९, ४९
 ४९१ ४९२, ५ ५ १ ५ २,
 ५ ४ ५ ५, ५ ८ ५२५, ५२७,
 ५३१ ५३४ ५३५, ५३७, ५३९,
 ५४१ ५४६, ५४६, ५७९, ५८
 ५८१ ६ ७, ६ ८, ६१६, ६१७,
 ६३६, ७१७, ७३७, ७४५, ७४६,
 ७४८, ७५४ ७६९, ७८९, ८२२,
 ८२७, ८३६, ८३४ ८३५, ८३६,
 ८३७, ८३८, ८३९, ८४ ८४१
 ८४२, ८७७, ८९९, ९१ ९११,
 १ ५८ १ ६७

—की बहुकथा ३ ८३६

अतिम अन्तर ३ ५ ५६६

अतिमता अतिपरा—द्विचये 'मध्यमा
 प्रतिपरा' ।

अती (मध्य) की इमील २३ ६६,
 द्विचये 'मध्य की इमील' भी ।

आत्योग्रनाथ १ ५४

अनुरा ५७ ५८९, ६३४

अनुरा (मध्य रात्रि) ५६६

अनाकता ७

अभ्यमार्गतप्रह ६५७

अभ्यमायन ६३३

अभ्यमायनकारिका ६५७

अभ्यन्तिक ५७

अभ्यन्त विमान ६४९/

अभ्यन्त विज्ञेय सूत्र ६४९

अभ्य वेद ६ ५६६, ५६७, ६२९

अभ्यभा प्रतिपरा (मध्यम मार्ग)

८७, ८९, २४४ २७२-२७५

३४ ३४१ ३६१, ३६२, ३६३

३६८, ३७२, ३७३ ३८१ ४४१

४९२, ५३२, ५६६, ६७६, ६८१

—गीता में प्रसूतित ६९४ ६९५

८१४ ८४२, ८४८, ९५१ १ ७६

अभ्ययुगीन वर्तन १६७, १७३-१७४

१ ४९ १ ७४

अभ्य प्रतिपरा ५६९, ५७

अभ्य (आचार्य) १७२, ७२७, १ १५

अनुविधिक-सूत ३२१

अनुर सूत ३२४

अनुरा ५६६

अनुराग तरलवती १७७ ६८४

अन १३९, १५९, ४३३ ४३६—

आप्तान ४२५, ७६ ७६६,

७७३ ७९६, ८ ६, ८५ ८५५,

८७ ८९ ९७२, ९७८

अनताप्य (अवेद्य) ७४४

'अनाथ इमील' ७ ७२७

'अनीना अन्तर' १४

मनु (मनुस्मृति) ६, ९, १७, १९,
 २६, ३९, ४८, ५६, ६४, ७२,
 ७३, ७४, ७६, ७७, ७८, ७९,
 ८६, ८९, ९१, १, ३, ३१९, ३२२,
 ३२३, ३७७, ३७८, ३८३, ३८८,
 ५२७, ६६३, ७१४, ७२५, ७३९,
 ७८९

मनोबुद्धि ८३८

मनोरथ (सर्वास्तिवाही आचार्य)
 ६३७, ६३९

मनोविज्ञान—मीपनिषद ७७३, ७८
 —बीड़ ४६०-४७१,—साय
 ८८९-८९

मर्मप्रदीप ६३७

मर्मप्रदीपकृति ६५१

मरणाशुत्सति २९९

मस्त (जाति) २८८, ५६६

मस्तसेकर (तिरुही विज्ञान) ८४

मस्तवार ९३७

मत्ताया ५६९

मतिक मुहम्मद जायसी १०७१

मम्बिलेन (मन्नाचार्य) ८४७

महर्षि (वेङ्कट) ३३, ७४५

महा अस्तपुर-मुत्त ४३, ४३२,

५, ८३३, ८३४

महाकम्बामर्हकरत्त-मुत्त ३२६

महाकम्बामर्हकरत्त-मुत्त ३२६

महाकायायन ३२६

महाकायन (मिन्न बट्ट-मिन्न)

१८, ६९, ८४, २७६, २७७, २८१

३१, ३११, ३१७, ३७१, ४७३

महाकीर्ण ५८३, ६३१

महापीरिन्द-मुत्त ३१९, ३२२, ४९४

महापीरिन्द-मुत्त ३२२

महाबलारीतक मुत्त ३२५

महाबीन ५७

महाबनक जातक २२७

'महात्मा मीरी' (मीरी मीरी) २३

महाभारतार्थ-मुत्त २९४, ३२२,

३५६, ३७४, ३७८, ३८७, ४२

४८५, ५३५, ७६९

महाबुद्धिबुद्धि-मुत्त २९४, ३२१

महाबुद्धिबुद्धि-मुत्त ३२३

महानाम (माय) ३५७, १, ६७

महानाम मुत्त २, २, ३४४

महानारायण (महानारायणोपनि

षद्) ३७, ८६, ७५६

महानास्तिक ८९१, ८२७

महानिबान मुत्त ३१९, ३७७, ३८४

३८७, ३९, ३९१, ३९७, ४१९,

४३१, ४३२

महानिबान १७७, १९९, ३१९, ३२९,

५८९

महापद्म-मुत्त १३३, ३१९, ६४

महापरिनिष्पान-मुत्त २८, ५६,

२४६, २६६, २८४, २८५, २८७,

२८८, २८९, २९२, २९६, २९८,

३११, ३१९, ३३६, ३३७, ३३८,

३४, ३४२, ३६, ३९४, ४४६,

४७९, ५७९, ५८५, ६७४, ७१७,

७५५, ७७८, १, ६६, १, ६७—

की अन्तर्वा २६६, २८६

मानवत (एन के प्री) ४०७

'मातृ' मत ९२४

माधवारकर (आर बी) ४७

१९ ८४

माधव ३१६

मातृ शिक्षाकेन्द्र ३ १ ३१५

३७५

'मातृ' १०१, १५६, ४११,

७५२ ९८८ ९९३

मातृ (भारतवर्ष) १ १२, १३

१६—की सम्पादन विद्या भारत-

वर्षा ११६—का पराविद्या

सम्बन्धी अभिनिवेश केन्द्र के अधीन

विद्या सम्बन्धी निरावर का सूचक

महो ४४-५१—में मानव-सम्बन्धिता

का अधिनीय ५१-५५; ५८, ७४

—की अक्षि से क्षि भूत

के सम्बन्ध और स्वरूप के सूच्य की

और प्रवृत्ति ५९-६३; ११२ १९८

—में वार्षिक प्रवृत्तियों का

का आरम्भ १५८ १६७; ७१२

भारत-जीन ५६८

भारत-यूरोपीय भाषा ५४

भारतीय दर्शन—की सामान्य प्रवृ-

त्तियों और उसकी विज्ञान के मुख्य

विषय ११४९;—का अनीय

तत्त्व तत्त्व-शास्त्र १२२;—

का शोधक तत्त्व सार्वभौमिक

वस्तुत्व-वैतना ३०-३३;—

विज्ञान-वैतन और विज्ञान-विज्ञान का

प्रचारक ३३—की नीतिक का

आर्थिक व्याख्या सम्भव नहीं ३३-

४९—के विषय में कुछ भाषितियों

विराजित ४९-४४,—में अक्षि-

कारी का संश्लेष तथा ही अक्षि

प्रवृत्तियों ६३,—का अक्षि

६४-९७ की मुख्य विचार-प्रवृ-

त्तियों और उनके सामान्य

विवेचित विषय १ ४१ ५—की

आर्थिक वस्तु १०६ ११७—

में मानवतावाद ११६-११७—

में धर्म उपासना और मान ११७,

—में मृत्यु, पुनर्जन्म और नीति

११८,—में धर्म ईश्वर, जीवन

और आचार तत्त्व ११९ १२८

—में धर्म और बुद्धिवाद १२८-

१३५,—में वैज्ञानिक और नीति-

वैज्ञानिक तत्त्व १३५-१४४,—

की सामान्यवैज्ञानिक बुद्धि १४४

१४५—का संक्षिप्त ऐतिहासिक

विकास और विवेचन १५१-

१७५—के ऐतिहासिक विकास की

आवृत्ति की कठिनाता १५१ १५४

—अपने विमुक्त विचारामय रूप

में आज भी हमारे लिये स्पष्टतम

प्रमाण १५६ १५७,—का अक्षि

और विकास १५७-१७५—के

मुख्य भूत और उनकी प्रतिनिधि

विचार-प्रारम्भ १६७-१६८—

का द्विविध विभाग १ ४,—

१७७-१९५—का अक्षि और

दर्शन १९७-२१३,—की विभिन्न

- प्राचीन का विवेचन और बीड़
 बर्तन के साथ उनका सम्बन्ध
 ७१५ १ ८३—में बीड़ वर्णन के
 स्थान और महारथ का अनुमान
 १०८७-११४
- भारतीय बाह्यमय—में ऐतिहासिक
 बुद्धि का समाप्त नहीं १५४-१५५
- भारतीय विचारक—पहले वर्ग चिन्तक,
 बाद में काल चिन्तक १५४ १५६
- भारतीय (बाह्यमय) ५६, ९२, १३३
 २२२, २२३ २४२, ३६६, ७३७,
 ७४५, ७५२
- भावना सुतन्त्र ६ ८
- भावना हेतु कथ्य ५१८
- भावित्वनिष्ठ ४२७
- भा-विवेक (भाव विवेक) ६५७
- भास्कर नायक ८२४ १ २७, १ ३४
 १ ३७
- भात ६५९
- भावा परिच्छेद ८५२
- भिक्षु भण्ड ३२३
- भिक्षु संयुक्त ३२८ १ ८
- भिक्षुजी संयुक्त ३२७
- भीमाचार्य १७२, १८ १८३, १३३
 १ २८
- भीष्म पर्व ५ ८ २
- भूप २२ ७३७
- भूतकीर्ति ३७६
- भूतपथा २१ ५५४ ६७ ६७१
 ६७३ ६७४ ६७५ ६७७, ७०२,
 १ ९६ ११ १
- 'भूत विद्या' २, ५९
- 'भूत' (भूत) ५२७
- भूमा ३५, ४२, ५२, ६१, ११२,
 ७६२, ७६५
- भूमि-भूत ३२५
- भेद विज्ञान ८५
- भेदक भाष्य ३४२
- भेदाभेद १३६, १ २७
- भैरवी चक्र ५६४
- भोज ५६७
- भौतिक काल (प्राचीन भारतीय)
 ४४-५८
- म
- मन्त्रालि भोद्याल (मन्त्री भोद्याल)
 २२७-२२९, ८३४ ८४१
- मन्त्रालि-भूत ३२४ ३६३
- मन्त्र २८१ ३१९
- मन्त्र पञ्चम ३३२
- मन्त्र विमर्श ३३
- मन्त्र संयुक्त ३२९
- मन्त्रिकाल (मन्त्र) ८३९
- मन्त्रिकाल (मन्त्रिकाल का) ४७
- मन्त्रिकाल (मन्त्रिकाल-मन्त्रिकाल) ७, ९,
 ११ १२, १३ १४ ११ २८,
 ३६ ८३ ९२, ९४ १२१, १३
 १३१ १३२, १३३, १४८,
 २१७, २१८, २२२, २२७,
 २२९, २३५, २३६, २४८ २५६,
 २६६, २६४ २६५, २६७, २७७,
 २८१, २८२, २९ २९१ २९२,
 २९४ २९५, ३ ९, ३१५ ३१६

३१७, ३२०-३२६, ३२७, ३३७,	मह रत्न (मय रात्र) ५६६
३३८, ३४० ३४६, ३४७, ३४४	महालया ७
३४७, ३४८, ३५३ ३५४ ३५६,	मध्यमार्गसंग्रह ६५७
३५७, ३६ ३६१ ३६२, ३६३	मध्यमावम ६६३
३६४ ३६५, ३६६, ३६७, ३६८,	मध्यमार्गव्यकारिका ६५७
३६९, ३७० ३७१ ३७४ ३७८,	मध्यमस्तिक ५७
३८६, ३८७, ३९२, ३९६, ४१९	मध्यमास्त विमल ६४९
४२ ४२१ ४२२, ४२६, ४२६	मध्यमास्त विमल सुम ६४९
४२७, ४२८, ४३ ४३१ ४३२	मध्य वेद्य ६, ५६६, ५६७ ६९९
४३३, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८,	मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग)
४३९, ४४ ४४७, ४४७, ४४९	८७, ८९, २४४ २७२-२७५
४८ ४८५, ४८८, ४८९, ४९	३४ ३४६, ३६१ ३६२, ३६३
४९१ ४९२, ५ ५ १ ५ २,	३६८, ३७२, ३७३, ३८१ ४४६,
५ ४ ५ ५, ५ ८, ५९५, ५९७,	४९२, ५९२, ५९३, ६७६, ६८१
५९१ ५९४ ५९५, ५९७, ५९९	—बीता में प्रस्तुत ६९४ ६९५;
५९१ ५९६, ५९६, ५९९, ५८	८१४ ८४२, ८४८, ९५६, १ ७६
५८१ ६ ७, ६ ८, ६१६, ६१७,	मध्यमानीन दर्शन १६७, १७३ १७४
६१६, ७१७, ७१७, ७४५, ७४६	१ ४९ १ ७४
७४८, ७५४ ७६९, ७८९, ८२२	मध्य एशिया ५६९ ५७
८२७, ८३३ ८३४ ८३५, ८३६	मध्य (आचार्य) १७२, ७२७, १ १५
८३७, ८३८, ८३९, ८४ ८४१	मधुविष्टिक-सुत ३२१
८४२, ८७७, ८९६, ९१० ९११	मधुर सुत ३२४
१ ५८ १ ६७	मधुरा ५६६
—की मधुकथा ३ ८३६	मधुसूदन सरस्वती १७७, ६८४
परिष्कृत अमर ३ ५, ५६६	मय ११९, १५९, ४३६, ४३६—
परिष्कृता परिपदा—देखिये 'मध्यमा	आपतन ४२५, ७६ ७६६,
प्रतिपदा' ।	७७३, ७९६, ८ ६ ८९ ८९६
पानी (मध्य) की ईमील २३ ६६,	८७० ८९ ९७२, ९७८
देखिये 'मध्य की ईमील' भी ।	मनताष्ट (अष्ट) ७४४
मत्स्येन्द्रनाथ १ ५४	'मनाथे हनीक' ७ ७२७
मधु ५७ ५८९, ६३४	मनीषा पञ्चक १४

मनु (मनुस्मृति) ६, ९, १७, १९,
२६, ३९, ४८, ५६, ६४, ७२,
७३, ७४, ७६, ७७, ७८, ७९,
८६, ८९, ९१, १, ३, ११९, १२२,
१२३, १७७, १७८, १८२, १८८,
५२७, ६६३, ७१४, ७२५, ७३९,
७८९

मनीकम्म ८३८

मनोरथ (सर्वास्तिवादी आचार्य)
६३७, ६३९

मनीषिज्ञान—जीपनिवद ७७३, ७८
—बीड ४६०-४७१,—साव्य
८८९-८९

मर्मप्रदीप ६३७

मर्मप्रदीपवृत्ति ६५१

मरणावृत्तति २९९

मत्त (जाति) २८८, ५६६

मत्तलेकर (सिंहली विद्वान्) ८४

मत्तार ९३७

मत्तया ५६९

मत्तक मुहम्मद जायसी १०७१

मत्तलेन (जीनाचार्य) ८४७

महर्षि (वेदता) २२, ७४५

महा मत्तपुर-सुतगत ४२, ४२६,
५, ८३३, ८३४

महाकम्ममहोकरत्त-सुत ३२६

महाकम्मविर्बप-सुत ३२६

महाकात्तपात्त ३२६

महाकात्तप (निलु, बुद्ध-साव्य)
१८, ६९, ८४, २७६, २७९, २८३,
३१, ३११, ३१७, ३७९, ४७३

महाकौटिल्य ५८६, ६३१

महापीबिन्ध-सुत ३१९, ३२२, ४९४

महापोपात्त-सुत ३२२

महावत्तारीत्त सुत ३२५

महावीर ५७

महावत्तक जातक २२७

‘महात्मा पाबी’ (रोमा रोमा) २३

महात्तपार्सकय-सुतगत २९४, ३२२

३५६, ३७४, ३७८, ३८७, ४२

४८५, ५३५, ७६९

महानुपकात्त-सुत २९४, ३२१

महावत्तमावात्त-सुतगत ३२२

महानाम (साव्य) ३५७, १, ६७

महानाम सुत २, ९, ३४४

महानारायण (महानारायणोपनि
षद्) ३७, ८६, ७५६

महानात्तक ८२१, ८२७

महानिवात्त सुत ३१९, ३७७, ३८४

३८७, ३९, ३९१, ३९७, ४१९,

४३१, ४३२

महाविहोत्त १७७, १९९, ३१६, ३२९,
५८९

महावत्त-सुत १३३, ३१९, ६, ४

महापरिनिष्ठा-सुत २८, ५६

२४६, २६६, २८४, २८५, २८७,

२८८, २८९, २९२, २९६, २९८,

३११, ३१९, ३३६, ३३७, ३३८,

३४, ३४२, ३६, ३९४, ४४६,

४७९, ५७९, ५८५, ६७४, ७१७,

७५५, ७७८, १, ६६, १, ६७—

की आत्तया २६६, २८६

महापुष्पक-सुत ३२५, ४२
 महाप्रवाप्ती भौतमी ८, २१ ११,
 २५७, २५९, २६ २७८, २७९,
 २८३, ३ ५, ३७२, ५४ ७४७
 ८३४ ८७३ ८७४ १०७४

महाप्रवापारविता ६२४
 महाप्रवापारवितासुमकारिका शास्त्र
 ६५५

महामहारा ३४ ७५४

महाबाण ५, ६ १४ १५, १६ १७
 १९, २२, २५ ३१ ४४, ८८,
 ९६ १ ४ ११३ ११६ ११९,
 १२ १२८, १५४ १५७, १६६,
 १६९, १७७, २१४ २२ ५२७
 ५९ ७७२, ८०४ ८१४ ८७८,
 ८७९, ८९२, १ ८५

महामाष्य ५५

महाभक्ति (कुड) ४४९

महामाया (नम्या देवी) १९७,
 २५६ ५८३

महामालीन्व-सुत ३२२, ३२३ ५ १
 महाभौतपुष्पकाल (महाभौतपुष्पकाल)
 २७८, २७९, २८ २८३ ३१०
 ३२ ३२१, ३२३ ३४२, ३४७,
 ४९२, ५३३ ६३२, ७१६

महायमक बन्ध ३२२

महामाल (बीड वर्म) ३१, १२१
 १३ १४६, १५३, १७४ २ ८
 २११ २१२, २८९, ३३९, ३५८,
 ३६ ३६८, ३६७, ४४८, ५३५,
 ५४३, —का बन्ध और विद्या

५४७-५६६—बीर हीनबान का
 ऐतिहासिक और तार्किक सम्बन्ध

५७३-६२९—का साहित्य और
 सिद्धान्त ६४९-७०० ; ७९९,
 ८१४ ९३१, ९८३, १ ९७,
 १ ४८, १ ४९, १०५१ १ ५४
 १ ६५, १ ६९

‘महामाल उत्तर तन्त्र’ ६४९

महायान विमल ६५६

महामालमहोत्पाद शास्त्र ५५४
 ५८९, ६५८, ६६१ ६६६, ६७२,
 ६७४ ६७७

महामाष्य सुत्र ५५५, ५८१ ५९३
 ६२६, ६५४

महामालसूत्रार्त्तकार ३१ ३५१,
 ३५८, ३६१ ३६७ ५८४ ६४९,
 ६७५, १ ४४

महामानामि धर्म संगीति शास्त्र ५६७

महाराष्ट्र (महाराष्ट्र) ५६९, ६५१
 १ ६२ १ ६३ १०७०

महाराष्ट्रमाल ९४९, इतिवृत्ति ‘वीर-
 वासिष्ठ’ ।

महाराष्ट्रमालीवार-सुतन्त्र ३२३, ३४
 ३४९, ३७७

महायम्य ४ १८, ३ ७३ २ ३,
 २ ४ २४७ २४८, २७१, २७२,
 २७६, २७७, २९ ३१६, ३१८,
 ३१९, ३२९, ३३ ३७६, ३८४
 ४१३, ४२५, ४२८, ४३३, ४६
 ४७३, ४९२, ५ ५२९, ५३४
 ५७९, ५९ ६ ७, ६१ ७४३

८३६, ८३४,—की अट्टकना २१७

महाबलमोल-सुत ३२३

महाबल ५१९

महाबल २५ २५५, ३३ ३३७
३३८, ३३६

महाबलि (राजा) २२१

महाबलुत्ति ३५३, ३५८, ३६१
३६७ ३२६, ३२८

महाबलुत्त सुत ५

महाबलि २

महाबलि ५७

महावीर (मगवान्) ५, ३२, ३८,

७२, १५३ २२८, २३१ ८३२

८३४ ८३५ ८३७ ८४८ १ ९१

'महावीर बापी' (वं बेचरवात
बोपी) ३२ ११५

महाबोधक-सुत १४२, ३२२, ९१

महाबल १५५, ३१४ ५४५, ५४७,
५६९, ८३३ ८४

महाबि (बिष्मवि) ३१४

महाबि-सुत ३१८

महाबलमुवावि-सुत २२७, ३२४

३३७ ३४७, ३४८, ३५३ ३५४

३६१ ६ ७

महाबल-सुत ३२२, ३४ ८३८

महाबल-सुत ३२३

महाबल-सुत (मगवान्)

७ ३२२, २९३ ३९४ ३९५,

३४ ३४४ ३४५, ३४८, ३४९

३६१ ३६५, ३६६, ३६७, ९२१

की ७४

महासमय सुत ३१९, ५८८

महासमय-सुत ३२७

'महासमय' ८३५

महा सारोपम-सुत १३, १३९, ३२२,
४९

महासमय २ ७ २ ८, २५

३१३ ५४७-५५ ५५१ ५५२

५५३ ५५५, ५५६, ५५७, ५५८

५७ ३१९, ३२९, ३३२

महासमय-सुत २३३ ३२३, ३३८,
३८६, ४८८, ३१७

महासमय-सुत ३१९

महासमय-सुत ३२५

महासमय-सुत (बीड सम्मय)
५५३

महासमय-सुत २८ २९३,
३३२, ३४ ३७८, ३८७

महासमय (सुत) २ ५, २१६,

३४४ २७७, ३ ९, ३८ ३८४

५३५, ५४५, ७१७, ८३३ १ ८३

१ ९४

महा सपीडि ५४७

महासमय १५६, ७५२

महासमय ५६९

महा (मही) ३६२

महासमय (लत) १७३

महासमय (मही सातक) ५५३,
५५२

महासमय (मही) १ ३१४ ५६७,
८३३ ८४

महासमय ५८९

महोपनिषद् १४४

माध्वभोक्त्या ५७३

माम्नी भावा (भाग्य निवृत्त)

३ १ ३ २ ३ ३ ३ ४

माध्वभोक्त्या २४६, ३३४ ४२८,

४८९, ५ ५२४ ५२७, ५२८,

५३४ ५३५, ७४१ ७८९

माध्व ८२२

माध्वभावा संयुक्त ३२८

माध्वभोक्त्या ३२७, ३९८

माध्वभावा भावना १४

माध्वभावा ३११

माध्वभावा ५

माध्वभावा (भावा) ५ ९, २४५, ३७४

५२१ ५३१ ३४९ ३५३

३६१ ३७८, ३८० ३८३ ३८५

३८९, ३९१ ७४५, ७७३ ८३३

८३५, ९५४ ९७२ ९७८, ९८९,

९९२ १ १ ३३, १ ४२,

१ ४८, १ ८४

माध्वभावाकारिका वैज्ञानिक 'मूल-

माध्वभावाकारिका'

माध्वभावा भूति १९४ ५१२ ३७८,

३८१ ३९६, ३९८, ३९९

माध्वभावा भावा ३५५ ३५६

माध्वभावाभावा ३५७ ३९

माध्वभावा भूति २३६

माध्व भावा ७३ ९३६

माध्व (भावा) १ १ १ ७

२४१ ३ ३३४ ८२३ ८२४

माध्वभावा भूति ५२ ५३

माध्वभावा (माध्वभावाभावा) १३८,

७८ ९५७ ९५९

माध्वभावाकारिका ८९, १२३, ७२७,

९३७, ९४४,—भावा भावा ९५७-

९८७, १ ३ १ ९९,—भावा

भावाभावा ७८ ९५८ ९३७

९७६, ९९१

माध्वभावा ५३

माध्वभावा (भावाभावा) ८४७

माध्वभावा भावाभावा ५७, ५८

भावा (—भावा) ३, ५५, १ ३

३८८, ३८९, ९४ ९३४ ९३५

९७१ ९७८, ९९५ १ २७,

१ ३४-१ ३८, १ ४५, १ ५२,

१ ६५

माध्वभावा भूति ५३

माध्वभावा ५७

माध्वभावा भूति ४४८

माध्वभावा भावाभावा ११४

माध्वभावा ३४१

माध्वभावा (भावाभावाभावा भावा) २७

भावाभावा (भावाभावा) ४७

भावा—२३७ २७१ २७५—भावा

भावा भावाभावा ३३३ २३७,

३२१ ३२३ ३४०, ३४७ के भावा

भावा भावाभावा भावा भावाभावा

—भावा भावाभावाभावा भावाभावा

भावा भावाभावा भावाभावा

१ ३८, ३ ९

भावाभावाभावाभावाभावा ३३३

भावा भावाभावा ३२७

भावाभावा (भावाभावा) १ ७८

मात्सवा ५७१

मिनयेक (बे पी) १ ७८

मिन्निम्बपञ्चो (मिन्निम्बपञ्च—मूक

वालि) ५, २८, ४ ४१ ६६

२ ६, २३६, २५१ २८१ ३ ६

३३२, ३३३ ३५४ ३८७, ३९३

३९६, ४४४ ४४७ ४६१ ४७९

४८३ ४८४ ४८५, ५२२, ५२३

७८२ १ ११ १ १३

मिषबाय (मृगबाय) ४१३

मिष्याविमिष्ठ ४८२

मिताकारा ६७

‘मिन्निम्बप्रमल (मिश्र जयदीपा

काश्यप—कत हिन्दी अनुवाद)

२२, ९९, १३३ २ ८, २२७,

२३२, २३३ २८ २८१ ३३२

३३४ ३३५, ३३७ ३४४ ३७६,

३९६ ४४८, ५१७ ५९ ७५२

७८२ ८७९, ९७७ १ ६९

मिन्निम्ब (राजा) ३३२, ३३६, ४६१

४८२ ४८४ ५१६, ५२२, ५६७

६७१ १ ११ १ ६८, १ ७४

मिष्या बुषिया (वातक) २३७

३१८, ४३५, ७ २, ८७७

मित्र (राजेन्द्रलाल) ३१४ ६२४

मिष ५ ५६७, ५७२, ७२४

मिष (बलदेव प्रताप) १ ६०

मिहिरकल ६२५

मीमांसा-वार्ता ४३ ६५, १ ३

१२५, १५२, २३४ ३४४ ७२

७२२, ८७८, ८९९, बेडिय ‘पूर्व-

मीमांसा’।

मीमांसा सूत्र ६७ १२२, १८३, ९१९,

९२ ९२८, ९३१ ९३२

मीमांसक २५१ ३३२-३३६, ४४४ ५६९

मीमांस्योक्त ३३२

मीमांस ५७

मीमांसाई ९, ८९, १७३

मुकुन्दराज १७३

मुक्तिबोधनिबन्ध ९४४

मुक्तोपाध्याय (पद्मा कमल, डा)

४७ ५१ ५२

मुक्ताबाई ९

मुक्तास्त्र (बुध) ३७

मुनिपात्रा ३१५

मुग्धक (मुष्टबोधनिबन्ध) ९, ४

५, १६, १४ १५, १८, ४३ ५५

६५, ७३ ७५, ७८, ७९, ८६

८७ ८८ ९२, ९५, ९६, ११

१३७ १६८, ३९५, ७५ ७५३

७५५, ७५८, ७५९, ७६ ७६२,

७६४ ७६५, ७६६, ७६७, ७८१

७८४ ७८५, ७८६, ८७८,

९४४,—पर हाकिम भाष्य २, ५,

७६, ८७ ८८, ७२१

मुक्ता (भावना) २९६, ४६७ ५ ४

९१ १ ९१

मुक्ताबाह ४८

मूर १ ७९

मूर ८६६

मूल मन्त्रकृती २५४ २८३

मूल परिचायक ३२
 मूल परिचायक सुत ३२ ४२ ४३
 मूलमाध्यमिक कारिका (माध्यमिक
 कारिका) ४५, १२६, ३३३
 ४ ६, ५३१ ६२६, ६५५
 ६५७ ६७९, ६९ ६९२, ६९३
 ६९८, ७ ९७८, ९८३ ९८४
 ९८५, १ ११ १

मूल घटक ३३१
 मेकनिजल (मे डबल्यू) ५८९
 मेकजोनल (ए ए) २८६
 मेयोस्वलीज ५८९
 मेयडकपम्हो ५, २३३, २८१ ३ ६,
 ३३३ ३३४ ४४८, ४७९, ५४४
 १ ११

मेसल-सुत २९, ४२३ ४९
 'मेरी क्वाली' (मेहक) १९२, १ ८१
 मेसिडोनिया ५६७
 मेकगार्न (डबल्यू) ५५४
 मेडे ४७

मेकलमूलर (एक) ५ ५३ ५६,
 ८३ १५४ १७८, २४७, ७१८,
 ८८१ ९२६, ९२७

मेयू (मंती) की इंडीज ३९, ९
 देखिये 'मंती'।

मेनुसल माँव इण्डियन बुद्धिगम (कर्म)
 ४ ७ ५९१

मेरिपी ४७
 मेरायबी उपनिषद् ७५३ ९ १ ९५९
 मेरायपीपुत्र ४९१
 मेरय (मेरयपीपुत्र) ३५, ९४४

मेमेय १५३ ३१९, ३४९ १ ८१
 मेमेयलाय ५५७ ६४९
 मेमेपी ७ ८, ५९, ६ ६९, ४४२,
 ५२१ ७५१ ७५९, ७८५ १ ९९
 मेमी (मेयुपनिषद्) १६८
 मेमी (भावना) २ २२, २५, २७,
 २८-२९, ३१ ३३ २९६, ५ ४
 ६१८—बिना विमुक्ति २९; ७१९
 ७३२, ७७९, ९१ ९७१ १ ४९
 १ ९५

मेसोरोठामिया ५३
 मेप्ललाय ३ ६, ३२५
 मेप्ललाय-संयुत ३२८
 मेगलियुत लिस्त २ ८, ३३१,
 ४१२, ५५२, ५६९

मेनियर विनिमय ५५
 मेनेब सुते ३१५
 मेसल ५७२
 मेहलमोवरी ५३ ८३
 मेज २ १ ५, ११८, ७ ८ बीर-
 निष ७८१-७८२—पीता की
 ८११-८१२—साक्ष्य की ८९५/
 ८ ५, ८४२, ८४४ ८४६, ८९५,
 ८९८, ९ ८, ९३४ ९४ ९४२
 १ १

मेयुसमाय ९४ ६३१ ६६३, देखिये
 'महामीयसमाय'।

मेय २८८
 'मेस्मिय' बीड बार्न १९७-५४६
 मेयल-सुत ९१

संयोज (जाति) ७११

संयोजिका ६५३

संयुधी (बोधिसत्त्व) ५५६, ६१७,
६१८, ६२४ ६८४

संज्ञ—यह २२१ ७२५, ७३१ ७३६,
७३७ ७३९, ७५३, ९२०—और
आख्याय १६८

संज्ञयान ५६३-५६५, ५७२, ९१

य

संज्ञ-संयुत ३२७

यन्त्र (यन्त्रोद्धार) २, १४ २१ २२,
२३, २४ ४८, ४९, ५९, ६१
११६, ११९, १६४ ७४५, ७५८,
८३१ ८३२

यन्त्रि आन्नामय (यन्त्र) ८३

यन्त्रोद्धार २२९, ३८३

यम २२ ७५९ ७८५

यमक ३१६, ३३ ३३१ ४५५,
५२ ६३१

यमवधि २२

यमुना ३६८, ४९३ १ ३२

यमाति ५

यममध्य (सप्तशतक) ८३

यम कालकण्ठपुत्र ३१२ ५४७, ५४८,
५४९

यमोदरा २५८, ६०३

यमोदिका ५८३ ६३१ ६३५, ६३६,
६३७

यमुदिता ३९

यम—की आध्यात्मिक व्याख्याएँ
७५५-७६

यमधी योतमीपुत्र (आत्म्य राजा)
६५४ ६५६

यमवप्रकाश १ २७

याम ५५९, ५६२

यामुन (आचार्य) ७२७

यात्क ५३

यामवस्तव (ज्ञानि) ८, ३८ ७९,
८१ १ ३, १ ७ ११ १४७
१४८, १५३ २२७, २५२, ४४२,
५४ ५२१ ७८२ ७८५
१ ७८ १ ८७ १ ९४

यामवस्तव (यामवस्तव-स्मृति) २,
५ १९, ५६, ७२, ७३ ७९, ८९,
१२३, ७५९ १ ४४ १ ९९

यीष्ट (माता) ३९, ६

'मुक्ति वधिका' ६५६

'युष्मत्' ३

युजान्-युभाट (बीनी बर्मवात्री)
२ २, ५५९, ५७१ ५७२, ६३

६३१ ६३५, ६३७ ६५ ६५१

६५२, ६५३, ६६१ ६६३

युधी (जाति) ५४८

युद्ध (नदी) ५३

युनात ७२४

युनाली (बर्धन) १५९ १६

येक केन्द्रिज एक्सनिडिशन ५

योग (बर्धन) १८, ८७ ९१ १ ५,
११८, १२५, १३७ १२८, १६७,
१६९, १७७ १७८, १८ १८२,

२२५, ३५८, ७३६ ७३७ ७३८,
७९४ ८४३ ८७३ ८७७,—और

बीड वर्धन ९ १-९१७
योग (वर्धन) दर व्यास भाष्य —
हेत्विय 'व्यासभाष्य' ।

योग-सूत्र ४ ११ १२, २९, ३२,
४१ ८८, ९२, ९३, १२५, १३३
१७ ३५४ ५१३ ८५९, ८७५,
८९८, ९ १ ९१७

योगसूत्रउपनिषद् ९ १

योगवासिष्ठ १२३

योगाचार (बीड सम्प्रदाय योग-
व्यास) २ ९, ५५७ ५६२, ५८४
६१७ ६२५, ६४९, ६५८, ६६१
६६२, ६७७, १ ४५, १ ९

योगाचार भूमि वास्तव ६४९, ६५

योग वासिष्ठ १९, २३, २७ ४१
४५, ७७, ११५, १३३, १७३,
१८७ ५९३ ५९४ ७ १ ९३७
—जीर बीड वर्धन ९४२ ९५६,
९७३ १ ४३ १ ४५, १ ९६

'योग वासिष्ठ जीर उल्लेख सिद्धांत'
(भाष्य) ९४३ ९४४ ९४७

योग लोम ९, १२, ३९, १६३ ४९७,
५१५, ५९८, ७९५, १ ६४

योग-भाष्य ७१८, ९१६, हेत्विये
'व्यास-भाष्य' ।

योग (यवन) ५६७ ५६९

योगिना मनसिकार ३८४ ४६६

योगपद्य ७ ४ ७ ५

योगसूत्रार्थ (सर वासिष्ठ) १ ८४
२

रत्नामस्त (रत्नामं) ३२

रघु (रघुवीर) ७२, ७३ ८३

रत्नज (सप्त) १४४

रघुपाठ-सुत २७९, ३२४

रत्न-सुत २४७, ४९४

रत्नमर्म (बीजितरत्न) ६१७

रत्न प्रभा ९९५, १ ७

रत्नमेघ-सूत्र ६२८

रत्नराशि-सूत्र ६२८

रत्नविगीत-सुतान्त ३२१ ४९१

रत्नेश्वरान्न वत ५३ ५४८

रत्ननिर्माण छन्द ५१ ७२, ८५,
१४९, १७५, १ ८

रत्न—आयतन ४२५, ४३६—मोप

५२६—संक्षेपना २९३,—संज्ञा

२९३—सम्प्रदाय ७७६

रत्नपूज २ ७, २२७, २६२, ३१

—बी संक्षेप ३१२-३१३; ५६६
८३६

रत्ननिरिक (बीड सम्प्रदाय) ५५३
५५५

रत्नतरंगिणी १५४ १५५

रत्नयोग ९ १

रत्नवन्द्य ३२४

रत्नवार्तिक ८४६

रत्नविद्या १९ ८१८

रत्नवर्णी ९

रत्नवस्तु (वृत्त) २७

रत्न ४९१ ५ ४

रत्न-संपुत ३२८

रत्ना ७२ ८२ १ ४३

रत्नाष्टकम् (रत्नपत्नी वा) ४२

५ ५५, ६ ७५, ८१ ८४	७२ ७२१ ७२७, ७५२ ८११,
१ १ १ ८, १ ९, १११ ११४	८१६, ९३६-९३७, ९४१ ९८३,
१५२, १५३ १६ १६९, १७५	९९- १ २७ १ ३९, १ ४
१७८, १८६, २१३ २९७ ३१७,	१ ४६ १ ४८ १ ४९, १ ५०
३३४ ३९५, ४५४ ४५६, ४५८	रामानन्द १ ४९, १ ५
४५९, ५२१ ५४१ ६३८, ६४७	रामायण १५४ १ ५६
६५४ ६५८, ६७३ ७२ ७४६	रायचौधरी (एच सी) ३३२
७५९, ७५८, ८३५ ८४८, ८६२	रायत डेबिङ्ग (डी डम्पू डा)
८६३, ८६४ ८६६, ८८९ ८९४	५६, २१३ २५ —मीर बुद्ध
९ ९, ९ २, ९२२, ९२५, ९२८	२८६ ३०३ ३१४ ३१५, ३१६,
९३६, ९१७ ९७८, ९७९, ९८१	३१७, ३३३ ३९१ ४५६, ५३८,
९८३	१ ७८
राम ८, ३२, १७३ ५८७ ५९३	रायत डेबिङ्ग (सी ए एक
७२७,—भक्ति ५९२, ५९३ ६११	श्रीमती) २८६, ४६३ ८७७
६१४,—का बीरग्य वर्धन ९४५-	रायच ३२५, १ ५२
९४९ १ ४९, १ ५ १ ५२	रायुपात्र (मिश्र) १८, ३७१
१ ५१ १ ५५ १ ५६ १ ५९	रायुपात्र-मुक्त ३२४
१ ६ १ ६३ १ ७२	रायिक ५६७
रामकृष्ण वरमहोत ९ १४९, १७५	राहुल (कुमार, स्पष्टि, बुद्ध-मुन)
१ ८	२८ २ ३ २१७, २६२, ३२३
रामराम २८८	३४ ३४७, ४४९, ५५०—
रामराम कबिनाटली १ ५५	मत्ता २५८, २५९
रामचरित मागत १५, ३६, ९३	राहुल मुक्त ३४
१४९, ३५३ ७२७ ९४८,—संघ	राहुल संघ ३३८
('अख्याय' का) १३३	राहुलसोदाह-मुक्त ४१९
रामतीर्थ ७९५	राहुल साहूवायन (महापंडित) ७,
रामदास (लख) ७ १०३ २२६	१ ३८ ४७, ५६ १३४ १३५,
३५२ ७ ७ १ ७१	१४ १४७, १४८, २१२, २१४
रामचंद्रन राय १७५	२८४ २८५, ३९६, २९८ ३ ५,
रामानुज (भाषाय) १४ ७५, ८१	३१७ ३३ ४ १ ४५९, ५३४
१ ९, १३१ १७१ १८४ ७	५३८, ५५ ५५१ ५५२ ५५३

५५४ ५६३ ५६४ ६३ ६३३
 ६३८, ६३९, ६५ ६५२, ६५८,
 ६६२, ८२२ ९९३ १००६, १ ७९
 रिशु (जापानी बीड विनाय-सम्प्र-
 दाय) ५७२

रुप ४१ ६२, ३३ ४१६, ४१८,
 ४१९, ४२५, ४२८, ४२९, ४३४
 ४३५, ४३६, ४३८, ४३९, ४४६,
 ४५६, ४६१ ४६३ ४६४ ५१४
 ६४२, ७६ ७६८, ७६९,
 ८ ७, ८१८, ८९ ८९७, ९ ६,
 ९९९,—मामस्तन ४२५, ४३६,
 —उपादान-स्वम्भ २९२, ३९९,
 ५९६,—काय ५७८, ५८४ ५८५,
 १ ५२, १ ६१—नोय ५२६,
 —वेचना ४५,—रत्न ५२६—
 संकेतना २९३,—संज्ञा २९३—
 तम्मावा ७७६

रुक्मोत्सामी १ ७२

रुक्मवयो ६३२

रुक्मवन्त—विल ४६८, ४७०,—मूमि
 ४६२

रोकत (निरु) ५४८

रोक (समुच्च, बीपनिचर श्रुति)

१५६, ७५ ७५९ ७८५, १ ५६

रोकत ३

रोम ५

रोमन वर्ष ५७३

रोमी रोमी २३ १९२

रोमिणी (निरुणी) ८ २४८, २५९

२९८ ५६६

रु

रुद्रिणीपन-मुत्त ३२३

रुद्रिणीपन-मुत्त ४१ ३३३ ३५४

३८७ ३९३, ३९६, ४ ८३ ४८४

४८५

रुद्रिणीपन-मुत्त ३२ ४१३ ४७६,

६३३

रुद्रिणीपन-मुत्त ३२८

रुद्र (प्रोक्षितर) ५३

'संक्षित विस्तार' २३७, २५ २५५

३५ ३६ ३६१ ३६७, ३६८

५५९, ५८५, ६१८, ६१९, ६२

६२३ ६२५, ६२६

रुद्रिणीपन भाव ६५

रुद्रिणीपन बीपनिचरार्थ ३८

३८७, ३९९, ७ ८१९, ९१८

रुद्रिणीपन का बीप ५७३

रुद्रिणीपन (बीपनिचरार्थ) २३१

रुद्रिणीपन ५६८

रुद्रिणीपन ३१५

रुद्रिणीपन-मुत्त ३२८

रुद्रिणी (हेरोन) ३४

रुद्रिणी (विमलावरण, डा) ८४

२३ २३४ ३१५, ३१६, ३२७,

३३३ ३३ ३३१ ३३२ ८३६

१ ५६

रुद्रिणी परामर्श ८६१

रुद्रिणी क्रियर १ ७

रुद्रिणी २८८, ५६६

रुद्रिणी (वन) २५१ २५६

रुद्रिणी की बीप ३९

सद्वर्त (एव) ३ १ ६६४
 क्षेत्री (तिल्ली) ५६९, ६५
 'सर्ववर्त जीन धर्मशास्त्र' (श्रीवर
 शास्त्री पाठक) १२२

लोक-मातु ६४१

लोक संवृति सत्य ५७८ ९८२ बेसिए
 'संवृति सत्य' ।

लोकधार्य १ ६६

'लोकधार्य प्रभु' (बुद्ध) ६६२

लोकधार्य (मत) ३४ १७७, ६६७
 ८२३-८२४ ८२९

लोकतत्त्व—बुद्ध २५, —कतल
 ३९५—यम्नबापी ६३२,—

बाही (बौद्ध सम्प्रदाय) ५५१,
 ६२६

लोकोद्धार (बोधितार) ५६८, ५६९,
 ६१२

लोपामुखा १४७

लोच-मूलक (चित्त) ४६८

लोचसर्कगिय-भाहुरत-मुत्तम ३२६

लोहा ('प्रिय' बरिवाजिहा)
 ८ ६

लोहिण्य (बाह्य) ८३ ३१८

लोहिण्य-मुत्त ३१८

लोहासि भाहुर ९११

लंका २ ८, २१३ ३ ४ ३ ५
 ५६७ ५६८, ५६९ ८३१ ८४
 १ ५

लंबावना-मत्र ४५४ ५५३ ५६

५६१ ५८१ ६१ ६१८ ६२३

६२५, ६२६, ६७ ६७१ ६७२

६७६, ६७८, ६८४ ६८५ ६८७
 ६९ ६९१ ६९५, ६९६ ८२८
 ८६५, ९६६, ९७८ ९८१ ९८६,
 १ ३६ १ ३७

व

वत्कलि (स्वविर) ५८५, ५९५,
 १ ६८

वद्यप्योक्त-संयुत ३२८

वद्यप्यर्ष ६१७

वद्यपानि ६१७

वद्यप्येविका प्रसापारमिता ६२४
 ६५

वज्रि ५६६

वज्रिमुत्तक ३१३ ५४७, ५४८,
 ५४९, ५५ ५५१

वज्रपान ८७, ४५४ ५५४ ५६४
 ५६५, ९ १ १ ५६ १ ५८

१ ६

'वज्रपान श्रीर श्रीरानी सिद्ध' ५६३

'वज्रपानी' ६६३ ६६४ ६६८

वट्टगामणि ३ ३ ३ ३१४

वट्टमाना (विलुप्ती) ४९

वज्र-मुत्त २४८

वज्रपुत्र-मुत्त २९ ३२ ६ ७

वज्रपुत्र-मुत्त ३२१

वज्रपुत्री (प्रवेय) ५६९, ५७

वज्र-संयुत ३२७

वज्रि-मुत्त ३२१

वज्रपुत्र-मुत्त ६८९, ७ १ १ ९७

वज्र १६३ १६३ १६४ १७३

५२६ ५८८, ७३ ७३८, ७३३,
 ७३५
 बरं सम्बोधि (विष्णु) ४६६, ४८२
 बर्तमान ५५७
 बर्तमान ८३७
 बर्मा (रामचन्द्र) ७८८
 बस्त्रम (बास्त्रम) १७२, ७२१
 ७२७, ९३६, ९३७, १ ५ १ ३६
 ब्यवहार तत्त्व ४४ ५७८, ६२१
 ६९६, ९२८, ९८८, ९८९ ९९६,
 ९९८, १ ३९ १ ४
 ब्रह्मिष्ठ ८१ २२ ७३७, ९४२
 ब्रह्ममित्र ५४९, ५५१ ५८३ ६३
 ६३१ ६३६, ६४
 ब्रह्मन् १७१ २१ २१४ ३
 ३ ६ ३५८, ३५९, ४१२, ५५७,
 ५५८, ६२९, ६३ ६३५-६३७
 ६४ ६४१ ६४८, ६४९, ६५
 ६५१ ६५९, ६६१ ६६८, ६७
 ६७२, ७ ६, ७११ ७२१ ८६३
 ८६४ ८७३, ९८१, ९८८,
 १ ४४ १ ४५, १ ९६, ११ १
 बज ५८९
 बज-पिरि ८२
 'ब्रह्मबाल' ६२७
 बर्ष ५७
 बर्षीस-संयुक्त ३२७
 बर्ष-साक्षित १५४ २५६
 बाक (देवी ब्रह्मबालिनी) ८, १७
 'बास्त्रपवीय' ४५, ९४४
 बास्त्रपति विष्णु १ ७, १६१ १७१

१७२, ५२२, ६५७, ७ ६, ७७
 ८५३ ८५६, ८६१ ८६३ ८६५,
 ८७३ ८८२, ८९३ ८९४ ८९६
 ९ ५, ९८१, ९८८, ९९३ ९९७
 १ ३१ १ ७५, ११ १, ११ ३
 बास्त्रमेयि संज्ञिता ७४१
 बास्त्रसं (बास्त्रसं) २८६, ५७३
 ६५३ ६५४ ६५९, ६६१ ६६३
 बाहुजा (बोनीमानव डा) ५
 १ १ १६ २११ २२८, ६३८
 ७८४ ८४ ८४१ १ ७९
 बास्त्रपाम १७१ २३५, ६५१
 ८५१ ८५२, ८५३ ८५५, ८५५
 ८५६, ८६१ ८६२, ८७१ ८७३
 १ ८८ १ ९६ ११ १
 बास्त्रीपुत्रीय (बीह सम्प्रदाय) ५१६,
 ५५१ ५५२
 बाव न्याय ६५२
 बावविधि ६३७
 'बावसी' २२५, २३५
 बास्त्रप ५६
 बास्त्र (बास्त्रि) २२ ७३६, ७३७
 बास्त्रेय (बास्त्रि) ५९, १७, २२
 ७३६, ७३७
 बास्त्र (बास्त्रा) २४
 बास्त्र पुराण ८ ४
 बास्त्रपती ९४ २५८, २७२, ४१३
 ५६६, ७९५
 बास्त्रीप (बास्त्रि) ६८, ७९, ७९२
 ९४२, ९४७, ९४९

बास्मीकि (बास्मीकि-रामायण)

१५ १६ ७२ ८३ १२ १८२,

१८७, १८८, ५९३ ६५९, ९४८

बासिष्ठ (बासिष्ठ, बासिष्ठ) २९,

२२ २२४

बासिष्ठ (बासिष्ठ) ४९८

बासुदेव (कृष्ण) २२६, ५८८, ५८९

—पूजा ५८८, ५८९—सम्प्रदाय

५८९, ५९

बासुदेव-सुत २३७ २९५ ३२४

३६८, ३७ ३७१ ३८

बासुदेव (बासुदेव) २, ५५, ५६—

के आचार्य शून्यवाद के प्रथम

विरोधी ११८

बासुदेव ४२२, ४४७

बास (कृष्ण ईपायन) ८१ १ ५

७८९

बास-भाष्य (घोष-सूत्र पर) ११

१२ ४१ ९२, १०२ ३५४

८७५ ९३ ९४ ९५

९६, ९७ ९८, ९९ ९१२,

९३ ९१४ ९१५ ९१६, ९१७

बास्य ८३

बास्य गिता २ ६, ५७१

बास्य (ग्रन्थ) ३३२

'बास्य व्यावर्तनी' ६५५, ६५६, ८५२

बास्य-सुत ३४७

बास्य-सुत—वैदिक 'बास्य' ।

बास्य-सुत-विरोधी नाम-विरोधी

१८८

बास्य-सुत-विरोधी नाम-विरोधी ३८७

बास्य ७

बास्य-सुत २८, ६ ९

बास्य-सुत-सुत ३२१

बास्य ८५४

बास्य ३५३

बास्य (बास्य) ८५७

बास्य ८ २

बास्य ५६६

बास्य सुत ८९८, ९३३

'बास्य-सुत-सुत' की ('बास्य-सुत-सुत' की) ३९, ८६

बास्य, ३ अपरा १ २—परा ५—

अथ बास्य १२ १४ १८, २१

३१,—तीन बास्य (तीनों

बास्य) २६९

बास्य-सुत (तीनों-सुत)

१७ ८५२, ८६५ १ ७९

बास्य ९२० ९२४

बास्य-सुत ५९

बास्य (—बास्य,—बास्य,—

बास्य) ८, ३७७ ३ १ ३ २,

३ ५

बास्य-सुत ३१ ४४ ६८, ६ ४

बास्य-सुत ४ ८ २१ २३ ३

३७ ७३ १ २ ३ ३ ४

२१८, २२४ २४७ २४८,

२५७ २६३ २६८ २७१ २७२

२७६ २७७ २७८, २ २९८,

३ २ ३ ६ ३ ८, ३१५, ३१७,

३२९, ३३ ३४२ ३४६,

३८४ ४१३ ४२५, ४३३ ४३४

- ४८९, ४९ ४९२, ५ ५२४
 ५२५, ५२७, ५२९, ५३२, ५३४
 ५५ ५५१ ५५९, ५७९, ६०७,
 ६१ ६१५, ६१७, ६२८, ६३३
 ६३४,—गुह्यमान का ६२८—
 सर्वस्तिवाद का ६३४; ७४३,
 ८३३, ८३४
 विनय-पिटक की अदृष्टकथा १
 विनय-वर ३११
 'विनय-वस्तु' ६३४
 'विनय-विभाय' ६३४
 विनयवाही (बीड़ सम्प्रदाय) ५७२,
 ८४१
 'विनय समुक्तै' ३१५
 विनय-सूत्र ६२८
 विनय-सुव्रत ६३४
 विनोदा (आचार्य) ८१८
 विपत्तना (विद्यार्थना) ३६९, ४९३
 ९१२
 विपत्ती बुद्ध ३१९
 विप्यमुत्त (पञ्चय) ३३२, ३९८
 विप्यमुत्तन विप्यमुत्तं ३३१
 विप्यमुत्तेन तपस्विनं अर्तपहितं ३३१
 विप्यमुत्तन सम्पुत्तं ३३१
 विपाक ४६५, ४७८, ५१५—
 विल ४६४ ४६५, ४६९, ४७
 —पञ्चय ३३१,—न विपाक-
 चम्प ५१५
 विमज्ज व्याकरण ४२२, ८७४
 विमज्जवाद (बीड़ धर्म) १४९,
 १८९, २ ९, २ ८, २११ ४ ९
 ४३९, ४८३ ५५२, ६१६ ६३९
 ७४८, ८७४ १ ९९—वेदिये
 'स्वविरवाद' (१९७-५४६)
 विमव (—गुप्ता) २९३ ३९८,
 ४४१ ५४६
 विमाया (घास्व) ६३ ६३५,
 ६५८, ६६२
 विमूतिपाद २२५
 विमय ३१५, ३१६, ३३ ३३७,
 ३७८, ३९१ ३९२, ३९७, ३९८,
 ४७८, ६३१
 विमर्क-जग्य ३२६
 विमर्ष-सुलभ ५ २
 विमला (बोधितत्व-भूमि) ६२ ६५५
 विमतिच्छेदन पम्हो ३३३, १ १३
 विमान वस्तु ३१५, ३१६, ३१९
 विमान वस्तु ६३४
 विमुक्ताग्रम भूमि १ ४५
 विमुक्तिपा (भाव) ६३२
 विमुक्तिसेन (कार्य) ६४९
 विमुक्तिसेन (भवता) ६४९
 विरतिपा (तीन) ४६७
 'विराच' (पञ्चवाक्य विवरण)
 १ ३२
 विवर्तवाद ८६८
 विवस्वान् ७८९
 विवेक बुद्धामणि ३ ७७, ९४४
 विवेकानन्द (स्वामी) १७५, ६१२
 विवर्कनी (वृद्धि) १ १
 विवर्णान (न्याय-वैशेषिक के
 आचार्य) ८५२

विद्याल (विद्याल) १४८, २४८,
४५५, ५४ ५१५

विद्याल ५६७,—मृगारणता २८

विद्यामित्र ७३३

विद्याप्याईत १ ९, १७२, १३३

विद्येय ११ ८५६-८५८

'विद्येय-विद्येय-मात्र' ६५

'विद्येय-मात्र' पत्रिका' ११६, १५७

'विद्येय-मात्र' (बीड संस्कृति मंड)

२५८, २६ १ ७७

विद्यामित्र २२

विद्येय-मात्र १३३ २

विद्यु १८, १७३, १९४ १९५, ४११

५८८, ७१६, ७२ ८ ४ ८९३

९४५, १ ५१, १ ५२ १ ५७

१ ७८

विद्यु पुराण ६

विद्याल-मुद्रा ५३४

विद्युद्विषय (विद्युद्विषयो) ७

१ १३१ १४१ १९७ १९९

२ २ ८, २४८, २९९, ३३२,

३३४ ३३५, ३३७ ३३८ ३३९,

३५८, ३५९, ३७४ ३७५, ३७६,

३७८, ३७९, ३८१ ३८७, ३८८,

३९ ३९२, ३९३ ४ ५, ४ ६

४२३ ४२४ ४७८, ४८ ४८८,

४८९, ४९३ ५ ७, ५११ ५२२

५२३ ५२७, ५३ ५३५, ६२

६३६, ८८८

'विद्युद्विषय-दीपिका' (वर्तमान

कोशम्बी) ३३५, ३५८, ४ ६

विद्युद्विषय ४

विद्युद्विषय (विद्युद्विषयो)

१५९, ६७ ६७१ ७२२, ९५१

९५२, ९५३ ९९२ १ १

१ ४४ १ ४५ १ ९७ ११ १

विद्युद्विषय-दीपिका ६५ ६५१

६७२

विद्युद्विषय-दीपिका-दीपिका ६५१

विद्याल (विद्युद्विषयो) ३५, ४१ ६२ १३६,

१३७ १४ १४१ १४२, ३३

३८८, ३९५, ३९६, ३९७, ४

४ १ ४ २ ४ ७, ४१५, ४१६,

४१८, ४१९, ४२५, ४२६, ४३१

४३३ ४३४ ४३५, ४३८, ४३९,

४४६, ४५ ४५६, ४५७ ४५८,

४४२, ४४९, ४७ ४७१,—जायल

९७४,—उपादान-संख्या २९२,

३९६,—काय, ४२६, ६३६,—

सन्तान ६६९, ६७१ ९३२,—

स्पष्टित ९७२ ७६९, ७७५

८ ७ ८१८, ८५ ८५७ ८८८,

८९७, ९ ७, ९५३ ९९३ १ ४५

विद्याल-दीपिका-दीपिका ६३६, ६३७

विद्याल-दीपिका (दीपिका-दीपिका) १९६,

८८२, ८९४ ८९५, १ ३८

विद्याल-दीपिका-दीपिका ७ ३

विद्याल-दीपिका १ ९, १३६, १५२,

१५३ १६६ २ ७, २ ७, ३१

२१२, ४६३ ५५४ ५६३ ५८४

६२२, ६२४ ६४४ ६४९ ६७८,

६७९, ७ ९, ७५२, ८४५, ८५२

८५६, ८५७, ८६ ८६२, ८६३
 ८६४ ८६५, ८६६, ८७१ ८७८,
 ९०—का अन्वय योग-वर्जन
 द्वारा ९१४ ९१६—पूर्व-मीमांसा
 द्वारा ९२८-९२९, संकर
 द्वारा १ २०-१ २६ ९१३
 ९३२, ९५१ ९५२, ९५३ ९७२
 ९७३ ९७७, ९८ ९८७
 १ ३१ १ ३६ १ ४५, १ ८४
 विज्ञानानुवाक्य (ध्यात) ५ २,
 ५ ८, ७७९
 विहरनिष्ठ (एम) ३ १
 ३१५, ३१६ ५९१ ६२६, ६५८,
 ६६२, ६६४ ८३५, ९४३
 विविध ३ १ १०७८
 विधिक ६५
 बीर्मसक (मीमांसक) २२५, ३५६
 बीर्मसक-सुतस ३२२ ३५६
 बीर्म ३५१ ३५४ ३५५, ३६१
 ४६६, ६१८, ६४८—संयम
 ३४३, ९१
 बुद्धिपुत्रक ३१३ ५५२, देखिये 'बुद्धि
 पुत्रक' ।
 बेकनरस सुत ३३४
 बेकरीय २८८
 बेन वन्दकी (उपातिष्ठा) २७९
 बेमुवन विहार २९५, ५६७
 बेमु (बिम्ब) ५८८
 बेमुस्तवारी (बीड़ लग्नवाय) २५
 २५२, ५५३ देखिये 'बेमुस्त
 वारी' भी ।

बेव २, ८, १६, ३ ३५, ७३ ८२
 १ ४ ११९, १२३ १२८, १५७,
 १६९, १७९, १८ १८२, १८३
 १८५, १८७ १८८, १८९, २२
 २२७, ३५२, ३५३ ३६३ ७१
 ७२ ७२२—तीन ७३९ ७४
 बार ७५९—का वर्जन और
 बीड़ वर्जन के सम्बन्ध ७२४
 ७८८—की ओर गीता
 और बीड़ वर्जन की प्रवृत्तियों की
 तुलना ८ ८ २—के प्रति
 बीड़ और बेन वर्जनों की बुद्धियाँ
 ८४१,—की ओर पूर्वमीमांसा
 की बुद्धि ९२३ ९२८ १ ७१
 १ ७२
 बेवक-बेव (मातृना) ४३७ ४७८
 'बेव' (बेव) २१६, २२४ ४५३
 ७४२ ७४३ ७५१ ८२७, ८३४
 'बेवस्त' (बेवस्तान) १ २ २२३
 ७४२, ७४३ ९४२
 बेवस्त ३१७
 बेवना ३२, ३३ ३८८, ३८९,
 ३९६ ३९८, ४ १ ४१४ ४१८
 ४१९, ४२५, ४२६, —अनुपा-
 अनुपा ४२६, ४२८, ४२९, ४३४
 ४३५, ४३८, ४४५, ४४७, ४५६,
 ४५७ ४६३ ४६६, ४६७
 ४४२,—में बदलानुगामी होता
 ३३९, ३४४ ३४८, ३६६—
 उपादान रूप २९२ ३४९,
 ३९९—काय (रुह) ४२६,

- ६३२—संयुक्त ३२८—निरीक्षा
 तन्त्रानिरीक्षा ३८८—नक्षत्रा
 तन्त्रा ३८७, ३९८ ७६९, ८ ७,
 ८५ ९ ६ ९९३
 वेदान्त दर्शन ११ ६५, १ ६, १ ४
 ११ १४३ १६७, १६९, १७
 १७१ १८४ ३९२, ४४३ ५२३
 ५४१ ५८४ ६७ —और बीड
 दर्शन ७१५-७२४ ७७९, ८४८,
 ८४९, ८५४ ८६७, ८९१ ९३२
 ९३५ १ ४९ १ ६ १ ६५,
 १ ७१ १ ९५, ११ २
 वेदान्तदेशिक (आचार्य) ७२७,
 ९३१ १ ६६
 'वेदान्त-सार' (सदानन्द-कृत) ४७,
 ६९, ८६, २४१ ८२३ ८२५,
 ९३५, १ ३५
 वेदान्त-सूत्र ९३५, ९३८, वेत्तिपे
 'ब्रह्म-सूत्र' ।
 वेद्याकरन ३१७, ३८१ ३२८
 वेदिक तुलना ३२२, ४७५
 वेदिक ब्रह्मण्य-सूत्र २१८, २६८,
 ३४ ५२५, ५४६, ९१
 वेदिका ५६३
 वेदित (एव) ६५३
 'वेदित्य-अकरन' ९६१-९६४
 वेदिक (शांति) १६, १६८, १२०-
 १२७ १८६, १८७, —और बीड
 दर्शन ७२४-७८८
 'वेदिक इन्डियन' (मेकडोनल और
 जीव) २८६
 'वेदाराध' (बुद्ध) ५६
 'वेदमिक्' ५२५, ५२६, ५४३
 वेदम (राक्षसि) ५
 'वेदाधिक' (मत) १८१ ९१३,
 १ ० १ ६, १ ६, १ १५,
 १ १६, १ ४२
 वेदुस्मवादी (बीड सम्प्रदाय) २५
 ५५३, ५५४ ५६३
 वेदुस्म-सूत्र ५५५, ५८१
 वेदभार पर्वत ३१
 वेदभाषिक (बीड सम्प्रदाय) २ ९,
 २११ ५६२, ५८३ ६२९, ६३
 ६३६ ६४१ ६४५, ६४६, ६५८,
 ८७१
 वेदोक्त (वेदिसत्त्व) ७५९, ७८५
 वेदोत्तर (वेदित) १ ७८
 वेदस्यत मनु ५
 वेदसार (चार) ४५३ ५८९,
 ६१७
 वेदाली २ ७ २ ८, २१२, २८४
 २८५, २८८—और लंपीति ३१३;
 ५४७, ५४८, ५४९, ५५ ५५८,
 ५६६, ५७ ६२९, ८३६
 वेदोक्तिक (दर्शन) १८, ४९, १ ४
 १ ५, १२२, १३८, १५२, १६७,
 १६९, १७ १७१ १७७, १७८,
 १८ १८९, ७ ६, ८५१,—
 परमाणुवाद और बीड दर्शन ८७१
 'वेदोक्तिक विमर्श' (जई) ८७१
 वेदोक्तिक-सूत्र ४४ १ १७१ ७२६

'प्रिय संक्षय' ८२
 प्रिय संशय १ ५३
 प्रियाचित ८५२
 प्रियासक (प्रवेश) ५
 प्रियुता (राजा) २ ७
 प्रिया (जीजा) २ ५५, ५६—के
 वासक-पूर्व आचार्य ५६
 'प्रिया समुच्चय' ३१ ३५१ ३६
 ५७७, ६ ३११ ३१२, ३२८,
 ३५७, ३७९ ३९८
 प्रियोल (आपानी मंत्रवादी बीर
 सम्प्रदाय) ५७२, १ ७६
 प्रिया (वन) ४५१ ५४ ५४४
 ५८१
 प्रीत-कथा ५८
 प्रीतवत् (आचार्य) ३५१
 प्रीतप्रत्ययसमर्प ३९८ ९११
 प्रीत-विबुद्धि ४९१
 प्रीतचार (डाकके-कृत 'बुद्धिस्त
 एतेष' के अंग्रेजी-अनुवादक)
 ८५
 प्रु ५
 प्रुलीति १९
 'प्रुल वर्म' ३६
 प्रुला (विबुद्धि) ८
 प्रुल्लित १ ९, १७२ ९३७
 प्रुल्लित १९७ २५६, २६ ३६६,
 ३७३ १०५२
 प्रुल्लेप ८३
 प्रुल (नायक) ४७४
 प्रुला (विबुद्धि) ८

प्रुल २१ ३७२, ३७३ ३८१ ३८७,
 ९५१, ९५२ ९५४ ९७७,
 १ ४१ १ ४२, १ ३२, १ ७१
 १ ९६ ११ २—जीर ९५१
 १ २९१ ३६, १ ४२-१ ४४
 प्रुल्लेप १ ३२
 प्रुल्लेप १ ५७
 प्रुल्लेप (वर्णन) ४ ५, ५६२, ५८२,
 ६२ ६२३ ६२४ ६७९ ६८८,
 ७२६, १ ९६, ११ २
 'प्रुल्लेप-वर्णन' ३५६
 प्रुल्लेप १५२, १५३, १६६ १८१,
 २ ९, २१ २१२, २४५, ३७५
 ४ ६, ५६६, ५८३ ६२२, ६४५,
 ६५२-७ ८४५, ८५२, ८६
 ८६३ ८६४ ८६६, ९२२, ९५१
 ९७७, ९८ ९८७, ९९७,
 १ ५, १ ३ १ ३६, १ ४४
 १ ४८, १ ७१
 प्रुल्लेप ९३७
 प्रुल्लेप (प्रवेश) ५८९
 प्रुल्लेप ९४ १४६, २२७, २४५
 ७५२
 'प्रुल्लेप-वर्णन'—(प्रुल्लेप-वर्णन उपनि-
 यद्) १५ ४ १६८, ४ ७,
 ५८९, ५९ ७६३ ७६५, ७६६
 ७७५, ७८१ ७८१ ७८८, ८०८,
 ९६
 प्रुल (वर्णन) २६७
 प्रुला (विबुद्धि) ८
 प्रुल (सम्प्रदाय) १७४ ५७५

५७६, ५९ १ ४९, १०५१,
१०५३ १ ५५, १ ७५

घोष्य ३१ ३२३

घोषोक्त (जायामी लग्नात्) १९७

'घोमन' (चित्त) ४६५, ४६६, ४६७

'म्लीकवातिक' १७२, ६५१ ८४७,

९१९, ९२३, ९२५, ९२९

९३१ ९३२ ९३४ ९८२

घोरोमोर (वर्मन दार्शनिक) ९४७,

१ ८४

भृगाल माता २७९

बडा ९२ ९३ ११६,—भीर बुद्धि

बाद १२८ १३५; १९१ १९२

३५१ ३५४ ३५५ ३६ ४६७,

३४८, ७३७, ७७३ ७८४ ७९९

८९४ ९४ ९९१ १ ६८, १ ७४

बडा सुक्त १२९

बमन—का लग्न १४४,—भीतम

२२५, ७१ ८३ ८४८, ११

—भीर बाह्य २३४ २३८,

२४२, २७५, २९४ ३२६, ३७०

३७९, ४४९, ५३४ ७४१,—

—वर्म (वामप्य) ८३—८३४

१ ५ —भीर बाह्य (बाह्य-
वर्म) ८३—८३१ ८९ १ ४

१ ५१ १ ६ १ ६३

बावक ५३ ५८१,—कै लाल प्रकार

३४८,—मूर्ति ३४५, ३४६,—

बीबि ३४८,—वाग ५५९, ५६१

६ ५, ६ ६, ६६३

बावस्ती (लावस्ति) २२८, २८१

५६६, ५६७

'भुगारिक रहस्यबन्ध' १ ५, १०७२

बीबर भास्त्री पाठक (महामहोपा-

ध्याय) १२२

बीमाप्य १८४ ८३४ ९३६, ९८३

१ ४

बी पर्वत (बी सीलम्) ५५६, ५५८,

५७

बीलम् (बाधार्म) ३३५

बीमभूभावस्त—वेष्टिये 'मापवत' १

बी विजय (बाबा) ७१३

बीहर्ष १ ९, १७२, ३८७, ९८९,

१ ३२, १ ३३, १ ४२, १ ४४

१ ४८, १ ७१ १ ८८, १ ९६

भुक्ति ७१९, ७२ ७२१ ७२५, ७२६

७२७, ७४१ ७४८, ७५८, ७७६,

९ ८२६ ९ ९, ९३८, ९९

१ ११ १ १२, १ ३७ १ ३९,

१ ५ १ ३२, १ ७१

बेय १२, ४४ १८३

बीज ४२२, ४२४ ४३६, ५ ५ ३

३३३ ७१७,—बापलन ४२५,—

बिजाल ४२५, ४३६,—स्वर्ग

४३५ ८५५, ८५८

बीत-भारम्परा ३४ ११९, १४६,

१७२, १८ १९ १९४ २ ९

२१२, २२३ ५६३ ५८४ ५८६,

५९३ ५९३ ५९४ ६ ६१८,

६७३ ७ २ ७ ६, ७२ ७२२

७७३ ८१८, १ ४ १ ५९

८४९, ८६२, ८६९, ८७१, ८७३
८७८

वैष्णव दर्शन १७२, १७३ १७४
४८, —जीर बीड़ दर्शन १ ४६
१ ७४ वैष्णवे 'मक्ति-दर्शन' ।

वैष्णव क्षेत्र एवम् मुखर्जट'
(लुझील कुमार से) १ ७२

वैष्णव वेदान्त ७२

वैष्णवायन १ ७५

'वैष्णविष्णु श्रीविष्णु एवम् माहतर
रिक्खिजस तिल्लम्स'

(मार जी माण्डारकर) ५९
८४

वैष्णव पाठ १ ७८

वैष्णव १ ७८

'वैष्णवे से गंगा' (राहुल साहस्रपायन)
१४७ १४८

'वैष्णव नवम' ३३०

श

शक ५८८

शक्ति १ ५३

शक्तपत्र काष्ठान्न ७३९, ७४१, ७४९,
७५१ १ १

शक्तसारव व्याख्या ६५१

शक्तसाहित्यिका प्रभाषारमिता ३३९,
३६१ ३६७ ५५८, ६१९, ६२३
६२४

'शम्भ' ४२२ ५७६, —जायतन ४२५,
४३६, —जीव ५२६, —रत

५२६, —सचेतना २९६, —संज्ञा
२९६, —प्रमाण ८५५, ८८२
९२३ ९२५

शरणापत्ति ३ १

शरमय (शक्ति) ८३

शाकटायन ५६

शाक्य ५६, १४८

शाक्य (शक्ति) १७८, २५८, २६

२६१ २८८, —जीर कोलिमों का
शक्ति २६

शाक्यकुमार २६२, ६६६, ६७६, ७५९,
८७६, ८७७, ९९६, ९९७

शाक्यपुत्रीय धम्म ३१३, ५४७, ८३३

शाक्यमुनि ११६, २१७, २२३ २२८,
२४७, २५ ४५७ ४८ ५३७

५७१ ५७३ ५८४ ५९३ ६६७,
६९२, ७१२, ७१५, ७२२, ७२८,
७४१ ८ ७ ८ ९ ८७५ ९४८

१ २६, १ ८८, १ ९३, १ ९४

शाक्यसिंह ३ ६, ४५५

शाक्यरी (शक्ति) ७

शाक्य भाष्य १७२, ११९ १११
१२२, १२५, १२८, १३१, १३२

१३४

शाक्यतीर्थ ८७७

शाक्य ६३१ ६६३

'शाक्य-मकर' ६५९, ६६३ ६६४

शाक्य (शक्ति) जीर्णता १७७, १८
१८१ ४५७, ९३५, ९३८

शाक्यनाथ १३४ १ २९

शाक्यनाथ (शाक्यनाथ) २३८

२३९, २२३ ३२५, ३८ ४३६,
४४९, ७ २, ७७ ८८७ ९ ४
९२७, ९६९ १ ७५

आत्म-ज्ञान—की आवश्यकता ३४

—की अपर्याप्तिता ३५ ३६

आत्मवीक्षण १ २९

‘आत्मवीक्ष्य’ (बीड वर्जन का)

२१ २११

अक्षर (आचार्य) ५, १४ १८, २

३३ ३७, ३८, ७ ७२, ७६,

८१ ८२ ८३ ८७, ९५, ९८,

१ ७, १ ९, ११२, ११३ १२२,

१२३ १२ १३१ १३२, १३७,

१४ १३१ १७२, १७८, १७९,

१८३ १८६, १९५, २ ६, २ ८,

२४५, ३ ३५२, ३९ ४ ९,

४३८, ४४३ ४४७, ४५४ ४५५,

४८५, ५१ ५११ ५१७, ५२२,

५३२, ५३५, ५८३ ६४३ ६४५,

६७ ६७२, ६७६, ६७८, ६७९,

६८४ ६८६, ६८७, ६८८, ६९२,

६९३ ७१९, ७२ ७२१, ७२३

७२६, ७२७, ७५१ ७५२ ७७४

७७५, ७८१ ८११ ८१४ ८१६

८१७ ८४८, ८४९, ८५४ ८९३,

९ ८, ९१८, ९३६, ९३७, ९४६,

९४३, ९४४ ९५१ ९५२, ९५७

९५८, ९६९, ९७१ ९७२, ९७५,

९७६, ९७७, ९८१, ९८२, ९८७,

—का वर्जन बीड बीड वर्जन के

साथ उलका सम्बन्ध ९८८

की ७५

१ ४६,—क्या प्रचलन बीड

है? १ २६ १ ४९; १ ७१,

१ ७५, १ ७८, १ ८७, १ ९४

१ ९५ १ ९६, ११ १,

११ २

अक्षर (महाश्वेद) ७

अक्षर विनिर्वाण १ ७८

अक्षर स्वामी ३५१

अक्षर लिखित अक्षरार्थ २७९

अक्षरतामस १ ७५

अक्षर (वर्जन) ३ १७२, ४ ९,

५२२, ५६५, ६२९,—बीड बीड

वर्जन ९८८ १ ४६

‘आभिज्ञान सूत्र’ १७४ ५८८

आत्मरसित १३४ ५१५, ५७१

६५ ६५२, ६५७, ७ ३ ७११

आत्मिद्वेष ३५, ३६, ३५ ३६

५५७, ५७७, ५८३ ६ ३ १

६ २, ६ ३ ६ ४ ६११ ६१४

६२८, ६२९, ६५७, ७११ १ ५१,

१ ५१ १ ५५, १ ९६

आत्मिभाव (साधु) १ ८८

आत्मिपर्व (आत्मि) १५, १६, १७,

१९, २५, २६, ४४ ११६, १२

१२८, १८२, ३४८, ७७२

अभिज्ञान (जापानी लिखित तापक)

५९९, ६१५

आत्मोच्छ (भुक्ति) ३९, ७६

आत्म ७२ ७६६, ८९२ १ ५६

१ ५३ १ ५५

आत्म प्रसार अक्षरार्थ ९४३

‘सिद्ध संकल्प’ ८९	सूय २१ ६७२ ६७६ ६८१ ६८७
सिद्ध संयोगर १ ५३	९५१ ९५२ ९५४ ९७७
सिद्धादित्य ८५२	१ ४१ १ ४२ १ ६२ १ ७६
सिद्धान्त (प्रवेश) ५	१ ९६ ११ २—जीरक ९५१
सिद्धनाथ (राजा) २ ७	१ २९ १ ३३ १ ४२-१ ४४
सिद्धा (शीला) २ ५५ ५६—के	सूयवच १ ६२
पातक-पूर्व आचार्य ५६	सूय समाधि १ ५७
‘शिखा लक्ष्मण’ ३१ ३५१ ३६	सूयता (वर्जित) ४ ५ ५६२ ५८९
५७७, ६ ६११ ६१२, ६२८,	६२ ६२३ ६२४ ६७९ ६८८
६५७, ६७९ ६९८	७२३ १ ९६ ११ २
सिधोन् (जायली मंत्रवादी बीर	‘सूयता-सप्तति’ ६५६
सम्प्रदाय) ५७२, १ ७६	सूयवाह १५२, १५६, १६६, १८१
सिधपा (वन) ४५१ ५४ ५४४	२ ६ २१ २१२, २४५, ३७६
५८१	४ ६ ५६६, ५८३ ६२२ ६४६
शील-कथा ५८	६५२-७ ८४५ ८५२ ८६
शीलमन्त्र (आचार्य) ६५१	८६१ ८६४ ८६६ ९२२, ९५१
शीलव्रतपरामर्श ६९८ ९११	९७७ ९८ ९८७, ९९७,
शील-विनुद्धि ४९१	१ ५, १ ३ १ ३६, १ ४४
शीलाधार (शास्त्र-कृत ‘बुद्धिस्त्र	१ ४८, १ ७१
एतेज’ के मंत्रेजी-अनुवादल)	श्वेततपियर ११७
८५	शूरसेन (प्रवेश) ५८९
शुक् ५	श्वेतकेतु १४ १४६, १२७ १४२
शुक्नीति १९	७५२
‘सुस्त धर्म’ ३६	‘स्यतागत’—(श्वेतागत उचि-
शरणा (मिशुनी) ८	वर्) १५ ४ १६८ ४ ७,
शरार्थ १ ९, १७२ ९१७	५८९, ५९ ७६३ ७६५, ७६६
शुद्धोद्य १९७, २५६ ३६ ६६६	७७५, ७८१ ७८१ ७८८, ८७८
६७३ १०५२	९६
शुद्धा ८३	शील (ब्रह्मण) १६७
शुभ (आचरण) ४७४	शीला (मिशुनी) ८
शुभा (विलम्बी) ८	शिव (सम्प्रदाय) १७४ ५७५

५७६, ५९ १ ४९, १ ५१
१०५३ १ ५५, १ ७५

श्रीकृष्ण ३१ ३२३

श्रीलोक (जापानी लम्बा) १९७

'श्रीमन्' (बिल) ४६५, ४६६, ४६७

'श्रीलोकवातिक' १७२, १५१ ८४७

११९, १२२, १२५, १२९

१३१ १३२, १३४ १८२

श्रीवेङ्कट (बर्नन बाधनिक) १४७,

१ ८४

श्रीगणेश मत्ता २७९

श्रीगणेश १२-१३ ११६,—श्रीर बुद्धि

बाध १२८ १३५ १९१, १९२,

१५१ १५४ १५५ १६ ४६७,

१४८, ७३७ ७७३ ७८४ ७९९,

८९४ ९४ ९९१ १ ६८ १ ७४

श्रीगणेश १२९

श्रीमन्—का लम्बा १४४,—श्रीतम

२२५, ७१ ८३ ८४८, ११

—श्रीर बाधन २३४ २३८,

२४२, २७५, २९४ ३२६, ३७

३७९, ४४९, ५३४ ७४१,—

—बर्न (बामन्य) ८३०-८३४

१ ५ —श्रीर बाधन्य (बाधन्य-

बर्न) ८३०-८३१ ८५ १ ४

१ ५१, १ ६ १ ६३

श्रीकृष्ण ५६ ५८१,—श्री छात प्रकार

६४८,—श्रीलोक ६४५, ६४६,—

श्रीमि ६४८,—श्रीलोक ५५९, ५६१,

६ ५, ६ ६, ६६३

श्रीकृष्ण (लामन्य) २२८, २८१

५६६, ५६७

'श्रीगणेश' १ ५ १०७२

श्रीकृष्ण छात्रो पाठक (ग्नामहोपा

ध्याय) १२२

श्रीलोक १८४ ८६४ ९३६, ९८३,

१ ४

श्री पर्यंत (श्री श्रीलोक) ५५६, ५५८,

५७

श्रीलोक (बाधन्य) ६३५

श्रीलोकनामक—श्रीलोक 'बाधन्य' ।

श्री लिलय (बाधन) ७१३

श्रीलोक १ ९, १७२, ६८७ ९८९,

१ ३२, १ ३३ १ ४२, १ ४४

१ ४८, १ ७१ १ ८८, १ ९६

श्रीलोक ७१९, ७२ ७२१ ७२५, ७२६,

७२७, ७४१ ७४८, ७५८ ७७६,

१ ८२६, १ ९, १९८, १९

१ ११ १ १२, १ ३७, १ ३९,

१ ५ १ ६२, १ ७१

श्रीलोक १२, ४४ १८३

श्रीलोक ४२२, ४२४ ४३६, ५ ५ ३

६३३ ७१७,—श्रीलोक ४२५,—

श्रीलोक ४२५, ४३६,—श्रीलोक

४२५, ८५५, ८५८

श्रीलोकनामक ६४ ११९, १४३,

१७२, १८ १९ १९४ २ ९,

२१२ २२३ ५३६, ५८४ ५८६,

५९९, ५९९ ५९४ ६ ६१८,

६७३ ७ २ ७ ६ ७२ ७२९,

७७३ ८१८, १ ४ १ ५९

'सिद्ध संकल्प' ८२
 सिद्ध संवेदवार १ ५३
 सिद्धावित्य ८५२
 सिद्धावक (प्रवेष्ट) ५
 सिद्धनाम (राजा) २ ७
 सिद्धा (श्रीका) २, ५५, ५६—के
 वात्स-पूर्व आचार्य ५६
 'सिद्धा समुच्चय' ३१ ३५१ ३६
 ५७७, ६ ६११ ६१२, ६२८,
 ६५७, ६७९ ६९८
 सिद्धीन् (जापानी मंत्रवादी बीड़
 सम्प्रदाय) ५७२, १ ७६
 सिद्धपा (वन) ४५१ ५४ ५४४
 ५८१
 सील-कथा ५८
 सीलमय (आचार्य) ६५१
 सीलमतपरामर्श ६९८ ९११
 सील-विमुक्ति ४९१
 सीलाचार (डाल्फे-कृत 'बुद्धिस्त
 एसेज' के अंग्रेजी-अनुवादक)
 ८५
 शुक् ५
 शुक्लीति १९
 'शुक्ल धर्म' ३६
 शुक्ला (बिलुणी) ८
 शुद्धार्थ १ ९, १७२, ९३७
 शुद्धीकरण १९७, २५६, २६ ६६६,
 ६७३ १०५२
 शुभजाप ८३
 शुभ (आचार्य) ४७४
 शुभा (बिलुणी) ८

शुभ्य २१ ६७२, ६७६, ६८१ ६८७,
 ९५१ ९५२, ९५४ ९७७
 १ ४१ १ ४२, १ ६२, १ ७६,
 १ ९६, ११ २—और कदा ९५१
 १ २९१ ३३ १ ४२-१ ४४
 सुत्पचक १ ६२
 सुत्प समाधि १ ५७
 सुत्पता (वर्जन) ४ ५, ५६२, ५८२
 ६२ ६२३ ६२४ ६७९ ६८८,
 ७२३ १ ९६, ११ २
 'सुत्पता-सप्तति' ६५६
 सुत्पवाह १५२, १५३ १६६, १८१
 २ ९, २१ २१२, २४५, ३७६,
 ४ ६, ५६३ ५८६, ६२२, ६४६,
 ६५२-७ ८४५, ८५२, ८६
 ८६३ ८६४ ८६६, ९२२ ९५१,
 ९७७, ९८ ९८७, ९९७
 १ ५, १ ३ १ ३६, १ ४४
 १ ४८, १ ७१
 सुवेतस्मिर ९३७
 सुवतीन (प्रवेष्ट) ५८९
 सुवेतकेतु ९४ १४६, २२७, २४९,
 ७५१
 'सुवेतावतार'—(सुवेतावतार उपनि-
 षद्) १५, ४ १६८, ४ ७,
 ५८९, ५९ ७६३ ७६५, ७६६,
 ७७५ ७८१ ७८१ ७८८ ८७८,
 ९६
 सुव (बाल्य) २६७
 सुव (बिलुणी) ८
 सुव (लग्नवाह) १७४ ५७५

सत्ततिष्ठ बोधिपवित्रया बन्मा—

वेत्तिमे 'बोधिपत्तीय बर्म' ।

सति—वेत्तिमे 'स्मृति' ।

सत्तिपट्टान विनिय ३३

सत्तिपट्टान-सुत्त २९१ ३२१ ३४४

सत्ति पट्टान—संपुत्त ३२९, ५७९

सत्काय बुद्धि ५१३ ५१६, ६९८

९ ७, ९११

सत्कार्यबाध ४२६, ९६७

सत्य—१ २—संबुत्ति १ ३

६८८-६९१—परमार्थ ३ ६८८,

६९६, —का वर क्क ४-५,

८ १ ११—की प्राप्ति माछीय

अध्यात्म विद्या का समय १२२

—का उच्चतम क्क १३,—का

परम विद्या १३,—ही परम ब्रह्म

१४ १५—और बर्म १६, १२

—के बी क्क ४४ ४५, ६८८

६९१ ५७८, ५८३ ५८, ६१

७३ १ ११ ११७, १२६,

१२७, १३४ १४५, १६५, १८७,

११६, २१७, २३६,—का बहु

कारी बर्म प्रपन्न ३५३; ५१५,

५१७, ६१८ ७१६ ७३७, ७४२

७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९,

७५१ ७५७ ७६१ ७६८, ७८४

८ २, ८४३ ८४७, ८४८, ८४९

८५१ ८६५, ८६६, ८६७ ८७

८७३ ८८१ ८९१ ९१ ९३५,

९२९, ९३८, ९३९ ९५१ ९७१

९८२, १ ४८, १ ६०-१ ८९,

१ ९ १ ९१ १ ९२, १ ९६

१ ९७

सामकाम जावाल ६८, १५३ १५६,

२२३ २२७, २४९, ७५२, ७५९,

७८५

सत्यप्रतिसंयुक्ताभिप्रज्ञा विहार

(बोधिसत्त्व-भूमि) ६२

सत्यपुत्र (प्रवेस) ५६७

सत्यबह माछाब ८८, ७८४

सत्यसिद्धि कात्त ५७१ ६३५,

१ १९

'सत्पार्थ प्रकाश' १७८, ८२८, ८४१

सत्वावास (नी) ६३२

सत्तो सम्मचानो ३४१

सत्तान्त्र २४१

सत्तर्म काव ५८४

सत्तर्मपुण्डरीक-सूत्र ३३८, ३६७

५५९, ५६ ५७२, ५७९, ५८१

५९१ ५९५, ५९७, ६ ५,

६ ६, ६११, ६१८, ६२३ ६२५,

६२८, ६५

सत्त सत्त १७३—और बीद्ध बर्म

१ ५६-१ ६२

'सत्तामात्रसिद्धि, ६५२

सत्तक सुत्त २२९, ३२४ ७४८,

८२१ ८२२, ८२७, ८३७ ८४१

सम्भिद्धि (बन्मो) २९ वेत्तिमे

'सांयुत्तिक' भी ।

सत्तन्त्र ८२५, १ ३२, १ ३५,

१ ४५

सत्तन्त्रमार ५९ ६

१ १ १ ११,—के दर्शन के
लिपि देखिये 'वैदिक दर्शन' ।

गीत सूत्र १२२

घ

ब्रह्मसूत्रात्म ३३

ब्रह्म (ब्रह्म के) २, ५५-५६, ६३

ब्रह्मदर्शन १ ४ १२६, १५२, १५७,

१६६,—युग १६९ १७१; १७६,

२२६, ७२६,—और बीड़ दर्शन

८५१ १ ४९ १ ५८, १ ८५

११ १

'ब्रह्मदर्शनीयतात्म' १९२ १ ३१

देखिये 'ब्राह्मसूत्र सिध' ।

ब्रह्म धर्म ३३२

'ब्रह्मदर्शन समुच्चय' १ १ ४

१७१ २१३, ८४६, ८४७

'ब्रह्मदर्शन समुच्चय-मुक्ति' १७१ २१३

ब्रह्मसिध सिध ६५

ब्रह्मसूत्र ३८८, ३८९, ३९७, ३९८,

४ ४ १ ४ ७ ८८८

ब्राह्मसूत्रिक (बीड़ ब्रह्मसूत्र) ५५१

स

संन्य (संन्य) ४१ ४२५, ४४५,

६२४,—आयतन ६४२, ८४५

१ ४३

संन्यसाध शास्त्र ६३३

संन्यसाध (बीड़ ब्रह्म) १९७-

५४६,—का साहित्य २९९ ३३६;

५४७, ५४८, ५५ ५५२, ५५८,

५६ ५६८, ५७८, ५८३ ५८५

५८६, ५९४ ५९५, ५९६, ५९७,

६१ ६१८, ६२ ६२२ ६२६

६३२ ६३६, ६७५, ९९७ १ ११

१ १३ १ ६५, १ ६८, १ ६९

संन्यसपञ्च सुत ३१९

संन्य संयुत ३२७

संन्यकार-सुत ४७६

संन्यसिध सुत ३४२, ५३३

संन्यसिध निरुत्तिया ३ १ ३ २

संन्यसिध उद्वायि (परिवाक) ८३

संन्यसिध (भिक्षुगी) ४९७

संन्यसिध-संन्यसिध २७८

संन्यसिध-संन्यसिध ५१९ ६२ ६३२

संन्यसिध ३२७

संन्यसिध (नियन्त्रित) २३५, ३२२

संन्यसिध-संन्यसिध ३२२, ४१९

'संन्यसिध' १५, १९९, १ ६१

संन्यसिध (सेत समी) ८३६

संन्यसिध ३३१

संन्यसिध ३३

संन्यसिध सुत २९९, ३२६

संन्यसिध ३२९

संन्यसिध ५७२

संन्यसिध शास्त्र ३२६, ३२८

संन्यसिध शास्त्र शास्त्र सुत ३२६

संन्यसिध-संन्यसिध शास्त्र शास्त्र ३८८

संन्यसिध-संन्यसिध शास्त्र ३८७

संन्यसिध-संन्यसिध ३२८, ३ ८

संन्यसिध १ ३

संन्यसिध १ ३ १ ६१

संन्यसिध ३३९

सततसिद्ध बोधिपत्रिकाया बम्मा—
 रेखिये 'बोधिपत्तीय बर्म' ।
 सति—रेखिये 'स्मृति' ।
 सतिपट्टान विमंग ३३
 सतिपट्टान-सुत्त २९१ ३२१ ३४४
 सति पट्टान—संपुत्त ३२९, ५७९
 सत्त्वय बुद्धि ५१३ ५१६, ६९८
 १ ७, ९११
 सत्त्वार्थवाद ४२६, ९६७
 सत्य—१ २—संबुद्धि १, ३
 ६८८ ६९१—परमार्थ ३ ६८८,
 ६९६—का पर क्य ४२५;
 ८, १ ११—की प्राप्ति नारणीय
 अध्यात्म विद्या का कथ्य १२२
 —का उच्चतम क्य १३—का
 परम निवान १३—ही परम ब्रह्म
 १४ १५—वीर बर्म १६, १२
 —के बी क्य ४४ ४५, ६८८
 ६९१ ५७८, ५८३; ५८, ६१
 ७३, १ ११ ११७, १२६,
 १२७, १३४ १४५, १६५, १८७,
 २१६, २१७, २३६—का ब्रह्म-
 कारी बर्म प्रमाण ३५३ ५१५
 ५१७, ६१८ ७१६, ७३७ ७४२,
 ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९,
 ७५१ ७५७ ७६१ ७६८, ७८६
 ८ २, ८४३ ८४७, ८४८, ८४९,
 ८५१ ८६५, ८६६, ८६७, ८७
 ८७३ ८८१ ८९१ ९१ ९२५
 ९२६, ९३८, ९३९, ९५१ ९७१
 ९८२, १ ४८, १ ६०-१ ८६

१ ९ १ ९१ १ ९२, १ ९६
 १ ९७
 सत्यकाम जाबाल ६८, १५३, १५६
 २२३ २२७, २४९, ७५२, ७५९
 ७८५
 सत्यप्रतिबंधवृत्ताविप्रज्ञा विहार
 (बोधिसत्त्व-भूमि) ६२
 सत्यपुत्र (प्रवेश) ५६७
 सत्यवद् मार्कण्डेय ८८, ७८४
 सत्यसिद्धि सात्त्व ५७१ ६३५
 १ १९
 'सत्त्वार्थ प्रकाश' १७८, ८२८, ८४१
 सत्त्वावास (नी) ६३२
 सत्री सम्प्रदायी ३४१
 सदानन्द २४१
 सङ्घर्ष काम ५८४
 सङ्घर्षपुष्परीक-सूत्र ३३८, ३६७,
 ५५९, ५६ ५७२, ५७९, ५८१
 ५९१ ५९५, ५९७ ६ ५
 ६ ६, ६११ ६१८, ६२३ ६२५
 ६२८, ६५
 सप्त मत १७३—वीर वीर्य बर्म
 १ ५६१ ६२
 'सप्ततान्त्रिक-सिद्धि', ६५२
 सत्त्व सुत्त २२९, ३२४ ७४८,
 ८२१ ८२२, ८२७ ८३७ ८४१
 सन्निष्ठिको (बम्मी) २९ रेखिये
 'संबुद्धि' नी ।
 सप्तमन ८२५, १ ३२, १ ३५
 १ ४५
 सप्तमनार ५६, ६

सप्तदशमूनि द्वात्रिंश ६४९
 'सप्तपदावी' ८५२
 सप्तपदी (युका) ३१
 सप्त सिन्धव ३९, ५४
 सप्तसिका प्रजा पारमिता ६२३
 सप्पुरित सुत ३२५
 सप्तकामि (स्वविर) ५४८
 'सप्तमपी मय' ८४९
 सप्तवम्भ-मूल-परिपाय-सुतन्त ४३१
 सप्तासव सुतन्त २९१ ३२ ३६१
 ४३६, ४३७, ४४ ६ ७
 सप्ते पुण्योक्तहेतु ३७३
 सप्ते अष्टे तु अप्यप्यया ३७३
 सप्त अतिव ३७३ ५५८, ६२९
 सप्त आवित ५ ५२९
 'सप्त मन्वी'ति ३७३
 सप्तिय सुत ७३३
 सप्तयुत पञ्चय ३३२
 सप्तयुतेन सप्तयुतं ३३१
 सप्तयुतेन संवृत्तं असंवृत्तं ३३१
 सप्तयुतो विप्ययो ३३१
 सप्तयुतेन विप्ययुतं ३३१
 सप्तसावनीय-सुत ३१९
 सप्तुर्जात ५४ १२६
 'सप्तव्य परीक्षा' ६५२
 सप्तव संविका सुत ३२४
 'अथ प्रवितन्त इव इन्द्रियन सिद्धरत्नर'
 (विन्दरतिव) ५९१
 सप्तवत्त २ १
 सप्तवत्तादिका (विनय-विद्वत्
 की कटुकता) १ ३१४ ५६७

सप्तवत्त (निम्न) १ ५५
 सप्तवत्त मत्त (चीन आचार्य) ८४७
 सप्तवत्तमत्त (बोधिसत्त्व) ६१७
 सप्तवत्तार पञ्चय ३३१ ३९४
 'सप्तवत्तार' ८४९
 सप्तवत्तात (समाधि) ८७, ९ ८
 सप्तवत्त सावनाधि (स्वविर) ५४८
 सप्तवत्त-काय ५८४ ६७८
 सप्तवत्त आजीव (सप्तमा आजीवी)
 २७३ २७४ ३६१ ३६४ ३६५-
 ४६७
 सप्तवत्त कर्माणि (सप्तमा कर्माणि)
 २७३ २७४ ३६३, ३६४ ३६५-
 ४६७
 सप्तवत्त वर्धन (सप्तमा वर्धन) १७,
 ४ ५, ४२३ ४८९ ८४९, ९ ३
 सप्तवत्त वृष्टि (सप्तमा वृष्टि) १९-
 २७३ २७४ ३२१ ३२५, ३६३
 ३६४ ३६५, ४ ३
 सप्तवत्त प्रजाग (चार) ३५, २३१
 २५१ ३३६ ३३७, ३३८, ३५३
 ३५४ ९ ९
 सप्तवत्त वाची (सप्तमा वाचा) २७३,
 २७४ ३६३ ३६४ ३६५, ४ ३
 ४६७
 सप्तवत्त व्यापान (सप्तमा व्यापानो)
 २७३, २७४ ३६४ ३६६
 सप्तवत्त समाधि (सप्तमा समाधि)
 २७३ २७४ ३२५, ३२६, ३६४
 ३६६

सम्यक् स्मृति (सम्मा सति) २७३
२७४ ३६४ ३६५ ५ ३

सम्यक् संकल्प (सम्मा संकप्पो)
२७३ २७४ ३६३ ३६४ ३६५
४ ३

सम्यक् सम्बुद्ध १७ २२ ४ ६३
६५ ६६ ६७, ६८, ९९, १३१
१६६, १७३ १८१ १९१ १९२,
१९७, १९९, २ १ २ २ २ ३,
२ ४ २ ५ २१६ २१८, २२३
२२५—आआविर्भाव २१६-२४७;
२५३ ३ ४ ३ ६, ३ ७, ३५६,
३८६ ४१ ४३८, ४४९, ४५
४५२ ४५३ ४९४ ५१२, ५१३
५२४ ५२५, ५२९, ५३६, ५३७,
५३८, ५४२, ५४४ ५४६ ७१५,
७२३ ७२९, ७३१ ७३३ ७३६,
७४४ ७५४ ७८६, ८९४ ९ ९,
९१२, १ २५, १ ९९, ११०३

सम्यक् सम्बोधि (सम्मा सम्बोधि)
३३९, ३६१ ४८६ ५२२, ५३५,
५४१ ५४४ ६१९, ७३

सम्यक् साध ३ ११ २५, ७५, १ २,
६४१ ८४२ ८४४ ८५५, ८९८,
१ २

सम्यग्गपान विर्भाव ३३

सम्यग्गपान-अंशुत ३३९

सम्मा सिद्धि भवता ३३१ ३६५,
३९३ ३९६ ५ ८

सम्मितिय (बीड सम्प्रदाय) २ ९,
५५१ ५५३

समाधि १८, २ ३५१, ३५४
३६१—स्वप्न ३६४,—के परि
ष्कार ३६४,—पारमिता ६१४;
७१९, ९ २, ९ ५, ९ ८, ९ ९,
९१ ९५६

‘समाधि राज’ ३६७, ६२३ ६२५
समानाधिकरण ६५

स्पर्श (कस्तो) ३८८, ३८९, ३९१
३९८, ४ ४ १ ४५४ ४२५,
—आपत्तय ४२५, ४२६,—आय
४२६,—रत ५२३ —संवेतना
२९३—संता २९३

स्मृति (सति) २८७, ३१९, ३३९
३४३ ३५ ३५३ ३५४ ३५५,
३६१, ४५७, ४६७, ४९३ ६३२,
६४८—९१ ९२३ ९३८

स्मृति-सम्प्रदाय ९३ २८४ २८६,
३४१ ३४३ ४२७ ५३३

स्मृति-संयम ३४३

सम्प्रदाय ३४१ ३४३ रेजिय ‘स्मृति-
सम्प्रदाय’ ।

स्मृति-श्रवण (चार) ७, २३१
२५१ ३८५, ३१९, ३२१ ३३६
३३७ ३३८, ३३ ३५३ ३६६,
३६७ ३७ ४२१ ४५८, ४७६
४९ ४९२ ५८ ९११

स्मृत्यवधारण ३४४ ६३२

सर्वा आद्या (क्षमिज्जा) लण्डिवाद्या
९८, २४४ ७३७

सुगुहा दीप-दीपिय ‘दीप’ ।

सर्ग-अथ (मोनय वा) ८८४-८८६

सर्व विद्या ५९

‘सर्व वर्णन सग्रह’ ६५, ८६ १ १

२४१ ५६१ ६३४ ६४४ ७ ८,

७५२, ८२४ ८९६, ८२७, ८४४

९२५, १ ७८

सर्वमेष ७४९

सर्वमर्म सृष्टता ६३५, ६८८, १ १९,

—बाबी (बीड सम्प्रदाय) ९९२

सब बीनादिक ७ ८६५, ९९२

‘सर्व सिद्धान्त सार संग्रह’ ९३२, ९३३

सर्वज्ञान मुनि १ ३२, १ ३३

सर्वस्तिपात्र (सप्तस्तिपात्र) २ ८,

२ ९, ३३ ४ ९, ४८६, ५५१

५५२ ५५५, ५५६ ५५७, ५५८

५६३ ५६९, ५७ ५७१ ५७२

६२२ ६४९, ६६२ ६७ ६७५

—का शंकर के द्वारा प्रत्याप्तान

९९२ १ २ १ ६७

‘सर्वोदय (भाग) ३३

सर्व शून्यम् ५५८

सर्वज्ञता (सारज्ञता) २४७

सर्वज्ञ (यदुनाथ या) ५७६

१ ५८, १ ५३ १ ५४

सर्वम् (सर्वम्) ३६३

सर्वम् ८९, ९१

सर्वज्ञी (नदी) ६ ६१८ १ ६२

सर्वज्ञा (नदीसहाय) १ ५७

१ ५८ १ ५९, १ ६ १ ६१

सर्वज्ञानी (नदी) ५९६

सर्वज्ञ-मुक्त ३२१

सर्वज्ञानसंज्ञा ७३

सर्वज्ञानसंज्ञा ८२३ ८२५, ८९२,

१ ४४

‘सर्वज्ञम्’ ५९६ ५९७, ५९८ ६३५

६२७, ६६२ ७२४ ८३१

सर्वज्ञान ७२३ १ ६ १ ६१

सर्वज्ञिया (सम्प्रदाय) १ ५४

सर्वज्ञात पञ्चम ३३१ ३९४ ३९६

सर्वज्ञार नाम १ ६२

सहाय्यति ब्रह्मा २७१ ७३३

सहेतुक (धर्म) ४६४ ४६७

संकाश्य (नगर) ५६६

संसार—देखिये ‘संसार’ ।

संसारनिरोध विज्ञाननिरोधी

३८८

संसारपञ्चवा विज्ञानार्थ ३८७

संसार यमक ३३१

संसारव्यति-मुक्त ३२५

संश्लिप्त अतंसर्गि ३३१

संश्लिप्त संश्लिप्त ३३१

संश्लिप्त अतंसर्गो ३३१

संसारक-मुक्त ३२४ ५४१ ६१६

संश्लिप्तिया (तीन बीड) ३१०-३१४

संश्लिप्त कर्माय बार घात ६३१ ६३२

संश्लिप्त-वर्णन-मुक्त (संश्लिप्त

मुक्त) ३३६ ३१५, ३३ ३५४

३५७ ३६ ३३६ ८३७ १ १

संश्लिप्त (बीड) ७ ३१ २४८, २९५

२९७ ३४८ १ ६७ १०९८

संश्लिप्त (नदी) ५७१

संश्लिप्त (नदी) ६३७

संश्लिप्त (निशाणी) ९, ५९७ ८४

‘हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत
लिटरेचर’ (बासगप्त और वे)
१९२, १९४

‘हिस्ट्री ऑफ ग्री ब्रिटिश इंडियन
क्लॉसली’ (बन्नीमायब बाइ मा)
५ १ १ २२८, ७८४ ८४१

‘हिस्ट्री ऑफ लिब्ररियन इन एशिया-
पट इण्डिया’ (रमेशचन्द्र बस)
५३ ५४८

हीनपान (बीड बर्ब) २ ८ २ ९,
२११.—और महापान नाम उष
उपयुक्त नहीं ११२ २१६ —
और महापान ५५५-५६५, ५७१
—और महापान का ऐतिहासिक
और वैज्ञानिक सम्बन्ध ५७३
६२९.—सम्प्रदाय, साहित्य और
तिथ्यात् ६२९ ६४९

ही (हिरि) ४६७

हम ६२५

हो (प्राप्य) ३३१ ३७५ ३७८,
३७९, ३९४ ४६४ ६४१ ८१
८६१ ११

‘हुबबुल्लिफ’ ६५१

‘हुबबुल्लिफ’ ६५१ ८५२

‘हुबुल्लि’ ६५२

हु विद्या ८७१

‘हुबिद्या व्याख्यात’ ६५१

हुबारी (बीड सम्प्रदाय) ५५१
६१८

हुबारात् ८६१

हुमरमानव-मुष्का ४९५, ४९७
४९८, ७४६

हुमरत-सत्त ३४२

हुमरमा ६५१

हुरावली ५८९

हुसियेडोरस ५८८

हुसियत एन्साइक्लोपेडिया ऑफ
रिमिशन एण्ड एवियत’ २८१
३३३, ५४५, ६३४

हुमरत (बीड सम्प्रदाय) ५५१

हुनेन् (बापाजी निज सायक) २ ९
५९८, ५९९

हु

सममंयबाद ४ ९, ७ ३ ७ ६
७ ७, ८४७ ९२९, १ ४
१ ५, हेरिये सचिकबाद’ ।

सचिकबाद १२७, १६६, ४ ९

४८२, ६४५, ६४७ ६५१ ६७६

—और सर्वविद्याचारित ७ ७

७ ६.—पर बीड और उमडे

इतिवारी आचार्य ७ ६-७१३

८४७ ८९६, ८९८, ८९९, ९२७,

९२८, ९४ ९९९.—का संकर

के द्वारा शायकमान १ २

१ १९ १ २ १ ४५

सम विद्या २, ५९

सर २

सामि-मंय ३४३

समिबन्ध (बीडियन्) ६१७

समिबन्ध ६१३, ६३४

सर्व बिद्या ५९

‘सर्वे वर्तन संप्रह’ ३५, ८६, १ १

२४१, ५६१ ६३४ ६४४ ७ ८,

७५२ ८२४ ८२६, ८२७, ८४४

९२५, १ ७८

सर्वमिष ७४९

सर्ववर्म शुभ्यता ३३५, ६८८, १ १९,

—बाही (बीड सम्प्रदाय) ९९२

सब बेनायिक ७ ८६५, ९९२

‘सर्व सिद्धान्त सार संप्रह’ ९३२, ९३३

सर्वज्ञात्म युनि १ ३२, १ ३३

सर्वास्तिवाह (सम्प्रतिवाह) २ ८,

२ ९, ३३ ४ ९, ४८६, ५५१

५५२ ५५५, ५५६ ५५७, ५५८

५६३ ५६९, ५७ ५७१ ५७२

६२२ ६४९ ६६२, ६७ ६७५,

—का घंटर के द्वारा प्रत्याख्यान

९९२ १ २ १ ६७

‘सर्वोद्यम (मार्ग) ३३

सर्व शुभ्यम् ५५८

सरबसाय (धरमप्रम) २४७

सरकार (यमुनाब डा) ५७६,

१ ५१ १ ५३ १ ५४

सरम् (सरम्) ३६२

सरमर ८९, ९१

सरावती (नदी) ६, ६१८ १ ६२

सर्प्या (सरीसृपाव) १ ५७,

१ ५८ १ ५९, १ ६ १ ६१

समस्तप्रणी (बरी) ५६६

संयोग-शुता ३३१

संज्ञादातव्यता ७२

स्वभाववाह ८२३, ८२५, ८९२,

१ ४४

‘स्वयम्भू’ ५९६, ५९७, ५९८, ६२५,

६२७, ६६२, ७२४ ८३१

सहजयाम ७२३ १ ६ १ ६१

सहजिया (सम्प्रदाय) १ ५४

सहजात पञ्चम ३३१ ३९४ ३९६

सहसार बक १ ६२

सहापति ब्रह्मा २७१ ७३३

सहेतुक (बर्म) ४६४ ४६७

संकाश्य (नगर) ५६६

संसार—देखिये ‘संस्कार’ ।

संसारनिरोधा विज्जामनिरोधी

३८८

संसारपञ्चमया विज्जामार्ग ३८७

संसार घमक ३३१

संसारवृत्ति-सुत ३२५

संप्रहितेन अंतर्गर्हितं ३३१

संप्रहितेन संगर्हितं ३३१

संगहो अंतर्गहो ३३१

संदारक-सुतान्त ३२४ ५४१ ६१६

संगीतिनी (तीन बीड) ३१०-३१४

संगीति पर्याय बारदारक ६३१ ६३२

संगीति-परिपाय-सुत (संगीति

सुत) २३६ ३१५, ३३ ३५४

३५७ ३६ ३६२, ८३७, १ २

संघ (बीड) ७ २१ २४८, २९५

२ ९, ३४४ १ ६७ १ ९८

संघपात्र (संघित) ५७१

संघमात्र (संघित) ६३७

संघविद्या (निरुपी) ९ ५६७ ८४

संघर्षार्थ ३५३

संघाटि-सुत ४७६, ५८५

संघात ४२६, ९८२, ९९३, ९९४

९९५, ९९६, ९९७, ९९८, १ २

१ १९

संघय श्रेष्ठिपुत (अनिश्चिततावादी)

२२८, २३ २४० ८४२

सम्बोध्य (सात) ३६१ ३३२

वैजिये 'बोध्य'।

संयुत (संयुत निष्ठाप) ४ १

१३ १८ १४८ १९९ २१८

२१९, २२४ २३ २७६ २८

२८९, २८३ २९१ २९२, २९३

२९४ ३१५, ३१६ ३१७ ३२७-

३२९, ३३७, ३४२ ३४३ ३४४

३४५, ३६ ३६२ ३६३ ३६४

३६६ ३७ ३७१ ३७५, ३७७

३७८, ३८ ३८१ ३८२, ३८६

३८७ ३८८, ३९ ३९३ ३९६

४१७ ४२ ४२४ ४२५, ४२७

४२८, ४२९, ४३३ ४३४ ४३९

४४७, ४५१ ४५५, ४५७, ४६

४८५, ४८९, ४९१ ४९२, ४९३

४९५, ४९६ ५ ५ ३ ५ ४

५ ६ ५९९, ५३ ५३२, ५३३

५३९, ५८५, ६ ८ ६३३

७४३ ७८७, ७ ५, ८३७

८३९, ८४४ ८९७ १ ८२

संयुक्तायम (संयुक्तायम) ६३३

६३८, ६३९

संयुक्तायम १ ७ १ १९

संयोजन (वाच दत्त) ८२, १४४

३२३ ३७१ ४४४ ६ ७ ६३९

९११

संयोजन ९४१

संयोज ३४३ ८४४ ८४५, ८५

संयुक्त ९२३ १ ४३

संयुक्ति सत्य (संयुक्ति सत्य) १

५७८-५८३ ६२१ ६३३ ६७७,

६८८ ६९१ ६९५, ९७२ ९८२,

९८३ १ ३९

संयुक्त ४१ ६२ ३३ ३८८, ३८९

३९४ ३९५, ३९६, ४ ३ ४ ७,

४१५, ४१६, ४१८ ४१९, ४२५,

४२८, ४२९, ४३३ ४३४ ४३५,

४३८, ४४५, ४४६, ४५ ४५६,

४६३ ४६९, ४८१ ५१४ ६३२,

६४२, ७ २,—उपादान सत्य

५९५ ६९६, ६९९, ७६९, ८ ७,

८१८, ८५ ८८८, ८८९, ८९७

९ ६ ९९३ १ २३ १ ९७

१ ९८

'संयुक्त वीर्य पत्र' २१३ २१४ ५८६

संयुक्त ७३१ ७३६ ७३८, ७३९,

७५४

संयुक्त भागवतपुत्र १ ७२

'संयुक्त प्रारोक्त' १ ३२ १ ३३

१ ३५

संयुक्त १४ ३३ ४१४ ४१५, ४१८,

४१९, ४२ ४२८, ४२९,

४३४ ४३५, ४३८, ४४२ ४४५,

४४६ ४५ ४५६ ४६३ ४६५,

६४२—उपादान स्कन्ध २९२,
 ६९३ ६९८, ७६८, ७६९,
 ८ ७ ८१८, ८५ ८९७, ९ ६,
 ९९३
 संज्ञाबेरमित निरोध (समाधि) ८७,
 ९ ३ ७७९, ९७३
 साक्षेय ६५९
 सामक (प्रवेय) ३३३
 सत्पल-मुद्र (बीज मित्) ३४९,
 ४६६, ५१८, ९११
 सास्तबाहुन ६५४
 सासि (मित्र) ४३७
 सासि केवटपुत्र ४८५
 सावनाम्पान ९३८
 सावन-व्युत्पद्य ८९ ९८९
 सावनपाव ९ २
 सावुमती (बोधितरक-भूमि) ६२
 सामन्त-मनन्ताबाव २३८, २३९
 सापेक्षताबाव ६८७ ७ ३
 साविर्लस्कार सामापनिविमित विहार
 (बोधितरक-भूमि) ६२
 सामनाम-सुतना ३२५, ३३७ ३६
 ५३२, ८३१
 सामञ्जस्य-सुत ८४ २ २ २२८,
 २२९, ३४ २४१ २९१ ३१८,
 ३६८, ५३२, ८३२, ८३५
 सामञ्जस्य संयुत ३२८
 सामरेव (साम) २, ५९, ११६,
 ११९, ७५८
 'सामान्य' और 'विशेष' ८५६-८५८,
 ८७१

सामान्यतो दृष्ट ८८३
 सामास्यी (समी) २८
 स्याद्धाव ८४७-८४८
 स्याद्धावर्मवरी ८४६, ८४७
 स्याम २ २ २१३, ३ ४ ४१२,
 ५६८, ५६९, ७१३
 सामन (आचार्य) १ ७
 सारिपुत्र सुत ३६३
 सारिपुत्र संयुत ३२८
 सारिणी ७४८
 सारिपुत्र (वर्म लेनापति) १८, २१
 २८, ८४ १४९, २३२, २३३
 २४४ २७६, २७८, २७९,
 २८ २८१ २८२, २८३ ३ ९,
 ३ ९, ३१ ३१९, ३२ ३२१
 ३२२ ३२५, ३४२ ३४७, ३६६,
 ३७५, ४२ ४४६, ४५ ४५८,
 ४५५, ४५७, ४७३ ४९१
 ४९२, ४९५, ५ ५, ५२
 ५३३ ५८ ५८६, ७ १ ७१६,
 ७९९, ८ ६, ८७७, १ ३६,
 १ ६८ १ ९३ १ ९८
 साम्ह (ताड) ३ ८, ५४८
 सामेय्यक सुत ३२२, ४७५
 स्वार्तविक (विज्ञानवारी) ६५०-
 ६५२, ७ ३ १ ६
 स्वार्थानुमान ८६
 साम्ब घर्म ६४१ ६४२
 सातनर्षत ५६९
 'साहित्य' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) ८५

सांख्यसाधन—हेलिय 'राहुल सांख्य
साधन' ।

सांख्य (वर्णन) १८ ४३ ४५, १ ४
१ ५, १ ५, ११८, १२४ १२५,
१३ १४ १५२ १५३, १६७
१६९, १७१ १७२, १७७, १७८,
१८ १८२ १८३ २१३ २१९,
३९२, ३९४ ५१३ ५१४ ६९६
७ ९, ७२ ७२१ ७२६, ७७२,
७७३ ७९ ७९१ ८ १ ८१७,
८५४ ८६८,—और बीड वधान
८७५ ९ १ १ ७५

सांख्य कारिका ५, ११ ३७ १२५,
१७१ १८३ ८ ८, ८७५
९ १ ९२३

'सांख्यतत्त्वकीमुरी' (मय और शर्मा)
८९६

सांख्य प्रवचन-सूत्र (सांख्य सूत्र)
११ ११ ६४ १२५, ७ ९,
८७५ ९ १

सांख्य प्रवचन भाष्य ८९४

सांख्य सप्तनि ६३६

सांख्य-योग २८, ३ १ ३ ११७
११९, ८१२ ८१८,—और बीड
वर्णन ८७५ ११७

सांख्यी (सूत्र) ५७६

सांख्यी (के. जे.) ५५४ ५९१

सांख्यीट (वर्णन) ७ १ १९

सांख्यिक (आम) ३ हेलिय 'मोर्गन' ।

सिक्कनम ७९१ ८ ८१५

स्मिरमसि (आचार्य) ५८३ ६३७,
६४९, ६५०

स्मिथ (विमोक्ष आ) २२ १५२,
३३२

सिक्कनम ५१

सिक्कनम विमोक्ष ३३

सिक्कनम (आम) ५७६

सिक्कनम ८७

सिक्कनम दिवाकर १९, ८७७

सिक्कनम (आर सिद्धली मिश्र)
१ ७९

सिक्कनम (बीड सम्प्रदाय) ५५३
५५५

सिक्कनम मुस्ताखली ९२८

सिक्कनम (मरी) ५२, ५३ ५४,—
तटस्थ सम्प्रदाय ५३ ५४ ७२४
८३

सिक्कनम ५६७, ५७२, ८ ४

सिक्कनम ५६७

सिक्कनम और ब्रिटिशिक बोट (आम-
कामी लोशन) १३५, ४ ६ ५१६

५१७ ५१८, ६२५, ६७२
६७५, ६७६ ६७७ ८२ ९ ३

९४ १ १ १ १२ १ १६,
१ ३५, १ ४५

सिक्कनम (निर्देश ब्रिटिशिक)
८३६

सिक्कनम-आम ३२ ३७१ ४११
७३३

सिक्कनम (सिक्कनम) ५३ ८३६

सिक्कनम ६५१

सिंहपुर ६५५
 सिंहल २ २, ३ ३ ३९१ ४१२
 ६५५
 स्टीम ४७
 सीधर ४८, ५१
 स्पीजल १ ७८
 सीतिमूत ५
 सीता १ ५६
 सीहनाब बम्ब ३२१
 सीहसुत ५२४ ५३ ८३९
 स्फुटाबी ३३५, ३३६ ३३८
 सु-आक्यास (बर्म) २९ ५७९,
 ५८६, १ ३४ १ ३७
 सुकरात ८९, १४८
 सुकेसावि (ब्रुवि) ९५
 सुकर मङ्गल २८६
 सुजावती (बीड सम्मवाय) ५७२,
 ५९८, ६६१ ६८७
 सुजावती-ब्रुह ३२६, ३४७ १ ७
 सुखोवय ५६८, ७१३
 सुप्त ७७ १२७, ३ ४ ४ ७, ४१
 ७५१ १ ७८
 सुबाठा ३६६, ४९४ ५३४
 सबुकी (डी डी) ५३२, ५८२
 ६५८, ६७२, ६७७ १ ७३
 सुम्भस्ता-बम्ब ३२५
 सुत विर्मव ३१६, ३३
 सलमिक ३१६
 सुबुर्बा (बोपिसाक-ब्रुमि) ३२
 सुम्बरिका भाखाज-सत २२३ २२४
 ३७ ७४२

सुम्बरी (पिसुबी) ८
 सुनक-सत ७३८
 सुनकसत लिच्छविपुत (सुनक
 लिच्छविपुत) ३ ७, ३२१ ४८८,
 ९१२
 सुनकसत-सुत ३२५
 सुत-निपसत ६ २९ ३ ३५, ११
 २ २१६, २२१ २२२, २२३
 २३६, २३७, २४६, २४७, २४८,
 २८१ २९२, ३१५, ३१६, ३२९,
 ३४ ३४७ ३५६, ३६८, ३७
 ३८६, ४५७, ४७८, ४८८, ४९
 ४९४ ४९५, ४९६, ४९७ ४९८,
 ४९९, ५ ५ १ ५ ३ ५ ६
 ६ ८ ३१६, ३१८, ७३६, ७३८
 ७४१ ७४२, ७४६ ९५ १ ३४
 १ ८
 सुत-पिम्ब २९९, ३११ ३१७
 ३२९, ३३ ३७४ ३८२, ८२१
 १ २
 सुपन्न संयुत ३२८
 सुपारक वास्तक ५७
 सुधिया जपासिका २८
 सुधिया क्रीमिय दुहिता २८
 तवातु ५९३
 सुम-सुत ४ ३१८, ३२४ ३६४
 ४३९, ५ ४ ३१६
 सुम्ब (परिवाजक) २८८, ३ ६
 सुम्ब (बिम्ब) ३ ९
 सुम्बा १ ५१
 समत (मिम्ब) ५४८

सुमन-नाम ६ ८
 समाधा ५६९
 सुमेधा (विज्ञानी) ८, ४९९
 सुमेध २८
 'सुमन्तल विलासिनी' ७, २८८, २९५
 सुरति-निरति १ ६१
 सुरिमयोड सुमन्तल १ ७९
 सुवर्ण प्रभात ३२३, ३२६
 सुवर्ण भूमि ५६७, ५६९
 सुवर्णाक्षी ३५९, ३७४
 'सुहृत्सौख्य' ३५४ ३५६, ७ ११ २
 सूरदास (सूर) ८ ३ ८ ४ १ ३३
 सूर्य-मूला ५७६
 सूत्रवर ३११
 सूत्रनिपात ३३४
 सूत्रपिठक (सवस्तिवाह क्य) ३३३
 ३३४
 सूत्रवादी (श्रीराम सम्प्रदाय) ५५१
 सूत्रार्थकार ३१८, ३४९, ३६४
 सूत्रार्थकार कृति नाम्न ३५
 सैवक सुत ३२३
 सैवकान्वित (निपन) ५६६
 सैन (मित्रिमोहन बाबाय) १ ६१
 सैवक ५६
 सैनी (एन) २५ ५९१
 सैनाधी बुद्धिवा (तुलाता) २८
 सैल-सुत २ २६७, २८१ ३२४
 ७४६, ७४८,
 सैवकान्वित-असैवकान्वित-सुत ३२५
 सैवक श्रीनाता १७२, ९३१
 सैवक सार्व १२५, ८७६

सैविकपरीत ३४
 सोमन (यामाकासी) १३५, ४८६,
 ५१५, ५१७, ५१८, ६७२, ६७५,
 ६७६, ६७७, ८२ ९९३ ९९४
 १ ७, १ १ १ ११ १ १६,
 १ १७, १ २५, १ ४५
 सोमरक्तोम (नावन) ३६ ५४५
 सोम (स्पष्टिर) ३७१, ५६७ ५६८
 सोमवन्द्य सुत ३१८, ३६८
 सोमा (मिशुनी) २७९
 सोतापति कल २७८, ३१९, ६२
 सोतापति संयुत ३२९
 सोतापन (सोतात्मन) ३५७ ३६३
 ५१९, ६३३
 सोपाविशेष निर्वाच ११८, ५१७,
 ५१८, ५१९, ५२२
 सोप्रादायन ५६
 सोम (वेकठा) २४
 सोमा (मिशुनी) ८, ९
 सोमसु महाजन नव-मुष ५७
 सोमनी ८८१
 सोरेय्य ५४८
 'सोपाविशेष : सुदीपिन एव
 सामन्तिष्ठिक' (ऐनिसस) ३३
 सोमरक्तोम ७२, १४३, १४४ २५५,
 ३४८, ३५ ३५१ ३५९, ३६
 ३६८, ५५९, ६५८, ६५९, ६६१
 ६६३ ६६४ ६६५, ६६७
 ६६८, ६७३ ६७४ ६७५, ८७६,
 ८९२ १ ९९, १ ७
 सोमरक्तोम ८६

स्वीकृत्योक्ति ५६

सौभाग्यिक (बौद्ध धार्मिक भक्त)

२ ९ २११ ५५१ ५८५, ६२९,

६३ ६४४ ६६८, ६४४ ६४९,

६४४ ६७ ८५७, ८७१ ९१३

है

हठयोग १ ७६

हरदयाक (डा) ३३९, ३४३

४४८, ५५४ ५७५, ५७७, ५८३

५९ ५९१ ५९४ ५९७ ६१५,

६१८, ६२४ ६२६

हरप्या ५३

हरप्रसाद शास्त्री १ ५३, १०५४

१ ७९

हरि (भीमांसा के आचार्य) ९२२

हृष्टार ५४८

हरिनाथ के १०७९

हरिमय (लूरि) १ १ ४ २१३,

६४९, ८४६, ८४७

हरिचामी ५७१ ६३५, १ १९

हरि चंद्र गुप्त ८ ४

हर्ष (हर्षचरित) ९ २ ९, २१

२११ ७४८

हस्तक नामक (अग्र उपासक)

५७९, ५३३

‘हस्तारण’ ६५७

हाथी (एवमण्ड) १ ७८

हार्नर (आई बी ,कुमारी) २५

४५८, ४५९

हारीत ५६

हिन्द-बौद्ध ५६८, ६१२ १ ५५

हिन्दुकुस ५२, ५६९

हिन्दु (वर्ग) १८९, ६७३, ७४८,

१ ५३

हिमवान्त प्रवेश ५६९

हिमात्म्य ४ ५२, ५३ ९३ २७७,

३ २, ३ ५ १ ९१

हिरण्यवर्ग १६४

हिरण्य (प्रो) १८९, ६३७,

८२३ ८२५

हिल (जी उबस्व पी) ८१९

‘हिन्दू और इस्लाम किर्वातकी’

(वासुपुत्र) ६ १ १५१

१५२, १७ ७८४ ७८७, ९ २

९३६, ९७१ ९७३ ९८४

‘हिन्दू और इस्लाम सिद्धेवर’

(सिद्धेवर) ३१६, ६६२, ६६४

८३५, ९४३

‘हिन्दू और इस्लाम लॉजिक’

(डा ललीबखान विद्याभूषण)

८६५

‘हिन्दू और एन्डिबल संस्कृत सिद्धेवर’

(मीनबभूषण) ५ ५६

८३, १५४ १७८, ७१८, ९३६,

९३७

‘हिन्दू और जापानीय रिजिजन’

(मसाहब जनेसाकि) ६

‘हिन्दू और पाणि सिद्धेवर’

(लाम्हा) ८४ ३१५, ३१६, ३३७,

३३३ ६३ ६३१

'हिन्दू और क्रांतीकृत संस्कृत
लिटरेचर' (वासुदेव और वे)
११२, ११४

'हिन्दू और श्री ब्रह्मसिंह इंडियन
फिलॉसफी' (बेबीसावर बाइ आ)
५ १ १ २२८, ७८४ ८४१

'हिन्दू और सिविलिजेशन इन एम्पि-
राल इण्डिया' (एनेसावर बल)
५३ ५४८

हीनयान (बौद्ध धर्म) २ ८, २ ९
२११—और महायान नाम उक्त-
उपयुक्त नहीं २१२-२१६ —
और महायान ५५५-५६५, ५७१
—और महायान का ऐतिहासिक
और संज्ञानात्मक सम्बन्ध ५७३
६२९—सम्प्रदाय साहित्य और
सिद्धान्त ६२९ ६४९

ही (हिरि) ४६७

हय ६२५

हेतु (प्राप्य) ३३१ ३७५, ३७८,
३७९, ३९४ ४६४ ६४१ ८६
८६१ ११

'हेतुचर्चनिर्णय' ६५१

'हेतुचर्चहर्ष' ६५१ ८५२

'हेतुविजु' ६५२

हेतु विद्या ८७१

'हेतुविद्या व्याख्यान' ६५१

हेतुवारी (बौद्ध सम्प्रदाय) ५५१
६३८

हेतुवाच ८६१

हेमकमानव-मुक्ता ४९५, ४९७
४९८, ७४६

हेमवत-तल ४४२

हेमवर्मा ६५१

हेमवर्मा ५८९

हेमिन्दोरत ५८८

'हेमिन्दोरत एन्टाइकलोगिया और
रिजिस्टर एन्ड एनिसर' २८६
३३३ ५४५, ६३४

हैमवत (बौद्ध सम्प्रदाय) ५५१

होनेन् (जापानी निज साधक) २ २,
५९८ ५९९

ह

धर्मचर्या ४ ९, ७ ३ ७ ६
७ ७ ८४७ ९२९, १ ४
१ ५, हेतिय 'नानिकार' ।

नानिकार १२७, १६६, ४ ९,

४८९, ६४५, ६४७ ६५२ ६७६

—और धर्मचर्याकारित ७ ७

७ ६—नर बौद्ध और उनके

प्रतिवारी भाषा ७ ६७११

८४३, ८६६, ८६८, ८६९, ९२७

९२८, ९४ ९९९ —का धर्म

के द्वारा प्राप्यमान १ १

१ १९ १ २ १ ४५

अथ विद्या ९, ५९

अथ २,

आन्ति-अप्य ३४३

निर्णय (बौद्धिक) ६९७

अथकाल ६३६, ६३४

कुशलमुद्र (विजायत) २ ५, २ ६,

२३९, २३९

लोपा (मिकुली) २३९, ४५५

लोपन ७७३ ८१८, ९६४

अ

अमी विद्या ३१८, ७२८, ७५९, ८२७

अकाश-सिद्धांत (महापाल का)

५८४-५८५

‘अकाश-परिभाषा’ ३५१

अभिज्ञान २९९ ३३९, ४ ५, ४२९,

४४४ ५२० ५२८ ५९८,

६ ७, ६३९, ६६ ७३८, ७५

९७ ९८७ १ ७९

अभिलेख ६ ९, ७९९

अभिलेखन ८५६

अभिलेख ९३३

अभिलेखन ५८७ १ ६६

अभिलेखन प्रकाशित ६३३

अभिलेख ६५ ६६८

अभिलेख भाष्य ६५

अभिलेखनाथ (रामायणी रामा) ५६८

अभिलेख २१६ ३२३ ४५७, ४७३

७४४ ७४५, ७७३ ८ १ ८१७

८३४

अ

आनन्दसूत्र भाष्य ६२९, ६३

६३१ ६३२

आन (मार्ग) ११७, ७९, — और

कर्म-मार्ग का समन्वय (बीता

ने) ७९०-७९४ ७९७, ८ ९५

आन यत् ७९७

आन-पिप्पुलि ४९१

आन-संयम ३४३

आनन्दसूत्र (महासूत्र) ३९५,

३९७, ३९८, ४ १ ४३९, ४६२,

४७१ ५४९, ५५ ५५३ ५५४

९ ६ १ ८३

आनन्दसूत्र (भाष्य) ८९, १७३ ३३३,

४८४ ५२९ ७२७ ७८८, ८१४

८१९, ८२१ १०५७ १ ६

११ ३

‘आनन्दसूत्र’ (हिन्दी अनुवाद रामचन्द्र

वर्मा-कृत) ७१ ८९, ७८८, ८१९,

८२१ १ ६

आनन्दसूत्र ११ ३३३ ३३३

आनन्दसूत्र ।

नादिपत्र

५५	गण्ड	गण्ड
५६	गोमय	गोमय
५७	गोमय	गोमय
५८	गोमय	गोमय
५९	गोमय	गोमय
६०	गोमय	गोमय
६१	गोमय	गोमय
६२	गोमय	गोमय
६३	गोमय	गोमय
६४	गोमय	गोमय
६५	गोमय	गोमय
६६	गोमय	गोमय
६७	गोमय	गोमय
६८	गोमय	गोमय
६९	गोमय	गोमय
७०	गोमय	गोमय
७१	गोमय	गोमय
७२	गोमय	गोमय
७३	गोमय	गोमय
७४	गोमय	गोमय
७५	गोमय	गोमय
७६	गोमय	गोमय
७७	गोमय	गोमय
७८	गोमय	गोमय
७९	गोमय	गोमय
८०	गोमय	गोमय
८१	गोमय	गोमय
८२	गोमय	गोमय
८३	गोमय	गोमय
८४	गोमय	गोमय
८५	गोमय	गोमय
८६	गोमय	गोमय
८७	गोमय	गोमय
८८	गोमय	गोमय
८९	गोमय	गोमय
९०	गोमय	गोमय

८३	पवीत्र	बीज
८३२	मायकर	पापमर
८४८	सुरसुत	पसुर सुत
८५७	आनुभव	अनुभव
८७५	सांख्यमीमी	सांख्यमीमी
९४९	बुद्धिबाह	बुद्धिबाह
१ ४६, १ ४७	आत्ममन्त्रार	आत्ममन्त्रार
१ ४९	२ ४९	१ ४९
१ ८४	रत्न	रत्न
६ द्वितीय भाग	संस्कारा	संस्कारा
की भूमिका ये		

